भग० श० उ० भ० श० उ०	[illegible]
भ० श० उ० प०	[illegible]
योगशा० टी०	[illegible]
विशे० आ० गा० विशे० गा० विशेषा० गा०	[illegible]
भ० सू० श० उ०	[illegible]
शास्त्र० स्त० श्लो०	[illegible]
श्रावकप्र० गा० श्राव० प्र० गा०	[illegible]
समु० प०	[illegible]
अनुयो द्वा० टी०	अनुयोगद्वार सूत्र हारिभद्री टीका
कर्मप्र० कर्मप्र० गा०	कर्मप्रकृति गाथा
कर्मस्त० भा० गा०	कर्मस्तव भाष्य गाथा
जिनभ० सङ्ग्र० गा०	जिनभद्रीय सङ्ग्रहणी गाथा
जीवसम० गा० जीवसमा० गा०	जीवसमासप्रकरण गाथा
तत्त्वा० अ० सू० भाष्यटी०	तत्त्वार्थ अध्याय सूत्र भाष्यटीका
नन्दी पत्र	नन्दीसूत्र पत्र
पञ्चव० गा०	पञ्चवस्तुक गाथा
पञ्चसं० गा०	पञ्चसंग्रह गाथा
पञ्चाश० गा०	पञ्चाशक गाथा
प्रशम० आ०	प्रशमरतिप्रकरण आर्या
बृहत्क० भा० गा० बृ० कल्प० गा०	बृहत्कल्पसूत्र भाष्य गाथा
बृ० शत० गा०	बृहत् शतक कर्मग्रन्थ गाथा
विशेषा० भा० गा०	विशेषावश्यक भाष्य गाथा
भ० शत० उ० भ० शत० उद्दे०	भगवती सूत्र शतक उद्देश
शत० गा०	शतक कर्मग्रन्थ गाथा
श० बृ० भा० गा शत० बृ० भा० गा०	शतक बृहद्भाष्य गाथा
सि० सिद्धहेम० सिद्ध० सिद्धहे०	सिद्धहेमशब्दानुशासन
सिद्धहेम धा०	सिद्धहेम धातुपाठ

——

सकलागमरहस्यवेदि–सूरिपुरन्दर–बहुश्रुतगीतार्थ–परमज्योतिर्विद–परमगुरुदेव



स्व. परमपूज्य आचार्यदेवेश श्रीमद्‌विजयदानसूरीश्वरजी महाराजा

प्रास्ताविक

अनन्त उपकारी ज्ञानी भगवंतोए मानवजन्मनी जे महत्ता बतावी छे, तेनु' मुख्य कारण आ मनुष्यजन्ममां ज सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रनी आराधना सविशेषपणे शक्य छे.

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥" तथा 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' आदि सूत्रो द्वारा सम्यग्ज्ञाननु' महत्त्व पण शास्त्रोमां स्थाने स्थाने बताववामां आवेल छे.

जैन ग्रंथो मुख्यपणे द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, कथानुयोग अने चरणकरणानुयोग एम चार विभागमां वहेंचायेल छे. तेमां पण दर्शनशुद्धि माटे द्रव्यानुयोग घणो ज उपकारी छे. कह्यु' छे के-दविए दंसणसोही ।

द्रव्यानुयोगमां कर्मसाहित्य पण महत्त्वनो भाग भजवे छे. अन्य दर्शनोमां एनु' नहिवत् स्थान छे, ज्यारे जैन दर्शनमां कर्मसाहित्य विपुल प्रमाणमां उपलब्ध छे.

जैन दर्शन सांसारिक जीव विषयक कार्यनी उत्पत्तिमां पांच कारणो स्वीकारे छे. तेमां कर्म ए पण महत्त्वनो भाग भजवे छे. जीवोने संसारभ्रमण करावनार कोइ होय तो ते कर्मबन्धनां कारणो अने कर्म छे.

ए कर्मनु' स्वरूप समजवा माटे द्वादशांगी उपरांत सामान्य जीवो पण जाणी शके, समजी शके, ए माटे भावदयाथी भरेला पूर्वना उपकारी ज्ञानी महात्माओए तेमांथी (द्वादशांगीमांथी) नानामोटा प्रकरणो द्वारा विशाल प्रमाणमां कर्मसाहित्य रच्यु' छे.

द्वादशांगीमां १२ मु' अंग दृष्टिवाद के जे हाल विच्छेद पामेल छे, तेमां कर्मसाहित्य विशाल प्रमाणमां हतु', छतां तेना अंशरूपे पूर्वाचार्यो रचित अनेक ग्रंथो आजे पण मले छे.

आजे श्वेताम्बर संप्रदायमां कर्मप्रकृतिसंग्रहणी, बन्धशतक, पंचसंग्रह, प्राचीन छ कर्मग्रंथ, सार्द्धशतक, नव्य पांच कर्मग्रन्थ आदि अनेक ग्रंथो टीका-भाष्य-चूर्णि आदि साथे उपलब्ध छे. तेवी रीते दिगंबर संप्रदायमां पण गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार अने पंचसंग्रह आदि कर्मविषयक साहित्य उपलब्ध छे.

नव्य पांच कर्मग्रंथ–विक्रमनी १३-१४ सदीमां थयेल पू. आ. श्री देवेन्द्रसूरि महाराज-श्रीए नव्य पांच कर्मग्रन्थनी रचना करी छे. तेनां नाम अनुक्रमे-१ कर्मविपाक, २ कर्मस्तव, ३ बन्धस्वामित्व, ४ षडशीति अने ५ शतक, आ नामो ग्रंथनो विषय

अने तेनी गाथा संख्याने लक्ष्यमां राखीने ग्रंथकारे पाडेल छे. प्रथमनां त्रण नामो ग्रंथना विषयने लक्ष्यमां राखीने अने षडशीति तथा शतक ए नाम गाथा-संख्याना आधारे पाडवामां आव्यां छे.

विषयः–१ कर्मविपाक नामना पहेला कर्मग्रंथमां ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मोना भेद-प्रभेदो, तेना विपाकनुं अने तेना बन्धहेतुओनुं वर्णन करवामां आवेल छे.

२ **कर्मस्तव** नामना बीजा कर्मग्रंथमां चरमतीर्थपति श्री महावीर परमात्मानी स्तुति करवा द्वारा चौद गुणस्थानोमां बन्ध-उदय-उदीरणा अने सत्तामां कइ कइ प्रकृतिओ होय ते अंगे निरूपण करवामां आवेल छे.

३ **बन्धस्वामित्व** नामना त्रीजा कर्मग्रंथमां चौद मूलमार्गणा अने तेना उत्तरमार्गणा-स्थानोमां गुणस्थान उपर बन्धस्वामित्वनो विचार करवामां आवेल छे.

४ **षडशीति** नामना चोथा कर्मग्रंथमां जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, भाव अने संख्यातानुं स्वरूप ए पांच विभाग पाडीने विस्तृत वर्णन करवामां आवेल छे. आ पांच विभाग पैकी प्रथमना त्रण विभागमां बीजा विषयो पण वर्णववामां आव्या छे. (१) **जीवस्थान** उपर गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्ध, उदय, उदीरणा, अने सत्ता ए आठ विषय (२) **मार्गणास्थान** उपर जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या अने अल्पबहुत्व ए छ विषय (३) **गुणस्थान** उपर जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा अने सत्ता तेमज अल्पबहुत्व, ए दश विषय अने ते पछी पांच भाव अने संख्याता-दिना स्वरूपनो विचार करवामां आवेल छे.

५ **शतक** नामनो पंचम कर्मग्रंथ के जे आ बीजा भागमां छे. तेमां नीचे मुजब विषयोनुं वर्णन आवे छे प्रथम कर्मग्रन्थमां बतावेली कर्मप्रकृतिओ पैकीनी कइ-कइ प्रकृतिओ ध्रुवबन्धिनी, अध्रुवबंधिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, सर्वघातिनी, देशघातिनी, अघातिनी, पुण्यप्रकृति, पापप्रकृति, परावर्तमानप्रकृति, अपरावर्तमानप्रकृति, क्षेत्र-विपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी, पुद्गलविपाकी, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध, प्रदेशबन्ध, ते ते बन्धना स्वामी आदिनुं वर्णन करी, अंतमां उपशमश्रेणी अने क्षपकश्रेणीनु संक्षिप्त स्वरूप आपवामां आवेल छे.

६ सप्ततिका नामनो ग्रन्थ (षष्ठ कर्मग्रन्थ) जे पूर्वाचार्य प्रणीत छे तेना उपर पूज्य मलयगिरि महाराजाए (१२ मी शताब्दिमां) भव्यवृत्ति करी छे जेमां कर्मोना मूलभेदोथी अने उत्तरभेदोथी बंध-उदय-सत्ताना संयोगोनो सामान्यथी गुणस्थानकोमां, जीवभेदोमां, मार्गणाम

(थोडोक) विचार विस्तारथी करीने आ प्ररूपणा सत्पदरुप अने स्वामित्वरुप होवाथी बाकीना द्रव्यप्रमाणादि अल्पबहुत्वसुधीना द्वारो सूक्ष्मताथी जाणवानी भलामण स्पष्ट रुपमां करी छे जेथी "संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च" इत्यादि द्वारो कर्मविषयमां उतारवा–विचारवा भलामण करेल छे. आ ग्रंथने सूक्ष्मताथी विचारवाथी अनेक विषयोनो विस्तृत बोध थाय छे तेथी आ ग्रन्थ पण घणो उपयोगी होवाथी आजे आनु' पण पठन पाठन सारा प्रमाणमां थाय छे.

आधार–पू. आ. श्री देवेन्द्रसूरि महाराजे पू. आ. श्री शिवशर्मसूरि म० तथा श्री चन्दर्षि महत्तर आदि जुदा जुदा पूर्वाचार्योंअे कर्म–विषयक ग्रंथोनी रचना करी हती तेना आधारे पोते आ कर्मग्रंथोनी रचना करी छे. तेथी ते नव्य कर्मग्रंथ तरीके ओलखवामां आवे छे

नव्य कर्मग्रंथोनी टीकाः–पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरि महाराजे पोताना नव्य कर्मग्रंथो उपर स्वोपज्ञ टीका रची हती, पण कोइपण कारणे हालमां तेमना त्रीजा कर्मग्रंथ उपरनी स्वोपज्ञ टीका मलती नथी, एथी तेनी पूरवणी करवा माटे कोइ पूर्वाचार्ये के जेमनु' नाम टीकामां नथी तेओअे अवचूरी रूपे टीका रची छे. तेमणे अंतिम पदमां लख्यु' छे के–

> एतद्ग्रन्थस्य टीकाऽभूत्, परं क्वापि न साऽऽप्यते ।
> स्थानस्याशून्यताहेतो—रतोऽलेख्यवचूर्णिका ॥

टीकानी रचना शैलीः–पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरिजी म० नी स्वोपज्ञ टीकानी रचना एवी सुन्दर छे के मूल गाथाना कोइपण पद के वाक्यनु' विवेचन रही जवा पामेल नथी, पदार्थोने विशद रीते समजाववा माटे आगम, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, टीका वगेरेनां अनेक प्रमाणो, एक एक कर्मप्रकृतिनी शी शी विशेषता छे ? तेनी सुन्दर चर्चा (जुओ प्रथम कर्मग्रंथ गा० ३२ मां 'जाति' नाम कर्मनु' शु' प्रयोजन ? ए अंगेनी चर्चा) द्रव्य इन्द्रिय अने भाव इन्द्रियनु' स्वरूप, द्रव्य मन अने भाव मन कोने कहेवाय ? एकेन्द्रियो पण भावथी पांचे य इन्द्रियोना विषयो जाणी शके (जुओ चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ६ नी टीका तथा प्रथम कर्मग्रन्थ गा० ३२ नी टीका) आदि विषयो सूक्ष्मद्रष्टिए अभ्यास करनारने महत्त्वपूर्ण सामग्री पूरी पाडे छे.

आ टीकानी भाषा सरल, सुबोध अने हृदयंगम होवाथी रुचिपूर्वक अध्ययन करनार सरलताथी कर्मतत्त्वना विषयनो सारो ज्ञाता बनी शके छे.

ग्रंथकारनो परिचय

ग्रंथकर्ताः–स्वोपज्ञ टीकायुक्त नव्य पंच कर्मग्रंथना कर्ता पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरि महाराज वृहत्तपागच्छीय आचार्य श्री जगच्चन्द्रसूरीश्वरजी महाराजश्रीना शिष्य छे.

आ हकीकत कर्मग्रंथनी प्रशस्ति तथा गुर्वावली तेमज गुरुगुणरत्नाकरकाव्य आदि ग्रंथो उपरथी जाणी शकाय छे. गुर्वावलीमां तेओश्रीना स्वर्गवासनो समय वि० सं० १३२७ जणाव्यो छे. ए उपरथी तेओश्रीनो समय विक्रमनी १३–१४ सदीनो गणी शकाय.

श्रीमान जगच्चन्द्रसूरिजी महाराजश्रीने 'तपा' नुं बिरूद मल्या बाद श्री देवेन्द्रसूरिजी तथा श्री विजयचंद्रसूरिजीने सूरिपद समर्पण कर्यानुं वर्णन गुर्वावलीमां आवे छे. आ उपरथी अनुमान थाय छे के सं० १२८५ पछी तेओश्रीने कोइपण समये सूरिपद आपवामां आवेल हशे.

जन्म स्थान आदि:–तेओश्रीना जन्मस्थान, जाति, माता-पिता आदिनी प्रमाणभूत हकीकत जाणवा मलती नथी. मात्र गुर्वावली आदिना आधारे तेओश्रीनो विहार मालवा तथा गुजरातमां मोटे भागे थयो छे. तेथी तेओश्रीनी जन्मभूमि गुजरात के मालवा होवानो संभव छे.

विद्वत्ता:–तेओश्रीनी विद्वत्ता अजोड हती, तेमणे रचेल प्राकृत अने संस्कृत भाषाना ग्रंथो जोतां तेओ असाधारण प्रतिभाशाली, जैनसिद्धांत तथा दर्शनशास्त्रना पारंगत विद्वान हता. तेनी साक्षी तेओश्रीए निर्माण करेल ग्रंथो पूरी पाडे छे.

तेओश्री अद्भुत व्याख्यानशक्ति धरावता हता. तेथी तेमना धर्मोपदेशने प्रतिभासंपन्न [illegible] मंत्रिओ अने अनेक ब्राह्मणपंडितो घणा ज रसपूर्वक श्रवण करता हता. अे [illegible] उल्लेख गुर्वावली मां मले छे.

गुरु:–तेओश्रीना गुरु बृहद्गच्छीय आचार्य श्री जगच्चन्द्रसूरि म० हता. तेओश्रीए [illegible] शिथिलता दूर करवा चैत्रवालगच्छीय श्री देवभद्र उपाध्यायनी मददथी क्रियो- [illegible] करी हती. [illegible] छ विगइनो त्याग करी जींदगी सुधी आयंबिल तप करवानो [illegible], आ प्रमाणे आयंबिल तपनी तपश्चर्या करतां बार वर्ष व्यतीत थतां तेमने तपा [illegible] हतुं. अने त्यारथी बृहद्गच्छ ए नामने बदले तपागच्छ नाम प्रवर्त्युं. [illegible] ने महापुरुषनो सत्कार-सन्मानरूप पूजा करी हती, तेमज तेमणे मेवाडनी [illegible] ३२ दिगंबर वादीओनी साथे वाद कर्यो हतो; तेमां तेओ हीरानी जेम [illegible] महाराणाए तेमने हीरला जगच्चंद्रसूरि एवुं बिरुद आप्युं हतुं,

[illegible] तेमना पछी आ तपागच्छमां अनेक प्रभावशाली आचार्यो [illegible] छे.

[illegible] श्री देवेन्द्रसूरिजी म० नो परिवार केटलो हतो, तेनो सत्तावार [illegible] गुर्वावली मां उल्लेख जोतां उपाध्याय श्री हेमकलश गणि वगेरे [illegible] तेओश्रीना परिवारमां हता.

११ बन्धविधान प्रशस्ति–(पूर्वार्ध) स्वोपज्ञवृत्ति सहित [illegible]
१२ बन्धविधान प्रशस्ति–(उत्तरार्ध) ,, ,, ,, ,, ,, ,, [illegible]
१३ उत्तरपयडिरसबंधो–(उत्तरार्ध) ,, ,, ,, [illegible]

आ सिवाय पण अन्य ग्रंथोनुं निर्माण कार्य चालु छे.

परम पूज्य स्व० आचार्यदेवश्री विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजश्रीए पोतानुं समग्र जीवन स्वाध्यायरत पसार कर्युं छे. तेओश्री आगम आदिना [illegible] होवा साथे वर्तमान-कालमां कर्मशास्त्रना प्रकांड विद्वान हता तेओश्रीए पण कर्मसाहित्य विशाळ प्रमाणमां सर्जेल छे. एटलुं ज नहि पोतानो शिष्य-प्रशिष्यादि परिवार सदाय स्वाध्यायरत रहे ते माटे पूरती चीवट राखी हती, तेना परिणामे तेओश्रीनी प्रेरणाथी लाखो श्लोक प्रमाण कर्मसाहित्य रचायुं छे.

आ साहित्य तैयार करवा माटे प्रगट-अप्रगट कर्मसाहित्यनो तलस्पर्शी अभ्यास करी, ते ते पदार्थोनो संग्रह करी विभागवार साहित्यसर्जन करेल छे. तेमज आ ग्रंथोमां [illegible] ग्रंथनुं संशोधन पू० स्व० आचार्यदेवश्री विजयोदयसूरि महाराजाए पण अने अन्य ग्रंथोनुं संशोधन पू० स्व० आ० श्री प्रेमसूरीश्वरजी म० तथा स्व० पू० जम्बूसूरीश्वरजी म० सा० आदि कर्मशास्त्रना निपुण महात्माओए करेल छे.

आ रीते पूज्यपाद स्व. आचार्यदेवश्री विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजश्रीए पोताना परिवारमां स्वाध्यायगंगा वहावी हती, मनःशुद्धि माटे स्वाध्याय ए मोटुं साधन छे आथी ज ज्ञानीओए कह्युं छे के–सज्झायसमो णत्थि तवो।

आ सिवाय पण आज संस्था तरफथी पूर्वधर वाचकवर श्री शिवशर्मसूरिकृत बन्धशतक टीप्पन तथा अवचूरि साथे, वृत्ति सहित चार प्राचीन कर्मग्रंथ टीप्पन सहित सप्ततिका नामे छट्ठो कर्मग्रंथ अने सूक्ष्मार्थ विचार सार प्रकरण आदि कर्मसाहित्यने लगतां उत्तम प्रकाशनो वहार पडयां छे.

पू० आ० श्री देवेन्द्रसूरि रचित सटीक चार कर्मग्रंथो तथा आ ग्रंथ श्री जैन आत्मानंद सभा तरफथी वि. सं. १९९० मां वहार पडेल, तेनुं शुद्ध संपादन पू. प्रवर्तक श्री कांतिविजयजी म० श्री ना शिष्यरत्न पू० मुनिराजश्री चतुरविजयजी म० श्रीए घणी महेनतपूर्वक करेल, पण ते हाल अप्राप्य होइ अने अभ्यासमां घणुं ज जरुरीयात वालु होवाथी आ संस्था तरफथी पुनर्मुद्रण थइ रहेल छे, ते अभ्यासकवर्गने घणुं ज उपयोगी निवडशे.

परम पूज्य आचार्यदेवश्री भुवनभानुसूरीश्वरजी म. सा. ना प्रशिष्यरत्न प० पू० मुनिराजश्री जयघोषविजयजी महाराजश्री नी सूचनाथी पं. श्री रतिलाल चीमनलाल दोशीए प्रस्तावना लखवा प्रेरणा करी मने आ स्वाध्यायमां सहभागी बनावेल छे ते माटे [illegible]नो अंतःकरणपूर्वक आभार मानुं छुं.

अंते सर्व कोइ आ ग्रंथनो सूक्ष्मता पूर्वक अभ्यास करी, कर्मना स्वरूपने जाणी, कर्मबंधना कारणोथी दूर रही, संवर-निर्जरा द्वारा कर्मनो क्षय करी शाश्वतसुखना भोक्ता बने, ए ज अंतरनी अभिलाषा.

सिद्धक्षेत्र पादलिप्तपुर
वि० सं० २०३२
विजयादशमी
ता० २-१०-७६

लिखी:-
कपूरचंद रणछोडदास वारैया
अध्यापक
श्री जैन सूक्ष्म तत्त्वबोध पाठशाला
(श्री जैन श्रेयस्कर मंडल संचालित)

❋ प्रकाशकीय ❋

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन प्रसङ्ग पर कहते प्रसन्नता हो रही है कि सम्प्रति काल में सर्व-जीव-हितकर परमात्म-शासन की आधार-शिला सम श्रुतज्ञान की भक्ति का लाभ प्रदान कर श्रुत-ज्ञान के धारक मुनि वृषभ हमें अत्यन्त अनुग्रहीत कर रहें हैं। प्रस्तुत प्रकाशन इसी अनुग्रह का एक अंश है। अभ्यासियों के लिए पठन-पाठन में नित्य उपयोगी यह ग्रन्थ यद्यपि नूतन प्रकाशन नहीं है तथापि पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थ जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त हो रहे हैं और नये ज्ञान भण्डारों के लिए तो दुर्लभ है, अतः ग्रन्थ को पुनर्जीवन प्राप्त हो तथा नये ज्ञान-संग्रहालयों की आवश्यकतापूर्ति हो· इसी शुभ आशय से प. पू. स्व. आचार्यदेव सिद्धान्तमहोदधि कर्मसाहित्यनिष्णात **श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरजी** महाराज साहेब के पट्टप्रभावक वर्धमानतपो-निधि प. पू. आचार्यदेव **श्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीश्वरजी म. सा.** के प्रशिष्य गीतार्थ गणिवर्यश्री **जयघोषविजयजी म. सा.** तथा शिष्यरत्न प्रतिभा-सम्पन्नगणिवर्य **श्रीधर्मजितविजयजी म. सा.** ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हमें प्रोत्साहित किया। उसीका यह फल आज आपके समक्ष पेश है।

ग्रन्थ की उपादेयता को शब्द-देह देना अति कठिन है फिर भी संक्षेप में कह सकते हैं कि परम-पद की साधना में साधक के जीवन में वैराग्य की जितनी आवश्यकता है उससे जरा भी कम उपादेयता इस ग्रन्थ की नहीं है। क्योंकि मोक्ष साधना का आधार वैराग्य है तथा वैराग्य का बीज कर्म-विपाकों की विषमता का चिन्तन है और यह अति गहन चिन्तन इसी प्रकार के ग्रन्थों के पठन-पाठन से ही प्रायः सुशक्य है। वाचक शिरोमणि उपाध्याय श्रीमद् **यशोविजयजी** म० सा० विरचित ज्ञानसार ग्रन्थ के उपसंहार में "ध्याता कर्मविपाकानामुद्विग्नो भववारिधेः" (कर्मविपाकों का चिन्तक भव-समुद्र से विरक्त होता है) श्लोकार्ध से इसी बात का संकेत प्राप्त होता है। फलित यह हुआ कि ग्रन्थ उपयोगी ही नहीं किन्तु प्राणवायु की भाँति साधक-जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक भी है।

अंते सर्व कोई आ ग्रंथनो सूक्ष्मता पूर्वक अभ्यास करी, कर्मना स्वरूपने जाणी, कर्मबंधना कारणोथी दूर रही, संवर-निर्जरा द्वारा कर्मनो क्षय करी शाश्वतसुखना भोक्ता बने, ए ज अंतरनी अभिलाषा.

सिद्धक्षेत्र पादलिप्तपुर
वि० सं० २०३२
विजयादशमी
ता० २-१०-७६

लिखी:-
कपूरचंद रणछोडदास वारैया
अध्यापक
श्री जैन सूक्ष्म तत्त्वबोध पाठशाला
(श्री जैन श्रेयस्कर मंडल संचालित)

※ प्रकाशकीय ※

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन प्रसङ्ग पर कहते प्रसन्नता हो रही है कि सम्प्रति काल में सर्व-जीव-हितकर परमात्म-शासन की आधार-शिला सम श्रुतज्ञान की भक्ति का लाभ प्रदान कर श्रुत-ज्ञान के धारक मुनि वृषभ हमें अत्यन्त अनुग्रहीत कर रहे हैं। प्रस्तुत प्रकाशन इसी अनुग्रह का एक अंश है। अभ्यासियों के लिए पठन-पाठन में नित्य उपयोगी यह ग्रन्थ यद्यपि नूतन प्रकाशन नहीं है तथापि पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थ जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त हो रहे हैं और नये ज्ञान भण्डारों के लिए तो दुर्लभ है, अतः ग्रन्थ को पुनर्जीवन प्राप्त हो तथा नये ज्ञान-संग्रहालयों की आवश्यकतापूर्ति हो- इसी शुभ आशय से प. पू. स्व. आचार्य-देव सिद्धान्तमहोदधि कर्मसाहित्यनिष्णात श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराज साहेब के पट्टप्रभावक वर्धमानतपो-निधि प. पू. आचार्यदेव श्रीमद्विजयभुवनभानुसूरीश्वरजी म. सा. के प्रशिष्य गीतार्थ गणिवर्यश्री जयघोषविजयजी म. सा. तथा शिष्यरत्न प्रतिभा-सम्पन्नगणिवर्य श्रीधर्मजितविजयजी म. सा. ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हमें प्रोत्साहित किया। उसीका यह फल आज आपके समक्ष पेश है।

ग्रन्थ की उपादेयता को शब्द-देह देना अति कठिन है फिर भी संक्षेप में कह सकते हैं कि परम-पद की साधना में साधक के जीवन में वैराग्य की जितनी आवश्यकता है उससे जरा भी कम उपादेयता इस ग्रन्थ की नहीं है। क्योंकि मोक्ष साधना का आधार वैराग्य है तथा वैराग्य का बीज कर्म-विपाकों की विषमता का चिन्तन है और यह अति गहन चिन्तन इसी प्रकार के ग्रन्थों के पठन-पाठन से ही प्रायः सुशक्य है। वाचक शिरोमणि उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म० सा० विरचित ज्ञानसार ग्रन्थ के उपसंहार में "ध्याता कर्मविपाकानामुद्विग्नो भववारिधेः" (कर्मविपाकों का चिन्तक भव-समुद्र से विरक्त होता है) श्लोकार्ध से इसी बात का संकेत प्राप्त होता है। फलित यह हुआ कि ग्रन्थ उपयोगी ही नहीं किन्तु प्राणवायु की भाँति साधक-जीवन के लिए

ग्रन्थ के सम्पादक श्री हेमचन्द्राचार्य जैन पाठशाला-अहमदाबाद के अध्यापक श्री रतिभाई तथा श्री जैन धार्मिक पाठशाला पिण्डवाडा के अध्यापक श्री चम्पकभाई की सेवा प्रशंसनीय रही। प्रस्तावना लेखक श्री जैन श्रेयस्कर मण्डल संचालित सूक्ष्मतत्त्वबोध पाठशाला पालिताणा के अध्यापक श्री कपूरचन्दभाईने भी प्रास्ताविक वचन में अपने तलस्पर्शी अभ्यास का परिचय दिया है, जिसे भुलाया नहीं जा सकता है। छ कर्मग्रन्थों के प्रकाशन में प्रथमभाग-स्वरूप 'आद्यकर्मग्रन्थचतुष्क' की २५० नकल पृथक् छपी है—जिसके मुद्रणव्यय का लाभ निपाणी (महाराष्ट्र) नगर के उदारचित्त सुश्रावक 'श्री कोरडिया दत्तुभाइ गणपति जत्राठकर' ने उठाया है। जिनशासन के प्रति आपके हृदय में अतीव भक्ति है और आपका श्रावक जीवन पुण्य वर्धमान तप की १०० ओली की आयंबिल तपश्चर्या से सुवासित है—आपकी धर्मपत्नी सुश्राविकाने भी ३९ ओली की थी। आपकी अन्य धर्मप्रवृत्ति और धर्मरुचि भी अनुमोदनीय है।

दूसरे भाग—'पांचवा और छट्ठा कर्मग्रन्थ' की २५० नकल के मुद्रणव्यय का लाभ कोल्हापुर निवासी सुश्रावक इन्दुमलजी ने उठाया है। आपके हृदय में जिनशासन की श्रद्धा और आराधना की ज्योति सदा प्रज्वलित रहती है। धर्मानुष्ठानों में धनव्यय का कार्य भी निरन्तर गतिमान है।

दोनों भाग की मिलित २५० नकल के मुद्रणव्यय का लाभ श्री जैन संघ केनींग स्ट्रीट कलकत्ता ने अपने ज्ञाननिधि में से व्यय करके उठाया है। इस संघ के ट्रस्टीमंडल की यह धार्मिक द्रव्य की सुव्यवस्था अनुमोदनीय एवं धन्यवाद के पात्र है तथा ज्ञानोदय प्रिन्टिंग प्रेस, मुद्रणालय पिण्डवाडा के व्यवस्थापक ब्यावर निवासी फतेहचंदजी जैन (हाला वाले) और अन्य कर्मचारियों का सहयोग भी अविस्मरणीय रहेगा।

और अधिक ग्रन्थों के प्रकाशन की प्रतीक्षा में—

भवदीय—

शा. समरथमल रायचदजी (मंत्री)

शा. लालचंद छगनलालजी (मंत्री)

भारतीय प्राच्य-तत्त्व प्रकाशन समिति

[illegible] पिंडवाड़ा

[illegible] सिरोहीरोड (राजस्थान)

[illegible] १२० १२७ [illegible] बाजार

[illegible]-२

नव्यकर्मग्रन्थ बीजाभागना
द्रव्यसहायक



शा जितराजजी तोलाजी कालंद्री
फर्म
शा जितराजजी हिन्दुमलजी राठोड–कोल्हापुर

कर्मविपाकनामना प्रथमकर्मग्रन्थनी विषयसूची ।

गाथा	विषय	पत्र
		२४

गाथा | विषय | पृष्ठ

षडशीतिनामक चोथा कर्मग्रन्थनी विषयसूची ।

पञ्चम सङ्ख्याधिकार.

पांचमा कर्मग्रन्थनी विषयसूचि

छट्ठा कर्मग्रन्थनो विषयानुक्रम।

॥ अर्हम् ॥

॥ श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

पूज्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचित-स्वोपज्ञ-टीकोपेतः

कर्मविपाकनामा प्रथमः कर्मग्रन्थः ।



॥ नमः श्रीप्रवचनाय ॥

दिनेशवद्ध्यानवरप्रतापैरनन्तकालप्रचितं समन्तात् ।
योऽशोषयत् कर्मविपाकपङ्कं, देवो मुदं योऽस्तु स वर्धमानः ॥१॥
ज्ञानादिगुणगुरूणां, धर्मगुरूणां प्रणम्य पदकमलम् ।
कर्मविपाके विवृतिं, स्मृतिबीजविवृद्धये विदधे ॥ २ ॥

तत्राऽऽदावेवाभीष्टदेवतास्तुत्यादिप्रतिपादिकामिमां गाथामाह—

सिरिवीरजिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।
कीरइ जिएण हेऊहिं जेणं तो भण्णए कम्मं ॥ १ ॥

श्रिया—सकलत्रिभुवनजनमनश्चमत्कारिमनोहारिपरमार्हन्त्यमहामहिमाविस्तारि—

"अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यो ध्वनिश्चामरमासनं च ।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥"

इति स्पष्टाष्टप्रातिहार्यशोभया चतुस्त्रिंशदतिशयविभूत्या वा समन्वितो वीरः श्रीवीरः, स चा रागद्वेषमोहप्रभृतिवैरिवारपराजयाद् जिनश्च श्रीवीरजिनस्तं श्रीवीरजिनं-श्रीमद्वर्धमानस्वामि 'वन्दित्वा' विशुद्धमानसप्रणिधानसमन्वितेन वाग्योगेन स्तुत्वा, काययोगेन च प्रणम "वदुङ् स्तुत्यभिवादनयोः" इति वचनात् । एतेन मङ्गलार्थमभीष्टदेवतायाः स्तुतिरुक्ता क्त्वाप्रत्ययस्य चोत्तरक्रियासापेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह--'कर्मविपाकं वक्ष्ये' तत्र कर्मणां-ज्ञानाव णादीनां विपाकः—अनुभवः कर्मविपाकस्तं कर्मविपाकं 'वक्ष्ये' अभिधास्ये । अनेनाभिधेय माह । कथम् ? इत्याह—'समासतः' सङ्क्षेपेण, न विस्तरेण, दुष्षमानुभावापचीयमानमेधाऽ युर्बलादिगुणानामैदंयुगीनजनानां विस्तराभिधाने सत्युपकारासम्भवात् , तदुपकारार्थं चैष शास्त्र रम्भप्रयासः एतेन सङ्क्षिप्तरुचिसत्त्वानाश्रित्य प्रयोजनमाचष्टे । सम्बन्धस्त्वर्थापत्तिगम्यः,

चोपायोपेयलक्षणः साध्यसाधनलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा सम्बन्धोऽभिहितः । तत्र 'कर्म-विपाकं वक्ष्ये' इत्युक्तं तत्र कर्मशब्दं व्युत्पादयन्नाह—'कीरइ' क्रियते अञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गक-वद् निरन्तरपुद्गलनिचिते लोके क्षीरनीरन्यायेन वह्न्ययःपिण्डवद् वा आत्मना सम्बन्ध्यते । किं तद् ? इत्याह 'येन' कारणेन 'ततः' तस्मात् कारणात् कर्म भण्यते इति सम्बन्धः । केन क्रियते ? इत्याह—'जीवेन' जन्तुना, तत्र जीवति—इन्द्रियपञ्चकमनोवाक्कायबलत्रयोच्छ्वासनिश्वासा-ऽऽयुर्लक्षणान् दश प्राणान् यथायोगं धारयतीति जीवः । कि विशिष्टोऽसौ ? इति चेद् उच्यते—यो मिथ्यात्वादिकलुषितरूपतया सातादिवेदनीयादिकर्मणामभिनिर्वर्तकः, तत्फलस्य च विशि-ष्टसातादेरुपभोक्ता, नरकादिभवेषु च यथाकर्मविपाकोदयं संसर्ता, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररत्नत्रयाभ्यासप्रकर्षवशाच्च निःशेषकर्मांशापगमतः परिनिर्वाता स जीवः सत्त्वः प्राणी आत्मे-त्यादि[1]पर्यायः । उक्तं च—

यः कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च ।
संसर्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥ इति ।

कैः कृत्वा जीवेन क्रियते ? इत्याह—'हेतुभिः' मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणैश्चतुर्भिः सामान्यरूपैः,

"पडिणीयत्तण निन्हव, पओस उवघाय अंतराएण ।
अच्चासायणयाए, आवरणदुगं जिओ जयइ ॥"

इत्यादिभिर्विशेषप्रकारै[2]रिहैव (गा० ५३) वक्ष्यमाणैः । तदयमत्र तात्पर्यार्थः—क्रियते जीवेन हेतुभिर्येन कारणेन ततः कर्म भण्यत इति । कथमेतत्सिद्धिः ? इति चेद्[3] उच्यते—इहात्म-त्वेनाविशिष्टानामात्मनां यदिदं देवासुरमनुजतिर्यगादिरूपं क्ष्मापतिद्रमकमनीषिमन्दमहर्द्धिद-रिद्रादिरूपं वा वैचित्र्यं तन्न निर्हेतुकमेष्टव्यम्, मा प्रापत् सदा भावाभावदोषप्रसङ्गः, "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्" । सहेतुकत्वाभ्युपगमे च यदेवास्य हेतुस्तदेव चास्माकं कर्मेति मतमिति तत्सिद्धिः ।

यदवोचाम श्रीदिनकृत्यटीकायां जीवस्थापनाधिकार एनमेवार्थम्—

क्ष्माभृद्रङ्कयोर्मनीषिजडयोः सद्रूपनीरूपयोः,
श्रीमद्दुर्गतयोर्बलाबलवतोर्नीरोगरोगार्त्तयोः ।
सौभाग्यासुभगत्वसङ्गमजुषोस्तुल्येऽपि नृत्वेऽन्तरं,
यत् तत् कर्मनिबन्धनं तदपि नो जीवं विना युक्तिमत् ॥

१ पर्यायाः क० ख० घ० । २ ०कारैश्चेहै० ग० ३ चेद् इहा० ख० ग० ।

अन्यत्राप्युक्तम्–

आत्मत्वेनाविशिष्टस्य, वैचित्र्यं तस्य यद्वशात्।
नरादिरूपं तच्चित्रमदृष्टं कर्मसंज्ञितम् ॥

पौराणिका अपि कर्मेदं प्रतिपद्यन्ते। तथा च ते प्राहुः–

यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः, फलं निधानस्थमिवावतिष्ठते।
तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता, प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते ॥

यत्त्वत्पुराकृतं कर्म, न स्मरन्तीह मानवाः।
तदिदं पाण्डवज्येष्ठ!, दैवमित्यभिधीयते ॥

मुदितान्यपि मित्राणि, सुक्रुद्धाश्चैव शत्रवः।
न हीमे तत् करिष्यन्ति, यन्न पूर्वं कृतं त्वया ॥

बौद्धा अप्याहुः–

इत एकनवतौ कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः! ॥

तदपि च कर्म पुद्गलस्वरूपं प्रतिपत्तव्यम्, नामूर्त्तम्, अमूर्त्तत्वे हि कर्मणः सकाशादात्मनामनुग्रहोपघातासम्भवात्, आकाशादिवत्। यदाह—

[1]अन्ने उ अमुत्तं चिय, कम्मं मन्नंति वासणारूवं।
तं तु न जुज्जइ तत्तो, उवघायाणुग्गहाभावा ॥
नागासं उवघायं, अणुग्गहं वा वि कुणइ सत्ताणं ॥ इत्यादि।

तच्च कर्म प्रवाहतोऽनादि, "[2]अणाइयं तं पवाहेण" इति वचनात्। यदि प्रवाहापेक्षयाऽपि सादि स्यात् तदा जीवानां पूर्वं कर्मवियुक्तत्वमासीत् पश्चादकर्मकस्य जीवस्य कर्मणा सह संयोगः सञ्जातः; एवं सति मुक्तानामपि कर्मयोगः स्यात्, अकर्मकत्वाविशेषात्, ततश्च मुक्ता अमुक्ताः, स्युः, न चैवमिष्टम्, तस्मादनादिर्जीवस्य कर्मणा सह संयोगः। नन्वनादिसंयोगे कथं वियोगो जीवस्य कर्मणा सह? उच्यते–अनादिसंयोगेऽपि वियोगो दृष्टः काञ्चनोपलवत्। तथाहि–काञ्चनोपलानां यद्यप्यनादिसंयोगस्तथापि तथाविधसामग्रीसद्भावे धमनादिना किट्टिवियोगो दृष्टः; एवं जीवस्यापि ज्ञानदर्शनचारित्रध्यानानलादिनाऽनादिनाऽनादिकर्मणा सह वियोगः सिद्धो भवति। यदाह भगवान् भाष्यसुधाम्भोनिधिः—

---

१ अन्ये तु अमूर्त्तमेव कर्म मन्यन्ते वासनारूपम्। तत् तु न युज्यते तत उपघातानुग्रहाभावात् ॥ नाकाशमुपघातमनुग्रहं वाऽपि कुरुते सत्त्वानाम् ॥ २ अनादिकं तत् प्रवाहेण ॥

'जह[2] इह य कंचणोवलसंयोगोऽणाइसंतइगओ वि ।
वुच्छिज्जइ सोवायं, तह जोगो जीवकम्माणं ॥ (विशे० गा० १८१९)

इत्यलं विस्तरेण ॥१॥ अथ कतिभेदं कर्म ? इत्याशङ्क्याह—

पयइठिइरसपएसा, तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता ।
मूलपगइट्ठ उत्तरपगईअडवन्नसयभेयं ॥२॥

तत् कर्म पूर्वव्यावर्णितशब्दार्थं 'चतुर्धा' चतुष्प्रकारं चतुर्भेदं भवतीति शेषः । कथम् ? इत्याह—"पयइठिइरसपएस" त्ति, इह "गम्ययपः कर्माधारे" (सिद्धहेम० २-२-७४) इति पञ्चमी, यथा प्रासादात् प्रेक्षत इति । ततश्च प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशानाश्रित्य, प्रकृतिबन्धस्थितिबन्धरसबन्धप्रदेशबन्धतयेत्यर्थः । तत्र स्थित्यनुभागप्रदेशबन्धानां यः समुदायः स प्रकृतिबन्धः, अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य यत् स्थितिकालनियमनं स स्थितिबन्धः, कर्मपुद्गलानामेव शुभोऽशुभो वा घात्यघाति वा यो रसः सोऽनुभागबन्धो रसबन्धः, इत्यर्थः, कर्मपुद्गलानामेव यद् ग्रहणं स्थितिरसनिरपेक्षदलिकसङ्ख्याप्राधान्येनैव करोति स प्रदेशबन्धः । उक्तं च—

[3]ठिइबंधु[4] दलस्स ठिई, पएसबंधो पएसगहणं जं ।
ताण रसो अणुभागो, तस्समुदाओ पगइबंधो ॥ (पञ्चसं० गा० ४३१)

अन्यत्राप्युक्तम्—

प्रकृतिः समुदायः स्यात् , स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसः प्रोक्तः, प्रदेशो दलसञ्चयः ॥

इदं च प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशानां स्वरूपं 'मोदकस्य' कणिक्कादिमयलड्डुकस्य 'दृष्टान्तात्' दृष्टान्तेन भावनीयम् । दृष्टान्तादित्यत्र तृतीयार्थे पञ्चमी । यदाह **पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे**—"व्यत्ययोऽप्यासाम्" इति । यथा वातविनाशिद्रव्यनिष्पन्नो मोदकः प्रकृत्या वातमुपशमयति, पित्तोपशमकद्रव्यनिर्वृत्तः पित्तम् , कफापहारिद्रव्यसमुद्भूतः कफमित्येवंस्वभावा प्रकृतिः । स्थितिस्तु तस्यैव कस्यचिद्दिनमेकम् , अपरस्य तु दिनद्वयम् , एवं यावत् कस्यचिन्मासादिकमपि कालं भवति ततः परं विनाशादिति । रसः पुनः स्निग्धमधुरादिरूपस्तस्यैव कस्यचिदेकगुणः, अपरस्य द्विगुणः, अन्यस्य त्रिगुण इत्यादिकः । प्रदेशाश्च कणिकादिरूपास्तस्यैव कस्यचिदेकप्रसृतिप्रमाणाः, अन्यस्य तु प्रसृतिद्वयप्रमाणाः, यावदपरस्य सेतिकादिप्रमाणाः । एवं कर्मणोऽपि

---

१ यथेह च काञ्चनोपलसंयोगोऽनादिसन्ततिगतोऽपि । व्युच्छिद्यते सोपायं तथा योगो जीवकर्मणोः ॥ २ °इ च इह ख० ॥ ३ स्थितिबन्धो दलस्य स्थितिः, प्रदेशबन्धः प्रदेशग्रहणं यत् । तेषां (कर्मपुद्गलानां) रसोऽनुभागस्तत्समुदायः प्रकृतिबन्धः ॥ ४ °बंध ग०॥

इह [illegible] ॥

[illegible] ॥६॥

'इह' [illegible] । '[illegible]' इति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । यथा ज्ञानं च दर्शनं च [illegible] [illegible] [illegible] । यथा [illegible] [illegible] "[illegible]" ([illegible]) इति [illegible] । [illegible] [illegible] । यथा [illegible] 'आत्मन्यपि [illegible] [illegible] [illegible] । यथा पुनः [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] "[illegible]" ([illegible]) इत्याहुः [illegible] । भवति च सर्वं कर्म उदयमायाति [illegible] विशेषः, यतः [illegible] उदयमायाति, किन्तु प्रदेशोदयरूपं जन्मान्तरेऽपि स्वविपाकं

१ [illegible] ॥ २ [illegible] ॥ ३ [illegible] ।

अत्राह—नन्वित्थं ज्ञानावरणाद्यनुक्रमे [illegible]
प्रवृत्तः ? इति, अस्तीति ब्रूमः । किं तत् ? [illegible]
स्वतत्त्वभूतम्, तदभावे जीवत्वस्यैवायोगात्, [illegible]
र्शनाभावे भवेत् ?; ज्ञानदर्शनयोरपि च मध्ये ज्ञानं प्रधानम्, [illegible]
रसन्ततिप्रवृत्तेः । अपि च—सर्वा अपि लब्धयो जीवस्य साकारोपयोगोपयुक्तस्य [illegible]
दर्शनोपयोगोपयुक्तस्य; "सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स, नो अणागारोवओगोवउ-
त्तस्स"[1] इति वचनप्रामाण्यात् । अन्यच्च यस्मिन् समये सकलकर्मविनिर्मुक्तो [illegible]
तस्मिन् समये ज्ञानोपयोगोपयुक्त एव, न दर्शनोपयोगोपयुक्तः, दर्शनोपयोगस्य [illegible]
भावात्, ततो ज्ञानं प्रधानम्, तदावारकं च ज्ञानावरणं कर्म, तस्मात् प्रथममुक्तम् । तदनन्तरं
च दर्शनावरणम्, ज्ञानोपयोगाच्च्युतस्य दर्शनोपयोगेऽवस्थानात् । एते च ज्ञानदर्शनावरणे स्ववि-
पाकमुपदर्शयन्ती यथायोगमवश्यं सुखदुःखरूपवेदनीयकर्मविपाकोदयनिमित्ते भवतः । तथाहि-
ज्ञानावरणमुपचयोत्कर्षप्राप्तं विपाकतोऽनुभवन् सूक्ष्मसूक्ष्मतरवस्तुविचारणासमर्थमात्मानं जानानः
खिद्यते भूरिलोकः, ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमपाटवोपेतश्च सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि वस्तूनि निजप्र-
ज्ञयाऽभिजानानो बहुजनातिशायिनमात्मानं पश्यन् सुखं वेदयते; तथाऽतिनिबिडदर्शनावरण-
विपाकोदये जात्यन्धादिरनुभवति दुःखसन्दोहं वचनगोचरातिक्रान्तम्, दर्शनावरणक्षयोपशम-
पटिष्ठतापरिकरितश्च स्पष्टचक्षुराद्युपेतो यथावद् वस्तुनिकुरम्बं सम्यगवलोकमानो वेदयतेऽस-

---

१ सर्वा लब्धयः साकारोपयोगोपयुक्तस्य नोऽनाकारोपयोगोपयुक्तस्य ॥

न्दमानन्दसन्दोहम्, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं दर्शनावरणानन्तरं वेदनीयग्रहणम् । वेदनीयं च सुखदुःखे जनयति, अभीष्टानभीष्टविषयसम्बन्धे चावश्यं संसारिणां रागद्वेषौ, तौ च मोहनीयहेतुकौ, तत एतदर्थप्रतिपत्तये वेदनीयानन्तरं मोहनीयग्रहणम् । मोहनीयमूढाश्च जन्तवो बह्वारम्भपरिग्रहप्रभृतिकर्मादानासक्तता नरकाद्यायुष्कमारचयन्ति, ततो मोहनीयानन्तरमायुर्ग्रहणम् । नरकाद्यायुष्कोदये चावश्यं नरकगत्यादीनि नामान्युदयमायान्ति, तत आयुरनन्तरं नामग्रहणम् । नामकर्मोदये च नियमादुच्चनीचान्यतरगोत्रकर्मविपाकोदयेन भवितव्यम्, अतो नामग्रहणानन्तरं गोत्रग्रहणम् । गोत्रोदये चोच्चैःकुलोत्पन्नस्य प्रायो दानलाभान्तरायादिक्षयो भवति, राजप्रभृतीनां प्राचुर्येण दानलाभादिदर्शनात्; नीचैःकुलोत्पन्नस्य तु दानलाभान्तरायाद्युदयः, नीचजातीनां तथादर्शनात्, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं गोत्रानन्तरमन्तरायग्रहणमिति ॥ ३ ॥ अथ 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायात् प्रथमं तावत् पञ्चधा ज्ञानावरणं व्याचिख्यासुराह—

मइसुयओहीमणकेवलाणि नाणाणि तत्थ मइनाणं ।
वंजणवग्गह चउहा, मणनयणविणिंदियचउक्का ॥ ४ ॥

इह ज्ञानशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् मतिज्ञानम्, श्रुतज्ञानम्, अवधिज्ञानम्, "मण त्ति" पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् मनःपर्यवज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं वा, केवलज्ञानम् । तत्र "बुधिं मनिंच् ज्ञाने" मननं मतिः, यद्वा मन्यते—इन्द्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः—योग्यदेशावस्थितवस्तुविषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेषः, मतिश्च सा ज्ञानं च मतिज्ञानम् । इदं चाऽऽगमे आभिनिबोधिकज्ञानमुच्यते ।

यदाह भगवान् देवर्द्धिक्षमाश्रमणः—

[1]नाणं पंचविहं पन्नत्तं, तं जहा—आभिणिबोहियनाणं सुयनाणं ओहिनाणं मणपज्जवनाणं केवलनाणं । (नन्दी पत्र ६५—१) ।

तत्र चायमाभिनिबोधिकज्ञानशब्दार्थः—अभि—इत्याभिमुख्ये, नि—इति नैयत्ये, ततश्चाभिमुखः—वस्तुयोग्यदेशावस्थानापेक्षी नियतः—इन्द्रियमनः समाश्रित्य स्वस्वविषयापेक्षी बोधनं बोधोऽभिनिबोधः, स एवाऽऽभिनिबोधिकम्, विनयादेराकृतिगणत्वादिकण्प्रत्ययः, अभिनिबुध्यत इत्यभिनिबोध इति कर्तरि लिहादित्वादच् वा, यद्वाऽभिनिबुध्यते आत्मना स इत्यभिनिबोध इति, कर्मणि घञ्, स एवाऽऽभिनिबोधिकमिति तथैव आभिनिबोधिकं च तद् ज्ञानं चाऽऽभिनिबोधिकज्ञानम् । तथा श्रवणं श्रुतम्—अभिलापप्लावितार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिवि-

---

१ ज्ञानं पञ्चविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—आभिनिबोधकज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं केवलज्ञानम् ॥

शेषः, एवमाकारं वस्तु घटशब्दाभिलाप्यं जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधारणसमानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः, श्रुतं च तद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् । तथाऽवधानमवधिः–इन्द्रियमनोनिरपेक्षमात्मनः साक्षादर्थग्रहणम्, अत एवेदं प्रत्यक्षज्ञानम् । यदुक्तं नन्द्यध्ययने—

[1]नोइंदियपच्चक्खं तिविहं पन्नत्तं, तंजहा–ओहिनाणपच्चक्खं मणपज्जवनाणपच्चक्खं केवलनाणपच्चक्खं (नन्दी पत्र ७६–२) ।

अथवा अवशब्दोऽधःशब्दार्थः, अव–अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते–परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः, यद्वा अवधिः–मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा, तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः, अवधिश्च तद् ज्ञानं चावधिज्ञानम् । तथा परिः–सर्वतोभावे, अवनम् अवः, "तुदादिभ्योऽनक्कौ" इत्यधिकारेऽकितौ चेत्यनेन औणादिकोऽकारप्रत्ययः, अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवो मनःपर्यवः–सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, मनःपर्यवश्च स ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानम् । यद्वा मनःपर्यायज्ञानम्, तत्र संज्ञिभिर्जीवैः काययोगेन गृहीतानि मनःप्रायोग्यवर्गणाद्रव्याणि चिन्तनीयवस्तुचिन्तनव्यापृतेन मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्यमानानि मनांसीत्युच्यन्ते, तेषां मनसां पर्यायाश्चिन्तनानुगताः परिणामा मनःपर्यायाः, तेषु तेषां वा संबन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्; यद्वा आत्मभिर्वस्तुचिन्तने व्यापारितानि मनांसि पर्येति–अवगच्छतीति मनःपर्यायम्, "कर्मणोऽण्" (सि० ५-१-७२) इति अण्प्रत्ययः, मनःपर्यायं च तद् ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम् । तथा केवलम्–एकं मत्यादिज्ञानरहितत्वात् "[2]नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" (आव० नि० गा० ५३९) इति वचनप्रामाण्यात् ।

आह–यदि मत्यादीनि ज्ञानानि स्वस्वावरणक्षयोपशमभावेऽपि प्रादुःषन्ति ततो निःशेपतः स्वस्वावरणक्षये सुतरां भवेयुश्चारित्रपरिणामवत्, तत् कथं तेषां तदानीमभावः ? आह च—

[3]आवरणदेसविगमे, जाइं विज्जंति मइसुयाईणि ।
आवरणसव्वविगमे, कह ताइँ न हुंति जीवस्स ? ॥ इति ।

उच्यते–इह यथा सहस्रभानोरतिसमुन्नतघनाघनघनपटलान्तरितस्यापान्तरालावस्थितकटकुट्याद्यावरणविवरप्रविष्ट[ः] प्रकाशो घटपटादीन् प्रकाशयति, तथा केवलज्ञानावरणावृतस्य केवलज्ञानस्यापान्तरालमतिज्ञानावरणादिक्षयोपशमरूपविवरविनिर्गतः प्रकाशो जीवादीन् प्रका-

१ नोइन्द्रियप्रत्यक्षं त्रिविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–अवधिज्ञानप्रत्यक्षं मनःपर्यवज्ञानप्रत्यक्षं केवलज्ञानप्रत्यक्षम् । २ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने ॥ ३ आवरणदेशविगमे, यानि विद्यन्ते मतिश्रुतादीनि । आवरणसर्व (सर्वात्मना) विगमे, कथं तानि न भवन्ति जीवस्य ? ॥

शयति, स च तथा प्रकाशयन् मतिज्ञानमित्यादिलक्षणं तत्तत्क्षयोपशमानुरूपमभिधानमुद्वहति; ततो यथा सकलघनपटलकटकुट्याद्यावरणापगमे स तथाविधः प्रकाशः सहस्रभानोरस्पष्टरूपो न भवति किन्तु सर्वात्मना स्फुटरूपोऽन्य एव, तथेहापि सकलकेवलज्ञानावरणमतिज्ञानाद्यावरणविलये न तथाविधो मतिज्ञानादिसंज्ञितः केवलज्ञानस्य प्रकाशो भवति, किन्तु सर्वात्मना यथावस्थितं वस्तु परिच्छिन्दन् परिस्फुटरूपोऽन्य एवेत्यदोषः ।

उक्तं च श्रीपूज्यैः—

[1]कडविवरागयकिरणा, मेहंतरियस्स जह दिणेसस्स ।
ते कडमेहावगमे, न हुंति जह तह इमाइं पि ॥

अन्यैरपि न्यगादि—

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः ।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः ॥
यथा जात्यस्य रत्नस्य, निःशेषमलहानितः ।
स्फुटैकरूपाऽभिव्यक्तिर्विज्ञप्तिस्तद्वदात्मनः ॥

अन्ये पुनराहुः—सन्त्येव मतिज्ञानादीन्यपि सयोगिकेवल्यादौ, केवलमफलत्वात् सन्त्यपि तदानीं न विवक्ष्यन्ते, यथा सूर्योदये नक्षत्रादीनि । उक्तं च—

[2]अन्ने आभिणिबोहियणाणाईणि वि जिणस्स विज्जंति ।
अफलाणि य सूरुदए, जहेव नक्खत्तमाईणि ॥

शुद्धं वा केवलम्, तदावरणमलकलङ्कपङ्कापगमात् । सकलं वा केवलम्, तत्प्रथमतयैव निःशेषतदावरणविगमतः संपूर्णोत्पत्तेः । असाधारणं वा केवलम्, अनन्यसदृशत्वात् । अनन्तं वा केवलम्, ज्ञेयानन्तत्वात् अपर्यवसितानन्तकालावस्थायित्वाद्वा । निर्व्याघातं वा केवलम्, लोकेऽलोके वा क्वापि व्याघाताभावात् । केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानं यथावस्थितसमस्तभूतभवद्भाविभावस्वभावावभासि ज्ञानमिति भावना ।

आह—नन्वेतेषां पञ्चानां ज्ञानानामित्थं क्रमोपन्यासे किं कारणम्? उच्यते—इह मतिश्रुते तावदेकत्र वक्तव्ये, परस्परमनयोः स्वामिकालकारणविषयपरोक्षत्वसाधर्म्यात् । तथाहि—य एव मतिज्ञानस्य स्वामी स एव श्रुतज्ञानस्य य एव श्रुतज्ञानस्य स्वामी स एव मतिज्ञानस्यापि "[3]जत्थ मइनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्थ मइनाणं" (नन्दी पत्र १४०—१)

---

१ कटविवरागतकिरणाः, मेघान्तरितस्य यथा दिनेशस्य । ते कटमेघापगमे, न भवन्ति यथा तथेमान्यपि । २ अन्ये आभिनिबोधिकज्ञानादीन्यपि जिनस्य विद्यन्ते । अफलानि च सूर्योदये यथैव नक्षत्रादीनि । ३ यत्र मतिज्ञानं तत्र श्रुतज्ञानं यत्र श्रुतज्ञानं तत्र मतिज्ञानम् ॥

पेक्षयोत्कर्षापकर्षभाक्, ननु तस्य कारणम्, यथा घटस्य मृत्पिण्डः, तथाहि—श्रुतेष्वपि बहुषु ग्रन्थेषु यद्विषयं स्मरणमीहाऽपोहादि वाऽधिकतरं प्रवर्तते स ग्रन्थः स्फुटतरः प्रतिभाति न शेषः । तथा भेदभेदाद् भेदः, तथाहि—मतिज्ञानमष्टाविंशत्यादिभेदम्, श्रुतज्ञानं तु चतुर्दशादिभेदम् । तथा इन्द्रियविभागाद् भेदः, तत्प्रतिपादिका चेयं पूर्वान्तर्गता गाथा—

> [1]सोइंदिओवलद्धी, होइ सुयं सेसयं तु मइनाणं ।
> मुत्तूणं दव्वसुयं, अक्खरलंभो य सेसेसु ॥ (विशे० गा० ११७)

तथा [2]वल्कसमं मतिज्ञानं कारणत्वात्, [3]शुम्बसमं श्रुतज्ञानं तत्कार्यत्वादित्यप्यनयोर्भेदनिबन्धनम् । तथा इतश्च भेदः—मतिज्ञानमनक्षरं साक्षरं च, तथाहि—अवग्रहज्ञानमनक्षरम्, तस्यानिर्देश्यसामान्यमात्रप्रतिभासात्मकतया निर्विकल्पत्वात्; ईहादिज्ञानं तु साक्षरम्, तस्य परामर्शादिरूपतयाऽवश्यं वर्णाऽऽरूषितत्वात्; श्रुतज्ञानं पुनः साक्षरमेव, अक्षरमन्तरेण शब्दार्थपर्यालोचनस्यानुपपत्तेः । तथा इतश्च भेदः-मूककल्पं मतिज्ञानम्, स्वमात्रप्रत्यायकत्वात्; अमूककल्पं श्रुतज्ञानम्, स्वपरप्रत्यायकत्वात् । तथा चामूनेव हेतून् संगृहीतवान् भाष्यसुधाम्भोनिधिः—

> [5]लक्खणभेया हेउफलभावओ भेयइंदियविभागा ।
> वागक्खरमूएयरभेया भेओ मइसुयाणं ॥ (विशे० गा० ९७)

तथा कालविपर्ययस्वामित्वलाभसाधर्म्यान्मतिश्रुतज्ञानानन्तरमवधिज्ञानम्, तथाहि—अप्रतिपतितैकसत्त्वाधारापेक्षयाऽवस्थितिका[6]लोऽवधिज्ञानस्य षट्षष्टिसागरोपमाणि । तथा यथैव मतिश्रुतज्ञाने मिथ्यात्वोदयतो विपर्ययतामासादयतस्तथाऽवधिज्ञानमपि, तथाहि—मिथ्यादृष्टेः सतस्तान्येव मतिश्रुतावधिज्ञानानि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानानि भवन्ति । उक्तं च—

> आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम् ॥ (प्रशम० पद्य २२७) इति ।

तथा य एव मतिश्रुतयोः स्वामी स एवावधिज्ञानस्यापि । तथा विभङ्गज्ञानिनस्त्रिदशादेः सम्यग्दर्शनावाप्तौ युगपदेव मतिश्रुतावधिज्ञानानां लाभसंभवस्ततो लाभसाधर्म्यम् । अवधिज्ञानानन्तरं च छद्मस्थविषयभावप्रत्यक्षत्वसाधर्म्यान्मनःपर्यायज्ञानमुक्तम्, तथाहि—यथाऽवधिज्ञानं छद्मस्थस्य भवति तथा मनःपर्यायज्ञानमपि इति छद्मस्थसाधर्म्यम् । तथा यथाऽवधिज्ञानं रूपिद्रव्यविषयं तथा मनःपर्यायज्ञानमपि, तस्य मनःपुद्गलाऽऽलम्बनत्वाद् इति विषयसाधर्म्यम् । तथा यथाऽवधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्तते तथा मनःपर्यायज्ञानमपि इति भावसाधर्म्यम् ।

---

१ श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः भवति श्रुतं शेषकं तु मतिज्ञानम् । मुक्त्वा द्रव्यश्रुतमक्षरलाभश्च शेषेषु ॥ २ त्वक्सदृशम् ॥ ३ रज्जुसदृशम् ॥ ४ मिश्रितत्वात् ॥ ५ लक्षणभेदाद् हेतुफलभावतो भेदेन्द्रियविभागात् । वल्काक्षरमूकेतरभेदाद्भेदो मतिश्रुतयोः ॥ ६ ०लो मतिश्रुतयोरिवावधि० ग०ङ ॥

तच्चतुर्धा भवति, तद्यथा—अवग्रह ईहा अपायः धारणा । यदाह—

[1]से किं तं सुयनिस्सियं मइनाणं ? सुयनिस्सियं मइनाणं चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा—उग्गहो ईहा अवाए धारणा ॥ (नन्दी पत्र १६८--१)

पुनरवग्रहो द्वेधा—व्यञ्जनावग्रहः अर्थावग्रहश्च । आह च—

[2]से किं तं उग्गहे ? उग्गहे दुविहे [3]पन्नत्ते, तं जहा—वंजणुग्गहे अत्थुग्गहे य ॥ (नन्दी पत्र १६८--२)

तत्र व्यज्यते—प्रकटीक्रियतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनम् । आह च—

[4]वंजिज्जइ जेणत्थो घडु व्व दीवेण वंजणं तं च । (विशे० गा० १९४)

तच्चोपकरणेन्द्रियं कदम्बपुष्पातिमुक्त[5]कपुष्पक्षुरप्रनानाकृतिसंस्थितश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनलक्षणं शब्दगन्धरसस्पर्शपरिणतद्रव्यसङ्घातो वा । ततश्च व्यञ्जनेनोपकरणेन्द्रियेण व्यञ्जनानां शब्दादिपरिणतद्रव्याणामवग्रहणं परिच्छेदनमेकस्य व्यञ्जनशब्दस्य लोपाद्व्यञ्जनावग्रहः, किमपीदमित्यव्यक्तज्ञानरूपार्थावग्रहादधोऽव्यक्ततरं ज्ञानमित्यर्थः । अयं चतुर्धा । यदाह सूत्रकृत्—"वंजणवग्गहु चउह" त्ति स्पष्टम् । चातुर्विध्यमेव भावयति--"मणनयणविणिंदियचउक" त्ति मनश्च मानसं नयनं च लोचनं मनोनयने, मनोनयने विना मनोनयनविना, "नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम्" (सि० ३-१-१८) इति समासः । इन्द्रियाणां चतुष्कमिन्द्रियचतुष्कं तस्माद् इन्द्रियचतुष्कात्, अत्र "गम्ययपः कर्माधारे" (सि० २-२-७४) इति पञ्चमी । मनोनयनवर्जमिन्द्रियचतुष्कमाश्रित्य व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्धा भवतीति भावार्थः ।

उक्तं च नन्द्यध्ययने—

से [6]किं तं वंजणुग्गहे ? वंजणुग्गहे चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—सोइंदियवंजणुग्गहे घाणिंदियवंजणुग्गहे रसणिंदियवंजणुग्गहे फासिंदियवंजणुग्गहे ॥ (नन्दी पत्र १६९--२)

मनोनयनयोर्वर्जनं किमर्थम् ? इति चेद् उच्यते--मनोनयनयोरप्राप्तकारित्वात्, अप्राप्तकारित्वं च विषयकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वात्, प्राप्तकारित्वे पुनरनलजलशूल्यादीनां चिन्तनेऽवलोकने च दहनक्लेदनपाटनादयः स्युः । अत्र च विषयदेशं गत्वा न पश्यति, प्राप्तं चार्थं नालम्बत इत्येतावन्नियम्यते, मूर्तिमता पुनः प्राप्तेन भवत एवानुग्रहोपघातौ दिनकरकिरणादिनेति ।

---

१ अथ किं तत् श्रुतनिश्रितं मतिज्ञानम् ? श्रुतनिश्रितं मतिज्ञानं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अवग्रह ईहा अपायः धारणा ॥ २ अथ कोऽसाववग्रहः ? अवग्रहो द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—व्यञ्जनावग्रहोऽर्थावग्रहश्च ॥ ३ ०न्नत्ते वंज० क० ग० ॥ ४ व्यज्यते येनार्थः घट इव दीपेन व्यञ्जनं तच्च ॥ ५ ०क्तचन्द्रक्षु० क० । ०क्तपुष्पचन्द्रक्षु घ० ङ० ॥ ६ अथ कोऽसौ व्यञ्जनावग्रहः ? व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहो घ्राणेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहो रसनेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहः स्पर्शेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहः ।

अन्यस्त्वाह—व्यवहितार्थानुपलब्धेरनुमानात् प्राप्तकारित्वं लोचनस्येति, एतदयुक्तम्, अनैकान्तिकत्वात्, काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितस्याप्युपलब्धेः। स्यादेतत्, नायना रश्मयो निर्गत्य तमर्थं गृह्णन्तीति दर्शनरश्मीनां तैजसत्वात् तेजोद्रव्यैरप्रतिस्खलनाददोष इति, एतदप्ययुक्तम्, महाज्वालादौ प्रतिस्खलनोपलब्धेरित्यत्र बहु वक्तव्यम् तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगहनताप्रसङ्गात्।

व्यञ्जनावग्रहस्य च कालो जघन्य आवलिकासङ्ख्येयभागतुल्यः, उत्कृष्ट आनप्राणपृथक्त्वम्। उक्तं च—

[1]वंजणवग्गहकालो, आवलियअसंखभागतुल्लो उ।
थोवो उक्कोसो पुण, आणापाणप्पहुत्तं ति॥ इति॥ ४॥

उक्तश्चतुर्धा व्यञ्जनावग्रहः। अथार्थावग्रहादीन् व्याचिख्यासुराह—

अत्थुग्गहईहावायधारणा करणमाणसेहिँ छहा।
इय अट्ठवीसभेयं, चउदसहा वीसहा व सुयं॥ ५॥

अर्यत इत्यर्थस्तस्य शब्दरूपादिभेदानामन्यतरेणापि भेदेनानिर्धारितस्य सामान्यरूपस्यावग्रहणमर्थावग्रहः, किमपीदमित्यव्यक्तज्ञानमित्यर्थः। स च करणमानसैः षोढा भवति, तत्र करणानि चेन्द्रियाणि पञ्च मानसं च मनः करणमानसानि तैः करणमानसैः कृत्वा। इदमुक्तं भवति—श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रहः १ चक्षुरिन्द्रियार्थावग्रहः २ घ्राणेन्द्रियार्थावग्रहः ३ रसनेन्द्रियार्थावग्रहः ४ स्पर्शनेन्द्रियार्थावग्रहः ५ मानसार्थावग्रहः ६ इति षोढाऽर्थावग्रहः। तथाऽवगृहीतस्यैव वस्तुनः 'किमयं भवेत् स्थाणुरेव ? न तु पुरुषः' इत्यादिवस्तुधर्मान्वेषणात्मकं ज्ञानचेष्टनमीहा, ईहनमीहेति कृत्वा।

अरण्यमेतत् सविताऽस्तमागतो, न चाधुना सम्भवतीह मानवः।
प्रायस्तदेतेन खगादिभाजा, भाव्यं [3]स्मरारातिसमाननाम्ना॥

इत्याद्यन्वयधर्मघटनव्यतिरेकधर्मनिराकरणाभिमुखतालिङ्गितो ज्ञानविशेष ईहेति हृदयम्। सापि करणमानसैः षोढैव। तथा ईहितस्यैव वस्तुनः स्थाणुरेवायमिति निश्चयात्मको बोधविशेषोऽवायः, अयमपि करणमानसैः षोढा। तथा निश्चितस्यैवाविच्युतिस्मृतिवासनारूपं धरणं धारणा। सापि करणमानसैः षोढैव। अर्थावग्रहादीनां च कालप्रमाणमिदम्—

[2]उग्गह एक्कं समयं, ईहाऽवाया मुहुत्तमद्धं तु।
कालमसंखं संखं, च धारणा होइ नायव्वा॥ (आ० नि० गा० ४) इति।

---

1 [illegible] आवलिकासङ्ख्येयभागतुल्यस्तु। स्तोक उत्कृष्टः पुनरानप्राणपृथक्त्वमिति॥
2 [illegible] एकं समयमीहाऽवायौ मुहूर्तमध्यं (भिन्नमुहूर्तं) तु। कालमसङ्ख्यातं [illegible] ज्ञातव्या॥
3 [illegible]

पूर्वोक्तप्रकारेणार्थावग्रहादीनां चतुर्णां प्रत्येकं षड्विधत्वात् व्यञ्जनावग्रहभेदचतुष्टयेन सह श्रुतनिश्रितं मतिज्ञानमष्टाविंशतिभेदं भवति । अश्रुतनिश्रितेन त्वौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयेन सह द्वात्रिंशद्भेदं भवति । जातिस्मरणमपि समतिक्रान्तसङ्ख्यातभवावगमस्वरूपं मतिज्ञानभेद एव । तथा चाचाराङ्गटीका—

जातिस्मरणं त्वाभिनिबोधिकविशेषः ॥ (पत्र २०--१)

अथवा "बहु १बहुविध२क्षिप्र३ऽनिश्रिता४ऽसन्दिग्ध५ध्रुवाणां६ सेतराणाम्" (तत्त्वा० अ० १ सू० १६) इति वचनादष्टाविंशतिरपि द्वादशधा भिद्यते । तथाहि—बहूनामपि श्रोतॄणामविशेषेण शब्दविषयस्थेऽपि शङ्खभेर्यादितूर्यसमुदाये क्षयोपशमवैचित्र्यात् कश्चिदवग्रहादिभिर्बहु गृह्णाति, एकहेलास्फालितानामपि शङ्खभेर्यादितूर्याणां पृथक् पृथक् शब्दं गृह्णातीत्यर्थः १ । अपरस्त्वबहु गृह्णाति, अव्यक्ततूर्यध्वनिमेवोपलभत इत्यर्थः २ । अन्यस्तु योषिदादिवाद्यमानतामधुरमन्द्रत्वादिबहुपर्यायोपेतान् शङ्खादिध्वनीन्[1] पृथक् पृथग् जानातीति बहुविधग्राहीत्युच्यते ३ । एकादिपर्यायोपेतांस्तु तानेव जानानोऽबहुविधग्राही ४ । अन्यस्तु क्षिप्रमचिरेणार्थं जानाति ५ । अन्यस्तु [2]विमृश्य चिरेणेति ६ । अन्यस्त्वनिश्रितमलिङ्गं गृह्णाति न पुनः पताकयेव देवकुलम् ७ । अपरस्तु पताकया देवकुलमिव लिङ्गनिश्रया गृह्णाति ८ । यद् असंशयं गृह्णाति तद् असन्दिग्धम् ९ । संशयोपेतं तु यद् गृह्णाति तत् सन्दिग्धम् १० । यत् एकदा गृहीतं तत् सर्वदैवावश्यं गृह्णाति न पुनः कालान्तरे तद्ग्रहणे परोपदेशादिकमपेक्षते तद् ध्रुवम् ११ । यत् पुनः कदाचिदेव गृह्णाति न सर्वदा तद् अध्रुवम् १२ । एवमेतैर्द्वादशभिर्भेदैरवग्रहादयः पूर्वोक्तभेदयुक्ता वस्तु गृह्णन्तीत्यष्टाविंशत्या द्वादशभिर्गुणितया त्रीणि शतानि षट्त्रिंशदधिकानि भवन्ति । यदाह भाष्यपीयूषपयोधिः—

> [3]जं बहुबहुविहखिप्पानिस्सियनिच्छियधुवेयरविभत्ता ।
> पुणरुग्गहादओ तो, तं छत्तीसं तिसयभेयं ॥
> [4]ना[5]णासद्दसमूहं, बहुं पिहं मुणइ भिन्नजाईयं ।
> बहुविहमणेगभेयं, इक्किक्कं निद्धमहुराई ॥
> [6]खिप्पमचिरेण तं चिय, सरूवओ तं अणिस्सियमलिंगं ।
> निच्छियमसंसयं जं, धुवमच्चंतं न य कयाई ॥ (विशे० गा० ३०७--९)

---

१ °न् पृथग् जा° क० ख० ग० ॥ २ °श्य विमृश्य चि° ख० घ० ङ० ॥ ३ यद् बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितनिश्चितध्रुवेतरविभक्ताः । पुनरवग्रहादयोऽतस्तत् षट्त्रिंशत्त्रिशतभेदम् ॥ ४ नानाशब्दसमूहं बहुं पृथग् जानाति भिन्नजातिकम् । बहुविधमनेकभेदमेकैकं स्निग्धमधुरादि ॥५ नाणं सद्द° क० ख० ग० घ०ङ०॥६ क्षिप्रमचिरेण तच्चैव स्वरूपतः तदनिश्रितमलिङ्गम् । निश्चितमसंशयं यद् ध्रुवमत्यन्तं न च कदाचित् ।

अश्रुतनिश्रितबुद्धिचतुष्टयेन सह चत्वारिंशदधिकानि त्रीणि शतानि मतिज्ञानस्य भेदानां भवन्ति । यद्वा मतिज्ञानं चतुर्विधं द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् । यदाहुर्निर्दलिताज्ञानसम्भारप्रसराः [1]श्रीदेवर्द्धिवाचकवराः–

[2]तं समासओ चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा--दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ । दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वदव्वाइं जाणइ न पासइ । खित्तओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वं खित्तं जाणइ न पासइ । कालओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वकालं जाणइ न पासइ । भावओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वभावे जाणइ न पासइ । (नन्दी पत्र १८३-२) इति ।

व्याख्यातं सप्रपञ्चं मतिज्ञानम् । साम्प्रतं श्रुतज्ञानं व्याचिख्यासुराह--"चउदसहा वीसहा व सुयं" ति 'श्रुतं' श्रुतज्ञानं 'चतुर्दशधा' चतुर्दशभेदं 'विंशतिधा' विंशतिप्रकारं[3] वा भवतीति ॥ ५ ॥ तत्र प्रथमं श्रुतस्य चतुर्दश भेदान् व्याख्यानयन्नाह–

अक्खर सन्नी सम्मं, साईअं खलु सपज्जवसियं च ।
गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥ ६ ॥

इह श्रुतशब्दः पूर्वगाथातः सम्बध्यते । ततोऽक्षरश्रुतं १ संज्ञिश्रुतं २ सम्यक्श्रुतं ३ सादिश्रुतं ४ सपर्यवसितश्रुतं ५ गमिकश्रुतम् ६ अङ्गप्रविष्टश्रुतम् ७ इत्येते सप्त भेदाः सप्रतिपक्षाः श्रुतस्य चतुर्दश भेदा भवन्ति । तथाहि–अक्षरश्रुतप्रतिपक्षम् अनक्षरश्रुतम् १ एवमसंज्ञिश्रुतं २ मिथ्याश्रुतम् ३ अनादिश्रुतम् ४ अपर्यवसितश्रुतम् ५ अगमिकश्रुतम् ६ अङ्गबाह्यश्रुतम् ७ इति । तत्राक्षरं त्रिधा--संज्ञाव्यञ्जनलब्धिभेदात् । उक्तं च--

[4]तं सन्नावंजणलद्धिसन्नियं तिविहमक्खरं भणियं ।
सुयबहुलिविभेयनियमयं, सन्नक्खरमक्खरागारो ॥ (विशे० गा० ४६४)

सुबहुधो या एता अष्टादश लिपयः श्रूयन्ते, तथाहि--

[5]हंसलिवी १ भूयलिवी २, जक्खी ३ तह रक्खसी ४ य बोधव्वा ।
उड्डी ५ जवणि ६ [6]तुरुक्की ७, कीरी ८ दविडी ९ य सिंधविया १० ॥

१ [illegible] ॥ २ तत् समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः । द्रव्यतः [illegible] (एवं सर्वत्र) आभिनिबोधिकज्ञानी आदेशेन सर्वद्रव्याणि जानाति न पश्यति । क्षेत्रतः आभिनिबोधिकज्ञानी आदेशेन सर्वं क्षेत्रं जानाति न पश्यति । कालतः आभिनिबोधिकज्ञानी आदेशेन [illegible] जानाति न पश्यति । भावतः आभिनिबोधिकज्ञानी आदेशेन सर्वान् भावान् जानाति न पश्यति । ३ [illegible] ॥ ४ तत् संज्ञाव्यञ्जनलब्धिसंज्ञिकं त्रिविधमक्षरं भणितम् । सुबहुलिपिभेद- [illegible] ५ हंसलिपिर्भूतलिपिर्यक्षी तथा राक्षसी च बोद्धव्या । ओड्री यवनी तुरुष्की कीरी [illegible] ६ [illegible] ॥

[1]मालविणी ११ नडि १२ नागरि १३, लाडलिवी १४ पारसी १५ य बोधव्वा ।
तह अनिमित्तीय १६ लिवी, चाणक्की १७ मूलदेवी य १८ ॥

व्यञ्जनाक्षरमकारादि हकारपर्यन्तमुच्यते । तदेतद्द्वितयमज्ञानात्मकमपि श्रुतकारणत्वादुपचारेण श्रुतम् । लब्ध्यक्षरं तु शब्दश्रवणरूपदर्शनादेरर्थप्रत्यायनगर्भोऽक्षरोपलब्धिः । यदाह—

[2]जो अक्खरोवलंभो, सा लद्धी तं च होइ विन्नाणं ।
इंदियमणोनिमित्तं, जो आवरणक्खओवसमो ॥ (विशे० गा० ४६६)

ततोऽक्षरैरभिलाप्यभावानां प्रतिपादनप्रधानं श्रुतमक्षरश्रुतम् १ । नन्वनभिलाप्या अपि किं केचिद्भावाः सन्ति, येनैवमुच्यतेऽभिलाप्यभावानां प्रतिपादनप्रधानं श्रुतम् १ इति, उच्यते—सन्त्येव । यदाहुः **श्रीपूज्याः**—

[3]पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुयनिबद्धो ॥
[4]जं चउदसपुव्वधरा, छट्ठाणगया परुप्परं हुंति ।
तेण उ अणंतभागो, पण्णवणिज्जाण जं [5]सुत्तं ॥
[6]अक्खरलंभेण समा, ऊणहिया हुंति मइविसेसेणं ।
ते वि हु मईविसेसा, सुयनाणब्भंतरे जाण (विशे० गा० १४१-४३)

अनक्षरश्रुतं क्ष्वेडितशिरःकम्पनादिनिमित्तं मामाह्वयति वारयति वेत्यादिरूपमभिप्रायपरिज्ञानम् २। तथा संज्ञिश्रुतं तत्र संज्ञानं संज्ञा "उपसर्गादातः" (सि० ५-३-११०) इत्यङ्प्रत्ययः । सा च त्रिविधा—दीर्घकालिकी हेतुवादोपदेशिकी दृष्टिवादोपदेशिकी ।

यदाह भाष्यसुधाम्भोनिधिः—

[7]इह दीहकालिगी कालिगि त्ति सन्ना जया सुदीहं पि ।
संभरइ भूयमिस्सं, चिंतेइ य किह णु कायव्वं ॥ (विशे० गा० ५०८)
[8]जे पुण संचिंतेउं, इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थूसु ।
वट्टंति नियत्तंति य, सदेहपरिवालणाहेउं ॥

---

१ मालविनी नटी नागरी लाटलिपिः पारसी च बोद्धव्या । तथाऽनिमित्तिका लिपिश्चाणक्या मूलदेवी च ॥ २ योऽक्षरोपलम्भः सा लब्धिस्तच्च भवति विज्ञानम् । इन्द्रियमनोनिमित्तं य आवरणक्षयोपशमः ॥ ३ प्रज्ञापनीया भावा अनन्तभागस्त्वनभिलाप्यानाम् । प्रज्ञापनीयानां पुनरनन्तभागः श्रुतनिबद्धः ॥ ४ यच्चतुर्दशपूर्वधराः षट्स्थानगताः परस्परं भवन्ति । तेन त्वनन्तभागः प्रज्ञापनीयानां यत् सूत्रम् ॥ ५ वुत्तं क० घ० ॥ ६ अक्षरलम्भेन समा ऊनाधिका भवन्ति मतिविशेषैः । तानपि तु मतिविशेषान् श्रुतज्ञानाभ्यन्तरे जानीहि ॥ ७ इह दीर्घकालिकी कालिकीति संज्ञा यया सुदीर्घमपि । संस्मरति भूतमेष्यत् चिन्तयति च कथं नु कर्तव्यम् ॥ ८ ये पुनः सञ्चिन्त्य इष्टानिष्टेषु विषयवस्तुषु । वर्तन्ते निवर्तन्ते च स्वदेहपरिपालनाहेतोः ॥

* सिरिलोकबिन्दुसारे १४, सड्ढदुवालस य पयलक्खा ॥
अङ्गबाह्यश्रुतम् आवश्यकदशवैकालिकादि १४ इति ॥६॥
व्याख्यातं चतुर्दशधा श्रुतम् । सम्प्रति विंशतिधा श्रुतं व्याख्यानयन्नाह–

पज्जय १ अक्खर २ पय ३ संघाया ४ पडिवत्ति ५ तह य अणुओगो ६ ।
पाहुडपाहुड ७ पाहुड ८ वत्थू ९ पुव्वा १० य ससमासा ॥७॥

पर्यायश्च अक्षरं च पदं च सङ्घातश्च पर्यायाक्षरपदसङ्घाताः । "पडिवत्ति" त्ति प्रतिपत्तिः, प्राकृतत्वात् लुप्तविभक्तिको निर्देशः । तथा च 'अनुयोगः' अनुयोगद्वारलक्षणः । प्राभृतप्राभृतं च प्राभृतं च वस्तु च पूर्वं च प्राभृतप्राभृतप्राभृतवस्तुपूर्वाणि । प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययः । यदाह **पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे**–"लिङ्गं व्यभिचार्यपि" । 'चः' समुच्चये । एते पर्यायादयः श्रुतस्य दश भेदाः कथम्भूताः? इत्याह–"ससमास" त्ति समासः–संक्षेपो मीलक इत्यर्थः, सह समासेन वर्तन्ते ससमासास्ततश्च प्रत्येकं सम्बन्धः । तथाहि–पर्यायः पर्यायसमासः, अक्षरम् अक्षरसमासः, पदं पदसमासः, सङ्घातः सङ्घातसमासः, प्रतिपत्तिः प्रतिपत्तिसमासः, अनुयोगः अनुयोगसमासः, प्राभृतप्राभृतं प्राभृतप्राभृतसमासः, प्राभृतं प्राभृतसमासः, वस्तु वस्तुसमासः, पूर्वं पूर्वसमास इति विंशतिधा श्रुतं भवतीति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्–पर्यायो ज्ञानस्यांशो विभागः पलिच्छेद इति पर्यायाः । तत्रैको ज्ञानांशः पर्यायः, अनेके तु ज्ञानांशाः पर्यायसमासः । एतदुक्तं भवति–लब्ध्यपर्याप्तस्य सूक्ष्मनिगोदजीवस्य यत् सर्वजघन्यं श्रुतमात्रं तस्मादन्यत्र जीवान्तरे य एकः श्रुतज्ञानांशोऽविभागपलिच्छेदरूपो वर्धते स पर्यायः १ ये तु द्व्यादयः श्रुतज्ञानाविभागपलिच्छेदा नानाजीवेषु वृद्धा लभ्यन्ते ते समुदिताः पर्यायसमासः २ । अकारादिलब्ध्यक्षराणामन्यतरदक्षरम् ३ । तेषामेव द्व्यादिसमुदायोऽक्षरसमासः ४ । पदं तु 'अर्थपरिसमाप्तिः पदम्' इत्याद्युक्तिसद्भावेऽपि येन केनचित्पदेनाऽष्टादशपदसहस्रादिप्रमाणा आचारादिग्रन्था गीयन्ते तदिह गृह्यते, तस्यैव द्वादशाङ्गश्रुतपरिमाणेऽधिकृतत्वात् , श्रुतभेदानामेव चेह प्रस्तुतत्वात् । तस्य च पदस्य तथाविधाम्नायाभावात् प्रमाणं न ज्ञायते । तत्रैकं पदं पदमुच्यते ५ । द्व्यादिपदसमुदायस्तु पदसमासः ६ । "[1]गइ इंदिए य काए" (आ० नि० गा० १४) इत्यादिगाथाप्रतिपादितद्वारकलापस्यैकदेशो यो गत्यादिकस्तस्याप्येकदेशो यो नरकगत्यादिस्तत्र जीवादिमार्गणा यका क्रियते स सङ्घातः ७ । द्व्यादिगत्याद्यवयवमार्गणा सङ्घातसमासः ८ । गत्यादिद्वाराणामन्यतरैकपरिपूर्णगत्यादिद्वारेण जीवादिमार्गणा प्रतिपत्तिः ९ । द्वारद्वयादिमार्गणा तु प्रतिपत्तिसमासः १० । "[2]संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च" (आ०

* श्रीलोकबिन्दुसारे १४ सार्धद्वादश च पदलक्षम् ॥ १ गतिः इन्द्रियं कायः ॥ २ सत्पदप्ररूपणता द्रव्यप्रमाणं च ॥

जोयणसहस्साइं, उक्कोसेणं लोगं पासित्ताणं परिवडिज्जा, से त्तं पडिवाई । (नन्दी पत्र ९६-२)

तथा न प्रतिपाति अप्रतिपाति, यत् किलाऽलोकस्य प्रदेशमेकमपि पश्यति तद् अप्रतिपातीति भावः ६ । हीयमानकप्रतिपातिनोः कः प्रतिविशेषः ? इति चेद् उच्यते—हीयमानकं पूर्वावस्थातोऽधोऽधो ह्रासमुपगच्छदभिधीयते, यत् पुनः प्रदीप इव निर्मूलमेककालमपगच्छति तत् प्रतिपातीति ।

स्वतन्त्रं ज्ञानमेव गृह्यत इति। अथवा ऋज्वी—सामान्यग्राहिणी मतिरस्यासौ ऋजुमतिः। विपुला-विशेषग्राहिणी मतिरस्य स विपुलमतिः, अस्यां व्युत्पत्तौ तद्वान् गृह्यते। यद्वा मनःपर्यायज्ञानं चतुर्विधम्—द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्। उक्तं च—

[1]तं समासओ चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं उज्जुमई अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ। ते चेव विउलमई अब्भहियतराए विमलतराए जाणइ पासइ (नन्दी पत्र १०७-२) त्ति।

क्षेत्रतः पुनर्ऋजुमतिरधो यावदधोलौकिकग्रामान् जानाति। यदाहुश्चतुर्दशप्रकरणशतप्रासादसूत्रधारकल्पप्रभुश्रीहरिभद्रसूरिपादा नन्दिवृत्तौ—

[2]इहाधोलौकिकान् ग्रामान्, तिर्यग्लोकविवर्तिनः।
मनोगतांस्त्वसौ भावान्, वेत्ति तद्वर्तिनामपि॥ (पत्र ४७)

ऊर्ध्वं यावद् ज्योतिश्चक्रस्योपरितलम्।

तिरियं जाव अंतो मणुस्सखित्ते अड्ढाइज्जेसु दीवेसु दोसु य समुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाए अंतरदीवेसु सन्नीणं पचिंदियाणं पज्जत्तगाणं मणोगए भावे जाणइ पासइ। तं चेव विउलमई अड्ढाइज्जेहिं अंगुलेहिं अब्भहियतरयं विसुद्धतरयं खेत्तं जाणइ पासइ। (नन्दी पत्र १०८-१)।

इह व्याख्या—'अन्तः' मध्ये मनुष्यक्षेत्रस्य 'अर्धतृतीयद्वीपेषु' जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करवरद्वीपार्धेषु 'द्वयोः समुद्रयोः' लवणसमुद्रकालोदसमुद्रयोः 'पञ्चदशसु कर्मभूमिषु' भरतपञ्चकैरवतपञ्चकमहाविदेहपञ्चकलक्षणासु 'त्रिंशत्यकर्मभूमिषु' हैमवतपञ्चकहरिवर्षपञ्चकदेवकुरुपञ्चकोत्तरकुरुपञ्चकरम्यकपञ्चकहैरण्यवतपञ्चकरूपासु। तथा लवणसमुद्रस्यान्तर्मध्ये भवा द्वीपा आन्तरद्वीपास्ते च षट्पञ्चाशत्सङ्ख्याः। तथाहि—इह जम्बूद्वीपे भरतस्य हैमवतस्य च क्षेत्रस्य सीमाकारी भूमिनिमग्नपञ्चविंशतियोजनो योजनशतोच्छ्रयपरिमाणो भरतक्षेत्रापेक्षया द्विगुणविष्कम्भो हेममयश्चीनपट्टवर्णो नानावर्णविशिष्टद्युतिमणिनिकरपरिमण्डितोभयपार्श्वः सर्वत्र तुल्यविस्तरो गगनमण्डलोल्लेखिरत्नमयैकादशकूटोपशोभितो वज्रमयतलविविधमणिकनकमण्डितभूमिभागदशयोजनावगाढपूर्वपश्चिमयोजनसहस्रायामदक्षिणोत्तरपञ्चयोजनशतविस्तारपद्महृदशोभितशिरोमध्यविभागः सर्वतः कल्पपादपश्रेणिरमणीयः पूर्वापरपर्यन्ताभ्यां लवणोदार्णवजलसंस्पर्शी हिमवन्नाम पर्वतः, तस्य लवणोदार्णवजलसंस्पर्शादारभ्य पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि प्रत्येकं द्वे द्वे

---

१ तत् समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः। द्रव्यत ऋजुमतिरनन्तानन्तप्रदेशिकान् स्कन्धान् जानाति पश्यति। तानेव विपुलमतिरभ्यधिकतरान् विमलतरान् जानाति पश्यति॥ २ एतद् वृत्तं नन्दिचूर्णावप्यस्ति॥

गजदन्ताकारे दंष्ट्रे विनिर्गते, तत्रैशान्यां दिशि या विनिर्गता दंष्ट्रा तस्यां हिमवतः पर्यन्तादारभ्य त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्यात्रान्तरे योजनशतत्रयायामविष्कम्भः किञ्चिन्न्यूनैकोनपञ्चाशदधिकनवयोजनशतपरिरय एकोरुकनामा द्वीपो वर्तते, अयं च पद्म-धनुःशतप्रमाणविष्कम्भया द्विगव्यूतोच्छ्रितया पद्मवरवेदिकया सर्वतः परिमण्डितः, साऽपि च पद्मवरवेदिका सर्वतो वनखण्डपरिक्षिप्ता, तस्य च वनखण्डस्य चक्रवालतया विष्कम्भो देशोने द्वे योजने परिक्षेपः पद्मवरवेदिकाप्रमाणः । तथा तस्यैव हिमवतः पर्वतस्य पर्यन्तादारभ्य दक्षिणपूर्वस्यां दिशि त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य द्वितीयदंष्ट्राया उपरि एकोरुक-द्वीपप्रमाण आभासिकनामा द्वीपो वर्तते । तथा तस्यैव हिमवतः पश्चिमायां दिशि पर्यन्तादारभ्य दक्षिणपश्चिमायां त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य दंष्ट्राया उपरि यथोक्तप्रमाणो वैषा-णिकनामा द्वीपः । तथा तस्यैव हिमवतः पश्चिमायां दिशि पर्यन्तादारभ्य पश्चिमोत्तरस्यां दिशि त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य दंष्ट्राया उपरि पूर्वोक्तप्रमाणो नाङ्गोलिकनामा द्वीपः । एवमेते चत्वारो द्वीपा हिमवतश्चतसृष्वपि विदिक्षु तुल्यप्रमाणा अवतिष्ठन्ते । तत एषामेको-रुकादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि योजन-शतान्यतिक्रम्य चतुर्योजनशतायामविष्कम्भाः किञ्चिन्न्यूनपञ्चषष्टिसहितद्वादशयोजनशतपरिक्षेपा यथोक्तपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकातश्चतुर्योजनशतप्रमाणान्तरा हय-कर्णगजकर्णगोकर्णशष्कुलीकर्णनामानश्चत्वारो द्वीपाः । तद्यथा—एकोरुकस्य परतो हयकर्णः, आभासिकस्य परतो गजकर्णः, वैषाणिकस्य परतो गोकर्णः, नाङ्गोलिकस्य परतः शष्कुलीकर्णः, एवमग्रेऽपि भावना कार्या । तत एतेषामपि हयकर्णादीनां चतुर्णामपि द्वीपानां परतः पुनरपि यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं पञ्च पञ्च योजनशतान्यतिक्रम्य पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भा एकाशीत्यधिकपञ्चदशयोजनशतपरिक्षेपाः पूर्वोक्तप्रमाणपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितबाह्यप्रदेशा जम्बूद्वीपवेदिकातः पञ्चयोजनशतप्रमाणान्तरा आदर्शमुखमेण्ढमुखाऽयोमुखगोमुखनामानश्चत्वारो द्वीपाः । एतेषामप्यादर्शमुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो भूयोऽपि यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं षट् षट् योजनशतान्यतिक्रम्य षड्योजनशतायामविष्कम्भाः सप्तनवत्यधिकाष्टादशयोजन-शतपरिक्षेपा यथोक्तप्रमाणपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकातः षड्योजन-शतप्रमाणान्तरा अश्वमुखहस्तिमुखसिंहमुखव्याघ्रमुखनामानश्चत्वारो द्वीपाः । एतेषामप्यश्वमुखा-दीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं सप्त सप्त योजनशतान्यतिक्रम्य सप्तयोजनशतायामविष्कम्भास्त्रयोदशाधिकद्वाविंशतियोजनशतपरिरयाः पूर्वोक्तप्रमाणपद्मवरवे-दिकावनखण्डमण्डिता जम्बूद्वीपवेदिकातः सप्तयोजनशतप्रमाणान्तरा अश्वकर्णहयकर्णाकर्णक-र्णप्रावरणनामानश्चत्वारो द्वीपाः । तत एतेषामश्वकर्णादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्त-

रादिविदिक्षु प्रत्येकमष्टावष्टौ योजनशतान्यतिक्रम्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भा एकोनत्रिंशदधिकपञ्चविंशतियोजनशतपरिक्षेपा यथोक्तप्रमाणपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकातोऽष्टयोजनशतप्रमाणान्तरा उल्कामुखमेघमुखविद्युन्मुखविद्युद्दन्ताभिधानाश्चत्वारो द्वीपाः । ततोऽमीषामप्युल्कामुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं नव नव योजनशतान्यतिक्रम्य नवयोजनशतायामविष्कम्भाः पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टाविंशतियोजनशतपरिक्षेपा यथोक्तप्रमाणपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकातो नवयोजनशतप्रमाणान्तरा घनदन्तलष्टदन्तगूढदन्तशुद्धदन्तनामानश्चत्वारो द्वीपाः । एवमेते सप्त चतुष्का हिमवति पर्वते चतसृष्वपि विदिक्षु व्यवस्थिताः, सर्वसंख्ययाऽष्टाविंशतिः । एवं हिमवत्तुल्यवर्णप्रमाणे पद्महृदप्रमाणायामविष्कम्भायामपुण्डरीकहृदोपशोभिते शिखरिण्यपि लवणोदार्णवजलसंस्पर्शादारभ्य यथोक्तप्रमाणान्तराश्चतसृषु विदिक्षु व्यवस्थिता एकोरुकादिनामानोऽक्षुण्णायान्तरालायामविष्कम्भा अष्टाविंशतिसङ्ख्या द्वीपा वक्तव्याः, सर्वसङ्ख्यया षट्पञ्चाशदन्तर्द्वीपाः । एतद्गता मनुष्या अप्येतन्नामान उपचारात्, भवति च तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः, यथा पञ्चालदेशनिवासिनः पुरुषाः पञ्चाला इति । ते च मनुष्या वज्रऋषभनाराचसंहनिनः समचतुरस्रसंस्थानाः सर्वाङ्गोपाङ्गसुन्दराः कमण्डलुकलशयूपस्तूपवापीध्वजपताकासौवस्तिकयवमत्स्यमकरकूर्मरथवरस्थालाङ्कुशाष्टापदाङ्कुशसुप्रतिष्ठकमयूरश्रीदामाभिषेकतोरणमेदिनीजलधिवरभवनादर्शपर्वतगजवृषभसिंहच्छत्रचामरप्रशस्तोत्तमद्वात्रिंशल्लक्षणधराः स्वभावत एव सुरभिवदनाः प्रतनुक्रोधमानमायालोभाः सन्तोषिणो निरौत्सुक्या मार्दवार्जवसम्पन्नाः सत्यपि मनोहारिणि मणिकनकमौक्तिकादौ ममत्वकारणे ममत्वाभिनिवेशरहिताः सर्वथाऽपगतवैरानुबन्धा हस्त्यश्वकरभगोमहिष्यादिसद्भावेऽपि तत्परिभोगपराङ्मुखाः पादविहारिणो ज्वरादिरोगयक्षभूतपिशाचादिग्रहमारिव्यसनोपनिपातविकलाः परस्परप्रेष्यप्रेषकभावरहितत्वादहमिन्द्राः । तेषां पृष्ठकरण्डकानि चतुःषष्टिसङ्ख्याकानि, चतुर्थातिक्रमे चाहारग्रहणम्, आहारोऽपि च न शाल्यादिधान्यनिष्पन्नः किन्तु पृथिवीमृत्तिका कल्पद्रुमाणां पुष्पफलानि च । तथाहि—जायन्ते खलु तत्रापि विस्रसात एव शालिगोधूममुद्गमाषादीनि धान्यानि परं न तानि मनुष्याणामुपभोगं गच्छन्ति, या तु पृथिवी सा शर्करातोऽप्यनन्तगुणमाधुर्या, यश्च कल्पद्रुमफलानामास्वादः स चक्रवर्तिभोजनादप्यधिकगुणः । यदुक्तम्—

'[1]तेसि णं भंते ! पुप्फफलाणं केरिसए आसाए पन्नत्ते ? गोयमा ! से जहानामए रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स कल्लाणे भोयणजाए सयसहस्सनिप्फन्ने वन्नोववेए गंधोववेए रसोववेए

---

१ तेषां भगवन् ! पुष्पफलानां कीदृश आस्वादः प्रज्ञप्तः ? गौतम ! स यथानामकः राज्ञश्चातुरन्तचक्रवर्तिनः कल्याणं भोजनजातं शतसहस्रनिष्पन्नं वर्णोपपेतं गन्धोपपेतं रसोपपेतं स्पर्शोपपेतं आस्वादनीयं विस्वादनीयं

फासोववेए आसायणिज्जे विस्सायणिज्जे दप्पणिज्जे मयणिज्जे विंहणिज्जे सव्विंदियगायपल्हायणिज्जे आसाएणं पन्नत्ते, इत्तो इट्ठतराए चेव पन्नत्ते । (जम्बू० पत्र ११८-१)

ततः पृथिवी कल्पपादपपुष्पफलानि च तेषामाहारः । तथाभूतं चाहारमाहार्य प्रासादादिसंस्थाना ये गृहाकाराः कल्पद्रुमास्तेषु यथासुखमवतिष्ठन्ते । न च तत्र क्षेत्रे दंशमशकयूकामत्कुणमक्षिकादयः शरीरोपद्रवकारिणो जन्तव उपजायन्ते । येऽपि जायन्ते भुजगव्याघ्रसिंहादयस्तेऽपि मनुष्याणां न बाधायै प्रभवन्ति, नापि ते परस्परं हिंस्यहिंसकभावे वर्तन्ते, क्षेत्रानुभावतो रौद्रभावरहितत्वात् । मनुष्ययुगलानि च पर्यवसानसमये युगलं प्रसुवते, तत् पुनर्युगलमेकोनाशीतिदिनानि पालयन्ति । तेषां शरीरोच्छ्रयोऽष्टौ धनुःशतानि, पल्योपमासङ्ख्येयभागप्रमाणमायुः, स्तोककषायतया स्तोकप्रेमानुबन्धतया च ते मृत्वा दिवमुपसर्पन्ति । मरणं च तेषां जृम्भिकाकाशक्षुतादिमात्रव्यापारपुरस्सरं भवति, न शरीरपीडारम्भपुरस्सरमिति ।

अत्र गाथाः—

[1]हिमगिरिनिग्गयपुव्वावरदाढा विदिसि संठिया लवणे ।
जोयणतिसए गंतु, तिन्नि सए वित्थराऽऽयामा ॥
वेइयवणमंडजुया, चउ अंतरदीव तेसि नामाइं ।
एगोरुग १ आभासिय २, वेसाणियनाम ३ नंगूली ४ ॥
एएसिं परओ चउपणछसत्तअडनवयजोयणसएसु ।
हयकन्ना ५ गयकन्ना ६, गोकन्ना ७ सक्कुलीकन्ना ८ ॥
आयंसग ९ मिंढमुहा १०, अओमुहा ११ गोमुहा १२ चउर दीवा ।
आसमुहा १३ हत्थिमुहा १४, सिंहमुहा १५ तह य वग्घमुहा १६ ॥
तत्तो य आसकन्ना १७, हत्थि १८ अकन्ना य १९ कन्नपावरणा २० ।
उक्कामुह २१ मेहमुहा २२, विज्जुमुहा २३ विज्जुदंता य २४ ॥
घणदंत २५ लट्ठदंता २६, निगूढदंता य २७ मुद्धदंता य २८ ।

[illegible] ...विंहणीयमाप्यादेन प्रज्ञप्तम्, इत इष्टतरश्चैव प्रज्ञप्तः ॥ १हिमगि- [illegible] ...दिशि लवणे [illegible] । योजनत्रिशतं गत्वा त्रीणि शतानि विस्तराऽऽयामाः । वेदिका- [illegible] ...नामानि । एकोरुकः १ आभासिकः २ वैषाणिकनामा ३ नाङ्गोलिकः ४ ॥ [illegible] ...योजनशतेषु । हयकर्णः ५ गजकर्णः ६ गोकर्णः ७ शष्कुलीकर्णः ८ ॥ [illegible] ...मुखः १२ चत्वारो द्वीपाः । अश्वमुखः १३ हस्तिमुखः १४ सिंहमु- [illegible] ...कर्णः १७ हस्तिकर्णः १८ अकर्णश्च १९ कर्णप्रावरणः २० । उल्का- [illegible] ...दन्तश्च २४ ॥ घनदन्तः २५ लष्टदन्तः २६ निगूढदन्तश्च २७

इय सिहरिम्मि वि सेले, अट्ठावीसंतरद्दीवा ॥

उभयेऽपि मिलिताः षट्पञ्चाशत्सङ्ख्याः ।

[1]एएसु जुगलधम्मा, धणुसय अट्ठूसिया परमरूवा ।
पल्लअसंखिज्जाऊ, गुणसीदिणऽवच्चपालणया ॥
चउसट्ठीपिट्ठिकरंडमंडियंगा चउत्थभोई य ।
कप्पतरुपूरियासा, सुरगइगामी तणुकसाया ॥ शेषं सूत्रं स्पष्टम् ॥

[2]कालओ णं उज्जुमई जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं, उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं तीयं अणागयं च कालं जाणइ पासइ । तं चेव विउलमई अब्भहियतरागं जाणइ पासइ । (नन्दी पत्र १०८-२)

जीतकल्पभाष्येऽप्युक्तम्—

[3]कालओ उज्जुमई उ, जहन्नउक्कोसए वि पलियस्स ।
भागमसंखिज्जइमं, अतीय [4]एस्से व कालदुगे ॥
जाणइ पासइ ते उ, मणिज्जमाणे उ सन्निजीवाणं ।
ते चेव य विउलमई, वितिमिरसुद्धे उ जाणेइ ॥ (गा० ८२-८३)

भावतस्तु तत्पर्यायाश्चिन्तनानुगुणपरिणतिरूपा ऋजुमतेर्विषय इति । चिन्तनीयं तु मूर्त्तममूर्तं वा त्रिकालगोचरमपि बाह्यमर्थमनुमानादवैति, "[5]जाणइ बज्झेऽणुमाणाओ" (विशे० गा० ८१४) इति वचनात् । यत एतत्परिणतान्येतानि मनोद्रव्याणि इत्येतदन्यथानुपपत्तेरमुकोऽर्थोऽनेन चिन्तित इति लेखाक्षरदर्शनात् तदुक्तार्थमिव प्रत्यक्षं मनोद्रव्यदर्शनाच्चिन्त्यमर्थमनुमिमीते । स चैष बाह्याभ्यन्तररूपो द्विविधोऽपि विषयः स्फुटतरबहुतरविशेषाध्यासितत्वेन विपुलमतेर्विमलतरोऽवसेय इति । निरूपितं मनःपर्यायज्ञानम् ॥

अथ केवलज्ञानं व्याचिख्यासुराह—"केवलमिगविहाणं" ति 'केवलं' केवलज्ञानम् 'एकविधानम्' एकविधम्, प्रथमत एव सर्वद्रव्यक्षेत्रकालभावग्राहकत्वादिति भाव इति ॥ ८ ॥ अभिहितं केवलज्ञानं तदभिधाने च व्याख्यातानि पञ्चापि ज्ञानानि । इदानीमेतेषामावरणमाह—

इति शिखरिण्यपि शैलेऽष्टाविंशतिरन्तरद्वीपाः । [1] एतेषु युगलधर्माणो धनुःशतान्यष्टोच्छ्रिताः परमरूपाः । पल्यासङ्ख्येयायुष एकोनाशीतिदिनापत्यपालनकाः चतुःषष्टिपृष्ठकरण्डकमण्डिताङ्गाश्चतुर्थभोजिनश्च । कल्पतरुपूरिताशाः सुरगतिगामिनस्तनुकषायाः । [2] कालत ऋजुमतिर्जघन्येन पल्योपमस्यासङ्ख्येयभागम्, उत्कर्षेणापि पल्योपमस्यासङ्ख्येयभागमतीतमनागतं च कालं जानाति पश्यति । तदेव विपुलमतिरभ्यधिकतरकं जानाति पश्यति ॥ [3] कालत ऋजुमतिस्तु जघन्यत उत्कर्षतोऽपि पल्यस्य । भागमसङ्ख्येयमतीते एष्यति वा कालद्विके ॥ जानाति पश्यति तांस्तु मन्यमानांस्तु संज्ञिजीवानाम् । तानेव च विपुलमतिर्वितिमिरशुद्धांस्तु जानाति ॥ [4] एसे व क० ख० ग० घ० ङ० ॥ [5] जानाति बाह्याननुमानात् ॥

[1]जं सामन्नग्गहणं, भावाणं नेव कट्टु आगारं ।
अविसेसिऊण अत्थे, दंसणमिय वुच्चए समए ॥ (वृ० द्रव्यसं० गा० ४३)

'तस्यावरणं' दर्शनावरणम्, तत् चतुर्धा भवति—चक्षुर्दर्शनावरणम् १ अचक्षुर्दर्शनावरणम् २ अवधिदर्शनावरणम् ३ केवलदर्शनावरणम् ४ इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—इह चक्षुर्दर्शनं नाम यत् चक्षुषा रूपसामान्यग्रहणं तस्यावरणं चक्षुर्दर्शनावरणं चक्षुःसामान्योपयोगावरणमिति यावत् १ । अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद् दर्शनं स्वस्वविषयसामान्यपरिच्छेदोऽचक्षुर्दर्शनं तस्यावरणमचक्षुर्दर्शनावरणम् २ । अवधिना रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमवधिदर्शनं तस्यावरणमवधिदर्शनावरणम् ३ । केवलेन सम्पूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद् दर्शनं वस्तुसामान्यांशग्रहणं तत् केवलदर्शनं तस्यावरणं केवलदर्शनावरणम् ४ ।

अत्राह—ननु यथाऽवधिदर्शनावरणं कर्मोच्यते तथा मनःपर्यायज्ञानस्यापि दर्शनावरणं कर्म किमिति नोच्यते ?, उच्यते—मनःपर्यायज्ञानं तथाविधक्षयोपशमपाटवात् सर्वदा विशेषानेव गृह्णदुत्पद्यते, न सामान्यम्, अतस्तद्दर्शनाभावात्तदावरणं कर्मापि न भवति । अत्र च चक्षुर्दर्शनावरणोदये एकद्वित्रीन्द्रियाणां मूलत एव चक्षुर्न भवति, चतुःपञ्चेन्द्रियाणां तु भूतमपि चक्षुस्तथाविधे तदुदये विनश्यति तिमिरादिना वाऽस्पष्टं भवति । चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनसां पुनर्यथासम्भवमभवन[2]मस्पष्टभवनं वाऽचक्षुर्दर्शनावरणोदयादिति ॥ १० ॥

अभिहितं दर्शनावरणचतुष्कम्, सम्प्रति निद्रापञ्चकमभिधित्सुराह —

सुहपडिबोहा निद्दा १, निद्दानिद्दा २ य दुक्खपडिबोहा ।
पयला ३ ठिओवविट्ठस्स पयलपयला ४ उ चंकमओ ॥ ११ ॥

सुखेन-अकृच्छ्रेण नखच्छोटिकामात्रेणापि प्रतिबोधः-जागरणं स्वप्तुर्यस्यां स्वापावस्थायां सा सुखप्रतिबोधा निद्रा, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि कारणे कार्योपचारात् निद्रेत्युच्यते १ । निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा, मयूरव्यंसकादित्वान्मध्यपदलोपी समासः, 'चः' समुच्चये, दुःखेन—कष्टेन बहुभिर्घोलनाप्रकारैरत्यर्थमस्फुटतरीभूतचैतन्यत्वेन स्वप्तुः प्रतिबोधो यस्यां सा दुःखप्रतिबोधा, अत एव सुखप्रतिबोधनिद्रापेक्षयाऽस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा २ । प्रचलति-विघूर्णते यस्यां स्वापावस्थायां प्राणी सा प्रचला, सा च [illegible]स्थानेन उपविष्टस्य-आसीनस्य[2] भवति, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचला ३ । प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला, इयं 'तुः' पुनरर्थे 'चङ्क्रमतः' चङ्क्रमणमपि कुर्वतो

१ छा० यत्सामान्यग्रहणं भावानां नैव कृत्वाऽऽकारम् । अविशेषयित्वाऽर्थान् दर्शनमित्युच्यते समये ॥
[illegible] ॥ २ [illegible]थापि भ० ग० ॥

जन्तोरुपतिष्ठते, अतः स्त्यानस्थितस्त्वप्रचलामपेक्ष्याऽतिशायिनीत्वमस्याः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला ४। सूत्रे च "पयलपयला" इति ह्रस्वत्वं "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" (सि० ८-१-४) इति सूत्रेण। इति ॥ ११ ॥

दिणचिंतियत्थकरणी, थीणद्धी ५ अद्धचक्किअद्धबला ।
महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥ १२ ॥

स्त्याना—बहुत्वेन सङ्घातमापन्ना गृद्धिः—अभिकाङ्क्षा जाग्रदवस्थाध्यवसितार्थसाधनविषया स्वापावस्थायां सा स्त्यानगृद्धिः । "थीणादयः" (सि० ८-२-१७४) इति प्राकृतसूत्रेण "थीणद्धी" इति निपात्यते । अस्यां हि जाग्रदवस्थाध्यवसितमर्थमुत्थाय साधयति । श्रूयते ह्येतदागमे कथानकम्—

कश्चित् प्रदेशे कोऽपि क्षुल्लको द्विरदेन दिवा खलीकृतः स्त्यानर्द्धदुदये वर्तमानस्तस्मिन्नेव द्विरदे बद्धाभिनिवेशो रजन्यामुत्थाय तद्दन्तयुगलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारे क्षिप्त्वा पुनः सुप्तवान् इत्यादि ।

इमां च व्युत्पत्तिमाश्रित्याह—"दिणचिंतियत्थकरणी थीणद्धी" इति दिने—दिवसे चिन्तितमुपलक्षणत्वा न्निशायामपि चिन्तितम्—अध्यवसितमर्थं करोति—साधयति निद्रानिद्रावतोऽभेदोपचाराद्दिनचिन्तितार्थकरणी, "रम्यादिभ्यः" (सि० ५-३-१२६) कर्तर्यनट्प्रत्ययः। यद्वा स्त्याना—पिण्डीभूता ऋद्धिः—आत्मशक्तिरस्यामिति स्त्यानर्द्धिः, एतत्सद्भावे हि प्रथमसंहननस्य केशवार्धबलसदृशी शक्तिः। एनां च व्युत्पत्तिमाश्रित्याह—"अद्धचक्किअद्धबल" त्ति अर्धचक्रिणः—वासुदेवस्य बलापेक्षया अर्धं बलं—स्थाम यस्या उदये जन्तोर्भवति साऽर्धचक्र्यर्धबला, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि थीणद्धीति ५ । अत्र चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्कं मूलत एव दर्शनलब्धिमुपहन्ति, निद्रापञ्चकं तु प्राप्ताया दर्शनलब्धेरुपघातकृत्। आह च गन्धहस्ती—

निद्रादयः समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते, दर्शनावरणचतुष्टयं तूद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धिमिति (तत्त्वार्थ अ० ८ सू० ८ सिद्ध०टीका) ।

अभिहितं द्वितीयं नवविधं दर्शनावरणम् । साम्प्रतं तृतीयं कर्म वेद्यं वेदनीयापरपर्यायं व्याचिख्यासुराह—"महुलित्त" इत्यादि । मधुना—मधुररसेन लिप्ता—खरण्टिता खड्गस्य—करवालस्य धारा—तीक्ष्णाग्ररूपा तस्या जिह्वया लेहनमिव—आस्वादनसदृशं 'द्विधैव' द्विप्रकारमेव सातासातभेदात्, तुशब्द एवकारार्थः, 'वेदनीयं' वेद्यं कर्म भवति । इह च मधुलेहनसन्निभं सातवेदनीयम्, खड्गधाराच्छेदनस[१]ममसातवेदनीयम् । उक्तं च—

---

१ °समानम° ख० ग० ङ० ॥

[1]महुआसायणसरिसो, सायावेयस्स होइ हु विवागो ।
जं असिणा तहिं छिज्जइ, सो उ विवागो असायस्स ॥
(प्रा० कर्मवि० गा० २३) ॥१२॥

अथ गतिचतुष्टये सातासातस्वरूपमाह––

ओसन्नं सुरमणुए, सायमसायं तु तिरियनरएसु ।
मज्जं व मोहणीयं, दुविहं दंसणचरणमोहा ॥१३॥

ओसन्नशब्दो देशीवचनो बाहुल्यवाचकः, यथा–"[2]ओसन्नं देवा सायं वेयणं वेयंति ।" तत्र 'ओसन्नं' बाहुल्येन प्रायेणेत्यर्थः, सुराश्च–देवा मनुजाश्च–मनुष्याः सुरमनुजं समाहारद्वन्द्वः, तस्मिन् सुरमनुजे सुरेषु मनुजेष्वित्यर्थः 'सातं' सातवेदनीयं भवति । ओसन्नग्रहणात् च्यवनकालेऽन्यदाऽपि सुराणामसातोदयोऽप्यस्ति, चारकनिरोधवधबन्धनशीतातपादिभिर्मनुजानामप्यसातमिति । नरकभवाः प्राणिनोऽप्युपचारात् नरकाः, ततस्तिर्यञ्चश्च नरकाश्च तिर्यग्नरकास्तेषु तिर्यक्षु नरकेष्वित्यर्थः, ओसन्नशब्दस्येहापि सम्बन्धादगातम्, 'तुः' पुनरर्थे व्यवहितसम्बन्धश्च, स चैवं योज्यते—तिर्यग्नरकेषु पुनरसातं प्रायो भवति । ओसन्नग्रहणात् केषाञ्चित् पट्टहस्तितुरङ्गादीनां[4] तिरश्चां नारकाणामपि जिनजन्मकल्याणकादिषु सातमप्यस्तीति । उक्तं द्विविधं वेदनीयं तृतीयं कर्म ॥

इदानीमष्टाविंशतिविधं मोहनीयं चतुर्थं कर्माभिधित्सुराह–"मज्जं व मोहणीयं" इत्यादि । 'मद्यमिव' मदिरासदृशं मोहयतीति मोहनीयं कर्म । "प्रवचनीयादयः" (सि० ५ १-८) इति कर्तर्यनीयप्रत्ययः । यथा हि मद्यपानमूढः प्राणी सदसद्विवेकविकलो भवति, तथा मोहनीयेनापि कर्मणा मूढो जन्तुः सदसद्विवेकविकलो भवतीति । तच्च 'द्विविधं' द्विभेदम्, कथम्? इत्याह–"दंसणचरणमोह" त्ति दर्शनमोहाच्चरणमोहादित्यर्थः । तत्र दृष्टिर्दर्शनं–यथावस्थितवस्तुपरिच्छेदस्तद् मोहयतीति "कर्मणोऽण्" (सि० ५-१-७२) इत्यण्प्रत्यये दर्शनमोहम् । चरन्ति—परमपदं गच्छन्ति जीवा अनेनेति चरणं चारित्रं तद् मोहयतीति चरणमोहमिति ॥१३॥ अथ दर्शनमोहं व्याख्यानयन्नाह––

दंसणमोहं तिविहं, सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं ।
सुद्धं अद्धविसुद्धं, अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥१४॥

दर्शनमोहं पूर्वोक्तशब्दार्थं 'त्रिविधं' त्रिप्रकारं भवति । "सम्मं" ति सम्यक्त्वं 'मिश्रं' सम्यग्मिथ्यात्वं तथैव मिथ्यात्वम् । एतदेव स्वरूपत आह–शुद्धमर्धविशुद्धमविशुद्धं तद् भवति

---

१ मध्वास्वादनसदृशः सातवेद्यस्य भवति खलु विपाकः । यदसिना तत्र छिद्यते स तु विपाकोऽसातस्य ॥ २ [illegible] ख० ग० ॥ ३ बाहुल्येन देवाः सातं वेदनं वेदयन्ति ॥ ४ ०नां नार० ३ क० ख० ग० घ० ङ० ॥

'क्रमशः' क्रमेणेति । अयमत्रार्थः—मिथ्यात्वपुद्गलकदम्बकं मदनकोद्रवन्यायेन शोधितं सद् विकाराजनकत्वेन शुद्धं सम्यक्त्वं भवति, तदेव किञ्चिद्विकारजनकत्वेनार्धविशुद्धं मिश्रम्, तदेव सर्वथाप्यविशुद्धं मिथ्यात्वमिति । उक्तं च—

यथेह प्रदीपस्य, स्वच्छाभ्रपटलैर्गृहम् । न करोत्यावृतिं काञ्चिदेवमेतद्रुचेरपि ।
एकपुञ्जी द्विपुञ्जी च, त्रिपुञ्जी वा नतु क्रमात् । दर्शन्युभयवांश्चैव, मिथ्यादृष्टिः प्रकीर्तितः ॥

अत्राह—सम्यक्त्वं कथं दर्शनमोहनीयं स्यात् ?, न हि तद् दर्शनं मोहयति, तस्यैव दर्शनत्वात्, उच्यते—मिथ्यात्वप्रकृतित्वेनातिचारसम्भवाद् औपशमिकादिमोहत्वाच्च दर्शनमोहनीयमिति ॥१४॥ इत्युक्तं सङ्क्षेपतस्त्रिविधं दर्शनमोहम् । साम्प्रतमेतदेव व्याचिख्यासुः प्रथमं सम्यक्त्वस्वरूपमाह—

जियअजियपुण्णपावाऽऽसवसंवरबंधमुक्खनिज्जरणा ।
जेणं सद्दहइ तयं, सम्मं खइगाइबहुभेयं ॥१५॥

जीवश्च अजीवश्च पुण्यं च पापं च आश्रवश्च संवरश्च बन्धश्च मोक्षश्च निर्जरणं च निर्जरा, एतानि नव तत्त्वानि 'येन' रूपेण 'श्रद्दधाति' प्रत्येति तत् सम्यक्त्वमुच्यते । तत्र नव तत्त्वान्यमूनि—

[१]जीवा १ऽजीवा २ पुन्नं ३, पावा ४ऽऽसव ५ संवरो ६ य निज्जरणा ७ ।
बंधो ८ मुक्खो ९ य तहा, नव तत्ता हुंति इय नेया ॥१॥
एगविहदुविहतिविहा, चउहा पंचविहछव्विहा जीवा ।
चेयण १ तसइयरेहिं २, वेय ३ गई ४ करण ५ काएहिं ६ ॥२॥
एगिंदिय सुहुमियरा, बितिचउअसन्नीसन्निपंचिंदी ।
अपजत्ता पज्जत्ता, चउदसभेया अहव जीवा ॥३॥
पण थावर सुहुमियरा, परित्तवणसन्नऽसन्निविगलतिगं ।
इय सोलस अपजत्ता, पज्जत्ता जीव बत्तीसा ॥४॥
धम्माऽधम्माऽऽगासा, य दव्वदेसप्पएसओ तिविहा ।
गइठाणऽवगाहगुणा, कालो य अरूविणो दसहा ॥५॥

---

१ जीवाजीवौ पुण्यं पापमाश्रवः संवरश्च निर्जरणा । बन्धो मोक्षश्च तथा नव तत्त्वानि भवन्ति इति ज्ञेयानि ॥१॥ एकविधद्विविधत्रिविधाश्चतुर्धा पञ्चविधषड्विधा जीवाः । चेतनत्रसेतरैर्वेदगतिकरणकायैः ॥२॥ एकेन्द्रियाः सूक्ष्मेतरा द्वित्रिचतुःसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः । अपर्याप्ताः पर्याप्ताश्चतुर्दशभेदा अथवा जीवाः ॥३॥ पञ्च स्थावराः सूक्ष्मेतराः प्रत्येकवनसंज्ञ्यसंज्ञिविकलत्रिकम् । इति षोडशापर्याप्ताः पर्याप्ता जीवा द्वात्रिंशत् ॥४॥ धर्माधर्माकाशाश्च द्रव्यदेशप्रदेशतस्त्रिविधाः । गतिस्थानावकाशगुणाः कालश्चारूपिणो दशधा ॥५॥

खंधा देस पएसा, परमाणू पुग्गला चउह रूवी ।
जीवं विणा अचेयण, अक्किरिया सव्वगय वोमं ॥६॥
कालो माणुसलोए, जियधम्माऽधम्म लोयपरिमाणा ।
सव्वे दव्वं इट्ठा, काल विणा अत्थिकाया य ॥७॥
धम्माऽधम्माऽऽगासा, कालो परिणामिए इहं भावे ।
उदयपरिणामिए पुग्गला उ सव्वेसु पुण जीवा ॥८॥ जीवाजीवतत्त्वे ॥
तिरिनरसुराउ उच्चं, सायं परघायआयवुज्जोयं ।
जिणऊसासनिमाणं, पणिंदिवइरुसभचउरंसं ॥९॥
तसदस चउवन्नाई, सुरमणुदुग पंचतणु उवंगतिगं ।
अगुरुलहु पढमखगई, बायाला पुन्नपगईओ ॥१०॥ पुण्यतत्त्वम् ॥
नाणंतराय पण पण, नव बीए नियअसायमिच्छत्तं ।
थावरदस नरयतिगं, कसायपणवीस तिरियदुगं ॥११॥
चउजाई उवघायं, अपढमसंघयणखगइसंठाणा ।
वन्नाइअसुभचउरो, बासीई पावपगडीओ ॥१२॥ पापतत्त्वम् ॥
इंदिय कसाय अव्वय, किरिया पण चउर पंच पणवीसा ।
जोगतिगं बायाला, आसवभेया इमा किरिया ॥ १३ ॥
काइय १ अहिगरणिया २, पाउसिया ३ पारितावणी किरिया ४ ।
पाणइवाया ५ ऽऽरंभिय ६, परिगहिया ७ मायवत्ती य ८ ॥१४॥
मिच्छादंसणवत्ती ९, अप्पच्चक्खाण १० दिट्ठि ११ पुट्ठि य १२ ।
पाडुच्चिय १३ सामंतोवणीय १४ नेसत्थि १५ साहत्थी १६ ॥१५॥

[illegible] देशाः प्रदेशाः परमाणवः पुद्गलाश्चतुर्धा रूपिणः । जीवं विनाऽचेतना अक्रियाः सर्वगतं व्योम ॥६॥ [illegible] मनुष्यलोके जीवधर्माऽधर्मा लोकपरिमाणाः । सर्वाणि द्रव्याणीष्टानि कालं विनाऽस्तिकायाश्च ॥७॥ धर्माऽधर्माऽऽकाशाः कालः पारिणामिके इह भावे । उदयपारिणामिके पुद्गलास्तु सर्वेषु पुनर्जीवाः ॥८॥ [illegible] (गोत्रं) सातं पराघाताऽऽतपोद्योतम् । जिनोच्छ्वासनिर्माणं, पञ्चेन्द्रियवज्रर्षभचतुर[illegible]म् ॥९॥ [illegible] चत्वारो वर्णादयः सुरमनुष्यद्विकं पञ्च तनव उपाङ्गत्रिकम् । अगुरुलघु प्रथमखगतिर्द्वि[illegible] [illegible]तयः ॥१०॥ ज्ञानान्तरायाः पञ्च पञ्च नव द्वितीये नीचासातमिथ्यात्वम् । स्थावरदशकं [illegible]विंशतिस्तिर्यग्द्विकम् ॥११॥ चतस्रो जातय उपघातमप्रथमसंहननखगतिसंस्थानानि । [illegible] द्व्यशीतिः पापप्रकृतयः ॥१२॥ इन्द्रियाणि कषायाः अव्रतानि क्रियाः पञ्च चत्वारः पञ्च [illegible] द्विचत्वारिंशदाश्रवभेदा इमाः क्रियाः ॥१३॥ कायिक्यधिकरणिकी प्राद्वेषिकी [illegible] [illegible]रम्भिकी पारिग्रहिकी मायाप्रत्ययिकी च ॥१४॥ मिथ्यादर्शनप्रत्य[illegible] [illegible] दृष्टिकी स्पृष्टिकी च । प्रातीत्यिकी सामन्तोपनिपातिकी नैःशस्त्रिकी स्वाहस्तिकी ॥१५॥

आणवणि १७ वियारणिया १८, अणभोगा १९ अणवकंखपच्चइया २० ।
अन्नापओग २१ समुदाण २२, पिज्ज २३ दोसे २४ रियावहिया २५ ॥१६॥

आश्रवतत्त्वम् ॥

भावण चरण परीसह, समिई जइधम्म गुत्ति बारस उ ।
पंच दुवीसा पण दस, तिय संवरभेय सगवन्ना ॥१७॥

संवरतत्त्वम् ॥

बारसविहं तवो निज्जरा उ अहवा अकामसकामा ।
पयइट्ठिईअणुभागप्पएसभेया चउह बंधो ॥१८॥

निर्जराबन्धतत्त्वे ॥

संतपयपरूवणया १, दव्वपमाणं च २ खित्त ३ फुसणा य ४ ।
कालो ५ अंतर ६ भागा ७, भाव ८ऽप्पबहू ९ नवह मुक्खो ॥१९॥
जिण १ अजिण २ तित्थ ३ तित्था ४, गिह ५ अन्न ६ सलिंग ७ थी ८ नर ९ नपुंसा १० ।
पत्तेय ११ सयंबुद्धा १२, वि बुद्धबोहि १३ क १४ ऽणिक्का य १५ ॥२०॥

इति मोक्षतत्त्वम् ॥

इत्युक्तं सङ्क्षेपतो नवतत्त्वस्वरूपम्, विस्तरतस्तु श्रीधर्मरत्नटीकातोऽवसेयम् । तदेवं येन कर्मणाऽमूनि नव तत्त्वानि श्रद्दधाति तत् सम्यक्त्वम्, किंविशिष्टं ? "खइगाइबहुभेयं" ति क्षायिकमादौ येषां ते क्षायिकादयः, क्षायिकादयो बहवो भेदाः प्रकारा यस्य तत् क्षायिकादिबहुभेदम् । इहादिशब्दाद्वेदकौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकग्रहणम् । एतद्व्याख्यानगाथा—

※ खीणे दंसणमोहे, तिविहम्मि वि खाइयं भवे सम्मं ।
वेयगमिह सव्वोइयचरमिल्लयपुग्गलग्गासं ॥ (धर्मसं० ८०१)

आनयनिकी विदारणिकाऽनाभोगिकी अनवकाङ्क्षाप्रत्ययिकी । अन्यप्रायोगिकी समुदानिकी प्रैमिकी द्वैषिकी ऐर्यापथिकी ॥१६॥ भावनाः चरणानि परीषहाः समितयः यतिधर्माः गुप्तयः द्वादश तु । पञ्च द्वाविंशतिः पञ्च दश त्रिकं संवरभेदाः सप्तपञ्चाशत् ॥१७॥ द्वादशविधं तपो निर्जरा तु अथवा अकामसकामा । प्रकृतिस्थितिअनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्धा बन्धः ॥१८॥ सत्पदप्ररूपणता द्रव्यप्रमाणं च क्षेत्रं स्पर्शना च । कालोऽन्तरभागौ भावाल्पबहुत्वे नवधा मोक्षः ॥१९॥ जिनाजिनतीर्थातीर्था गृहान्यस्वलिंगस्त्रीनरनपुंसकाः । प्रत्येकस्वयंबुद्धा अपि बुद्धबोधितैकानेके (सिद्धाः) च ॥२०॥ ※ क्षीणे दर्शनमोहे त्रिविधेऽपि क्षायिकं भवेत्सम्यक्त्वम् । वेदकमिह सर्वोदितचरमपुद्गलग्रासम् ॥ उपशमश्रेणिगतस्य तु भवति खलु औपशमिकं तु सम्यक्त्वम् । यो वाऽकृतत्रिपुञ्जोऽक्षपितमिथ्यात्वो लभते सम्यक्त्वम् ॥ उपशमसम्यक्त्वाच्च्यवमानस्य मिथ्यात्वमप्राप्नुवतः । सास्वादनसम्यक्त्वं तदन्तराले षडावलिकम् ॥ मिथ्यात्वं यदुदीर्णं तत्क्षीणमनुदितं चोपशान्तम् । मिश्रीभावपरिणतं वेद्यमानं क्षायोपशमिकम् ।

'उवसमसेढिगयस्स उ, होइ हु उवसामियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥
उवसमसम्मत्ताओ, चयओ मिच्छं अपावमाणस्स ।
सासायणसम्मत्तं, तयंतरालम्मि छावलियं ॥
मिच्छत्तं जमुइन्नं, तं खीणं अणुइयं च उवसंतं ।
मीसीभावपरिणयं, वेइज्जंतं खओवसमं ॥
(विशे० आ० गा० ५२९-३१-३२) इति ॥ १५ ॥

उक्तं सम्यक्त्वम् । अथ मिश्रमाह—

मीसा न रागदोसो, जिणधम्मे अंतमुहु जहा अन्ने ।
नालियरदीवमणुणो, मिच्छं जिणधम्मविवरीयं ॥ १६ ॥

इत्यादिसमितिगुप्त्यादिगुणरहितेष्वगुरुष्वपि गुरुबुद्धिः, संयमसूनृतशौचब्रह्मसत्यादि(ब्रह्माकिञ्चन्यादि) लक्षणरहितेऽधर्मेऽपि धर्मबुद्धिरिति मिथ्यात्वम् ॥१६॥ उक्तं मिथ्यात्वम्, तदुक्तौ चाभिहितं त्रिविधमपि दर्शनमोहनीयम्। इदानीं चारित्रमोहनीयमभिधित्सुराह—

सोलस कसाय नव नोकसाय दुविहं चरित्तमोहणियं ।
अण अप्पच्चक्खाणा, पच्चक्खाणा य संजलणा ॥ १७ ॥

'द्विविधं' द्विभेदं चारित्रमोहनीयं भवति, तद्यथा—"सोलस कसाय" त्ति कष्यन्ते-हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः—संसारः, कषमयन्ते—गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः। यद्वा कषस्याऽऽयः—लाभो येभ्यस्ते कषायाः क्रोधमानमायालोभाः। तत्र क्रोधोऽक्षान्तिपरिणतिरूपः, मानो जात्यादिसमुत्थोऽहङ्कारः, माया परवञ्चनाद्यात्मिका, लोभोऽसन्तोषात्मको गृद्धिपरिणामः। ततः षोडशसङ्ख्याः कषायाः कषायमोहनीयमुच्यते। विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्, एवमुत्तरत्रापि। "नव नोकसाय" त्ति कषायैः सहचरा नोकषायाः, ते च नव—हास्यादयः षट् त्रयो वेदाः। अत्र नोशब्दः साहचर्यवाची। एषां हि केवलानां न प्राधान्यमस्ति, किन्तु कषायैः—अनन्तानुबन्ध्यादिभिः सहोदयं यान्ति, तद्विपाकसदृशमेव विपाकं दर्शयन्ति, बुधग्रहवदन्यसंसर्गमनुवर्तन्ते इति भावः। कषायोद्दीपनाद्वा नोकषायाः। उक्तं च—

कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता॥

ततो नवसङ्ख्या नोकषाया नोकषायमोहनीयमुच्यते। अथ "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायात् प्रथमं कषायमोहनीयं व्याख्यानयन्नाह—"अण अप्पच्चक्खाणा" इत्यादि। "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः। तत्रानन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः। यदवाचि—

यस्मादनन्तं संसारमनुबध्नन्ति देहिनाम्।
ततोऽनन्तानुबन्धीति, संज्ञाऽऽद्येषु निवेशिता॥

ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः। यद्यपि चैतेषां शेषकषायोदयरहितानामुदयो नास्ति, तथाप्यवश्यमनन्तसंसारमूलकारणमिथ्यात्वोदयाक्षेपकत्वादेषामेवानन्तानुबन्धित्वव्यपदेशः। शेषकषाया हि नावश्यं मिथ्यात्वोदयमाक्षिपन्ति, अतस्तेषामुदययौगपद्ये सत्यपि नायं व्यपदेश इत्यसाधारणमेतेषामेवैतन्नामेति। तथा न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयादतोऽप्रत्याख्यानाः। यदभाणि—

१ आद्याः कषायाः।

'उवसमसेढिगयस्स उ, होइ हु उवसामियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥
उवसमसम्मत्ताओ, चयओ मिच्छं अपावमाणस्स ।
सासायणसम्मत्तं, तयंतरालम्मि छावलियं ॥
मिच्छत्तं जमुइन्नं, तं खीणं अणुइयं च उवसंतं ।
मीसीभावपरिणयं, वेइज्जंतं खओवसमं ॥
(विशे० आ० गा० ५२९-३१-३२) इति ॥ १५ ॥

उक्तं सम्यक्त्वम् । अथ मिश्रमाह—

मीसा न रागदोसो, जिणधम्मे अंतमुहु जहा अन्ने ।
नालियरदीवमणुणो, मिच्छं जिणधम्मविवरीयं ॥ १६ ॥

'मिश्रात्' मिश्रोदयाद् जीवस्य 'जिनधर्मे' जिनधर्मस्योपरि न रागः-मतिदौर्बल्यादिना एकान्तनिश्चयात्मकश्रद्धानरूपः प्रीतिविशेषः, न च द्वेषः—एकान्तविप्रतिपत्तिपरिणामोपजातनिन्दात्मकोऽप्रीतिरूपः । मिश्रोदयश्च "अंतमुहु" त्ति 'अन्तमुहूर्तं' भिन्नमुहूर्तकालं यावद् भवतीत्यर्थः । अथ कथं मिश्रोदयाज्जिनधर्मे न रागो न द्वेषः ? इत्याशङ्कय दृष्टान्तमाह—"जहा अन्ने" इत्यादि । 'यथा' इत्युदाहरणोपन्यासे 'अन्ने' क्रूराद्योदने 'नालिकेरद्वीपमनुजस्य' नालिकेरद्वीपवासिमनुजस्य न रागो न च द्वेषोऽदृष्टाऽश्रुतत्वेन । उक्तं च बृहच्छतकबृहच्चूर्णौ—

इत्यादिप्रतिपादितगुरुलक्षणविलक्षणेऽगुरावपि गुरुबुद्धिः, संयमसूनृतशौचब्रह्मसत्यादि(ब्रह्माकिञ्चन्यादि) लक्षणधर्मविपक्षेऽधर्मेऽपि धर्मबुद्धिरिति मिथ्यात्वम् ॥१६॥ उक्तं मिथ्यात्वम्, तदुक्तौ चाभिहितं त्रिविधमपि दर्शनमोहनीयम् । इदानीं चारित्रमोहनीयमभिधित्सुराह—

सोलस कसाय नव नोकसाय दुविहं चरित्तमोहणियं ।
अण अप्पच्चक्खाणा, पच्चक्खाणा य संजलणा ॥ १७ ॥

'द्विविधं' द्विभेदं चारित्रमोहनीयं भवति, तद्यथा—"सोलस कसाय" त्ति कष्यन्ते-हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः—संसारः, कषमयन्ते—गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः । यद्वा कषस्याऽऽयः—लाभो येभ्यस्ते कषायाः क्रोधमानमायालोभाः । तत्र क्रोधोऽक्षान्तिपरिणतिरूपः, मानो जात्यादिसमुत्थोऽहङ्कारः, माया परवञ्चनाद्यात्मिका, लोभोऽसन्तोषात्मको गृद्धिपरिणामः । ततः षोडशसङ्ख्याः कषायाः कषायमोहनीयमुच्यते । विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्, एवमुत्तरत्रापि । "नव नोकसाय" त्ति कषायैः सहचरा नोकषायाः, ते च नव—हास्यादयः षट् त्रयो वेदाः । अत्र नोशब्दः साहचर्यवाची । एषां हि केवलानां न प्राधान्यमस्ति, किन्तु कषायैरनन्तानुबन्ध्यादिभिः सहोदयं यान्ति, तद्विपाकसदृशमेव विपाकं दर्शयन्ति, बुधग्रहवदन्यसंसर्गमनुवर्तन्ते इति भावः । कषायोद्दीपनाद्वा नोकषायाः । उक्तं च—

कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि ।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ॥

ततो नवसङ्ख्या नोकषाया नोकषायमोहनीयमुच्यते । अथ "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायात् प्रथमं कषायमोहनीयं व्याख्यानयन्नाह—"अण अप्पच्चक्खाणा" इत्यादि । "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः । तत्रानन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः । यदवाचि—

यस्मादनन्तं संसारमनुबध्नन्ति देहिनाम् ।
ततोऽनन्तानुबन्धीति, संज्ञाऽऽद्येषु निवेशिता ॥

ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । यद्यपि चैतेषां शेषकषायोदयरहितानामुदयो नास्ति, तथाप्यवश्यमनन्तसंसारमौलकारणमिथ्यात्वोदयाक्षेपकत्वादेषामेवानन्तानुबन्धित्वव्यपदेशः । शेषकषाया हि नावश्यं मिथ्यात्वोदयमाक्षिपन्ति, अतस्तेषामुदययौगपद्ये सत्यपि नायं व्यपदेश इत्यसाधारणमेतेषामेवैतन्नामेति । तथा न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयादतोऽप्रत्याख्यानाः ।

यदभाणि—

१ आद्याः कषायाः ।

रगतिकारणत्वान्नराः प्रत्याख्यानावरणाः, अमरगतिकारणत्वादमराः संज्वलनाः। एतदुक्तं भवति–अनन्तानुबन्ध्युदये मृतो नरकगतावेव गच्छति, अप्रत्याख्यानावरणोदये मृतस्तिर्यक्षु, प्रत्याख्यानावरणोदये मृतो मनुष्येषु, संज्वलनोदये पुनर्मृतोऽमरेष्वेव गच्छति। उक्तश्चायमर्थः पश्चानुपूर्व्याऽन्यत्रापि–

[1]पक्खचउमासवच्छरजावज्जीवाणुगामिणो भणिया।
देवनरतिरियनारयगइसाहणहेयवो नेया॥ (विशे० गा० २९९२)

इदमपि व्यवहारनयमधिकृत्योच्यते; अन्यथा हि अनन्तानुबन्ध्युदयवतामपि मिथ्यादृशां केषाञ्चिदुपरितनग्रैवेयकेषूत्पत्तिः श्रूयते, प्रत्याख्यानावरणोदयवतां देशविरतानां देवगतिः, अप्रत्याख्यानावरणोदयवतां च सम्यग्दृष्टिदेवानां मनुष्यगतिः। तथा "सम्म" त्ति सम्यक्त्वं च "अणुसव्वविरइ" त्ति विरतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् अणुविरतिश्च–देशविरतिः सर्वविरतिश्च यथाख्यातचारित्रं च सम्यक्त्वाणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्राणि तेषां घातः–विनाशः सम्यक्त्वाणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्रघातस्तं कुर्वन्तीत्येवंशीलाः सम्यक्त्वाणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्रघातकराः। एतदुक्तं भवति—अनन्तानुबन्धिनः कषायाः सम्यक्त्वघातकाः। यदाहुः श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः—

[2]पढमिल्लुयाण उदए, नियमा संजोयणाकसायाणं।
सम्मद्दंसणलंभं, भवसिद्धीया वि न लहंति॥ (आ० नि० गा० १०८)

अप्रत्याख्यानावरणा देशविरतेर्घातकाः, न सम्यक्त्वस्येत्यर्थाल्लभ्यम्। यदाहुः पूज्यपादाः-

[3]बीयकसायाणुदये, अप्पच्चक्खाणनामधिज्जाणं।
सम्मद्दंसणलंभं, विरयाविरयं न उ लहंति॥ (आ० नि० गा० १०९)

प्रत्याख्यानावरणास्तु सर्वविरतेर्घातकाः, सामर्थ्यान्न देशविरतेः। उक्तं च—

[4]तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाणं।
देसिक्कदेसविरइं, चरित्तलंभं न उ लहंति॥ (आ० नि० गा० ११०)

संज्वलनाः पुनर्यथाख्यातचारित्रस्य घातकाः, न सामान्यतः सर्वविरतेः। उक्तं च श्रीमदाराध्यपादैः—

१. पक्षचतुर्मासवत्सरयावज्जीवानुगामिनो भणिताः। देवनरतिर्यग्नारकगतिसाधनहेतवो ज्ञेयाः॥ २ प्राथमिकानामुदये नियमात्संयोजनाकषायाणाम्। सम्यग्दर्शनलाभं भवसिद्धिका अपि न लभन्ते॥ ३ द्वितीयकषायाणामुदयेऽप्रत्याख्याननामधेयानाम्। सम्यग्दर्शनलाभं विरताविरतं न तु लभन्ते॥ ४ तृतीयकषायाणामुदये प्रत्याख्यानावरणनामधेयानाम्। देशैकदेशविरतिं चरित्रलाभं न तु लभन्ते॥

[illegible]

'मूलगुणाणं लंभं, न [illegible]
संजलणाणं उदए, न [illegible] ॥

अथ जलरेखादिदृष्टान्तेन [illegible] ॥१८॥

जलरेणुपुढविपव्वयराईसरिसो [illegible]
तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो माणो ॥१९॥

इह राजिशब्दः सदृशशब्दश्च प्रत्येकं सम्बध्यते। [illegible] संज्वलनः क्रोधः, यथा यष्ट्यादिभिर्जलमध्ये राजी—रेखा [illegible] प्युदयप्राप्तोऽपि सत्वरमेव व्यावर्तते स संज्वलनः क्रोधोऽभिधीयते १। रेणुराजिसदृशः प्रत्याख्यानावरणः क्रोधः, अयं हि संज्वलनक्रोधापेक्षया तीव्र [illegible] निवर्तत इति भावः २। पृथिवीराजिसदृशस्त्वप्रत्याख्यानावरणः, यथा स्फुटितपृथिवीसम्बन्धिनी राजी कचवरादिभिः पूरिता कष्टेनापनीयते, [illegible] कष्टेन निवर्तत इति भावः ३। विदलितपर्वतराजिसदृशः पुनरनन्तानुबन्धी क्रोधः, कथमपि निवर्तयितुमशक्य इत्यर्थः ४। उक्तश्चतुर्विधः क्रोधः॥

इदानीं मानोऽभिधीयते—तत्र तिनिसलतोपमः संज्वलनो मानः, यथा तिनिशः—वनस्पतिविशेषस्तत्सम्बन्धिनी लता सुखेनैव नमति, एवं यस्य मानस्योदये जीवः स्वाग्रहं मुक्त्वा सुखेनैव नमति स संज्वलनमानः १। यथा स्तब्धं किमपि काष्ठमग्निस्वेदादिबहूपायैः कष्टेन नमति, एवं यस्य मानस्योदये जीवोऽपि कष्टेन नमति स काष्ठोपमः प्रत्याख्यानावरणो मानः २। यथाऽस्थि—हड्डं बहुतरैरुपायैरतितरां महता कष्टेन नमति, एवं यस्य मानस्योदये जीवोऽप्यतितरां महता कष्टेन नमति सोऽस्थ्युपमोऽप्रत्याख्यानावरणो मानः ३। शिलायां घटितः शैलः शैलश्चासौ स्तम्भश्च शैलस्तम्भस्तदुपमस्त्वनन्तानुबन्धी मानः, कथमप्यनमनीय इत्यर्थः ४॥१९॥ उक्तश्चतुर्विधो मानः। अथ मायालोभौ व्याख्यानयन्नाह—

मायाऽवलेहिगोमुत्तिमिंढसिंगघणवंसिमूलसमा।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणो ॥२०॥

मायाऽवलेखिकासमा संज्वलनी, धनुरादीनामुल्लिख्यमानानां याऽवलेखिका वक्रत्वरूपा पतति, यथाऽसौ कोमलत्वात् सुखेनैव प्राञ्जलीक्रियते, एवं यस्या उदये समुत्पन्नाऽपि हृदये कुटिलता सुखेनैव निवर्तते सा संज्वलनी माया १। गौः—बलीवर्दस्तस्य मार्गे गच्छतो वक्रतया

१ मूलगुणानां लाभं न लभते मूलगुणघातिनामुदये। संज्वलनानामुदये न लभते चरणं यथाख्यातम्।

पतिता मूत्रधारा गोमूत्रिकाऽभिधीयते, यथाऽसौ शुष्का पवनादिभिः किमपि [1]कष्टेन नीयते, एवं यज्जनिता कुटिलता कष्टेनापगच्छति सा गोमूत्रिकासमा प्रत्याख्यानावरणी माया २ । एवं मेषशृङ्गसमायामप्यप्रत्याख्यानावरणमायायां भावना कार्या, नवरमेषा कष्टतरनिवर्तनीया ३ । घनवंशीमूलसमा त्वनन्तानुबन्धिनी माया, यथा निबिडवंशीमूलस्य कुटिलता किल वह्निनाऽपि न दह्यते, एवं यज्जनिता मनःकुटिलता कथमपि न निवर्तते साऽनन्तानुबन्धिनी मायेत्यर्थः ४ । तथा लोभो हरिद्रारागसमानः संज्वलनः, यथा वाससि हरिद्रारागः सूर्यातपस्पर्शादिमात्रादेव निवर्तते तथाऽयमपीत्यर्थः १ । कष्टनिवर्तनीयो वस्त्रविलग्नप्रदीपादिखञ्जनसमानः प्रत्याख्यानावरणलोभः २ । कष्टतरापनेयो वस्त्रलग्ननिबिडकर्दमसमानोऽप्रत्याख्यानावरणलोभः ३ । कृमिरागरक्तपट्टसूत्ररागसमानः कथमप्यपनेतुमशक्योऽनन्तानुबन्धी लोभ ४ इति ॥२०॥

उक्तं कषायमोहनीयम् । अथ नोकषायमोहनीयं व्याख्यायते, तच्च द्विविधम्—हास्यादिषट्कं वेदत्रिकं च । तत्र हास्यादिषट्कं व्याख्यानयन्नाह—

जस्सुदया होइ जिए, हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा वा, तं इह हासाइमोहणियं ॥२१॥

यस्य 'उदयात्' विपाकात् 'भवति' जायते 'जीवे' जीवस्य हासो रतिः अरतिः शोको भयं "कुच्छ"त्ति जुगुप्सा, हासादिशब्देषु सिलोपः प्राकृतत्वात्, 'सनिमित्तं' सकारणम् 'अन्यथा' अनिमित्तं निष्कारणम्, वाशब्दः पक्षान्तरद्योतकः, तद् 'इह' प्रवचने हास्यादिमोहनीयम् । आदिशब्दाद् रतिमोहनीयम् अरतिमोहनीयं शोकमोहनीयं भयमोहनीयं जुगुप्सामोहनीयं भण्यत इति शेषः, इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा जीवस्य हासः—हास्यं भवति तद् हासमोहनीयम् १ । यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु जीवस्य रतिः—प्रमोदो भवति तद् रतिमोहनीयम् २ । यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा जीवस्य बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुष्वरतिः—अप्रीतिर्भवति तद् अरतिमोहनीयम् ३ । यदुदयात् सनिमित्तमन्यथा वा जीवस्योरस्ताडनक्रन्दनपरिदेवनदीर्घनिःश्वसनभूलुठनरूपः शोको भवति तद् शोकमोहनीयम् ४ । यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा तथारूपस्वसङ्कल्पतो जीवस्य "[2]इह१ परलोया२ऽऽदाण३ मकम्हा४ आजीव५ मरण६ मसिलोए ७ ।" (आव० सं० गा० पत्र ६४५-२) इति गाथार्धोक्तं सप्तविधं भयं भवति तद् भयमोहनीयम् ५ । यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा जीवस्याशुभवस्तुविषया जुगुप्सा—व्यलीकं भवति तद् जुगुप्सामोहनीयम् ६ ॥२१॥ उक्तं हास्यादिषट्कं, सम्प्रति वेदत्रिकमाह—

---

१ कष्टेनापनीय० ग० घ० ॥ २ इहपरलोकादानमकस्मादाजीविकामरणमश्लोकः ॥

पुरिसित्थि तदुभयं पइ, अहिलासो जव्वसा हवइ सो उ ।
थीनरनपुवेउदओ, फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥ २२ ॥

प्रतिशब्दः प्रत्येकं योज्यते, पुरुषं प्रति स्त्रियं प्रति तदुभयं प्रति—स्त्रीपुरुषं प्रतीत्यर्थः 'यद्वशात्' यत्पारतन्त्र्याद् 'अभिलाषः' वाञ्छा 'भवति' जायते, तुशब्दः परस्परापेक्षया पुनरर्थे, स्त्री-योषित् नरः—पुरुषः "नपु" त्ति नपुंसकं तैर्वेद्यते—अनुभूयते स्त्रीनरनपुंवेदस्तस्योदयः स्त्रीनरनपुंवेदोदयो ज्ञेय इति शेषः । फुम्फुमा—करीषम् तृणानि प्रतीतानि नगरं—पुरम् फुम्फुमा-तृणनगराणि तेषां दाहस्तेन समः—तुल्य इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—यद्वशात् स्त्रियाः पुरुषं प्रत्यभिलाषो भवति, यथा पित्तवशाद् मधुरद्रव्यं प्रति, स फुम्फुमादाहसमः, [[1]*यथा [2]यथा चाल्यते तथा तथा ज्वलति [3]बृंहति च, [4]एवमबलाऽपि यथा यथा संस्पृश्यते पुरुषेण तथा तथाऽस्या अधिकतरोऽभिलाषो जायते, अभुज्यमानायां तु च्छन्नकरीषदाहतुल्योऽभिलाषो मन्द इत्यर्थः, इति*] स्त्रीवेदोदयः १। यद्वशात् पुरुषस्य स्त्रियं प्रत्यभिलाषो भवति, यथा श्लेष्मवशादम्लं प्रति, स पुनस्तृणदाहसमः, [* यथा तृणानां [5]दाहे ज्वलनं झटिति विध्यापनं च भवति, एवं पुंवेदोदये स्त्रियाः सेवनं प्रत्युत्सुकोऽभिलाषो भवति, निवर्तते च तत्सेवने शीघ्रमिति*] नरवेदोदयः २ । यद्वशाद् नपुंसकस्य तदुभयं प्रत्यभिलाषो भवति, यथा पित्तश्लेष्म-समाने मज्जिकां प्रति, स पुनर्नगरदाहसमः, [* यथा नगरं दह्यमानं महता कालेन दह्यते [illegible] च महतैव, एवं नपुंसकवेदोदयेऽपि स्त्रीपुरुषयोः सेवनं प्रत्यभिलाषातिरेको महताऽपि कालेन न निवर्तते, नापि सेवने तृप्तिरिति *] नपुंवेदोदयः ३ । अभिहितं वेदत्रिकम्, तद-भिधाने चाभिहितं नवधा नोकषायमोहनीयम्, तदभिधाने च समर्थितं चारित्रमोहनी-यमिति ॥ २२ ॥

[illegible]विंशतिविधं चतुर्थं मोहनीयं कर्म, इदानीं पञ्चममायुष्कर्म व्याचिख्यासुराह—

सुरनरतिरिनरयाऊ, हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं ।
बायालतिनवइविहं, निउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥ २३ ॥

[illegible] योज्यते, तत्र सुष्ठु राजन्त इति सुराः, यद्वा "सुरत् ऐश्वर्यदीप्त्योः" [illegible] सुरन्ति दिव्याभरणकान्त्या सहजशरीरकान्त्या च दीप्यन्त इति सुराः, [illegible] लवणाधिपमुस्थित इव लवणजलधौ मार्गं [illegible] सुरास्तैर्येन तेष्ववस्थितिर्भवति १ । नृणन्ति—निश्चिन्वन्ति

[illegible] मन्दः [illegible] क पुस्तके नास्ति, एवमग्रेऽपि ॥ २ [illegible] ॥ ४ एवमङ्गनाऽपि ख० ॥ ५ दाहे ख०

वस्तुतत्त्वमिति नराः—मनुष्याः तेषामायुर्नरायुर्मनुष्यायुरितियावत् २ । "तिरि" त्ति प्राकृतत्वात् तिरोऽञ्चन्ति—गच्छन्तीति तिर्यञ्चः, व्युत्पत्तिनिमित्तं चैतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं तु तिर्यग्गतिनाम, एते चैकेन्द्रियादयः, तेषामायुस्तिर्यगायुरित्येतेषु स्वीयते ३ । नरान् उपलक्षणत्वात् तिरश्चोऽपि प्रकृतपापकारिणः कायन्तीव—आह्वयन्तीवेति[1] नरकाः—नरकावासास्तत्रोत्पन्ना जन्तवोऽपि नरकाः, नरको वा विद्यते येषां ते "अभ्रादिभ्यः" (सि० ७-२-४६) इति अप्रत्यये नरकास्तेषामायुर्नरकायुर्येन ते तेषु ध्रियन्ते । एतच्चायुर्हडिसदृशं भवति । तत्र हडिः—खोडकस्तेन सदृशं तत्स्वरूपम्, यथा हि हडौ क्षिप्तो नरः कश्चिन्नरादिस्ततो निर्गमनमनोरथं कुर्वाणोऽपि निरूपितं कालं यावत् तया ध्रियते, तथा नारकादिस्ततो निष्क्रमितुमना अपि तदायुषा ध्रियत इति हडिसदृशमायुः । व्याख्यातं चतुर्विधं पञ्चममायुःकर्म ॥

सम्प्रति षष्ठं नामकर्मविधिमनुराह—"नामकम्म चित्तिसमं" इत्यादि । नामकर्म भवति 'चित्तिसमं' चित्रं करोति तत्करणशीलो वा यः स चित्री—चित्रकरस्तेन समम्—सदृशं चित्रिसमम् । यथा हि चित्री चित्रं चित्रप्रकारं विविधवर्णकैः करोति, तथा नामकर्मापि जीवं नारकोऽयं तिर्यङ्ङयं मनुष्योऽयमेकेन्द्रियोऽयं द्वीन्द्रियोऽयमित्यादिव्यपदेशैरनेकधा करोतीति चित्रिसममिदमिति । एतच्चानेकभेदम्, कथम्? इत्याह—"बायालतिनवइविहं तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी" त्ति । अत्र विधशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्विचत्वारिंशद्विधम्, यद्वा त्रिनवतिविधम्, यदि वा त्र्युत्तरशतविधम्, अथवा सप्तषष्टिविधम् । चशब्दः समुच्चये व्यवहितसम्बन्धश्च, स च तथैव योजितः ॥ २३ ॥ अथ नामकर्मणो द्विचत्वारिंशतं भेदान् प्रचिकटयिषुराह—

गइजाइतणुउवंगा, बंधणसंघायणाणि संघयणा ।
संठाणवन्नगंधरसफासअणुपुव्विविहगगई ॥२४॥

इह नाम्नः प्रस्तावात् सर्वत्र गत्यादिषु नामेत्युपस्कारः कार्यः । तथाहि—गतिनाम जातिनाम तनुनाम उपाङ्गनाम (ग्रन्थाग्रम् १०००) बन्धननाम सङ्घातननाम संहनननाम संस्थाननाम वर्णनाम गन्धनाम रसनाम स्पर्शनाम आनुपूर्वीनाम विहायोगतिनामेति । तत्र गम्यते—तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यत इति गतिः—नारकादिपर्यायपरिणतिः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि गतिः, सैव नाम गतिनाम १ । जननं जातिः—एकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेश्येन पर्यायेण जीवानामुत्पत्तिः, तद्भावनिबन्धनभूतं नाम जातिनाम २ । तनोति-जन्तुरात्मप्रदेशान् विस्तारयति यस्यां सा तनुः, तज्जनकं कर्मापि तनुः, सैव नाम तनुनाम, शरीरनामेत्यर्थः ३ ।
"उवंग" त्ति उपलक्षणत्वाद् अङ्गोपाङ्गनाम, तत्र "अञ्जौप् व्यक्तिम्रक्षणगतिषु" इति धातोः

१ ०वि नरकावासास्त० छ० ग० ङ०॥

समासो यथा—सुभगत्रिकमादिर्यस्य दुर्भगत्रिकस्य तत् सुभगादिचतुष्कं तस्य विभाषा-प्ररूपणा कर्तव्येति शेषः । काभिः कृत्वा पुनस्त्रसचतुष्कादिका विभाषा कर्तव्या ? इत्याह—'तदादि-सङ्ख्याभिः प्रकृतिभिः' सा—निर्दिष्टा प्रकृतिरादिर्यस्याः सङ्ख्यायाः सा तदादिः, तदादिः सङ्ख्या यासां प्रकृतीनां तास्तदादिसङ्ख्यास्ताभिस्तदादिसङ्ख्याभिः प्रकृतिभिः, कोऽर्थः ? याऽसौ प्रकृतिस्त्रसादिका निर्दिष्टा तामादौ कृत्वा निर्दिष्टसङ्ख्या पूरणीयेति । एताश्च संज्ञाः प्रकृति-पिण्डकसङ्ग्राहिण्यो यथास्थानमुपयोगमायास्यन्तीति कृत्वा प्ररूपिता इति ॥ २८ ॥

उक्ता नामकर्मणो द्वाचत्वारिंशद् भेदाः । अथ तस्यैव त्रिनवतिभेदान् प्ररूपयितुकामो गत्यादिपदानां पिण्डप्रकृतिसंज्ञिकानां मध्ये येन पदेन यावन्तो भेदाः पिण्डिता वर्तन्ते तान् भेदान् तेषामाह—

गइयाईण उ कमसो, चउपणपणतिपणपंचछच्छक्कं ।
पणदुगपणट्ठचउदुग, इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥ २९ ॥

'गत्यादीनां' पिण्डप्रकृतीनां पूर्वप्रदर्शितस्वरूपाणां पुनः 'क्रमशः' क्रमेण यथासङ्ख्यमिति यावत् चतुरादयो भेदा भवन्तीति वाक्यार्थः । तथाहि—गतिनाम चतुर्धा, जातिनाम पञ्चधा, तनुनाम पञ्चधा, उपाङ्गनाम त्रिधा, बन्धननाम पञ्चधा, सङ्घातननाम पञ्चधा, संहनन-नाम षोढा, संस्थाननाम षोढा, वर्णनाम पञ्चधा, गन्धनाम द्विधा, रसनाम पञ्चधा, स्पर्श-नामाऽष्टधा, आनुपूर्वीनाम चतुर्धा, विहायोगतिनाम द्वेधा । एतेषां सर्वमीलने भेदाग्रमाह—"इय" त्ति 'इति' अमुना चतुरादिभेदमीलनप्रकारेणोत्तरभेदानां पञ्चषष्टिरिति ॥ २९ ॥

अडवीसजुया तिनवइ, संते वा पनरबंधणे तिसयं ।
बंधणसंघायगहो, तणूसु सामन्नवन्नचऊ ॥ ३० ॥

एषा पूर्वोक्ता पञ्चषष्टिः 'अष्टाविंशतियुता' प्रत्येकप्रकृत्यष्टाविंशत्या सह मीलने त्रिभिर-धिका नवतिस्त्रिनवतिर्भवति । सा च क्वोपयुज्यते ? इत्याह—"संते" त्ति प्राकृतत्वात् सत्तायां सत्कर्म प्रतीत्य बोद्धव्येत्यर्थः । वाशब्दो विकल्पार्थो व्यवहितसंबन्धश्च, स चैवं योज्यते—'पञ्चदशबन्धनैस्त्रिशतं वा' पञ्चदशसङ्ख्यैर्वक्ष्यमाणस्वरूपैर्बन्धनैः प्रदर्शितत्रिनवतिमध्ये प्रक्षिप्तैस्त्रि-भिरधिकं शतं त्रिशतं वा सत्तायामधिक्रियते इति शेषः । अथ त्रिनवतिमध्ये पञ्चदशानां प्रकृतीनां प्रक्षेपेऽष्टोत्तरं शतं भवतीति चेद् उच्यते—या वक्ष्यमाणाः पञ्चदश बन्धननामप्र-कृतयस्तासु मध्यात् सामान्यत औदारिकादिबन्धनपञ्चकस्य त्रिनवतिमध्ये पूर्वं प्रक्षिप्तत्वात् शेषाणां दशानां प्रक्षेपे त्रिशतमेव भवतीति न कश्चिद्विरोधः । सूत्रे च "पनरबंधणे" इत्यत्र विभक्तिवचनव्यत्ययः प्राकृतत्वादिति । उक्ता नामकर्मणस्त्रिनवतिस्त्र्युत्तरशतं च भेदानाम् ।

अथ सप्तषष्टिभेदानाह—"बंधणसंघायगहो तणूसु" त्ति । बन्धनानि च पञ्चदश, सङ्घातनाम-सङ्घातनामानि पञ्च, बन्धनसङ्घातयोर्ग्रहणं ग्रहो बन्धनसङ्घातग्रहः । 'तनुषु' शरीरेषु, तनु-ग्रहणेनैव बन्धनसङ्घाता गृह्यन्ते न पृथग् विवक्ष्यन्त इत्यर्थः । तथा "सामन्नवन्नचउ" त्ति सामान्ये—कृष्णनीलादिविशेषाणामविवक्षणे वर्णचतुष्कं सामान्यवर्णचतुष्कं गृह्यत इति शेषः । अयमभिप्रायः—इह तनुग्रहणे औदारिकादितनुनामैव गृह्यते, न तद्बन्धनानि तत्स-ङ्घातनामानि च, यत औदारिकतनोः स्वजातित्वाद् औदारिकतनुसदृशानि बन्धनानि तत्सङ्घा-ताश्च गृहीताः, एवं वैक्रियादितनावपि निजनिजबन्धनसङ्घाता गृहीता इति न पृथगिति पञ्च-दश बन्धनानि पञ्च सङ्घाता गण्यन्ते । तथा वर्णगन्धरसस्पर्शानां यथाक्रमं पञ्चद्विपञ्चाष्टभे-देभिन्नानां विंशतिभेदानामपि तेषामेव सामान्यं वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणं चतुष्कं गृह्यते, ततश्चान-न्तरोदितात् प्रभूतत्वाद् वर्णादिषोडशकबन्धनपञ्चदशकसङ्घातपञ्चकलक्षणानां षट्त्रिंशत्प्रकृती-नामपगमात् नाम सप्तषष्टिर्भवतीति ॥ ३० ॥ एतदेवाह—

इय सत्तट्ठी बंधोदए य न य सम्ममीसया बंधे ।
बंधुदए सत्ताए, वीसदुवीसऽट्ठवन्नसयं ॥ ३१ ॥

'इति' पूर्वोक्तप्रकारेण सप्तषष्टिर्नामकर्मप्रकृतीनां भवति । सा च क्वोपयुज्यते ? इत्याह—"बंधोदए य" त्ति बन्धश्च उदयश्च बन्धोदयं तस्मिन् 'बन्धोदये' बन्धे च उदये च सप्तषष्टि-र्भवति, चशब्दाद् उदीरणायां च समाहिः । अथ बन्धनसङ्घातवर्णादिविशेषाणां विवक्षा-वशादेव बन्धे नाधिकार इत्युक्तम्, सम्प्रति ययोः प्रकृत्योः सर्वथैव बन्धो न भवति ते आह—"न य सम्ममीसया बंधे" त्ति 'न च' नैव सम्यक्त्वमिश्रके बन्धेऽधिक्रियेते । अयम-भिप्रायः—सम्यक्त्वमिश्रयोर्बन्ध एव न भवति, किन्तु मिथ्यात्वपुद्गलानामेव जीवः सम्यक्त्व-गुणेन मिथ्यात्वरूपतामपनीय केषाञ्चिदत्यन्तविशुद्धिमापादयति, अपरेषां त्वीषद्विशुद्धिम्, केचित् पुनर्मिथ्यात्वरूपा एवावतिष्ठन्ते, तत्र येऽत्यन्तविशुद्धास्ते सम्यक्त्वव्यपदेशभाजः, ईषद्विशुद्धा मिश्रव्यपदेशभाजः, शेषा मिथ्यात्वमिति । उक्तं च—

सम्यक्त्वगुणेन ततो, विशोधयति कर्म तत् स मिथ्यात्वम् ।
यद्वच्छगणप्रभृतिभिः, शोध्यन्ते कोद्रवा मदनाः ॥
यत् सर्वथाऽपि तत्र विशुद्धं तद् भवति कर्म सम्यक्त्वम् ।
मिश्रं तु दरविशुद्धं, भवत्यशुद्धं तु मिथ्यात्वम् ॥

उदयोदीरणासत्तासु पुनः सम्यक्त्वमिश्रके अप्यधिक्रियेते । एवं च सति ज्ञानावरणे पञ्च,

१. श्रा मिश्रा व० ७० गा० ६० ॥

पुद्गलानादाय औदारिकशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानु-गमरूपतया सम्बन्धयति, तद् औदारिकशरीरनामेत्यर्थः १। तथा विविधा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम्। तथाहि-तदेकं भूत्वा अनेकं भवति, अनेकं भूत्वा एकम्, अणु भूत्वा महद् भवति, महच्च भूत्वा अणु, खेचरं भूत्वा भूमिचरं भवति, भूमिचरं भूत्वा खेचरं भवति, दृश्यं भूत्वा अदृश्यं भवति, अदृश्यं भूत्वा दृश्यमित्यादि। तच्च द्विधा—औपपातिकं लब्धिप्रत्ययं च। तत्रौपपातिकम्—उपपातजन्मनिमित्तम्, तच्च देवनारकाणाम्। लब्धिप्रत्ययं तिर्यङ्मनुष्या-णाम्। वैक्रियनिबन्धनं नाम वैक्रियनाम, यदुदयाद् वैक्रियशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय वैक्रि-यशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्ध-यतीति २। तथा चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फातिदर्शनादिकतथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशाद् आह्रियते—निर्वर्त्यत इत्याहारकम्, "बहुलम्" (सि० ५-१-२) इति वच-नात् कर्मणि णकप्रत्ययः, यथा पादहारक इत्यादौ, तच्च वैक्रियापेक्षयाऽत्यन्तशुभं स्वच्छस्फटिक-शिलेव शुभ्रपुद्गलसमूहघटनात्मकम्, आहारकनिबन्धनं नाम आहारकनाम, यदुदयवशाद् आहारकशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय आहारकशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहन्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयतीति ३। तथा तेजसा तेजःपुद्गलैर्निर्वृत्तं तैज-सम्, यद् भुक्ताहारपरिणमनहेतुर्यद्वशाच्च विशिष्टतपःसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्या-विनिर्गमः, तेजोनिबन्धनं नाम तैजसनाम, यदुदयवशात् तैजसशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय तैजसशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्ब-न्धयतीति ४। तथा कर्मपरमाणुषु भवं कार्मिकं कार्मणशरीरमित्यर्थः। कर्मपरमाणव एवा-त्मप्रदेशैः सह क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगताः सन्तः [1]कार्मणशरीरम्, कर्मणो विकारः कार्मणमिति व्युत्पत्तेः तदुक्तम्—

[2]कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं।
सव्वेसिं सरीराणं, कारणभूयं मुणेयव्वं॥

अत्र "सव्वेसिं" ति सर्वेषामौदारिकादिशरीराणां 'कारणभूतं' बीजभूतं कार्मणशरीरम्। न खल्वामूलमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कार्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावसम्भवः। इदं च कार्मणशरीरं जन्तोर्गत्यन्तरसङ्क्रान्तौ साधकतमं कारणम्। तथाहि—कार्मणेनैव वपुषा परिक-रितो जन्तुर्मरणदेशमपहायोत्पत्तिदेशमभिसर्पति। ननु यदि कार्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं

१ कार्मणं शा० क० ख० ग० घ०॥ २ कर्मविकारः कार्मणमष्टविधविचित्रकर्मनिष्पन्नम्। सर्वेषां शरीराणां कारणभूतं ज्ञातव्यम्॥

[illegible] न [illegible] कस्मात् [illegible] ? उच्यते—कर्मपुद्गलानामिन्द्रियम-
[illegible] । आह च [illegible]—

[illegible] ।

[illegible] ॥

[illegible] नाम [illegible], यदुदयात् [illegible] पुद्गलानाम् [illegible] च [illegible] ॥ ३२ ॥ [illegible] अङ्गोपाङ्गनाम त्रिधा आह—

बाहूरु पिट्ठि सिर उर, उयरंग उवंग अंगुलीपमुहा ।
सेसा अंगोवंगा, पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥ ३३ ॥

'बाहू' भुजद्वयम् 'ऊरू' ऊरुद्वयम् 'पिट्ठि' पृष्ठम् 'सिर' मस्तकम् 'उर' वक्षः 'उदरं' [illegible] , एतान्यष्टौ अङ्गानि । उपाङ्गानि अङ्गुली-प्रमुखाणि, [illegible] । 'सेसा' [illegible] अङ्गोपाङ्गानि, [illegible] । [illegible]—"अङ्गोपाङ्गनाम" [illegible] इति । इमानि च उपाङ्गानि "पढमतणुतिगस्स" त्ति प्रथमतनुत्रिकस्य—औदारिक-वैक्रिय-आहारकरूपस्य [illegible] भवन्ति । अतः अङ्गोपाङ्गनामापि त्रिविधं भवति । तद्यथा—औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम आहारकाङ्गोपाङ्गनाम । तत्र यदुदयाद् औदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद् औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम १ । यदुदयाद् वैक्रियशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद् वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम २ । यदुदयाद् आहारकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद् आहारकाङ्गोपाङ्गनाम ३ । तैजसकार्मणयोस्तु जीवप्रदेशसंस्थानानुरूपत्वात् नास्त्यङ्गोपाङ्गसम्भव इति ॥ ३३ ॥

उक्तं त्रिविधमङ्गोपाङ्गनाम । साम्प्रतं बन्धननामस्वरूपमाह—

उरलाइपुग्गलाणं, निबद्धबज्झंतयाण संबंधं ।
जं कुणइ जउसमं तं, उरलाईबंधणं नेयं ॥ ३४ ॥

औदारिकादिपुद्गलानाम् आदिशब्दाद् वैक्रियपुद्गलानाम् आहारकपुद्गलानां तैजसपुद्गलानां कार्मणपुद्गलानाम्, किंविशिष्टानाम् ? इत्याह—"निबद्धबज्झंतयाण" त्ति निबद्धाश्च बध्यमानाश्च

---

१ [illegible] ॥ २ वैक्रिय० [illegible] ॥

निबद्धबध्यमानास्तेषां 'निबद्धबध्यमानानां' [illegible]
परस्परं मीलनं करोति दारुजानिव [illegible]
शब्दाद् वैक्रियबन्धनम् आहारकबन्धनं तैजसबन्धनं कार्मणबन्धनं [illegible]
क्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—इह पूर्वगृहीतैरौदारिकपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाण [illegible]
लान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति—आत्मा अन्योन्यसंयुक्तान् करोति तद् [illegible]
नाम दारुपाषाणादीनां जतुगलायन्तृनिरन्तर [illegible] १ । पूर्वगृहीतैर्वैक्रियपुद्गलैः सह परस्परं
गृह्यमाणान् वैक्रियपुद्गलान उदितेन येन कर्मणा बध्नाति—आत्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद्
जतुसमं वैक्रियशरीरबन्धननाम २। पूर्वगृहीतैराहारकशरीरपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् आहा-
रकपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति—आत्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद् जतुसममाहा-
रकशरीरबन्धननाम ३ । पूर्वगृहीतैस्तैजसपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणांस्तैजसपुद्गलान् उदितेन
येन कर्मणा बध्नाति—आत्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद् जतुसमं तैजसशरीरबन्धननाम ४ ।
पूर्वगृहीतैः कार्मणपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् कार्मणपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति—
आत्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद् जतुसमं कार्मणशरीरबन्धननाम ५ । यदि पुनरिदं
शरीरपञ्चकपुद्गलानामौदारिकादिशरीरनाम्नः सामर्थ्याद् गृहीतानामन्योऽन्यसम्बन्धकारि बन्धन-
पञ्चकं न स्यात् ततस्तेषां शरीरपरिणतौ सत्यामप्यसम्बद्धत्वात् पवनाहतकुण्डस्थितास्तीमितस-
क्तूनामिवैकत्र स्थैर्यं न स्यादिति । ३४ ॥ उक्तं बन्धनस्वरूपम् । इदं च बन्धननाम असंह-
तानां पुद्गलानां न सम्भवति, अतोऽन्योऽन्यसन्निधानलक्षणपुद्गलसंहतेः कारणं सङ्घातनमाह—

जं संघायइ उरलाइपुग्गले तणगणं व दंताली ।
तं संघायं बन्ध'णमिव तणुनामेण पंचविहं ॥ ३५ ॥

यत् कर्म 'सङ्घातयति' पिण्डीकरोति औदारिकादिपुद्गलान् आदिशब्दाद् वैक्रियपुद्गलान् आहारकपुद्गलान् तैजसपुद्गलान् कार्मणपुद्गलान्, तत्र दृष्टान्तमाह—'तृणगणमिव' तृणोत्करमिवेतश्चेतश्च विक्षिप्तं 'दन्ताली' काष्ठमयी मरुमण्डलप्रसिद्धा, तत् 'सङ्घातं' सङ्घातननाम, तच्च पूर्वोक्तं बन्धननामापि 'तनुनाम्ना' शरीराभिधानेन पञ्चविधं भवतीति । तत्र बन्धननाम पूर्वमेव भावितम् । अथ सङ्घातनाम भाव्यते—औदारिकसङ्घातनाम वैक्रियसङ्घातनाम आहारकसङ्घातनाम तैजससङ्घातनाम कार्मणसङ्घातनाम । तत्र यदुदयाद् औदारिकशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति—अन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापयति तद् औदारिकसङ्घातननाम १ । यदुदयाद् वैक्रियशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति—अन्योऽन्यसन्निधानेन

---

१ णमवि त० क० ॥

व्यवस्थापयति तद् वैक्रियसङ्घातननाम २ । यदुदयाद् आहारकशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति–अन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापयति तद् आहारकसङ्घातननाम ३ । यदुदयात् तैजस-शरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति–अन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापयति तत् तैजस-सङ्घातननाम ४ । यदुदयाद् कार्मणशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति–अन्योऽन्यस-न्निधानेन व्यवस्थापयति तत् कार्मणसङ्घातननाम ५ इति ॥ ३५ ॥

उक्तं पञ्चधा वन्धननाम पञ्चधा सङ्घातननाम । सम्प्रति "संते वा पनरवंधणे तिसयं" इति (३०) गाथासूचितं वन्धनपञ्चदशकं व्याचिख्यासुराह—

ओरालविउव्वाहारयाण सगतेयकम्मजुत्ताणं ।
नव वंधणाणि इयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥ ३६ ॥

औदारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीराणां नव वन्धनानीति योगः । कीदृशानां सताम् ? इत्याह–'स्वकतैजसकार्मणयुक्तानाम्, प्रत्येकं [1]स्वकतैजसकार्मणानां मध्यादन्यतरेण युक्तानामित्यर्थः । "नव" त्ति नवसङ्ख्यानि वन्धनानि वन्धनप्रकृतयो भवन्तीति । औदारिकवैक्रियाहारकाणां त्रया-णामपि प्रत्येकं स्वनाम्ना तैजसेन कार्मणेन च योगाद् द्विकसंयोगनिष्पन्नान्येकैकस्य औदारिका-देस्त्रीणि त्रीणि वन्धनानि भवन्ति, तेषां च त्रयाणां त्रिकाणां मीलने नव वन्धनानीति । तथाहि—औदारिकऔदारिकवन्धननाम १ औदारिकतैजसवन्धननाम २ औदारिककार्मण-वन्धननाम ३, वैक्रियवैक्रियवन्धननाम १ वैक्रियतैजसवन्धननाम २ वैक्रियकार्मणवन्धन-नाम ३, आहारकाऽऽहारकवन्धननाम १ आहारकतैजसवन्धननाम २ आहारककार्मणव-न्धननाम ३ । तत्र पूर्वगृहीतैरौदारिकशरीरपुद्गलैः सह गृह्यमाणौदारिकपुद्गलानां वन्धो येन क्रियते तद् औदारिकौदारिकवन्धननाम १ । येनौदारिकपुद्गलानां तैजसशरीरपुद्गलैः [2]सह सम्बन्धो विधीयते तद् औदारिकतैजसवन्धननाम २ । येनौदारिकपुद्गलानां कार्मणशरीरपु-द्गलैः [3]सह सम्वन्धो विधीयते तद् औदारिककार्मणवन्धननाम ३। एवमनेन न्यायेनान्यान्यपि वैक्रियाहारकाणामत्रापि योज्यम्, त्रीणि वन्धनानि भवन्ति । अयमाशयः—प्रत्येकमौदारिक-वैक्रियाहारकाणां तैजसकार्मणाभ्यां युगपत् संयोगे त्रिकसंयोगरूपाणि त्रीणि वन्धनानि भव-

वन्धनानि वाच्यानि । शेषवन्धननिरूपणायाह—"इयरदुसहियाणं तिन्नि" त्ति इतरे–स्वकीय-नामापेक्षयाऽन्ये तैजसकार्मणशरीरे, ततः प्राकृतत्वादन्यथोपन्यासेऽपि द्वे च ते इतरे च द्वीतरे ताभ्यां सहितानि–युक्तानि द्वीतरसहितानि, यद्वा "दु" त्ति द्विकं तत इतरच्च तद्द्विकं चेतरद्विकं तेन सहितानि इतरद्विकसहितानि तेषां द्वीतरसहितानाम् इतरद्विकसहितानां वा, औदारिक-

1 स्वस्वतैं० क० घ० ॥ २-३ ०ह वन्धो ख० ग० ङ० ॥

न्ति । तथाहि--औदारिकतैजसकार्मणबन्धननाम १ वैक्रियतैजसकार्मणबन्धननाम २ आहारकतैजसकार्मणबन्धननाम ३ । अर्थः पूर्वोक्त एव । न केवलमेषामौदारिकादीनामितरद्विकसहितानामेव त्रीणि बन्धनानि भवन्ति, किन्तु "तेसिं च" त्ति त्रीणीति शब्दो डमरुकमणिन्यायादत्रापि योज्यः । ततोऽयमर्थः—तयोश्चेतरशब्दवाच्ययोस्तैजसकार्मणयोः स्वनाम्ना इतरेण च योगे त्रीणि बन्धनानि भवन्ति । यथा—तैजसतैजसबन्धननाम १ तैजसकार्मणबन्धननाम २ कार्मणकार्मणबन्धननाम ३ । तदेवं नव त्रीणि त्रीणि च मिलितानि पञ्चदश बन्धनानीति ।

अत्राह--पञ्चानां शरीराणां द्विकादियोगप्रकारेण षड्विंशतिः संयोगा भवन्ति, तत्तुल्यबन्धनानि च कस्मात् न भवन्ति ? उच्यते—औदारिकवैक्रियाहारकाणां परस्परविरुद्धाऽन्योऽन्यसम्बन्धाभावात् पञ्चदशैव भवन्ति, नाधिकानि ।

आह—यथा पञ्चदश बन्धनानि भवन्ति, एवमनेनैव क्रमेण पञ्चदश सङ्घाता अपि कस्मात् नाभिधीयन्ते ? सङ्घातितानामेव बन्धनभावात्, तथाहि- पाषाणयुग्मस्य कृतसङ्घातस्यैवोत्तरकालं वज्रलेपरालादिना बन्धनं क्रियते, तदसत्, यतो लोके ये स्वजातौ संयोगा भवन्ति त एव शुभाः, एवमिहापि स्वशरीरपुद्गलानां स्वशरीरपुद्गलैः सह ये संयोगरूपाः सङ्घातास्ते शुभा इति प्राधान्यख्यापनाय पञ्चैव सङ्घाता अभिहिता इति ॥ ३६ ॥

व्याख्यातानि पञ्चदशापि बन्धनानि । सम्प्रति संहनननाम षड्विधमभिधित्सुर्गाथायुगलमाह—

संघयणमट्ठिनिचओ, तं छद्धा वज्जरिसहनारायं ।
तह रिसहंनारायं, नारायं अद्धनारायं ॥ ३७ ॥
कीलिय छेवट्ठं इह, रिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं ।
उभओ मक्कडबंधो, नारायं इममुरालंगे ॥ ३८ ॥

संहन्यन्ते- दृढीक्रियन्ते शरीरपुद्गला येन तत् संहननम्, तच्च 'अस्थिनिचयः, कीलिकादिरूपाणामस्थ्नां निचयः-रचनाविशेषोऽस्थिनिचयः । तत् संहननं 'षद्धा' षट्प्रकारैर्भवति । तद्यथा—वज्रऋषभनाराचं १ तथा ऋषभनाराचम् २ इहानुस्वारोऽलाक्षणिकः, नाराचम् ३ अर्धनाराचं ४ कीलिका ५ सेवार्तम् ६ । 'इह' प्रवचने 'ऋषभः' ऋषभशब्देन परिवेष्टनपट्ट उच्यते, 'वज्रं' वज्रशब्देन कीलिकाऽभिधीयते, 'नाराचं' नाराचशब्देनोभयतो मर्कटबन्धो भण्यते । 'इदम्' अस्थिनिचयात्मकं संहननम् 'औदारिकाङ्गे' औदारिकशरीर एव, नान्येषु शरीरेषु, तेषामस्थिरहितत्वात् । इति गाथायुगलाक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—इह द्वयोरस्थ्नो

१ ॰द्धार॰ क॰ ख॰ ग॰ ङ॰ ॥

रुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेन अस्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदि-
कीलिकाख्यं वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद् वज्रऋषभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम वज्रऋ-
षभनाराचनाम १। यत् पुनः कीलिकारहितं संहननं तद् ऋषभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम
ऋषभनाराचनाम २। यत्र पुनर्मर्कटबन्धः केवलो भवति न पुनः कीलिका ऋषभसंज्ञः
पट्टश्च तद् नाराचम्, तन्निबन्धनं नाम नाराचनाम ३। यत्र त्वेक[1]पार्श्वेन मर्कटबन्धो द्वितीय-
पार्श्वेन च कीलिका भवति तद् अर्धनाराचम्, तन्निबन्धनं नामाऽर्धनाराचनाम ४। यत्र
पुनरस्थीनि कीलिकामात्रबद्धान्येव भवन्ति तत् कीलिकासंहननम्, तन्निबन्धनं नाम कीलि-
कानाम ५। यत्र तु परस्परं पर्यन्तस्पर्शलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति स्नेहाभ्यवहार-
तैलाभ्यङ्गविश्रामणादिरूपां च परिशीलनां नित्यमपेक्षन्ते तत् सेवार्तम्, तन्निबन्धनं नाम सेवार्त-
नाम ६। यद्वा "छेवट्ठं" ति दकारस्य लुप्तस्येह दर्शनात् छेदानाम्-अस्थिपर्यन्तानां वृत्तं-पर-
स्परसम्बन्धघटनालक्षणं वर्तनं वृत्तिर्यत्र तत् छेदवृत्तम्, कीलिकापट्टमर्कटबन्धरहितमस्थिपर्यन्त-
मात्रसंस्पर्शि षष्ठमित्यर्थः। ततो यदुदयात् शरीरे वज्रऋषभनाराचसंहननं भवति तद् वज्रऋष-
भनाराचसंहनननामकर्मेति। एवमृषभनाराचादिष्वपि वाच्यमिति ॥३७॥३८॥

व्याख्यातं षड्विधं संहनननाम। सम्प्रति षोढा संस्थाननाम विवक्षुराह—

समचउरंसं निग्गोहसाइखुज्जाइँ वामणं हुंडं।
संठाणा वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया ॥३९॥

समचतुरस्रम् १ "निग्गोह" त्ति पदैकदेशेऽपि पदप्रयोगदर्शनात् न्यग्रोधपरिमण्डलम्
२ [2]सादि ३ कुब्जम् ४ वामनम् ५ हुण्डम् ६ इति षट् 'संस्थानानि' अवयवरचनात्मकशरीरा-
कृतिस्वरूपाणि शरीरे भवन्तीति शेषः। तत्र समाः—शास्त्रोक्तलक्षणाऽविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयः-
पर्यङ्कासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम्, आसनस्य ललाटोपरिभागस्य चान्तरम्, दक्षिणस्कन्धस्य
वामजानुनश्चान्तरम्, वामस्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरमिति चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरी-
रावयवा यत्र तत् समचतुरस्रम्, "सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरस्रैणीपदाऽजपदप्रोष्ठपदभद्रप-
दम्" (सि० ७-३-१२९) इति सूत्रेण समासान्तोऽप्रत्ययः, समचतुरस्रं च तत् संस्थानं च
समचतुरस्रसंस्थानम्। तुल्यारोहपरिणाहः सम्पूर्णलक्षणोपेताङ्गोपाङ्गावयवः स्वाङ्गुलाष्टाधिकश-
तोच्छ्रयः सर्वसंस्थानप्रधानः पञ्चेन्द्रियजीवशरीराकारविशेषः समचतुरस्रसंस्थाननिबन्धनं नाम
समचतुरस्रनाम १। न्यग्रोधवत् परिमण्डलं यस्य तद् न्यग्रोधपरिमण्डलम्, यथा न्यग्रोधः-
वटवृक्ष उपरि सम्पूर्णावयवोऽधस्तु हीनस्तथा यत् संस्थानं नाभेरुपरि सम्पूर्णावयवम् अधस्तु न

---

१ °पार्श्वे म० क० ग०। एवमग्रेऽपि॥ २ साचि ३ वामनम् ४ कुब्जम् ५ हु० ख० ग० ङ०॥

श्लेष्माणमरुचिं पित्तं, तृषं कुष्ठं विषं ज्वरम् ।
हन्यात् तिक्तो रसो बुद्धेः, कर्ता मात्रोपसेवितः ॥इति ।

यदुदयाद् जीवशरीरं निम्बादिवत् तिक्तं भवति तत् तिक्तनाम १ ।
गलामयादिप्रशमनो मरिचनागराद्याश्रितः कटुः । यदवादि—

कटुर्गलामयं शोफं, हन्ति युक्त्योपसेवितः ।
दीपनः पाचको रुच्यो, बृंहणोऽतिकफापहः ॥

यदुदयाद् जन्तुशरीरं मरिचादिवत् कटु भवति तत् कटुनाम २ ।
रक्तदोषाद्यपहर्ता विभीतकाऽऽमलककपित्थाद्याश्रितः कषायः । यदभाणि—

रक्तदोषं कफं पित्तं, कषायो हन्ति सेवितः ।
रूक्षः शीतो गुरुग्राही, रोपणश्च स्वरूपतः ॥

यदुदयाद् जन्तुशरीरं विभीतकादिवत् कषायं भवति तत् कषायनाम ३ ।
अग्निदीपनादिकृद् अम्लीकाद्याश्रितोऽम्लः । यदभ्यधायि—

अम्लोऽग्निदीप्तिकृत् स्निग्धः, शोकपित्तकफापहः ।
क्लेदनः पाचनो रुच्यो, मूढवातानुलोमकः ॥

यदुदयाद् जीवशरीरमम्लीकादिवद् अम्लं भवति तद् अम्लनाम ४ ।
पित्तादिप्रशमकः खण्डशर्कराद्याश्रितो मधुरः । यदवाचि—

पित्तं वातं कफं हन्ति, धातुवृद्धिकरो गुरुः ।
जीवनः केशकृद् बालवृद्धक्षीणौजसां हितः ॥

यदुदयाद् जन्तुशरीरमिक्ष्वादिवद् मधुरं भवति तद् मधुरनाम ५ । स्थानान्तरे स्तम्भिताहारविध्वंसादिकर्ता सिन्धुलवणाद्याश्रितो लवणोऽपि रसः पठ्यते, स चेह नोपात्तः, मधुरादिसंसर्गजत्वात् तदभेदेन विवक्षणात् । सम्भाव्यते च तत्र माधुर्यादिसंसर्गः, सर्वरसानां लवणप्रक्षेप एव स्वादुत्वोपपत्तेरिति । अभिहितं पञ्चधा रसनाम ॥

अधुना स्पर्शनाम अष्टधा प्राह—स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः 'अष्टौ' अष्टसङ्ख्याका भवन्ति । तथाहि—गुरु१लघु२मृदु३खर४शीत५उष्ण६स्निग्ध७रूक्षाः ८ इति । तत्राधोगमनहेतुरयोगोलकादिगतो गुरुः १ । प्रायस्तिर्यगूर्ध्वगमनहेतुरर्कतूलादिनिश्रितो लघुः २ । सन्नतिकारणं तिनिसलतादिगतो मृदुः ३ । स्तब्धतादिकारणं दृषदादिगतः खरः ४ । देहस्तम्भादिहेतुः प्रालेयाद्याश्रितः शीतः ५ । आहारपाकादिकारणं ज्वलनाद्यनुगत उष्णः ६ । पुद्गलद्रव्याणां मिथः संयुज्यमानानां बन्धनिबन्धनं तैलादिस्थितः स्निग्धः ७ । पुद्गलद्रव्याणां मिथोऽसंयुज्य-

मानानामवन्धनिवन्धनं भस्माद्याधारो रूक्षः ८ । एतत्संसर्गजास्तु नोक्ताः, एष्वेवान्तर्भावादिति । ततो यदुदयाद् जन्तुशरीरं गुरु भवति वज्रादिवद् तद् गुरुस्पर्शनाम १ । यदुदयाद् जन्तुशरीरमर्कतूलादिवद् लघु भवति तद् लघुस्पर्शनाम २ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं हंसरूतादिवद् मृदु भवति तद् मृदुस्पर्शनाम ३ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं खरं–कर्कशं पाषाणादिवद् भवति तद् खरस्पर्शनाम ४ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं शीतं–शीतलं मृणालादिवद् भवति तत् शीतस्पर्शनाम ५ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं हुतभुजादिवद् उष्णं भवति तद् उष्णस्पर्शनाम ६ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं घृतादिवत् स्निग्धं भवति तत् स्निग्धस्पर्शनाम ७ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं भूत्यादिवत् रूक्षं भवति तद् रूक्षस्पर्शनाम ८ ॥ ४० ॥ उक्तमष्टधा स्पर्शनाम । इदानीं वर्णादिचतुष्कोत्तरविंशतिभेदानां शुभाशुभत्वयोरभिधित्सया प्राह—

नीलकसिणं दुगंधं, तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं ।
सीयं च असुहनवगं, इक्कारसगं सुभं सेसं ॥४१॥

'नीलकृष्णं' नीलकृष्णाख्ये कर्मणी अशुभे, दुर्गन्धनाम, "तित्तं कडुयं" इति तिक्तकटुके रसनाम्नी, गुरु खरं रूक्षं शीतं चेति चत्वारि स्पर्शनामानि । एतानि च सर्वाण्यपि समुदितानि किमुच्यते ? इत्याह–'अशुभनवकं' नव प्रकृतयः परिमाणमस्य प्रकृतिवृन्दस्य तद् नवकम् , अशुभं च तद् नवकं च अशुभनवकम् । 'एकादशकम्' एकादशप्रकृतिसमूहरूपं, [illegible]वर्णाः, सुरभिगन्धः मधुराऽम्लकषायरसाः, लघुमृदुस्निग्धोष्णस्पर्शा इति 'शुभं' [illegible] शुभस्वरूपम् । कीदृशं तत् ? इत्याह–'शेषं' कुवर्णनवकाद् अवशिष्टम्, [illegible] शेषा एकादश वर्णादिभेदाः शुभवर्णैकादशकमुच्यत इति ॥४१॥

[illegible] नामानिर्देशेनाऽऽनुपूर्वीचतुष्टयम् , आनुपूर्वीसम्बन्धेनोत्तरत्रोपयोगिप्रकृतिसमु[illegible] संज्ञान्तरं, विहायोगतिद्विकं चाभिधातुमाह–

[illegible] गइ [illegible]पुव्वी, गइपुव्विदुगं तिगं नियाउजुयं ।
[illegible] वक्के, सुह असुह वसुट्ट विहगगई ॥४२॥

[illegible] आनुपूर्वी [illegible] भवति । कोऽर्थः ? –गत्यभिधानव्यपदेश्यमानु[illegible] [illegible]नरकानुपूर्वीमनुष्यानुपूर्वीदेवानुपूर्वीभेदत आनुपूर्वीनाम चतुर्धा[illegible] [illegible] सहचरिताऽऽनुपूर्वी नरकगत्यानुपूर्वी, तत्समका[illegible] [illegible] । एवं तिर्यग्मनुष्यदेवाऽऽनुपूर्व्योऽपि वाच्याः । "गइपुव्वि[illegible] [illegible] शब्दलोपः "ते लुग्वा" (सि० ३-२-[illegible]

१०८) इति सूत्रेण, यथा देवदत्तः देवः दत्तः इति । ततो नरकादिगतिनरकाद्यानुपूर्वी-स्वरूपं नरकादिद्विकमुच्यते । तदेव त्रिकमभिधीयते—गतिपूर्वीद्विकमिह काकाक्षिगोल-कन्यायेन सम्बध्यते । कीदृक्षं तद् ? इत्याह–'निजायुयुतं'' नरकाद्यायुष्कसमन्वितं नरका-दित्रिकमुच्यत इति हृदयम् । उपलक्षणत्वाद् वैक्रियषट्कं विकलत्रिकम् औदारिकद्विकं वैक्रिय-द्विकम् आहारकद्विकम् अगुरुलघुचतुष्कं वैक्रियाष्टकमित्याद्यनुक्तं संज्ञान्तरं ग्राह्यम् । तत्र देवगतिर्देवानुपूर्वी नरकगतिर्नरकानुपूर्वी वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गमिति वैक्रियषट्कम् । द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां जातयो विकलत्रिकम् । औदारिकशरीरं औदारिकाङ्गोपाङ्गमि-त्यौदारिकद्विकम् । वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गमिति वैक्रियद्विकम् । आहारकशरीरम् आहा-रकाङ्गोपाङ्गमित्याहारकद्विकम् । देवगतिर्देवानुपूर्वी देवायुर्नरकगतिर्नरकानुपूर्वी नरकायुर्वैक्रि-यशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गमिति वैक्रियाष्टकम् । अगुरुलघु१उपघात२पराघात३उच्छ्वास४ल-क्षणमगुरुलघुचतुष्कमिति । ननु आनुपूर्व्या उदयो नरकादिषु किमृजुगत्या गच्छत आहोस्विद् वक्रगत्या ? इत्याशङ्क्याह–''पुव्वीउदओ वक्के'' त्ति पूर्व्याः–आनुपूर्व्या वृषभस्य नासिकारज्जु-कल्पाया उदयः–विपाको वक्र एव भवति । अयमर्थः—नरके द्विसमयादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य नरकानुपूर्व्या उदयः, तिर्यक्षु द्विसमयादिवक्रेण जीवस्य गच्छतस्तिर्यगानुपूर्व्या उदयः, मनुष्येषु द्विसमयादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य मनुष्यानुपूर्व्या उदयः, देवेषु द्विसमयादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य देवानुपूर्व्या उदयः । उक्तं च बृहत्कर्मविपाके—

[1]नरयाउयस्स उदए, नरए वक्केण गच्छमाणस्स ।
नरयाणुपुव्वियाए, तहिँ उदओ अन्नहिं नत्थि ॥ (गा०१२२)
एवं तिरिमणुदेवे, तेसु वि वक्केण गच्छमाणस्स ।
तेसिमणुपुव्वियाणं, तहिं उदओ अन्नहिं नत्थि ॥ (गा०१२३)

तथा विहायसा–आकाशेन गतिर्विहायोगतिः, सा द्विधा–'शुभा' प्रशस्ता 'अशुभा' अप्र-शस्ता । क्रमेणोदाहरणमाह—''वसुट्ट'' त्ति वृषः-वृषभः सौरभेयो बलीवर्द इति यावत्, ततो वृषस्य उपलक्षणत्वाद् गजकलभराजहंसादीनां प्रशस्ता विहायोगतिः । उष्ट्रः–करभः क्रमेलक इति यावत्, तत उष्ट्रस्य उपलक्षणत्वात् खरतिड्डादीनामप्रशस्ता विहायोगतिरिति ॥४२॥

व्याख्याताः पिण्डप्रकृतीनामुत्तरभेदाः, साम्प्रतमष्टौ प्रत्येकप्रकृतीरभिधित्सुराह—

परघाउदया पाणी, परेसि बलिणं पि होइ दुद्धरिसो ।
ऊससणलद्धिजुत्तो, हवेइ ऊसासनामवसा ॥४३॥

---

१ नरकायुष उदये नरके वक्रेण गच्छतः । नरकानुपूर्व्यास्तत्रोदयोऽन्यत्र नास्ति ॥ एवं तिर्यग्मनुष्य-देवेषु तेष्वपि वक्रेण गच्छतः । तेषामानुपूर्वीणां तत्रोदयोऽन्यत्र नास्ति ॥

पगान् [illegible]

पराघातनाम । ततः [illegible]

अन्येषां 'बलिनामपि' [illegible]

अनभिभवनीयमूर्तिः । [illegible]

सौष्ठवेन वा महाभूपनामपि [illegible]

करोति तत् पराघातनामेत्यर्थः १ । [illegible]

विप्रयुक्तो भवति' उच्छ्वा[illegible] तत्[illegible]

तद् उच्छ्वासनाम २ । [illegible]

चेत् , नैतदस्ति, वैक्रियाहार[illegible]

चात्र निमित्तीभवतीति [illegible] ॥४३॥

रविबिंबे उ जियंगं, तावजुय आ[illegible] न उ जलणे ।

जमुसिणफासस्स तहिं, लोहियवण्ण[illegible] ॥४४॥

'आतपाद्' आतपनामोदयाद् [illegible]

भवति । आतपस्य पुनरुदयो रविबिम्ब[illegible] । कोऽर्थः ?—भानुमण्डला-
दिपार्थिवशरीरेष्वेव 'न तु' न पुनः 'ज्वलने' [illegible] । अत्र युक्तिमाह—'यद्' यस्मात्
कारणात् 'तत्र' ज्वलने—ज्वलनजन्तुशरीरे तेजस्कायशरीरे [illegible] उष्णस्पर्शस्योदयस्तथा
लोहितवर्णस्योदय इति, तेजस्कायशरीराण्येवोष्णस्पर्शोदयेनोष्णानि लोहितवर्णनामोदयात्तु
प्रकाशयुक्तानि भवन्ति, न त्वातपोदयादिति भावः । यदुदयाद् जन्तुशरीराण्यात्मनाऽनुष्णा-
न्यप्युष्णप्रकाशरूपमातपं कुर्वन्ति तद् आतपनामेत्यर्थः ३ ॥४४॥

अणुसिणपयासरूवं, जियंगमुज्जोयए इहुज्जोया ।

जइदेवुत्तरविक्कियजोइसखज्जोयमाइ व्व ॥ ४५ ॥

इह 'उद्योताद्' उद्योतनामोदयेन 'जीवाङ्गं' जन्तुशरीरम् 'उद्योतते' उद्योतं करोति, कथम्?
इत्याह—अनुष्णप्रकाशरूपम्, उष्णप्रकाशरूपं हि वह्निरप्युद्योतत इति तद्व्यवच्छेदार्थमनु-
ष्णप्रकाशरूपमित्युक्तम् । आह क इवोद्योतोदयाद् जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतं कुर्वन्ति ?
इत्याह—'यतिदेवोत्तरवैक्रियज्योतिष्कखद्योतादय इव' तत्र यतयश्च—साधवः देवाश्च—सुराः
यतिदेवाः, यतिदेवैर्मूलशरीरापेक्षयोत्तरकालं क्रियमाणं वैक्रियं यतिदेवोत्तरवैक्रियम्, ज्योति-
ष्काः—चन्द्रग्रहनक्षत्रताराः, खद्योताः—प्रतीताः, ततो यतिदेवोत्तरवैक्रियं च ज्योतिष्काश्च

१ ०सनिःश्वासल ०ख० ग० ङ० ॥

खद्योताश्च ते आदिर्येषां रत्नौषधीप्रभृतीनां ते यतिदेवोत्तरवैक्रियज्योतिष्कखद्योतादयस्त इव। अत्र मकारोऽलाक्षणिकः । अयमर्थः—यथा यतिदेवोत्तरवैक्रियं चन्द्रग्रहादिज्योतिष्काः खद्योता रत्नौषधीप्रभृतयश्चानुष्णप्रकाशात्मकमुद्योतं विदधति तथा यदुदयाद् जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतमातन्वन्ति तद् उद्योतनामेत्यर्थः ४ ॥ ४५ ॥

अंगं न गुरु न लहुयं, जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।
तित्थेण तिहुयणस्स वि, पुज्जो से उदओ केवलिणो ॥४६॥

'अगुरुलघूदयाद्' अगुरुलघुनामोदयेन जीवस्य 'अङ्गं' शरीरं न गुरु न लघु 'जायते' भवति किन्तु अगुरुलघु । यत एकान्तगुरुत्वे हि वोढुमशक्यं स्यात्, एकान्तलघुत्वे तु वायुनाऽपह्रियमाणं धारयितुं न पार्येत । यदुदयाद् जन्तुशरीरं न गुरु न लघु नापि गुरुलघु किन्त्वगुरुलघुपरिणामपरिणतं भवति तद् अगुरुलघुनामेत्यर्थः ५ । 'तीर्थेन' तीर्थकरनामकर्मवशात् 'त्रिभुवनस्यापि' देवमानवदानवलक्षणत्रिलोकलोकस्यापि 'पूज्यः' अभ्यर्चनीयो भवति । 'से' तस्य तीर्थकरनामकर्मणः 'उदयः' विपाकः 'केवलिनः' उत्पन्नकेवलज्ञानस्यैव । यदुदयाद् जीवः सदेवमनुजासुरलोकपूज्यमुत्तमोत्तमं "[1]तित्थं भंते ! तित्थं ? तित्थयरे तित्थं ? गोयमा ! अरिहा ताव नियमा तित्थंकरे, तित्थं पुण चाउवन्ने समणसंघे पढमगणहरे वा ॥" (भग० श० २० उ० ८ पत्र ७९२-२) इति परममुनिप्रणीतधर्मतीर्थस्य प्रवर्तयितृपदमवाप्नोति तद् तीर्थकरनामेत्यर्थः ६ ॥४६॥

अंगोवंगनियमणं, निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं ।
उवघाया उवहम्मइ, सतणुवयवलंबिगाईहिं ॥४७॥

'निर्माणं' निर्माणनाम 'अङ्गोपाङ्गनियमनम्' अङ्गप्रत्यङ्गानां नियतप्रदेशव्यवस्थापनं 'करोति' विदधाति, [2]अत एवेदं 'सूत्रधारसमं' सूत्रभृत्कल्पम् । यदुदयाद् जन्तुशरीरेष्वङ्गोपाङ्गानां प्रतिनियतस्थानवृत्तिता भवति तत् सूत्रधारकल्पं निर्माणनामेत्यर्थः । तदभावे हि तद्भृतककल्पैरङ्गोपाङ्गनामादिभिर्निर्वर्तितानामपि शिरउदरादीनां स्थानवृत्तेरनियमः स्यात् ७। 'उपघाताद्' उपघातनामोदयाद् 'उपहन्यते' विनाश्यते जन्तुः, कैः ? इत्याह—स्वा—स्वकीया तनुः—शरीरं स्वतनुस्तस्या अवयवाः—अंशा ये लम्बिकादयः, आदिशब्दात् प्रतिजिह्वाचौरदन्तादिपरिग्रहस्तैः, "सतणुवयव" इत्यत्र अकारलोपः प्राकृतत्वात् । यदुदयात् स्वशरीरान्तःप्रवर्धमानैर्लम्बिकाप्रतिजिह्वाचौरदन्तादिभिर्जन्तुरुपहन्यते तद् उपघातनामेत्यर्थः ८ ॥४७॥

---

१ तीर्थं भदन्त ! तीर्थम् ? तीर्थकरस्तीर्थम् ? गौतम ! अर्हंस्तावन्नियमात् तीर्थङ्करः, तीर्थं पुनश्चतुर्वर्णः श्रमणसङ्घः प्रथमगणधरो वा ॥ २ ततः सू० ख० ॥

व्याख्याता अष्टौ प्रत्येकप्रकृतयः । साम्प्रतं त्रसदशकं व्याख्यानयन्नाह—

बितिचउपणिंदिय तसा, बायरओ बायरा जिया थूला ।
नियनियपज्जत्तिजुया, पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥४८॥

त्रस्यन्ति—उष्णाद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानाद् उद्विजन्ते गच्छन्ति च छायाद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः, तत्पर्यायविपाकवेद्यं कर्मापि त्रसनाम । ततः 'त्रसात्' त्रसनामोदयाद् जीवाः "बितिचउपणिंदिय" ति इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वे इन्द्रिये स्पर्शनरसनलक्षणे येषां ते द्वीन्द्रियाः, शङ्खचान्दनककपर्दजलूकाकृमिगण्डोलकपूतरकादयो भवन्ति । त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणलक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः, यूकामत्कुणगर्दभेन्द्रगोपककुन्थु'मत्कोटकादयः । चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः, मक्षिकाभ्रमरमशकवृश्चिकादयः । पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणीन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः, मत्स्यमकरहरिहरिणसारसराजहंसनरसुरनारकादयो भवन्तीति । यदुदयाद् जीवास्त्रसा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया भवन्ति तत् त्रसनामेत्यर्थः १ । 'बादराद्' बादरनामोदयाद् 'जीवाः' जन्तवो बादराः—स्थूला भवन्ति ।

बादरत्वं चेह न चक्षुर्ग्राह्यत्वमिष्टम्, बादरस्याप्येकैकस्य पृथिव्यादिशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यताभावात् । तस्माद् जीवविपाकित्वेन जीवस्यैव कञ्चिद् बादरपरिणामं जनयति एतद्, न पुद्गलेषु, किन्तु जीवविपाक्यप्येतत् शरीरपुद्गलेष्वपि काञ्चिदप्यभिव्यक्तिं दर्शयति । तेन बादराणां बहुतरसमुदितपृथिव्यादीनां चक्षुषा ग्रहणं भवति, न सूक्ष्माणाम् । जीवविपाकिकर्मणः शरीरे स्वशक्तिप्रकटनमयुक्तमिति चेत्, नैवम्, जीवविपाक्यपि क्रोधो भ्रूभङ्गत्रिवलीतरङ्गितालिकफलकस्वेदजलकणनेत्राघाताताम्रत्वपरुषवचनवेपथुप्रभृतिविकारं कुपितनरशरीरेऽपि दर्शयति, विचित्रत्वात् कर्मशक्तेरिति ।

यदुदयाद् जीवा बादरा भवन्ति तद् बादरनामेत्यर्थः २ । 'पर्याप्तात्' पर्याप्तनामोदयाद् जीवा निजनिजपर्याप्तियुता भवन्ति । तत्र पर्याप्तिर्नाम पुद्गलोपचयजः पुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुः शक्तिविशेषः, सा च विषयभेदात् षोढा—आहारपर्याप्तिः १ शरीरपर्याप्तिः २ इन्द्रियपर्याप्तिः ३ उच्छ्वासपर्याप्तिः ४ भाषापर्याप्तिः ५ मनःपर्याप्तिः ६ चेति । तत्र यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः १ । यया रसीभूतमाहारं रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः २ । यया धातुरूपतया परिणमितादाहारादिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः ३ । यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्ग-

१ [illegible] ॥

त्याहारकशरीरवर्गणा उच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलमादाय उच्छ्वासतया परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः ४। यया तु भाषाप्रायोग्यवर्गणादलं गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः ५। यया पुनर्मनःप्रायोग्यवर्गणादलं गृहीत्वा मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः ६। एताश्च एकेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञि-पञ्चेन्द्रियाणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च यथासंख्यं चतस्रः पञ्च षट् भवन्ति। तथा वैक्रियशरीरिणां शरीरपर्याप्तिरन्तर्मुहूर्तेन, शेषाः एकसामयिक्यः। औदारिकशरीरिणां पुनराहारपर्याप्तिरेकसामयिकी, शेषाः पृथगन्तर्मुहूर्तेन। आह च —

"वेउव्वियपज्जत्ती, सरीरे अंतमुहु सेस समयाओ।
आहारे इगसमया, सेसा अंतमुहु ओराले ॥"

एताः पर्याप्तयो विद्यन्ते येषां ते "अभ्रादिभ्यः" (सि० ७-२-४६) इति अप्रत्यये ते पर्याप्ताः, पर्याप्तनामकर्मोदयवन्तो जन्तव इत्यर्थः। यदुदयात् स्वयोग्यपर्याप्तियुक्ता भवन्ति जीवास्तत् पर्याप्तनाम। ते च द्विधा — लब्ध्या करणैश्च। तत्र ये स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थ्य म्रियन्ते नार्वाक् ते लब्धिपर्याप्ताः, ये च पुनः करणानि-शरीरेन्द्रियादीनि निर्वर्तितवन्तस्ते करणपर्याप्ता इति।

ननु च लब्धिपर्याप्तोऽपि शरीरं निर्वर्तयति किं पर्याप्तनाम्नोदयेन उताहो शरीरनाम्ना? नैतदस्ति साध्य-मेतत्, यस्मादिह शरीरनामकर्मोदयेन गृहीतानां पुद्गलानामौदारिकादिशरीरत्वेन परिणतिः साध्या, पर्याप्तनाम्नः पुनस्तच्छक्तिरूपा पर्याप्तिरिति। अथ प्राणापानोच्छ्वासनाम्नोदयेनोच्छ्वासनल-ब्धिरुत्पाद्यते, उच्छ्वासपर्याप्तिर्निरर्थिका, नैवम्, यतोऽनपर्याप्तोच्छ्वासनाम्नोदयेन जनितायामप्युच्छ्वासलब्धौ पर्याप्तिमन्तरेण व्यापारयितुं न प्रभुरिति। यथा हि शरीर-नाम्नोदयेन गृहीता अप्यौदारिकादिपुद्गलाः शक्तिविशेषरूपां शरीरपर्याप्तिं विना शरीर-तया परिणमयितुं न शक्यन्ते इति शरीरनाम्नः पृथग् इष्यते शरीरपर्याप्तिः, एवमुच्छ्वासनाम्नः पृथगुच्छ्वासपर्याप्तिरप्यस्तीति युक्तमेवेति ॥४८॥

पत्तेय तणू पत्तेउदयेणं दंतअट्ठिमाइ थिरं।
नाभुवरि सिराइ सुहं, सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥४९॥

'प्रत्येकोदयेन' प्रत्येकनामकर्मोदयाद् जन्तूनां 'प्रत्येकं तनुः' पृथक् पृथक् शरीरं भवति, यदुदयाद् एकैकस्य जन्तोरेकैकं शरीरमौदारिकं वैक्रियं वा भवति तत् प्रत्येकनाम-

१ वैक्रियपर्याप्तिः शरीरे अन्तर्मुहूर्तेन शेषा एकसामयिक्यः। आहारे (पर्याप्तिः) एकसामयिकी शेषा अन्तर्मुहूर्तेन औदारिके ॥

त्यर्थः ४ । 'स्थिरं' स्थिरनामोदयेन दन्ताऽस्थ्यादि निश्चलं भवति, यदुदयात् शिरोऽस्थिग्रीवादीनामवयवानां स्थिरता भवति तत् स्थिरनामेत्यर्थः ५ । 'शुभं' शुभनामोदयात् नाभ्युपरि शिरआदिर्भवति, यदुदयाद् नाभेरुपर्यवयवाः शुभा भवन्ति तत् शुभनाम, शिरःप्रभृतिभिः स्पृष्टः परो हृष्यतीति तेषां शुभत्वम् ६ । 'सुभगात्' सुभगनामोदयेन सर्वजनेष्टो भवति, यदुदयाद् अनुपकार्यपि सर्वस्य मनःप्रियो भवति तत् सुभगनामेत्यर्थः ७ । तदभ्यधायि—

[1]अणुवकए वि बहूणं, होइ पिओ तस्स सुभगनामुदओ त्ति ।
सुभगुदए वि हु कोई, कंची आसज्ज दूभगो जइ वि ।
जायएँ तद्दोसाओ, जहा अभव्वाण तित्थयरो ॥

सुसरा महुरसुहझुणी, आइज्जा सव्वलोयगज्झवओ ।
जसओ जसकित्ति इओ, थावरदसगं विवज्जत्थं ॥५०॥ ||४६||

'सुस्वरात्' सुस्वरनामोदयेन मधुरः—माधुर्यगुणालङ्कृतः सुखयतीति सुखः—सुखदो ध्वनिः स्वरो भवति, यदुदयाद् जीवस्य स्वरः श्रोत्रप्रीतिहेतुर्भवति तत् सुस्वरनामेत्यर्थः ८ । 'आदेयाद्' आदेयनामोदयेन सर्वलोकेन समस्तजनेन ग्राह्यम्—आदेयं वचः—वचनं यस्य स तथा, यदुदयाद् यत्किञ्चिदपि ब्रुवाणो जीवः सर्वस्योपादेयवचनो भवति, दर्शनसमनन्तरमेव तस्याभ्युत्थानादि समाचरति तद् आदेयनामेत्यर्थः ९ । "जसउ" [2]त्ति यशःकीर्तिनामोदयाद् यशःकीर्तिर्भवति । तत्र सामान्यतस्तपःशौर्यत्यागादिसमुपार्जितयशसा कीर्तनं—संशब्दनं श्लाघनं यशःकीर्तिरुच्यते । यद्वा—

दानपुण्यकृता कीर्तिः, पराक्रमकृतं यशः ।

अथवा—

एकदिग्गामिनी कीर्तिः, सर्वदिग्गामुकं यशः । १० इति ।

व्याख्यातं त्रसदशकम् । सम्प्रति स्थावरदशकं व्याचिख्यासुरतिदिशति—'इतः' त्रसदशकात् स्थावरदशकं 'विपर्यस्तं' विपरीतार्थं भवति । तथाहि—तिष्ठन्तीत्येवंशीला उष्णाद्यभिताप[illegible]समर्थाः स्थावराः, "स्थेशभासपिसकसो वरः" (सि० ५-२-८२) इति वर[illegible], पृथिवीकायिका अप्कायिकास्तेजस्कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिका एकेन्द्रियाः, [illegible] कर्माऽपि स्थावरनाम । तेजोवायूनां तु स्थावरनामोदयेऽपि चलनं स्वाभाविकमेव,

[1] [illegible] बहूनां भवति प्रियस्तस्य सुभगनामोदयः ॥ सुभगोदयेऽपि खलु कश्चित् कञ्चि[illegible] [illegible] तद्दोषात् यथाऽभव्यानां तीर्थंकरः ॥ [2] त्ति यशसः यशोनामकर्मोदयेन [illegible]

न पुनरुपघातनिमित्तेन श्लेष्मादिमलेनेव लिप्तकम् १ इति । यदुदयात् सूक्ष्माः पृथिवीका-यिकादयः सर्वे भवन्ति तन्निबन्धनं सूक्ष्मनामकर्म २ इति । यदुदयात् पूर्वोक्तलक्षणस्व-स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिविकलाः सन्तो म्रियन्ते तद् अपर्याप्तनाम, अपर्याप्ता विद्यन्ते येषां तेऽपर्याप्ता इति कृत्वा, मत्वर्थीयप्रत्ययो नाम अपर्याप्तनाम । तत्र द्वेधा अपर्याप्ताः--लब्ध्या करणैश्च । तत्र येऽपर्याप्तका एव सन्तो म्रियन्ते, न पुनः स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयन्ति, ते लब्ध्यपर्याप्ताः । ये पुनः करणानि--शरीरेन्द्रियादीनि न तावद् निर्वर्तयन्ति, अथ चावश्यं पुर-स्तात् निर्वर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्ताः । इह सिद्धान्तः--लब्ध्यपर्याप्ता अपि नियमादाहार-शरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते नार्वाक्, यस्मादागामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः, तच्चाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तानामेव बध्यत इति ३ । यदुदयाद् अनन्तानां जीवानां साधारणम्--एकं शरीरं भवति तत् साधारणनाम ४ । यदुदयात् कर्णभ्रूजिह्वाद्यवयवा अस्थिराः--चपला भवन्ति तद् अस्थिरनाम ५ । यदुदयात् नाभेरधः पादादयोऽवयवा अशुभा भवन्ति तद् अशुभनाम, पादादिना हि स्पृष्टः परो रुष्यति नेत्यशुभत्वम् । कामिनीव्यवहा-रेण व्यभिचार इति चेत्, नैवम्, तस्य मोहनीयविलसितत्वात्, वस्तुस्थितिरिह चिन्त्यत इति ६ । यदुदयवशाद् उपकारकृदपि जनस्याप्रियो भवति तद् दुर्भगनाम । उक्तं च--

[1]उवगारकारगो वि हु, न रुच्चए दूभगो उ जस्सुदए । ७ इति ।

यदुदयात् खरभिन्नहीनस्वरो भवति तद् दुःस्वरनाम ८ । यदुदयवशाद् युक्तियुक्तमपि ब्रुवाणो नादेयवचनो भवति न च लोकोऽभ्युत्थानादि तस्य करोति तद् अनादेयनाम ९ । यदुद-यात् सर्वत्रापि यशःकीर्तिर्न भवति तद् अयशःकीर्तिनाम १० इति ॥५०॥

व्याख्यातं द्विचत्वारिंशद्भेदं त्रिनवतिभेदं त्र्युत्तरशतभेदं सप्तषष्टिभेदं षष्ठं नाम । सम्प्रति द्विभेदं गोत्रकर्माभिधित्सुराह--

गोयं दुहुच्चनीयं, कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं ।
विग्घं दाणे लाभे, भोगुवभोगेसु वीरिए य ॥५१॥

गोत्रं प्राग्निरूपितशब्दार्थं 'द्विधा' द्विभेदम्, कथम्? इत्याह--'उच्चनीचं' उच्चं च नीचं च उच्चनीचम्, उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमित्यर्थः । एतच्च 'कुलाल इव' कुम्भकारतुल्यम् । शोभनो घटः सुघटः--पूर्णकलशः, भुम्भलं--मद्यस्थानम्, सुघटभुम्भले आदौ यस्य तत्कृतोपकरणस्य तत् सुघटभुम्भलादि करोतीति शेषः । अयमत्र भावः--यथा हि कुलालः पृथिव्यास्तादृशं पूर्णकलशादिरूपं करोति यादृशं लोकात् कुसुमचन्दनाक्षतादिभिः पूजां लभते, स एव कुम्भ-

---

१ उपकारकारकोऽपि हि न रोचते दुर्भगस्तु यस्योदये ॥

तादि तादृशं विदधाति यादृशमप्रक्षिप्तमद्यमपि लोकाद् निन्दां लभते; तथा यदुदयाद् निर्धनः
कुरूपो बुध्द्याद्यादिपरिहीणोऽपि पुरुषः सुकुलजन्ममात्रादेव लोकात् पूजां लभते तद् उच्चैर्गो-
त्रम् १; यदुदयात् पुनर्महाधनोऽप्रतिरूपरूपो बुद्ध्यादिसमन्वितोऽपि पुमान् विशिष्टकुलाऽ-
भावाद् लोकाद् निन्दां प्राप्नोति तद् नीचैर्गोत्रम् २ इति । उक्तं द्विविधं गोत्रकर्म ॥

अथ विघ्नकर्म पञ्चधा व्याख्यानयन्नाह—"विग्घं दाणे लाभे" इत्यादि । विशेषेण हन्यन्ते-
तद्दानादिलब्धयो विनाश्यन्तेऽनेनेति विघ्नम्—अन्तरायकर्म । तच्च विषयभेदात् पञ्चधेति दर्श-
यति—दीयत इति दानं तस्मिन्, लभ्यत इति लाभस्तस्मिन्, भुज्यते—सकृदुपभुज्यत इति
भोगः पुष्पाहारादिः, उपेति—पुनः पुनर्भुज्यत इति उपभोगो भवनाऽऽसनाङ्गनादि । उक्तं च—

[2]सइ भुज्जइ त्ति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाईसु ।

उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ भवणवणियाई ॥ (बृ०क०वि० गा० १६५)

ततो भोगश्च उपभोगश्च भोगोपभोगौ तयोः, प्राकृतवशाच्च द्विवचनस्थाने बहुवचनं भवति,
यदाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः **स्वप्राकृतलक्षणे**—"द्विवचनस्य बहुवचनम्" (सि० ८-३-
१३०) इति । विशेषेण ईर्यते—चेष्टयतेऽनेनेति वीर्यम्, यद्वा विविधम्—अनेकप्रकारमीरयति
यत् प्राणिनं क्रियासु तद् वीर्यं सामर्थ्यं शक्तिरिति पर्यायास्तस्मिन् 'चः' समुच्चये, सर्वत्र विघ्न-
मिति योज्यम् । विषयसप्तमी चेयं सर्वत्र । ततो दानादिविषयभेदतो दानादिविषयं पञ्चधा विघ्नं
कर्म भवतीति वाक्याक्षरार्थः भावार्थस्त्वयम्–सत्यपि दातव्ये वस्तुनि, आगते च गुणवति
पात्रे, जानन्नपि दानफलं, यदुदयाद् दातुं नोत्सहते तद् दानान्तरायम् १ । यदुदयाद् विशिष्टेऽपि
दातरि, विद्यमानेऽपि देये वस्तुनि, याच्ञाकुशलोऽपि याचको न लभते तद् लाभान्तरायम्
२ । यदुदयात् सति विभवादौ सम्पद्यमाने चाहारमाल्यादौ विरतिहीनोऽपि न भुङ्क्ते तद्
भोगान्तरायम् ३ । यदुदयाद् विद्यमानमपि वस्त्रालङ्कारादि नोपभुङ्क्ते तद् उपभोगान्तरायम्
४ । यदुदयवशाद् बलवान् नीरुजो वयःस्थो[3]ऽपि च तृणकुब्जीकरणेऽप्यसमर्थस्तद् वीर्यान्तरायम्
५ इति ॥ ५१ ॥ एतच्च भाण्डागारिकसममिति दर्शयन्नाह—

सिरिहरियसमं एयं, जह पडिकूलेण तेण रायाई ।

न कुणइ दाणाईयं, एवं विग्घेण जीवो वि ॥ ५२ ॥

श्रियो गृहं श्रीगृहं—भाण्डागारं तद् विद्यते यस्य स श्रीगृहिकः—भाण्डागारिकस्तेन समं-
तुल्यमेतदन्तरायकर्म । यथा 'तेन' श्रीगृहिकेण 'प्रतिकूलेन' अननुकूलेन 'राजादिः' राजा-

१ ०वनवसनाङ्ग० ग० ङ०॥ २ सकृद्भुज्यते इति भोगः स पुनराहारपुष्पादिषु । उपभोगस्तु पुनः
पुनरुपभुज्यते भवनवनितादि ॥ ३ ०ऽथ च ख०ग०ङ० ॥

नृपतिः, आदिशब्दात् श्रेष्ठीश्वरतलवरादिपरिग्रहः 'न करोति' कर्तुं न पारयति दानादि, आदिशब्दाद् लाभभोगोपभोगादिग्रहणम् । 'एवम्' अमुना श्रीगृहिकदृष्टान्तेन 'विघ्नेन' अन्तरायकर्मणा 'जीवोऽपि' जन्तुरपि दानादि कर्तुं न पारयतीति ॥ ५२ ॥

व्याख्यातं पञ्चविधमन्तरायं कर्म, तद्व्याख्याने च समर्थिता "इह नाणदंसणावरणवेय" (गा० ३) इत्यादिमूलगाथा । अथ "कीरइ जिएण हेऊहिं जेण तो भन्नए कम्मं" (गा० १) इत्यादौ यदुक्तं तद्व्याख्यानार्थं यस्य कर्मणो ये बन्धहेतवस्तान् क्वचन हेतुद्वारेण क्वाऽपि च हेतुमद्द्वारेण दिदर्शयिषुराह—

पडिणीयत्तण निन्हव, उवघाय पओस अंतराएणं ।
अच्चासायणयाए, आवरणदुगं जिओ जयइ ॥ ५३ ॥

'आवरणद्विकं' ज्ञानावरणदर्शनावरणरूपं जीवः 'जयति' धातूनामनेकार्थत्वाद् बध्नातीति सम्बन्धः । तत्र ज्ञानस्य—मत्यादेर्ज्ञानिनां—साध्वादीनां ज्ञानसाधनस्य—पुस्तकादेः 'प्रत्यनीकत्वेन' तदनिष्टाचरणलक्षणेन 'निह्नवेन' न मया तत्समीपेऽधीतमित्यादिस्वरूपेण 'उपघातेन' मूलतो विनाशस्वरूपेण 'प्रद्वेषेण' आन्तराप्रीतिरूपेण 'अन्तरायेण' भक्तपानवसनोपाश्रयलाभनिवारणलक्षणेन 'अत्याशातनया' च जात्याद्युद्घट्टनादिहीलारूपया ज्ञानावरणं कर्म जयतीति सर्वत्र द्रष्टव्यम् । एतच्चोपलक्षणम्, अतो ज्ञान्यवर्णवादेन आचार्योपाध्यायाद्यविनयेनाऽकालस्वाध्यायकरणेन काले च स्वाध्यायाऽविधानेन प्राणिवधाऽनृतभाषणस्तैन्याऽब्रह्मपरिग्रहरात्रिभोजनाऽविरमणादिभिश्च ज्ञानावरणं जयतीत्याद्यपि वक्तव्यमिति । एवं दर्शनावरणेऽपि वाच्यम्, नवरं दर्शनाभिलापो वक्तव्यः । तथाहि—दर्शनस्य—चक्षुर्दर्शनादेर्दर्शनिनां—साध्वादीनां दर्शनसासाधनस्य-श्रोत्रनयननासिकादेः **सम्मत्यनेकान्तजयपताकादिप्रमाणशास्त्रपुस्तकादेर्वा** प्रत्यनीकत्वेन[1]— तदनिष्टाचरणलक्षणेन, निह्नवेन-न मया तत्समीपेऽधीतमित्यादिस्वरूपेण, उपघातेन-मूलतो विनाशेन, प्रद्वेषेण—आन्तराप्रीत्यात्मकेन, अन्तरायेण—भक्तपानवसनोपाश्रयलाभनिवारणेन, अत्याशातनया च—जात्यादिहीलया दर्शनावरणं कर्म जयतीति सर्वत्र द्रष्टव्यम् । उपलक्षणमिदम्, अतो दर्शनिनां दूषणग्रहणेन श्रवणकर्तननेत्रोत्पाटननासाछेदजिह्वाविकर्तनादिना प्राणिवधाऽनृतभाषणस्तैन्याऽब्रह्मपरिग्रहरात्रिभोजनाऽविरमणादिभिश्च दर्शनावरणं जयतीत्याद्यपि वक्तव्यम् । यदवादि श्रीहेमचन्द्रसूरिप्रभुपादैः—

ज्ञानदर्शनयोस्तद्वत्, तद्धेतूनां च ये किल । विघ्ननिह्नवपैशून्याऽऽशातनाघातमत्सराः ॥
ते ज्ञानदर्शनावारकर्महेतव आश्रवाः । (योगशा० टी० पत्र ३०६-२) ॥ ५३ ॥

---

१ कत्वनिह्नवोपघातान्तरायात्याशातनादिभिर्दर्श० क०घ०पुस्तकयोरेवं पाठः ॥

उक्ता ज्ञानावरणदर्शनावरणबन्धहेतवः इदानीं वेदनीयस्य द्विविधस्यापि तानाह—

गुरुभत्तिखंतिकरुणावयजोगकसायविजयदाणजुओ ।
दढधम्माई अज्जइ, सायमसायं विवज्जयओ ॥ ५४ ॥

इह युतशब्दस्य प्रत्येकं योगः, ततो गुरवः—मातापितृधर्माचार्यादयस्तेषां भक्तिः-आसनादिप्रतिपत्तिगुरुभक्तिस्तया युतो गुरुभक्तियुतः—गुरुभक्तिसमन्वितो जन्तुः 'सातं' सातवेदनीयम् 'अर्जयति' समुपार्जयतीति सम्बन्धः । 'क्षान्तियुतः' क्षमान्वितः 'करुणायुतः' दयापरितचेताः 'व्रतयुतः' महाव्रताऽणुव्रतादिसमन्वितः 'योगयुतः' दशविधचक्रवालसामाचार्याद्याचरणप्रगुणः 'कषायविजययुतः' क्रोधादिकषायपरिभवनशीलः 'दानयुतः' दानरुचिः 'दृढधर्मः' आपत्स्वपि निश्चलः, आदिशब्दात् बालवृद्धग्लानादिवैयावृत्त्यकरणशीलो जिनचैत्यपूजापरायणश्च सातम् 'अर्जयति' बध्नाति । यदवाचि—

[illegible]ानुकम्पाव्रतदानदयाक्षमाः । (योगशा० टी० पत्र ३०६-२)
[illegible]संयमोऽकामनिर्जरा । शौचं बालतपश्चेति, सद्वेद्यस्य स्युराश्रवाः ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०६-२)

[illegible] असातमर्जयति, तथाहि—गुरूणामवज्ञायकः क्रोधनो [illegible] कार्पण्यवान् सद्धर्मकृत्यप्रमत्तः हस्त्यश्वबलीवर्दादि[illegible] दुःखशोकवधतापक्रन्दनपरिदेवनादिकारकश्चेति ।

[illegible]

[illegible]म् । स्वान्योभयस्थाः स्युरसद्वेद्यस्यामी इहाश्रवाः ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०६-२) ॥ ५४ ॥

[illegible] वेदनीयस्य द्विविधस्यापि तानाह—

[illegible] ।
[illegible] ॥ ५५ ॥

[illegible]देशना, मार्गस्य—ज्ञानदर्शनचारित्र[illegible]

[illegible]

क्षणः, आदिशब्दात् सिद्धगुरुश्रुतादिपरिग्रहः, तेषां प्रत्यनीकः--अवर्णवादाशातनाद्यनिष्टनिर्वर्तको दर्शनमोहमर्जयति । । यदभाणि—

वीतरागे श्रुते सङ्घे, धर्मे सर्वसुरेषु च । अवर्णवादिता तीव्रमिथ्यात्वपरिणामिता ॥
सर्वज्ञसिद्धदेवापह्नवो धार्मिकदूषणम् । उन्मार्गदेशनानर्थाग्रहोऽसंयतपूजनम् ॥
असमीक्षितकारित्वं, गुर्वादिष्ववमानना । इत्यादयो दृष्टिमोहस्याश्रवाः परिकीर्तिताः ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०७-१) ॥ ५५ ॥

दुविहं पि चरणमोहं कसायहासाइविसयविवसमणो ।
बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥ ५६ ॥

'द्विविधमपि' द्विभेदमपि 'चरणमोहं' चारित्रमोहनीयं -कपायमोहनीयनोकपायमोहनीयरूपं जीवो बध्नातीति सम्बन्धः । किंविशिष्टः ? इत्याह—'कपायहास्यादिविषयविवशमनाः' तत्र कपायाः--क्रोधादय उक्तस्वरूपाः षोडश, हास्यादयः-हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा इति गृह्यन्ते, विषयाः--शब्दरूपरसगन्धस्पर्शाख्याः पञ्च, ततः कपायाश्च हास्यादयश्च विषयाश्च कपायहास्यादिविषयास्तैर्विवशं--विसंस्थुलं पराधीनं मनः–मानसं यस्य स कपायहास्यादिविषयविवशमनाः । इदमत्र हृदयम्—कपायविवशमनाः कपायमोहनीयं बध्नाति, हास्यादिविवशमनास्तु हास्यादिमोहनीयं--हास्यमोहनीयरतिमोहनीयाऽरतिमोहनीयशोकमोहनीयभयमोहनीयजुगुप्सामोहनीयाख्यं नोकपायमोहनीयं बध्नाति विषयविवशमनाः पुनर्वेदत्रयाख्यं नोकपायमोहनीयं बध्नाति । सामान्यतः सर्वेऽपि कपायहास्यादिविषया द्विविधस्यापि चारित्रमोहनीयस्य बन्धहेतवो भवन्ति । यत्प्रत्यपादि—

कपायोदयतस्तीव्रः, परिणामो य आत्मनः । चारित्रमोहनीयस्य, स आश्रव उदीरितः ॥
उत्प्रासनं सकन्दर्पोपहासो हासशीलता । बहुप्रलापो दैन्योक्तिर्हास्यस्यामी स्युराश्रवाः ॥
देशादिदर्शनौत्सुक्यं, चित्रे रमणखेलने । परिचित्तावर्जना चेत्याश्रवाः कीर्तिता रतेः ॥
असूया पापशीलत्वं, परेषां रतिनाशनम् । अकुशलप्रोत्साहनं, चारतेराश्रवा अमी ॥
स्वयं भयपरीणामः, परेषामथ भापनम् । त्रासनं निर्दयत्वं च, भयं प्रत्याश्रवा अमी ॥
परशोकाविष्करणं, स्वशोकोत्पादशोचने । रोदनादिप्रसक्तिश्च, शोकस्यैते स्युराश्रवाः ॥
चतुर्वर्णस्य सङ्घस्य, परिवादजुगुप्सने । सदाचारजुगुप्सा च, जुगुप्सायां स्युराश्रवाः ॥
ईर्ष्या विषादगार्द्ध्ये च, मृषावादोऽतिवक्रता । परदाररतासक्तिः, स्त्रीवेदस्याश्रवा इमे ॥
स्वदारमात्रसन्तोषोऽनीर्ष्या मन्दकपायता । अवक्राचारशीलत्वं, पुंवेदस्याश्रवा इति ॥

१ ०वर्जनं योगशास्त्रे ॥

उक्ता देवायुषो बन्धहेतवः। सम्प्रति नामकर्मणो बन्धहेतूनाह—यद्यपि नामकर्म अनेकभेदं तथापि शुभाशुभविवक्षया द्विविधमित्यस्य हेतूनाह—'सरलो' इत्यादि। 'सरलः' सर्वत्र मायारहितः, गौरवाणि—ऋद्धिरससातरूपाणि त्रीणि विद्यन्ते यस्य स गौरववान्, न गौरववान् अगौरववान् 'आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणा मतोः' (सि० ८-२-१५९) इति प्राकृतसूत्रेण मतोः स्थाने इल्लादेशः। उपलक्षणत्वात् संसारभीरुः—क्षमामार्दवार्जवादिगुणयुक्तः शुभं देवगतियशःकीर्तिपञ्चेन्द्रियजात्यादिरूपं नामकर्म बध्नाति। 'अन्यथा' उक्तविपरीतस्वभावः, तथाहि—मायावी गौरववान् उत्कटक्रोधादिपरिणामः 'अशुभं' नरकगत्ययशःकीर्त्येकेन्द्रियादिजातिलक्षणं नामकर्मार्जयतीति। उक्तं च—

मनोवाक्कायवक्रत्वं, परेषां विप्रतारणम्। मायाप्रयोगो मिथ्यात्वं, पैशून्यं चलचित्तता॥
सुवर्णादिप्रतिच्छन्दःकरणं कूटसाक्षिता। वर्णगन्धरसस्पर्शान्यथोत्पादनानि[1] च॥
अङ्गोपाङ्गच्यावनानि, यन्त्रपञ्जरकर्म च। कूटमानतुलाकर्माऽन्यनिन्दाऽऽत्मप्रशंसनम्॥
हिंसानृतस्तेयाऽब्रह्ममहारम्भपरिग्रहाः। परुषाऽसभ्यवचनं, शुचिवेषादिना मदः॥
मौखर्याक्रोशौ सौभाग्योपघाताः कार्मणक्रिया। परकौतूहलोत्पादः, परहास्यविडम्बने॥
वेश्यादीनामलङ्कारदानं दावाग्निदीपनम्। देवादिव्याजाद्गन्धादिचौर्यं तीव्रकषायता॥
चैत्यप्रतिश्रयाऽऽरामप्रतिमानां विनाशनम्। अङ्गारादिक्रिया चेत्यशुभस्य नाम्न आश्रवाः॥
एत एवान्यथारूपास्तथा संसारभीरुता। प्रमादहानं सद्भावार्पणं क्षान्त्यादयोऽपि च॥
दर्शने धार्मिकाणां च, सम्भ्रमः स्वागतक्रिया। [2]परोपकारसारत्वमाश्रवाः शुभनामनि॥

(योगशा० टी० पत्र ३०७-२) ॥५८॥

उक्ता नाम्नो बन्धहेतवः। सम्प्रति गोत्रस्य द्विविधस्यापि तानाह—

गुणपेही मयरहिओ, अज्झयणऽज्झावणारुई निच्चं।
पकुणइ जिणाइभत्तो, उच्चं नीयं इयरहा उ॥५९॥

'गुणप्रेक्षी' यस्य यावन्तं गुणं पश्यति तस्य तमेव प्रेक्षते पुरस्करोति, दोषेषु सत्स्वप्युदास्त इत्यर्थः। 'मदरहितः, विशिष्टजातिलाभकुलैश्वर्यबलरूपतपःश्रुतादिसम्पत्समन्वितोऽपि निरहङ्कारः, 'नित्यं' सर्वदा 'अध्ययनाध्यापनारुचिः, स्वयं पठति इतरांश्च पाठयति, अर्थतश्च स्वयमभीक्ष्णं विमृशति परेषां च व्याख्यानयति, असत्यां वा पठनादिशक्तौ तीव्रबहुमानः परानध्ययनाध्यापनापरायणान् अनुमोदते, तथा 'जिनादिभक्तः' 'जिनानां—तीर्थनाथानाम् आदिशब्दात्

[1] शर्शान्यथापादनानि च। ग० उ० योगशास्त्रे च॥ [2] आश्रवाः शुभनाम्नोऽथ तीर्थकृन्नाम्न आश्रवाः॥ इति योगशास्त्रे॥

सिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधुप्रवचनादीनामन्येषां च गुणगरिष्ठानां भक्तः–बहुमानपरः 'प्रकरोति' प्रकर्षेण समुपार्जयति 'उच्चम्' उच्चैर्गोत्रम् । 'नीचं' नीचैर्गोत्रम् 'इतरथा तु' भणितविपरीतस्वभावः

उक्तं च—

परस्य निन्दावज्ञोपहासाः सद्गुणलोपनम् । सदसद्दोषकथनमात्मनस्तु प्रशंसनम् ॥
सदसद्गुणशंसा च, स्वदोषाच्छादनं तथा । जात्यादिभिर्मदश्चेति, नीचैर्गोत्राश्रवा अमी ॥
नीचैर्गोत्राश्रवविपर्यासो विगतगर्वता । वाक्कायचित्तैर्विनयः, उच्चैर्गोत्राश्रवा अमी ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०८-१) ॥५९॥

उक्ता गोत्रस्य बन्धहेतवः । साम्प्रतमन्तरायस्य ये बन्धहेतवस्तानभिधित्सुः शास्त्रमिदं समर्थयन्नाह—

जिणपूयाविग्घकरो, हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं ।
इय कम्मविवागोऽयं, लिहिओ देविंदसूरीहिं ॥६०॥

'जिनपूजाविघ्नकरः' सावद्यदोषोपेतत्वाद् गृहिणामप्येषा अविधेया इत्यादिकुदेशनादिभिः समयान्तरस्तत्त्वदृष्ट्या जिनपूजानिषेधक इत्यर्थः । हिंसा–जीववध आदिशब्दाद् अनृतभाषणस्तैन्याऽब्रह्मपरिग्रहरात्रिभोजनाऽविरमणादिपरिग्रहस्तेषु परायणः–तत्परः, उपलक्षणत्वात् मोक्षमार्गस्य [1]ज्ञानदर्शनचारित्रादेस्तद्दोषग्रहणादिना विघ्नं करोति, साधुभ्यो वा भक्तपानोपाश्रयोपकरणभैषज्यादिकं दीयमानं निवारयति, तेन चैतद् विदधता मोक्षमार्गः सर्वोऽपि विघ्नितो भवति, अपरेषामपि सत्त्वानां दानलाभभोगपरिभोगविघ्नं करोति, मन्त्रादिप्रयोगेण च परस्य वीर्यमपहरति, हठाच्च वधबन्धनिरोधादिभिः परं निश्चेष्टं करोति, छेदनभेदनादिभिश्च परस्येन्द्रियशक्तिमुपहन्ति । स किम् ? इत्याह–'जयति' धातूनामनेकार्थत्वाद् अर्जयति 'विघ्नं' पञ्चप्रकारमप्यन्तरायकर्म । 'इति' पूर्वोक्तप्रकारेण 'कर्मविपाकः' कर्मविपाकनामकं शास्त्रम् 'अयं' सम्प्रत्येव निगदितस्वरूपः 'लिखितः' अक्षरविन्यासीकृतः देवेन्द्रसूरिभिः करालकलिकालपातालतलावमज्जद्विशुद्धधर्मधुरोद्धरणधुरीणश्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीकैरिति ॥६०॥

॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिता स्वोपज्ञकर्मविपाकटीका समाप्ता ॥

[ग्रन्थकारप्रशस्तिः]

विष्णोरिव यस्य विभोः, पदत्रयी व्यानशे जगन्निखिलम् ।
कर्ममलपटलजलदः, सः श्रीवीरो जिनो जयतु ॥ १ ॥

---

१ ०ज्ञानाचा० ख०ग०घ० ॥

कुन्दोज्ज्वलकीर्तिभरैः, सुरभीकृतसकलविश्वपाभोगः ।
शतमखशतविनतपदः, श्रीगौतमगणधरः पातु ॥ २ ॥

तदनु सुधर्मस्वामी, जम्बूप्रभवादयो मुनिवरिष्ठाः ।
श्रुतजलनिधिपारीणा, भूयांसः श्रेयसे सन्तु ॥ ३ ॥

ततः श्रीतपाचार्येत्यभिख्या भिक्षुनायकाः । समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरयः ॥४॥
जगज्जनितबोधानां, तेषां शुद्धचरित्रिणाम् । विनेयाः समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरयः ॥५॥
स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा । टीकाकर्मविपाकस्य, सुबोधेयं विनिर्ममे ॥६

विबुधवरधर्मकीर्तिश्रीविद्यानन्दसूरिमुख्यबुधैः ।
स्वपरसमयैककुशलैस्तदैव संशोधिता चेयम् ॥ ७ ॥

यद्गदितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञैः, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥ ८ ॥

कर्मविपाके विवृतिं, वितन्वता यन्मयाऽर्जितं सुकृतम् ।
कर्मविपाकविमुक्तः, समस्तु सर्वोऽपि तेन जनः ॥ ९ ॥ ग्रन्थाग्रं[२] मू--१८८२ ॥

समाप्तोऽयं

सटीकः कर्मविपाकः

---

१ ०भरैः ख० ङ०॥ २ ०ग्रम्--१७८२ क० घ ०॥



॥ अर्हम् ॥

पूज्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितस्वोपज्ञटीकोपेतः

कर्मस्तवाख्यो द्वितीयः कर्मग्रन्थः ।

॥ नमः श्रीप्रवचनाय ॥



बन्धोदयोदीरणसत्पदस्थं, निःशेषकर्माखिलं निहत्य ।
यः सिद्धिसाम्राज्यमलञ्चकार, श्रिये स वः श्रीजिनवीरनाथः ॥
नत्वा गुरुपदकमलं, गुरूपदेशाद्यथाश्रुतं किञ्चित् ।
कर्मस्तवस्य विवृतिं, विदधे स्वपरोपकाराय ॥

तत्राऽऽदावेव मङ्गलार्थमभीष्टदेवतास्तुतिमाह---

तह थुणिमो वीरजिणं, जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं ।
बंधुदओदीरणयासत्तापत्ताणि खवियाणि ॥ १ ॥

'तथा' तेन प्रकारेण 'स्तुमः' असाधारणसद्भूतसकलकर्मनिर्मूलक्षपणलक्षणगुणोत्कीर्तनेन स्तवनगोचरीकुर्मः, कम् ? 'वीरजिनं' तत्र विशेषेण–अपुनर्भावेन ईर्ते–ईरिक् गतिकम्पनयोः' इति वचनाद् याति शिवं, कम्पयति–आस्फोटयति अपनयति कर्म वेति वीरः, यदि वा 'शूर वीरणि विक्रान्तौ' वीरयति स्म–कषायोपसर्गपरिषहादिशत्रुगणमभिभवति स्म वीरः, उभयत्र लिहादित्वाद् अच्, यद्वा ईरणमीरः, "भावाकर्त्रोः" (सि० ५–३–१८) इति घञ्, ततश्च विशिष्ट ईरः–गमनं 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः' इति वचनाद् ज्ञानं यस्य स वीर इति, अनेन व्युत्पत्तित्रयेण भगवतश्चरमजिनेश्वरस्य स्वार्थसम्पदमाह । अथवा विशिष्टा–सकलभुवनाद्भुता या स्वर्गापवर्गादिका ईः–लक्ष्मीस्तां राति–भव्येभ्यः प्रयच्छति 'रांक् दाने' इति वचनाद् वीरः, "आतो डोऽह्वावामः" (सि० ५-१-७६) इति डप्रत्ययः, राति च भगवान् सुरासुरनरोरगतिर्यक्साधारणया वाण्या निःश्रेयसाभ्युदयसाधनोपायोपदेशेन भव्यानां भुवनाद्भुतां श्रियम्, तथा चोक्तम्—

[1]अरहंता भगवंतो, अहियं च हियं च न वि इहं किंचि ।
वारंति कारवंति य, घेत्तूण जणं बला हत्थे ॥ (उप० मा० गा० ४४८)

---

१ अर्हन्तो भगवन्तोऽहितं च हितं च नापि इह किञ्चित् । वारयन्ति कारयन्ति [गृ]हीत्वा जनं बलाद् हस्ते ॥

[illegible]

[illegible]

इत्यनया [illegible]

नाथस्य [illegible]

जिनम्। 'यथा' [illegible]

अभिनव[illegible]

तिष्ठ[illegible]

इत्यादिवक्ष्यमाणेषु 'गुणस्थानेषु' [illegible]

रूपेषु मिथ्यादृष्ट्यादिषु सकलानि-[illegible]

कर्माणि--ज्ञानावरणीयादिमूल[illegible]

व्याख्यातानि। कथम्भूतानि? [illegible]

हेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवद् निरन्तरं पुद्गलनिचिते [illegible] क्षीर-

नीरवद् वह्न्ययःपिण्डवद्वाऽन्योऽन्यानुगमाभेदात्मकः [illegible] बन्धः १, तेषां च [illegible]

स्थितिबद्धानां कर्मपुद्गलानामपवर्तनादि[illegible] उदय-

समयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदयः २, तेषामेव कर्मपुद्गलानाम[illegible]

पाद् उदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा ३, तेषामेव कर्मपुद्गलानां बन्ध[illegible] लब्धात्म-

लाभानां निर्जरणसङ्क्रमणकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सद्भावः सत्ता ४, बन्धश्च उदयश्च उदीरणा

च सत्ता च बन्धोदयोदीरणासत्तास्ताः प्राप्तानि-गतानि। सूत्रे च "उदीरणया" इत्यत्र

कप्रत्ययः स्वार्थिकः, 'क्षपितानि' निर्मूलोच्छेदेनाभावत्वमापादितानीति ॥ १ ॥

गुणस्थानेषु कर्माणि क्षपितानीत्युक्तम्। ततो गुणस्थानान्येव तावत् स्वरूपतो निर्दिशति-

मिच्छे १ सासण २ मीसे ३,

अविरय ४ देसे ५ पमत्त ६ अपमत्ते ७।

नियट्टि ८ अनियट्टि ९ सुहुमु १०-

वसम ११ खीण १२ सजोगि १३ अजोगि १४ गुणा ॥२॥

"गुण" त्ति गुणस्थानानि ततः "सूचनात् सूत्रम्" इति न्यायात् पदैकदेशेऽपि पदसमुदा-
योपचाराद् वा इहैवं गुणस्थानकनिर्देशो द्रष्टव्यः। तद्यथा—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं १ सास्वादन-
सम्यग्दृष्टिगुणस्थानं २ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् ३ अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं ४ देशविर-

१ उपदेशं पुनस्तं ददति येन चरितेन कीर्तिनिलयानाम्। देवानामपि भवन्ति प्रभवः किमङ्ग पुनर्मनु-
जमात्राणाम् ? ॥

तिगुणस्थानं ५ प्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ६ अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ७ अपूर्वकरणगुणस्थानम् ८ अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानं ९ सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् १० उपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानं ११ क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानं १२ सयोगिकेवलिगुणस्थानम् १३ अयोगिकेवलिगुणस्थानम् १४ इति ।

तत्र गुणाः—ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, स्थानम्—पुनरत्र तेषां शुद्धयविशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदः, तिष्ठन्त्यस्मिन् गुणा इति कृत्वा, गुणानां स्थानं गुणस्थानम्, मिथ्या—विपर्यस्ता दृष्टिः—अर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितहृत्पूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् स मिथ्यादृष्टिः, तस्य गुणस्थानं—ज्ञानादिगुणानामविशुद्धिप्रकर्षविशुद्धयपकर्षकृतः स्वरूपविशेषो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् ।

ननु यदि मिथ्यादृष्टिः ततः कथं तस्य गुणस्थानसम्भवः ? गुणा हि ज्ञानादिरूपाः, तत् कथं ते दृष्टौ विपर्यस्तायां भवेयुः ? इति, उच्यते—इह यद्यपि सर्वथाऽतिप्रबलमिथ्यात्वमोहनीयोदयाद् अर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिरूपा दृष्टिरसुमतो विपर्यस्ता भवति तथापि काचिद् मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता, ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताऽव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्ताऽपि भवति, अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गात् । यदागमः—

[1]सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ, जइ पुण सो वि आवरिज्जिज्जा ता णं जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा । (नन्दीपत्र १९५–२) इति ।

तथाहि—समुन्नताऽतिबहलजीमूतपटलेन दिनकररजनिकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि नैकान्तेन तत्प्रभानाशः सम्पद्यते, प्रतिप्राणिप्रसिद्धदिनरजनिविभागाऽभावप्रसङ्गात् । उक्तं च—

[2]सुट्ठु वि मेहसमुदए, होइ पहा चंदसूराणं । (नन्दीपत्र० १९५–२) इति ।
एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदयेऽपि काचिदविपर्यस्ताऽपि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसम्भवः ।

यद्येवं ततः कथमसौ मिथ्यादृष्टिरेव ? मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्त्यपेक्षया अन्ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताऽव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्त्यपेक्षया वा सम्यग्दृष्टित्वादपि, नैष दोषः, यतो भगवदर्हत्प्रणीतं सकलमपि द्वादशाङ्गार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तदुदितमेकमप्यक्षरं न रोचयति तदानीमप्येष मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते, तस्य भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययनाशात् । तदुक्तम्—

---

१ सर्वजीवानामपि च अक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाटितस्तिष्ठति यदि पुनः सोऽपि आव्रियेत ततो जीवोऽजीवत्वं प्राप्नुयात् ॥ २ सुष्ठुपि मेघसमुदये भवति प्रभा चन्द्रसूर्ययोः ॥

'पयमक्खरं पि इक्कं, पि जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं' ।
सेसं रोयंतो वि हु, मिच्छद्दिट्ठी जमालि व्व ।। (बृहत्सं० गा० १६७) इति।

किं पुनर्भगवदर्हदभिहितसकलजीवाजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिविकलः ? इति १ ।

आयम्–औपशमिकसम्यक्त्वलाभलक्षणं सादयति–अपनयतीत्यायसादनम् , अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम् । अत्र पृषोदरादित्वाद् यशब्दलोपः, कृद्बहुलमिति कर्तर्यनट् , सति ह्यस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखफलदो निःश्रेयसतरुबीजभूत औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयमात्रेण उत्कर्षतः षड्भिरावलिकाभिरपगच्छतीति । ततः सह आसादनेन वर्तत इति सासादनः, सम्यग्–अविपर्यस्ता दृष्टिः–जिनप्रणीतवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिः, सासादनश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च सासादनसम्यग्दृष्टिः, तस्य गुणस्थानं सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् । सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमिति वा पाठः, तत्र सह सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनः । यथा हि भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तः पुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति, तथैषोऽपि मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तः सम्यक्त्वमुद्वमंस्तद्रसमास्वादयति । ततः स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च तस्य गुणस्थानं सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् । एतच्चैवं भवति–इह [illegible]मध्यमध्यासीनो जन्तुर्मिथ्यात्वप्रत्ययमनन्तान् पुद्गलपरावर्तानन्तदुःख[illegible]मनुभूय कथमपि तथाभव्यत्वपरिपाकवशतो गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेनाऽनाभोगनिर्वर्तित[illegible] "[illegible] परिणामोऽत्र" इति वचनाद् अध्यवसायविशेषरूपेणाऽऽयुर्वर्जानि ज्ञाना[illegible]वरणादिकर्माणि [illegible] पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनैकसागरोपमकोटाकोटीस्थितिकानि [illegible] । [illegible] कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणामः कर्कशनिबिडचिरप्ररूढगुपिल[illegible] दुर्भेदो [illegible] ग्रन्थिरुच्यते । तदुक्तम्–

[illegible] वि घाइमिने, खविए उत्थंतरम्मि जीवस्स ।
[illegible] अभिन्नपुव्वो, गंठी एवं जिणा बिंति ।।

(धर्मसं० गा० ७५२, श्राव० प्र० गा० ३२)

[illegible] कक्खडघननरूढगूढगंठि व्व ।
[illegible] रागद्दोसपरिणामो ।। (विशेषा० गा० ११९५) इति ।

[illegible] यथाप्रवृत्तिकरणेन कर्म क्षपयित्वाऽनन्तशः समागच्छन्ति ।
[illegible]–

[illegible] हि मिथ्यादृष्टिमादिरे ।
[illegible] अभिन्नपूर्वो ग्रन्थिरेवं जिनाः बुवन्ति ॥
[illegible] परिणामः ॥

अभव्यस्यापि कस्यचिद् यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासाद्याऽर्हदादिविभूतिदर्शनतः प्रयोजनान्तरतो वा प्रवर्तमानस्य श्रुतसामायिकलाभो भवति न शेषलाभ इति ।

एतदनन्तरं कश्चिदेव महात्माऽऽसन्नपरमनिर्वृतिसुखः समुल्लसितप्रचुरदुर्निवारवीर्यप्रसरो निशितकुठारधारयेव परमविशुद्ध्या यथोक्तस्वरूपस्य ग्रन्थेर्भेदं विधाय मिथ्यात्वस्थितेरन्तर्मुहूर्तमुदयक्षणादुपर्यतिक्रम्याऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणलक्षणविशुद्धिजनितसाम[1]र्थ्याद् अन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणं तत्प्रदेशवेद्यदलिकाभावरूपमन्तरकरणं करोति । अत्र यथाप्रवृत्तिकरणाऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणानामयं क्रमः—

[2]जा गंठी ता पढमं, गंठिं समइच्छओ [3]भवे बीयं ।
अनियट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥ (विशे० आ० गा० १२०३)

"गंठिं समइच्छओ" त्ति ग्रन्थिं समतिक्रामतः—भिन्दानस्येति, "सम्मत्तपुरक्खडे" त्ति सम्यक्त्वं पुरस्कृतं येन तस्मिन् आसन्नसम्यक्त्वे जीवेऽनिवृत्तिकरणं भवतीत्यर्थः ।

एतस्मिंश्चान्तरकरणे कृते सति तस्य मिथ्यात्वकर्मणः—स्थितिद्वयं भवति । अन्तरकरणादधस्तनी प्रथमा स्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, तस्मादेवान्तरकरणादुपरितनी शेषा द्वितीया । स्थापना तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकवेदनादसौ मिथ्यादृष्टिरेव, अन्तर्मुहूर्तेन पुनस्तस्यामपगतायामन्तरकरणप्रथमसमय एवौपशमिकसम्यक्त्वमाप्नोति, मिथ्यात्वदलिकवेदनाऽभावात् । यथा हि वनदावानलः पूर्वदग्धेन्धनमूषरं वा देशमवाप्य विध्यायति, तथा मिथ्यात्ववेदनवनदवोऽप्यन्तरकरणमवाप्य विध्यायति । तथा च सति तस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभः । उक्तं च—

[4]ऊसरदेसं दड्डिल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प ।
इय मिच्छस्स अणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ (विशेषा० गा० २७३४)

तस्यां चान्तर्मौहूर्तिक्यामुपशान्ताद्धायां परमनिधिलाभकल्पायां जघन्यतः समयशेषायामुत्कृष्टतः षडावलिकाशेषायां सत्यां कस्यचिन्महाविभीषिकोत्थानकल्पोऽनन्तानुबन्ध्युदयो भवति, तदुदये चासौ सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने वर्तते, उपशमश्रेणिप्रतिपतितो वा कश्चित् सासादनत्वं याति, तदुत्तरकालं चावश्यं मिथ्यात्वोदयादसौ मिथ्यादृष्टिर्भवतीति २ ।

तथा सम्यक् न मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, तस्य गुणस्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् । इहानन्तराभिहितविधिना लब्धेनौपशमिकसम्यक्त्वेन औषधविशेषकल्पेन मदन-

१ ०र्थाऽन्त० क० ग० ॥ २ यावद् ग्रन्थिः तावत् प्रथमं ग्रन्थिं समतिक्रामतो भवेद्द्वितीयम् । अनिवृत्तिकरणं पुनः सम्यक्त्वपुरस्कृते जीवे ॥ ३ अपुव्वं तु विशेषावश्यकभाष्ये । ४ ऊषरदेशं दग्धं च विध्यायति वनदवः प्राप्य । इति मिथ्यात्वस्यानुदये उपशमसम्यक्त्वं लभते जीवः ॥

त्वस्थानीयं मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म शोधयित्वा त्रिधा करोति । तद्यथा—शुद्धमर्धविशुद्धम-
शुद्धं चेति । स्थापना [1] ○ ⊙ ◉ । तत्र त्रयाणां पुञ्जानां मध्ये यदाऽर्धविशुद्धः पुञ्ज उदेति
तदुदयाद् जीवस्यार्धविशुद्धं जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानं भवति, तेन तदाऽसौ सम्यग्मिथ्यादृष्टि-
स्थानमन्तर्मुहूर्तं कालं स्पृशति, तत ऊर्ध्वमवश्यं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वा गच्छतीति ३ ।

तथा विरतिर्विरतं क्लीबे क्तप्रत्ययः, तत्पुनः सावद्ययोगप्रत्याख्यानं तद् न जानाति नाभ्यु-
पगच्छति न तत्पालनाय यतत इति त्रयाणां पदानामष्टौ भङ्गाः । स्थापना—

न	ना	न
न	ना	पा
न	अ	न
न	अ	पा
ज्ञा	ना	न
ज्ञा	ना	पा
ज्ञा	अ	न
ज्ञा	अ	पा

अत्र प्रथमेषु चतुर्षु भङ्गेषु मिथ्यादृष्टिरज्ञानित्वात्, शेषेषु सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानित्वात्,
सप्तसु भङ्गेषु नास्य विरतमस्तीत्यविरतः, "अभ्रादिभ्यः" (सि० ७-२-४६)
इति अप्रत्ययः, चरमभङ्गे तु विरतिरस्तीति । यद्वा विरमति स्म—सावद्ययोगेभ्यो
निवर्तते स्मेति विरतः, "गत्यर्थाऽकर्मकपिबभुजेः" (सि० ५-१-११) इति
कर्तरि क्तप्रत्यये विरतः, न विरतोऽविरतः, स चासौ सम्यग्दृष्टिश्चाविरतसम्य-
ग्दृष्टिः । इदमुक्तं भवति—यः पूर्ववर्णितौपशमिकसम्यग्दृष्टिः शुद्धदर्शनमोहपुञ्जो-
दयवर्ती क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्वा क्षीणदर्शनसप्तकः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वा परममुनिप्रणीतां
सावद्ययोगविरतिं सिद्धिसौधाध्यारोहणनिःश्रेणिकल्पां जानन् अप्रत्याख्यानकषायोदयविघ्नितत्वात्
नाभ्युपगच्छति, न च तत्पालनाय यतत इत्यसावविरतसम्यग्दृष्टिरुच्यते, तस्य गुणस्थानम-
विरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् । उक्तं च—

> [2]बंधं अविरइहेउं, जाणंतो रागदोसदुक्खं च ।
> विरइसुहं इच्छंतो, विरइं काउं च असमत्थो ॥
> एस असंजयसम्मो, निंदंतो पावकम्मकरणं च ।
> अहिगयजीवाजीवो, अचलियदिट्ठी [3]चलियमोहो ॥ ४ ।

तथा सर्वसावद्ययोगस्य देशे—एकव्रतवि[4]षये॥स्थूलसावद्ययोगादौ सर्वव्रतविषयानुमतिवर्ज-
सावद्ययोगान्ते विरतं विरतिर्यस्यासौ देशविरतः । सर्वसावद्यविरतिः पुनरस्य नास्ति, प्रत्याख्या-
नावरणकषायोदयात्, सर्वविरतिरूपं प्रत्याख्यानमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः । उक्तं च-

> [5]सम्मदंसणसहियो, गिण्हंतो विरइमप्पसत्तीए ।
> एगव्वयाइचरिमो, अणुमइमित्त त्ति देसजई ॥

देशविरतस्य गुणस्थानं देशविरतगुणस्थानम् ५ ।

---

१ प्रतिस्थिति दलिकान्येवं त्रिधा कुर्वन्ति । २ बन्धमविरतिहेतुं जानानो रागद्वेषदुःखं च । विरति-
सुखमिच्छन् विरतिं कर्तुं चासमर्थः ॥ एषोऽसंयतसम्यग्दृष्टिः निन्दन् पापकर्मकरणं च । अधिगतजीवा-
जीवोऽचलितदृष्टिश्चलितमोहः ॥ ३ छलियमोहो क० ख० घ० ॥ ४ ०पयस्थूल० क० घ० ॥ ५ सम्यग्दर्शन-
सहितः गृह्णन् विरतिमात्मशक्त्या । एकव्रतादिचरिमः अनुमतिमात्र इति देशयतिः ॥

तथा संयच्छति स्म—सम्यग् उपरमति स्म संयतः, "गत्यर्थाऽकर्म०" (५-१-११) इति क्तः, प्रमाद्यति स्म—संयमयोगेषु सीदति स्म, प्रागवत् कर्तरि क्तः प्रमत्तः, यद्वा प्रमदनं प्रमत्तं—प्रमादः, स च मदिराविषयकषायनिद्राविकथानामन्यतमः सर्वे वा । प्रमत्तमस्यास्तीति प्रमत्तः—प्रमादवान् "अभ्रादिभ्यः" (सि० ७-२-४६) इति अप्रत्ययः, प्रमत्तश्चासौ संयतश्च प्रमत्तसंयतः, तस्य गुणस्थानं प्रमत्तसंयतगुणस्थानम्, विशुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षाऽपकर्षकृतः स्वरूपभेदः । तथाहि—देशविरतिगुणापेक्षया एतद्गुणानां विशुद्धिप्रकर्षोऽविशुद्ध्यपकर्षश्च, अप्रमत्तसंयतापेक्षया तु विपर्ययः । एवमन्येष्वपि गुणस्थानेषु पूर्वोत्तरापेक्षया विशुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षाऽपकर्षयोजना द्रष्टव्या ६ ।

न प्रमत्तोऽप्रमत्तः । यद्वा नास्ति प्रमत्तमस्यासावप्रमत्तः, स चासौ संयतश्च, तस्य गुणस्थानम् अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ७ ।

अपूर्वम्—अभिनवं प्रथममित्यर्थः करणं—स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसङ्क्रमस्थितिबन्धानां पञ्चानामर्थानां निर्वर्तनं यस्यासावपूर्वकरणः । तथाहि—बृहत्प्रमाणाया ज्ञानावरणीयादिकर्मस्थितेरपवर्तनाकरणेन खण्डनम् अल्पीकरणं स्थितिघात उच्यते । रसस्यापि प्रचुरीभूतस्य सतोऽपवर्तनाकरणेन खण्डनम् —अल्पीकरणं रसघात उच्यते । एतौ द्वावपि पूर्वगुणस्थानेषु विशुद्धेरल्पत्वादल्पावेव कृतवान्, अत्र पुनर्विशुद्धेः प्रकृष्टत्वाद् बृहत्प्रमाणतया अपूर्वाविमौ करोति । तथा उपरितनस्थितेर्विशुद्धिवशादपवर्तनाकरणेनाऽवतारितस्य दलिकस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणमुदयक्षणादुपरि क्षिप्रतरक्षपणाय प्रतिक्षणमसङ्ख्येयगुणवृद्ध्या विरचनं गुणश्रेणिः । स्थापना

। एतां च पूर्वगुणस्थानेष्वविशुद्धत्वात् कालतो द्राघीयसीं दलिकरचनामाश्रित्याऽप्रथीयसीम्[1] अल्पदलिकस्यापवर्तनाद् विरचितवान्, इह तु तामेव विशुद्धत्वादपूर्वां कालतो ह्रस्वतरां दलिकरचनामाश्रित्य पुनः पृथुतरां बहुतरदलिकस्यापवर्तनाद् विरचयतीति । तथा बध्यमानशुभप्रकृतिष्वबध्यमानाशुभप्रकृतिदलिकस्य प्रतिक्षणमसङ्ख्येयगुणवृद्ध्या विशुद्धिवशाद् नयनं गुणसङ्क्रमः, तमप्यसाविहापूर्वं करोति । तथा स्थितिं कर्मणामशुद्धत्वात् प्राग् द्राघीयसीं बद्धवान्, इह तु तामपूर्वां विशुद्धत्वादेव ह्रसीयसीं बध्नातीति [स्थितिबन्धः] ।

अयं चापूर्वकरणो द्विधा—क्षपक उपशमकश्च, क्षपणोपशमनार्हत्वात् चैवमुच्यते, राज्यार्हकुमारराजवत्, न पुनरसौ क्षपयत्युपशमयति वा, तस्य गुणस्थानम् अपूर्वकरणगुणस्थानम् ।

एतच्च गुणस्थानं प्रपन्नानां कालत्रयवर्तिनो नानाजीवानपेक्ष्य सामान्यतोऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति । कथं पुनस्तानि भवन्ति ? इति विनेयजनानुग्रहार्थं विशेषतोऽपि प्ररूप्यन्ते—इह तावदिदं गुणस्थानकमन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणं भवति । तत्र च प्रथमसमयेऽपि ये प्रपन्नाः प्रपद्यन्ते प्रपत्स्यन्ते च तदपेक्षया जघन्यादीन्युत्कृष्टान्तान्यसङ्ख्ये-

---

१ ०यसीं दलिकस्याल्पस्यापव० ख० ॥

यलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि [illegible], [illegible] विचित्रत्वादिति भावनीयम् ।

ननु यदि कालत्रयापेक्षया क्रियते [illegible] कस्माद् न भवन्ति? अनन्तजीवैरपि [illegible], सत्यम्, स्यादेवं यदि तत्प्रतिपत्तॄणां सर्वेषां पृथक् पृथगेकैकानि [illegible], तत्र नास्ति, बहूनामेकाध्यवसाय¹स्थानवर्तित्वादपीति । ततो द्वितीयसमये तदन्यान्यधिकतराण्यध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते, तृतीयसमये तदन्यान्यधिकतराणि, चतुर्थसमये तदन्यान्यधिकतराणीत्येवं तावन्नेयं यावत् चरमसमयः । एतानि च स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमभिव्याप्नुवन्ति । तथा—

४०००००००
३००००००
२०००००
१००००

अत्र प्रथमसमयजघन्याध्यवसायस्थानात् प्रथमसमयोत्कृष्टमध्यवसायस्थानमनन्तगुणविशुद्धम् , तस्माच्च द्वितीयसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम् , ²ततोऽपि द्वितीयसमयजघन्यात् तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धम् , तस्मात् तृतीयसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम् , ततोऽपि तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धमित्येवं तावन्नेयं यावद् द्विचरमसमयोत्कृष्टात् चरमसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम् , ततोऽपि तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धमिति । एकसमयगतानि चामून्यध्यवसायस्थानानि परस्परमनन्तभागवृद्ध्यसङ्ख्यातभागवृद्धिसङ्ख्यातभागवृद्धिसङ्ख्येयगुणवृद्ध्यसङ्ख्येयगुणवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिरूपषट्स्थानकपतितानि । युगपदेतद्गुणस्थानप्रविष्टानां च परस्परमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिलक्षणा निवृत्तिरप्यस्तीति निवृत्तिगुणस्थानकमप्येतदुच्यते, अत एवोक्तं सूत्रे ''नियट्टि अनियट्टी'' इत्यादि ८ ।

तथा युगपदेतद्गुणस्थानकं प्रतिपन्नानां बहूनामपि जीवानामन्योऽन्यमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिः निवृत्तिर्नास्त्यस्येति अनिवृत्तिः समकालमेतद्गुणस्थानकमारूढस्यापरस्य यदध्यवसायस्थानं विवक्षितोऽन्योऽपि कश्चित्तद्वर्त्यैवेत्यर्थः । सम्परैति—पर्यटति संसारमनेनेति सम्परायः—कषायोदयः, बादरः—सूक्ष्मकिट्टीकृतसम्परायापेक्षया स्थूरः सम्परायो यस्य स बादरसम्परायः, अनिवृत्तिश्चासो बादरसम्परायश्च अनिवृत्तिबादरसम्परायः, तस्य गुणस्थानमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानम् । इदमप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणमेव । तत्र चान्तर्मुहूर्ते यावन्तः समयास्तत्प्रविष्टानां तावन्त्येवाध्यवसायस्थानानि भवन्ति, एकसमयप्रविष्टानामेकस्यैवाध्यवसायस्थानस्यानुवर्तनादिति । स्थापना

०
०
०
०
०

प्रथमसमयादारभ्य प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धं यथोत्तरमध्यवसायस्थानं भवतीति वेदितव्यम् । स चानिवृत्तिबादरो द्विधा— क्षपक उपशमकश्च ९ ।

तथा सूक्ष्मः सम्परायः किट्टीकृतलोभकषायोदयरूपो यस्य सोऽयं सूक्ष्मसम्परायः । सोऽपि द्विधा-क्षपक उपशमको वा, क्षपयति उपशमयति वा लोभमेकमिति कृत्वा, तस्य गुणस्थानं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् १० ।

१ ०स्थानित्वानिवर्त्तित्वा० क० घ० ॥ २ ततोऽपि तदुत्कृ० क०ख०ग०घ० ॥

तथा छाद्यते केवलज्ञानं केवलदर्शनं चात्मनोऽनेनेति च्छद्म–ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मोदयः । सति तस्मिन् केवलस्यानुत्पादात्, तदपगमानन्तरं चोत्पादात् । छद्मनि तिष्ठतीति च्छद्मस्थः । स च सरागोऽपि भवति इत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । वीतः–विगतो रागः-मायालोभकषायोदयरूपो यस्य स वीतरागः, स चासौ छद्मस्थश्च वीतरागच्छद्मस्थः । स च क्षीणकषायोऽपि भवति, तस्यापि यथोक्तरागापगमाद् अतस्तद्व्यवच्छेदार्थम् उपशान्तकषायग्रहणम् । "कष शिष" इत्यादिदण्डकधातुर्हिंसार्थः, कषन्ति कष्यन्ते च परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः–संसारः, कषमयन्ते–गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः–क्रोधादयः, उपशान्ताः–उपशमिता विद्यमाना एव सङ्क्रमणोद्वर्तनादिकरणोदयायोग्यत्वेन व्यवस्थापिताः कषाया येन स उपशान्तकषायः, स चासौ वीतरागच्छद्मस्थश्चेति उपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थः, तस्य गुणस्थानमिति प्राग्वत् । तत्राविरतसम्यग्दृष्टेः प्रभृत्यनन्तानुबन्धिनः कषाया उपशान्ताः सम्भवन्ति । उपशमश्रेण्यारम्भे ह्यनन्तानुबन्धिकषायान् अविरतो देशविरतः प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा सन् उपशमय्य दर्शनमोहत्रितयमुपशमयति । तदुपशमानन्तरं प्रमत्ताऽप्रमत्तगुणस्थानपरिवृत्तिशतानि कृत्वा ततोऽपूर्वकरणगुणस्थानोत्तरकालमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थाने चारित्रमोहनीयस्य प्रथमं नपुंसकवेदमुपशमयति, ततः स्त्रीवेदम्, ततो हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपं युगपत् षट्कम्, ततः पुरुषवेदम्, ततो युगपद् अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणौ क्रोधौ, ततः संज्वलनक्रोधम्, ततो युगपद् द्वितीयतृतीयौ मानौ, ततः संज्वलनमानम्, ततो युगपद् द्वितीयतृतीये माये, ततः संज्वलनमायाम्, ततो युगपद् द्वितीयतृतीयौ लोभौ, ततः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने संज्वलनलोभमुपशमयति इत्युपशमश्रेणिः । स्थापना चेयम् ।

। सं.लो. ।

। अ.लो. । प्र.लो. ।

। सं.मा. ।

। अ.मा. । प्र.मा. ।

। सं.मा. ।

। अ.मा. । प्र.मा. ।

। सं.क्रो. ।

। अ.क्रो. । प्र.क्रो. ।

। पु.वे. ।

। हास्य. । रति । अरति । शोक । भय । जुगु ।

। स्त्रीवे. ।

। न.वे ।

। मि.मो. । मि.मो. । स.मो. ।

। अ.क्रो. । अ.मा. । अ.मा. । अ.लो. ।

विस्तरतस्तूपशमश्रेणिः **स्वोपज्ञशतकटीकायां** व्याख्याता ततः परिभावनीया । तदेवमन्येष्वपि गुणस्थानकेषु क्वापि कियतामपि कषायाणामुपशान्तत्वसम्भवाद् उपशान्तकषायव्यपदेशः सम्भवति, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । उपशान्तकषायवीतराग इत्येतावताऽपीष्टसिद्धौ छद्मस्थग्रहणं स्वरूपकथनार्थं, व्यवच्छेद्याभावात्; न ह्यच्छद्मस्थ उपशान्तकषायवीतरागः सम्भवति यस्य च्छद्मस्थग्रहणेन व्यवच्छेदः स्यादिति । अस्मिंश्च गुणस्थानेऽष्टाविंशतिरपि मोहनीयप्रकृतय उपशान्ता ज्ञातव्याः । उपशान्तकषायश्च जघन्येनैकं भवति, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं कालं

ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति । प्रतिपातश्च द्वेधा–भवक्षयेणाऽद्धाक्षयेण च । तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य, अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायाम् । अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति, यत्र यत्र बन्धोदयोदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र प्रतिपतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत् । प्रतिपतंश्च तावत् प्रतिपतति यावत् प्रमत्तगुणस्थानम् । कश्चित्तु ततोऽप्यधस्तनं गुणस्थानकद्विकं याति, कोऽपि सासादनभावमपि । यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीति विशेषः । उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते । यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभावः । यः पुनरेकं वारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपीति । उक्तं च **सप्ततिकाचूर्णौ**–

[1]जो दुवे वारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि, जो इक्कसिं उवसमसेढी पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी वि हुज्ज त्ति ॥

एष कार्मग्रन्थिकाभिप्रायः । **आगमाभिप्रायेण** त्वेकस्मिन् भव एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते, यदुक्तं **कल्पभाष्ये**–

> [2]एवं अप्परिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु ।
> अन्नयरसेढिवज्जं, एगभवेणं च सव्वाइं ॥ (गा० १०७)

सर्वाणि देशविरत्यादीनि । अन्यत्राप्युक्तम्–

> मोहोपशम एकस्मिन् , भवे द्विः स्यादसन्ततम् ।
> यस्मिन् भवे तूपशमः, क्षयो मोहस्य तत्र न ॥ इति ११ ।

तथा क्षीणाः–अभावमापन्नाः । कषाया यस्य स क्षीणकषायः । तत्रानन्तानुबन्धिकषायान् अविरतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तेषु गुणस्थानेषु क्षपयितुमारभते, ततो मिथ्यात्वं मिश्रं सम्यक्त्वम् , ततोऽप्रत्याख्यानावरणान् प्रत्याख्यानावरणान् कषायानष्टौ क्षपयितुमारभते, तेषु चार्धक्षपितेष्वेवातिविशुद्धिवशादन्तराल एव स्त्यानर्द्धित्रिकं नरकद्विकं तिर्यग्द्विकम् एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातयः आतपम् उद्योतं स्थावरं सूक्ष्मं साधारणमिति प्रकृतिषोडशकं क्षपयति । ततस्तदेव कषायाष्टकस्य क्षपितशेषं क्षपयति । ततो नपुंसकवेदं स्त्रीवेदं हास्यादिषट्कं पुंवेदं संज्वलनं क्रोधं मानं मायां क्षपयति, एताश्च प्रकृतीरनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थाने क्षपयति, संज्वलनलोभं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने इति क्षपकश्रेणिः । स्थापना चेयम् ।

---

१ [illegible] तस्य नियमात्तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिर्नास्ति, य एकवारं उपशम- [illegible] ॥ २ एवमप्रतिपतिते सम्यक्त्वे देवमनुजजन्मसु । अन्यतर- [illegible] ॥ [illegible] ॥ ४ [illegible] ॥ [illegible] ॥

विस्तरतस्तु क्षपकश्रेणिस्वरूपं **स्वोपज्ञशतकटीकायां** निरूपितं तत एव परिभावनीयम् । तदेवमन्येष्वपि गुणस्थानेषु क्षीणकषायव्यपदेशः सम्भवति, क्वापि कियतामपि कषायाणां क्षीणत्वात्, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । क्षीणकषायवीतरागत्वं च केवलिनोऽप्यस्ति इति तद्व्यवच्छेदार्थं छद्मस्थग्रहणम् । छद्मस्थग्रहणे च कृते सरागव्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । वीतरागश्चासौ छद्मस्थश्च वीतरागच्छद्मस्थः । स चोपशान्तकषायोऽप्यस्ति इति तद्व्यवच्छेदार्थं क्षीणकषायग्रहणम् । क्षीणकषायश्चासौ वीतरागच्छद्मस्थश्च **क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थः**, तस्य गुणस्थानं क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानम् १२ इति ।

सं.लो.
सं.मा.
सं.मा.
सं.क्रो.
पु.वे.

हास्य	रति	अरति	शोक	भय	जुगुप्सा

स्त्रीवे.
न. वे.

अ. क्रो.	प्र. क्रो.	अ. मा.	प्र. मा.	अ. मा.	प्र. मा.	अ. लो.	प्र. लो.

स. मो.
मि.मो.
मि.मो.

अ.क्रो	अ मा.	अ.मा.	अ.लो.

तथा योगो वीर्यं शक्तिः उत्साहः पराक्रम इति पर्यायाः, स च मनोवाक्कायलक्षणकर[1]णभेदात् तिस्रः संज्ञा लभते, मनोयोगो वाग्योगः काययोगश्चेति । तथा चोक्तं **कर्मप्रकृतौ**—

[2]परिणामालंबणगहणकारणं तेण लद्धनामतिगं ।
कज्जब्भासान्नुन्नप्पवेसविसमीकयपएसं ॥ (गा० ४)

तत्र भगवतो मनोयोगो मनःपर्यायज्ञानिभिरनुत्तरसुरादिभिर्वा मनसा पृष्टस्य सतो मनसैव देशनात्, ते हि भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि मनःपर्यायज्ञानेनाऽवधिज्ञानेन वा पश्यन्ति, दृष्ट्वा च ते विवक्षितवस्त्वाकारान्यथानुपपत्त्या लोकस्वरूपादिवाह्यमर्थमवगच्छन्तीति । वाग्योगो

१ ०णात्रयभे० ख० ॥ २ परिणामालम्बनग्रहणकरणं तेन लब्धनामत्रिकम् । ... विषमीकृतप्रदेशम्

धर्मदेशनादौ । काययोगो निमेषोन्मेषचङ्क्रमणादौ । ततोऽनेन योगत्रयेण सह वर्तत इति सयो "सर्वादेरिन्" (सि० ७-२-५६) इतीन् प्रत्ययः । केवलं—केवलज्ञानं केवलदर्शनं च विद्य यस्य स केवली, सयोगी चासौ केवली च सयोगिकेवली, तस्य गुणस्थानं सयोगिकेवलिगुण स्थानम् १३ ।

तथा न विद्यन्ते योगाः पूर्वोक्ता यस्यासावयोगी । कथमयोगित्वमसावुपगच्छति ? इ चेद् उच्यते—स भगवान् सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् उत्कृष्टतो देशोनां पूर्वकोटिं विहृत्य कश्चित् कर्मणां समीकरणार्थं समुद्घातं करोति, यस्य वेदनीयादिकमायुषः सकाशाद धिकतरं भवति, अन्यस्तु न करोति । यदाहुः **श्रीआर्यश्यामपादाः—**

[1]सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छन्ति ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

जस्साउएण तुल्लाइं, बंधणेहिं ठिईहि य ।
भवोवग्गाहिकम्माइं, न समुग्घायं स गच्छइ ॥
अगंतूणं समुग्घायं, अणंता केवली जिणा ।
जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया (प्रज्ञा० पत्र ६०१-१)

अत्र "बंधणेहिं" ति बध्यन्त इति बन्धनानि "भुजिपत्यादिभ्यः कर्मापादाने" (सि० ५-३-१२८) इति कर्मण्यनट्, कर्मपरमाणवस्तैः, शेषं सुगमम् । गत्वा वाऽगत्वा वा समुद्घा तम् । समुद्घातस्वरूपं च **स्वोपज्ञषडशीतिकटीकायां** विस्तरतः प्ररूपितं तत एवावधारणी यम् । भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय लेश्यातीतमत्यन्ताप्रकम्पं परमनिर्जराकारणं ध्यानं प्रतिपित्सुर्यो गनिरोधार्थमुपक्रमते । तत्र पूर्वं बादरकाययोगेन बादरमनोयोगं निरुणद्धि, ततो वाग्योगम्, ततः सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगम्; तेनैव सूक्ष्ममनोयोगं सूक्ष्मवाग्योगं च; सूक्ष्मकाययोगं तु सूक्ष्मक्रियमनिवर्तिशुक्लध्यानं ध्यायन् स्वावष्टम्भेनैव निरुणद्धि, अन्यस्यावष्टम्भनीयस्य योगा न्तरस्य तदाऽसत्त्वात् । तद्ध्यानसामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन सङ्कुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति । तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानं ध्यायन् मध्यमप्रतिपत्त्या ह्रस्वपञ्चाक्ष रोद्गिरणमात्रं कालं शैलेशीकरणं प्रविशति । तत्र शैलेशः—मेरुः तस्येयं स्थिरता—साम्यावस्था शैलेशी, यद्वा सर्वसंवरः शीलं तस्य य ईशः शीलेशः तस्येयं योगनिरोधावस्था शैलेशी, तस्यां करणं—पूर्वरचितशैलेशीसमयसमानगुणश्रेणीकस्य वेदनीयनामगोत्राख्याऽघातिकर्मत्रितयस्याऽ-

[1]सर्वेऽपि खलु भदन्त ! केवलिनः समुद्घातं गच्छन्ति ? गौतम ! नायमर्थः समर्थः । यस्य आयुषा [illegible] स्थितिभिश्च । भवोपग्राहिकर्माणि न समुद्घातं स गच्छति ॥ अगत्वा समुद्घातम् अन [illegible] केवलिनो जिनाः । जरामरणविप्रमुक्ताः सिद्धिं वरगतिं गताः ॥ [2]समुत्सन्न० क०ख०ग०घ०ङ०॥

सङ्ख्येयगुणया श्रेण्या आयुःशेषस्य तु यथास्वरूपस्थितया श्रेण्या निर्जरणं शैलेशीकरणम्। तत्रासौ प्रविष्टोऽयोगी स चासौ केवली च अयोगिकेवली । अयं च शैलेशीकरणचरमसमयानन्तरमुच्छिन्नचतुर्विधकर्मबन्धनत्वाद् अष्टमृत्तिकालेपलिप्ताऽधोनिमग्नक्रमाऽपनीतमृत्तिकालेपजलतलमर्यादोर्ध्वगामितथाविधाऽलाबुवद् ऊर्ध्वं लोकान्ते गच्छति, न परतोऽपि, मत्स्यस्य जलकल्पगत्युपष्टम्भिधर्मास्तिकायाऽभावात् । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावत एवं प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्च समयान्तरमसंस्पृशन् गच्छति ।

तदुक्तमावश्यकचूर्णौ—

[1]जत्तिए जीवो अवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढं उज्जुगं गच्छइ न वंकं, बीयं च समयं न फुसइ ॥ (पूर्वार्द्धे पत्र ५८२) इति ॥

दुःषमान्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपप्रतिमाः श्रीजिनभद्रगणिपूज्या अप्याहुः—

[2]पज्जत्तमित्तसन्निस्स जत्तियाइं जहन्नजोगिस्स ।
हुंति मणोदव्वाइं, तव्वावारो य जम्मत्तो ॥ (विशेषा० गा० ३०५९)
तदसंखगुणविहीणं, समए समए निरुंभमाणो सो ।
मणसो सव्वनिरोहं, कुणइ असंखिज्जसमएहिं ॥ (विशेषा० गा० ३०६०)
[3]पज्जत्तमित्तबिंदियजहन्नवइजोगपज्जया जे उ ।
तदसंखगुणविहीणे, समए समए निरुंभंतो ॥ (विशे० गा०३०६१)
सव्ववइजोगरोहं, संखाईएहिं कुणइ समएहिं ।
तत्तो य सुहुमपणयस्स पढमसमओववन्नस्स ॥ (विशेषा० गा० ३०६२)
जो किर जहन्नजोगो, तदसंखिज्जगुणहीणमिक्केक्के ।
समए निरुंभमाणो, देहतिभागं च मुंचंतो ॥ (विशेषा० गा० ३०६३)
रुंभइ स कायजोगं, संखाईएहिं चेव समएहिं ।
तो कयजोगनिरोहो, सेलेसीभावणामेइ ॥ (विशेषा० गा० ३०६४)

१ यावत्यां जीवोऽवगाढस्तावत्याऽवगाहनया ऊर्ध्वमृजुकं गच्छति न वक्रम, द्वितीयं च समयं न स्पृशति ॥ २ पर्याप्तमात्रसंज्ञिनो यावन्ति जघन्ययोगिनः । भवन्ति मनोद्रव्याणि तद्व्यापारश्च यन्मात्रः ॥ तदसङ्ख्यगुणविहीनं समये समये निरुन्धानः सः । मनसः सर्वनिरोधं करोत्यसङ्ख्येयसमयैः ॥ ३ पर्याप्तमात्रद्वीन्द्रियजघन्यवचोयोगपर्यया ये तु । तदसङ्ख्यगुणविहीनान् समये समये निरुन्धानः ॥ सर्ववचोयोगरोधं सङ्ख्यातीतैः करोति समयैः । ततश्च सूक्ष्मपनकस्य प्रथमसमयोपपन्नस्य ॥ यः किल जघन्ययोगस्तदसङ्ख्येयगुणहीनमेकैकस्मिन् । समये निरुन्धानो देहत्रिभागं च मुञ्चन् ॥ रुणद्धि स काययोगं सङ्ख्यातीतैरेव समयैः । ततः कृतयोगनिरोधः शैलेशीभावनामेति ॥

ख्यानावरणः क्रोधो मानो माया लोभः ४ प्रत्याख्यानावरणः क्रोधो मानो माया लोभः ४ संज्वलनः क्रोधो मानो माया लोभः ४ इति षोडश कषायाः, स्त्री पुमान् नपुंसकमिति वेदत्रयम्, हास्यं रतिः अरतिः शोको भयं जुगुप्सेति हास्यषट्कम्, मिलितं नव नोकषायाः । आयुश्चतुर्धा—नरकायुः तिर्यगायुः मनुष्यायुः देवायुरिति । अथ नामकर्म द्विचत्वारिंशद्विधम्, तद्यथा—चतुर्दश पिण्डप्रकृतयः अष्टौ प्रत्येकप्रकृतयः त्रसदशकं स्थावरदशकं चेति । तत्र पिण्डप्रकृतय इमाः—गतिनाम जातिनाम शरीरनाम अङ्गोपाङ्गनाम बन्धननाम सङ्घातननाम संहनननाम संस्थाननाम वर्णनाम गन्धनाम रसनाम स्पर्शनाम आनुपूर्वीनाम विहायोगतिनामेति । आसां भेदा दर्श्यन्ते—नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिनामभेदात् चतुर्धा गतिनाम, एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामेति पञ्चधा जातिनाम, औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणशरीरनामेति पञ्चधा शरीरनाम, औदारिकाङ्गोपाङ्गं वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारकाङ्गो[1]पाङ्गनामेति त्रिधाऽङ्गोपाङ्गनाम, बन्धननाम पञ्चधा औदारिकबन्धनादि शरीरवत् एवं सङ्घातनमपि, संहनननाम षड्भेदम्—वज्रऋषभनाराचम् ऋषभनाराचं नाराचम् अर्धनाराचं कीलिका सेवार्तं चेति, संस्थाननाम षड्विधं—समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमण्डलं सादि वामनं कुब्जं हुण्डं चेति, वर्णनाम पञ्चधा—कृष्णं नीलं लोहितं हारिद्रं शुक्लं चेति, गन्धनाम द्विधा—सु[2]रभिगन्धनाम, दुरभिगन्धनामेति, रसनाम पञ्चधा-तिक्तं कटुकं कषायम् अम्लं मधुरं चेति, स्पर्शनाम अष्टधा—कर्कशं मृदु लघु गुरु शीतम् उष्णं स्निग्धं रूक्षं च, आनुपूर्वी चतुर्धा—नरकानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी मनुष्यानुपूर्वी देवानुपूर्वीति, विहायोगतिर्द्विधा—प्रशस्तविहायोगतिः अप्रशस्तविहायोगतिरिति आसां चतुर्दशपिण्डप्रकृतीनामुत्तरभेदा अमी पञ्चषष्टिः । प्रत्येकप्रकृतयस्त्विमाः—पराघातनाम उपघातनाम उच्छ्वासनाम आतपनाम उद्योतनाम अगुरुलघुनाम तीर्थकरनाम निर्माणनामेति । त्रसदशकमिदम्—त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्तिनामेति । स्थावरदशकं पुनरिदम्—स्थावरनाम सूक्ष्मनाम अपर्याप्तनाम साधारणनाम अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम दुःस्वरनाम अनादेयनाम अयशःकीर्तिनामेति । पिण्डप्रकृत्युत्तरभेदाः पञ्चषष्टिः प्रत्येकप्रकृतयोऽष्टौ त्रसदशकं स्थावरदशकं च सर्वमीलने त्रिनवतिः । गोत्रं द्विधा—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं च । अन्तरायं पञ्चधा—दानान्तरायं लाभान्तरायं भोगान्तरायम् उपभोगान्तरायं वीर्यान्तरायं चेति । एवं च कृत्वा ज्ञानावरणे कर्मप्रकृतयः पञ्च ५ दर्शनावरणे नव ९ वेदनीये द्वे २ मोहनीयेऽष्टाविंशतिः २८ आयुषि चतस्रः ४ नाम्नि त्रिनवतिः ९३ गोत्रे द्वे २ अन्तराये पञ्च ५ सर्वपिण्डेऽष्टाचत्वारिंशं शतं भवति, तेन च सत्तायामधिकारः । उदयोदीरणयोः पुनरौदारिकादिबन्धनानां

---

१ ०पाङ्गमिति ख० ग० ॥ २ ०रभिनाम असुरभिना० क० ख० ग० ॥

सप्त या व्यवच्छिद्यन्ते । कथम् ? इत्याह—"जइ सुराउं जया निट्ठं" ति यदा कश्चित् प्रमत्तः सन् सुरायुर्बन्धमारभते निष्ठां न नयति सुरायुर्बन्धं समापयतीत्यर्थः तदा पूर्वोक्ताः षट् सुरायुःसहिताः सप्त व्यवच्छिद्यन्त इति ॥ ७ ॥

गुणसट्ठि अप्पमत्ते, सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुगं बंधे ॥ ८ ॥

"गुणसट्ठि" त्ति एकोनषष्टिरप्रमत्ते बध्यत इति शेषः । कथम् ? इत्याह—'सुरायुर्बध्नन्' सुरायुर्बन्धं कुर्वन् यदि चेद् 'इह' अप्रमत्तगुणस्थान आगच्छेत् । इयमत्र भावना—सुरायुर्बन्धं हि प्रमत्त एवारभते नाऽप्रमत्तादिः, तस्यातिविशुद्धत्वात्, आयुष्कस्य तु घोलनापरिणामेनैव बन्धनात्, परं सुरायुर्बध्नन् प्रमत्ते किञ्चित् सावशेषे सुरायुर्बन्धेऽप्रमत्तेऽप्यगच्छेत्, अत्र च सावशेषं सुरायुर्निष्ठां नयति तत एकोनषष्टिरप्रमत्ते भवति "[1]देवाउयं च इक्कं, नायव्वं अप्पमत्तम्मि ।" इति वचनात् । "अन्नह अट्ठावन्ना" त्ति अन्यथा यदि सुरायुर्बन्धः प्रमत्तेनारब्धः प्रमत्तेनैव निष्ठां नीतस्ततोऽष्टापञ्चाशदप्रमत्ते भवतीति ।

ननु यदि पूर्वोक्तत्रिषष्टेः शोकाऽरत्यस्थिरद्विकाऽयशोऽसातलक्षणं प्रकृतिषट्कमपनीयते तर्हि सा सप्तपञ्चाशद् भवति, अथ सुरायुःसहितं पूर्वोक्तप्रकृतिषट्कमपनीयते तर्हि षट्पञ्चाशत्, ततः कथमुक्तमेकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वाऽप्रमत्ते ? इत्याशङ्क्याह—"जं आहारगदुगं बंधे" त्ति 'यद्' यस्मात् कारणाद् आहारकद्विकं बन्धे भवतीति शेषः । अयमत्राशयः—अप्रमत्तयतिसम्बन्धिना संयमविशेषेणाऽऽहारकद्विकं बध्यते, तच्चेह लभ्यत इति पूर्वापनीतमप्यत्र क्षिप्यते, ततः षट्पञ्चाशद् आहारकद्विकक्षेपेऽष्टापञ्चाशद् भवति, सप्तपञ्चाशत् पुनराहारकद्विकक्षेप एकोनषष्टिरिति ॥८॥

अडवन्न अपुव्वाइम्मि, निद्ददुगंतो छपन्न पणभागे ।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ, तसनव उरलविणु तणुवंगा ॥९॥
समचउर निमिण जिण वन्नअगुरुलघुचउ छलंसि तीसंतो ।
चरमे छवीसबंधो, हासरईकुच्छभयभेओ ॥१०॥

"अडवन्न अपुव्वाइंमि" त्ति । इह किलाऽपूर्वकरणाद्धायाः सप्त भागाः क्रियन्ते । तत्राऽपूर्वस्य-अपूर्वकरणस्यादिमे-प्रथमे सप्तभागेऽष्टापञ्चाशत् पूर्वोक्ता भवति । तत्र चाद्ये सप्तभागे निद्राद्विकस्य-निद्राप्रचलालक्षणस्यान्तो भवति, अत्र बध्यते नोत्तरत्रापि, उत्तरत्र तद्बन्धाध्यवसायस्थानाभावात्, उत्तरेष्वप्ययमेव हेतुरनुसरणीयः । ततः परं षट्पञ्चाशद् भवति । कथम् ? इत्याह—"पणभागि" त्ति पञ्चानां भागानां समाहारः पञ्चभागं तस्मिन् पञ्चभागे, पञ्चसु भागे-

[1] देवायुष्कं चैकं ज्ञातव्यमप्रमत्ते ॥

बन्धाधिकारमेनं निरूप्य [illegible] ।
इह कर्मबन्धमुक्तो लोकः [illegible] ॥

साम्प्रतमुदयस्य प्रायस्तत्समानत्वात् उदीरणायाश्च लक्षणकथनपूर्वकं कस्मिन् गुणस्थाने कियत्यः प्रकृतयस्तस्य भगवतः क्षीणाः ? इत्येतदभिधित्सुराह—

उदओ विवागवेयणमुदीरण अपत्ति इह दुवीससयं ।
सतरसयं मिच्छे मीससम्मआहारजिणणुदया ॥ १३ ॥

इह कर्मपुद्गलानां यथास्वस्थितिबद्धानामुदयसमयप्राप्तानां यद् विपाकेन–अनुभवनेन वेदनं स उदय उच्यते । "उदीरण अपत्ति" त्ति कर्मपुद्गलानां यथास्वस्थितिबद्धानां यद् अप्राप्तकालं वेदनमुदीरणा भण्यते । "इह" त्ति 'इह' उदये उदीरणायां च "दुवीससयं" ति 'द्विविंशशतं' द्वाभ्यामधिकं विंशं शतं द्विविंशशतं मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, तत् सामान्यतोऽधिक्रियत इति शेषः । सप्तदशशतं "मिच्छे" त्ति मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने उदये भवति । कथम् ? इत्याह—"मीससम्मआहारजिणणुदय" त्ति, मिश्रं च "सम्म" त्ति सम्यक्त्वं च "आहार" त्ति इहाऽऽहारकशब्देन सर्वत्राऽऽहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमाहारकद्विकं गृह्यते तत आहारकं च "जिण" त्ति जिननाम च मिश्रसम्यक्त्वाहारजिनास्तेषामनुदयाद् । इदमत्र हृदयम्–मिश्रोदयस्तावत् सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान एव भवति, सम्यक्त्वोदयस्त्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादौ, आहारकद्विकोदयः प्रमत्तादौ, जिननामोदयः सयोगिकेवल्यादौ भवति । तत इदं प्रकृतिपञ्चकं द्वाविंशतिशताद् अपनीयते ततो मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने सप्तदशशतं भवतीति ॥ १३ ॥

सुहुमतिगायवमिच्छं, मिच्छंतं सासणे इगारसयं ।
निरयाणुपुव्विणुदया, अणथावरइगविगलअंतो ॥ १४ ॥

सूक्ष्मत्रिकं च–सूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणरूपम् आतपं च मिथ्यात्वं च सूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वं मिथ्यात्वे–मिथ्यादृष्टावन्तो यस्य तद् मिथ्यात्वान्तम् , एतत्प्रकृतिपञ्चकस्य मिथ्यात्वेऽन्तो भवतीत्यर्थः । अयमत्राशयः–सूक्ष्मनाम्न उदयः सूक्ष्मैकेन्द्रियेषु, अपर्याप्तनाम्नस्तु सर्वेष्वप्यपर्याप्तकेषु, साधारणनाम्नोऽनन्तवनस्पतिषु, आतपनामोदयस्तु बादरपृथिवीकायिकेष्वेव;[1] न चैतेषु स्थितो जीवः सास्वादनादित्वं लभते, नापि पूर्वप्रतिपन्नस्तेषूत्पद्यते, सास्वादनस्तु यद्यपि बादरपर्याप्तैकेन्द्रियेषूत्पद्यते तथापि न तस्यातपनामोदयः, तत्रोत्पन्नमात्रस्यासमाप्तशरीरस्यैव सास्वादनत्ववमनात् , समाप्ते च शरीरे तत्राऽऽतपनामोदयो भवति, मिथ्यात्वोदयः

१ ०केषु च; क० घ० ॥

पुनर्मिथ्यादृष्टावेव, तेनैतासां पञ्चप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टावुदयस्यान्तः । तत इदं प्रकृतिपञ्चकं पूर्वोक्तसप्तदशशताद् अपनीयते शेषं द्वादशशतं सास्वादने उदयं प्रतीत्य भवति, नरकानुपूर्व्यपनयने चैकादशशतं भवतीत्येतदेवाह—"सासणे इगारसयं निरयाणुपुव्विणुदय" त्ति सास्वादन एकादशशतमुदये भवति, नरकानुपूर्व्यनुदयात्, नरकानुपूर्व्या उदयो हि नरके वक्रेण गच्छतो जीवस्य भवति, न च सास्वादनो नरकं गच्छति ।

यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवभाष्ये—

[1]नरयाणुपुव्वियाए, सासणसम्मम्मि होइ न हु उदओ ।

नरयम्मि जं न गच्छइ, अवणिज्जइ तेण सा तस्स ॥ (गा० ८)

ततो नरकानुपूर्वी मिथ्यादृष्टिव्यवच्छिन्नसूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वलक्षणप्रकृतिपञ्चकं च सप्तदशशताद् अपनीयते शेषं सासादने एकादशशतं भवतीति । "अणथावरइगविगलअंतु" त्ति "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः स्थावरनाम "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः विकलाः—पञ्चेन्द्रियजात्यपेक्षयाऽसम्पूर्णा द्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातय इत्यर्थः, इत्येतासां नवानां प्रकृतीनां सास्वादनेऽन्त उदयमाश्रित्य भवति । इयमत्र भावना—अनन्तानुबन्धिनामुदये हि सम्यक्त्वलाभ एव न भवति ।

यदाहुः श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः—

[2]पढमिल्लुयाण उदए, नियमा संजोयणाकसायाणं ।

सम्मद्दंसणलंभं, भवसिद्धीया वि न लहंति ॥ (आ० नि० गा० १०८)

नापि सम्यग्मिथ्यात्वं कोऽप्यनन्तानुबन्ध्युदये गच्छति, योऽपि पूर्वप्रतिपन्नसम्यक्त्वोऽनन्तानुबन्धिनामुदयं करोति सोऽपि सास्वादन एव भवतीत्युत्तरेष्वासामुदयाभावः । स्थावरैकेन्द्रियजातिविकलेन्द्रियजातयस्तु यथास्वमेकेन्द्रियविकलेन्द्रियवेद्या एव । उत्तरगुणस्थानानि तु संज्ञिपञ्चेन्द्रिय एव प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नोऽपि पञ्चेन्द्रियेष्वेव गच्छतीत्युत्तरेष्वासामुदयाभाव इति ॥ १४ ॥

मीसे सयमणुपुव्वीणुदया मीसोदएण मीसंतो ।

चउसयमजए सम्माणुपुव्विखेवा बियकसाया ॥ १५॥

'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टौ शतमुदये भवति, कथम् ? इत्याह—"अणुपुव्वीणुदय" त्ति, इहानुपूर्वीशब्देन तिर्यगानुपूर्वीमनुजानुपूर्वीदेवानुपूर्वीलक्षणा आनुपूर्वीत्रयी गृह्यते तस्या अनुद-

१ ० कर्मु द० ल० गा० ॥ २ नरकानुपूर्व्याः सासादनसम्यक्त्वे भवति न खलु उदयः । नरकं यन्न गच्छति अपनीयते तेन सा तस्य ॥ ३ प्रथमानामुदये नियमात् संयोजनाकषायाणाम् । सम्यग्दर्शनलाभं भवसिद्धिका अपि न लभन्ते ॥

नारकत्रिकं च देवनारकवेद्यमेव, न च तेषु देशविरत्यादेः सम्भवः, वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोस्तु देवनारकेषूदयः, तिर्यग्मनुष्येषु तु प्राचुर्येणाऽविरतसम्यग्दृष्टयन्तेषु; यस्तूत्तरगुणस्थानेष्वपि केषाञ्चिदागमे विष्णुकुमारस्थूलभद्रादीनां वैक्रियद्विकस्योदयः श्रूयते स प्रविरलतरत्वादिना केनापि कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षित[1] इत्यस्माभिरपि न विवक्षित इति; दुर्भगमनादेयद्विकमित्येतास्तु तिस्रः प्रकृतयो देशविरत्यादिषु गुणप्रत्ययाद् नोदयन्त इत्येता अविरते व्यवच्छिन्ना इति । "तिरिगइआउ" त्ति तिर्यक्शब्दस्य प्रत्येकं योगात् तिर्यग्गतिस्तिर्यगायुः "निउज्जोय" त्ति नीचैर्गोत्रमुद्योतं च "तिकसाय" त्ति तृतीयाः कषायास्त्रिकषाया मयूरव्यंसकादित्वात् पूरणप्रत्ययलोपी समासः, प्रत्याख्यानावरणाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः ॥ १६ ॥

अट्ठच्छेओ इगसी, पमत्ति आहारजुगलपक्खेवा ।
थीणतिगाहारगदुगछेओ छस्सयरि अपमत्ते ॥ १७ ॥

पूर्वोक्ताष्टप्रकृतीनां देशविरते उदयमाश्रित्य च्छेदो भवति, ततः प्रमत्ते एकाशीतिर्भवति, आहारकयुगलप्रक्षेपात् । इदमत्र हृदयम्–तिर्यग्गतितिर्यगायुषी तिर्यग्वेद्ये एव, तेषु च देशविरतान्तान्येव गुणस्थानानि घटन्ते नोत्तराणीत्युत्तरेषु तदुदयाभावः; नीचैर्गोत्रं तु तिर्यग्गतिस्वाभाव्याद् ध्रुवोदयिकं न परावर्तते, ततश्च देशविरतस्यापि तिरश्चो नीचैर्गोत्रोदयोऽस्त्येव, मनुजेषु पुनः सर्वस्य देशविरतादेर्गुणिनो गुणप्रत्ययाद् उच्चैर्गोत्रमेवोदेतीत्युत्तरत्र नीचैर्गोत्रोदयाभावः, उद्योतनाम स्वभावतस्तिर्यग्वेद्यम्, तेषु च देशविरतान्तान्येव गुणस्थानानि नोत्तराणीत्युत्तरेषु तदुदयाभावः, यद्यपि यतिवैक्रियेऽप्युद्योतनामोदेति "[2]उत्तरदेहे च देवजई" इति वचनात् तथापि स्वल्पत्वादिना केनापि कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितम्, तृतीयकषायोदये हि चारित्रलाभ एव न भवति, उक्तं च पूज्यैः–

[3]तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाणं ।
देसिक्कदेसविरइं, चरित्तलंभं न उ लहंति ॥ (आ० नि० गा० ११०)

न च पूर्वप्रतिपन्नचारित्रस्य तदुदयसम्भव इत्युत्तरेषु तदुदयाभाव इत्येता अष्टौ प्रकृतयः पूर्वोक्तसप्ताशीतेरपनीयन्ते शेषा एकोनाशीतिः, तत आहारकयुगलं क्षिप्यते, यतः प्रमत्तयतेराहारकयुगलस्योदयो भवतीत्येकाशीतिः । "थीणतिग" त्ति स्त्यानर्द्धित्रिकं–निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिरूपम् आहारकद्विकम्–आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमिति प्रकृतिपञ्चकस्य

---

१ ०त इति । दुर्भ० क० घ० ङ० ॥ २ उत्तरदेहे च देवयती ॥ ३ तृतीयकषायाणामुदये प्रत्याख्यानावरणनामधेयानाम् । देशैकदेशविरतिं चारित्रलाभं न तु लभन्ते ॥

प्रमत्ते छेदो भवति, ततः पूर्वोक्तैकाशीतेरिदं प्रकृतिद्वयमपनीयते शेषा एकोनाशीतिरप्रमत्ते उदये भवति। अयमत्राशयः—स्त्यानर्द्धित्रिकोदयः प्रमादरूपत्वाद् अप्रमत्ते न सम्भवति, आहारकद्विकं च विकुर्वाणो यतिरौत्सुक्याद् अवश्यं प्रमादवशगो भवत्यत उदयमप्रमत्ते उदयमाश्रित्य न जाघटीति, यत्पुनरिदमन्यत्र श्रूयते-प्रमत्तयतिराहारकं विकृत्य पश्चाद् विशुद्धिवशात् तत्रस्थ एवाप्रमत्ततां यातीति तत् केनापि स्वल्पत्वादिना कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितमिति ॥ १७॥

सम्मत्तंतिमसंघयणतिगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे ।
हासाइछक्कअंतो, छसट्ठि अनियट्टि वेयतिगं ॥ १८ ॥

सम्यक्त्वम् अन्तिमसंहननत्रिकम्—अर्धनाराचसंहननकीलिकासंहननसेवार्तसंहननरूपमित्येतत्प्रकृतिचतुष्टयस्याप्रमत्ते छेदो भवति, तत इदं प्रकृतिचतुष्कं पूर्वोक्तषट्सप्ततेरपनीयते शेषा द्वासप्ततिः "अपुव्वि" त्ति अपूर्वकरणे उदये भवतीति। अयमत्राशयः—सम्यक्त्वे क्षपिते उपशमिते वा श्रेणिद्वयमारुह्यत इत्यपूर्वकरणादौ तदुदयाभावः, अन्तिमसंहननत्रयोदये तु श्रेणिमारोढुमेव न शक्यते तथाविधशुद्धेरभावाद् इत्युत्तरेषु तदुदयाभावः। "हासाइछक्कअंतु" त्ति हास्यमादौ यस्य षट्कस्य तद् हास्यादिषट्कं—हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साख्यं तस्यान्तोऽपूर्वकरणे भवति, संक्लिष्टतरपरिणामत्वाद् एतस्य, उत्तरेषां च विशुद्धतरपरिणामत्वात् तेषु तदुदयाभाव इति। उत्तरेष्वप्ययमुदयव्यवच्छेदहेतुरनुसरणीयः। तत इदं प्रकृतिषट्कं पूर्वोक्तद्विसप्ततेरपनीयते शेषा "छसट्ठि अनियट्टि" त्ति षट्षष्टिरनिवृत्तिबादरे भवति, उदयमाश्रित्येति शेषः। "वेयतिगं" ति वेदत्रिकं—स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदाख्यम् ॥१८॥

संजलणतिगं छच्छेओ सट्ठि सुहुमम्मि तुरियलोभंतो ।
उवसंतगुणे गुणसट्ठि रिसहनारायदुगअंतो ॥ १९ ॥

'संज्वलनत्रिकं' संज्वलनक्रोधमानमायारूपमित्येतासां षण्णां प्रकृतीनामनिवृत्तिबादरे छेदो भवति। तत्र स्त्रियाः श्रेणिमारोहन्त्याः स्त्रीवेदस्य प्रथममुदयच्छेदः ततः क्रमेण पुंवेदस्य नपुंसकवेदस्य संज्वलनत्रयस्य चेति, पुंसस्तु श्रेणिमारोहतः प्रथमं पुंवेदस्योदयच्छेदस्ततः क्रमेण स्त्रीवेदस्य षण्ढवेदस्य संज्वलनत्रयस्य चेति, षण्ढस्य तु श्रेणिमारोहतः प्रथमं षण्ढवेदस्योदयच्छेदस्ततः स्त्रीवेदस्य पुंवेदस्य संज्वलनत्रयस्य चेति। एतत्प्रकृतिषट्कं पूर्वोक्तषट्षष्टेरपनीयते, शेषा "सट्ठि सुहुमम्मि" त्ति षष्टिः सूक्ष्मसंपराये उदये भवति। अत्र च 'तुर्यलोभान्तः' चतुर्थलोभान्तः संज्वलनलोभव्यवच्छेद इत्यर्थः। तत इयमेका प्रकृतिः षष्टेरपनीयते शेषा 'उपशान्तगुणे' उपशान्तमोहगुणस्थाने एकोनषष्टिरुदये भवति। "रिसहनारायदुगअंतु" त्ति ऋषभ-

नाराचद्विकम्-ऋषभनाराचसंहनननाराचसंहननाख्यं तस्यान्त उपशान्तगुणे भवति, प्रथमसंहननेनैव क्षपकश्रेण्यारोहणात् क्षीणमोहादौ तदुदयाभावः । उपशमश्रेणिस्तु प्रथमसंहननत्रयेणाप्यारभ्यते, तत इदं प्रकृतिद्वयं पूर्वोक्तैकोनषष्टेरपनीयते, शेषा ॥ १९ ॥

सगवन्न खीण दुचरमि, निद्दुगंतो य चरमि पणपन्ना ।

नाणंतरायदंसणचउ छेओ सजोगि बायाला ॥ २० ॥

सप्तपञ्चाशत् "खीण" त्ति क्षीणमोहस्य "दुचरिमि" त्ति द्विचरमसमये-चरमसमयादर्वाग् द्वितीये समये निद्राद्विकस्य-निद्राप्रचलाद्वयस्य क्षीणद्विचरमसमयेऽन्त इत्येतत् प्रकृतिद्वयं पूर्वोक्तसप्तपञ्चाशतोऽपनीयते ततः "चरमि" त्ति चरमसमये क्षीणमोहस्येति शेषः, "पणपन्न" त्ति पञ्चपञ्चाशद् उदये भवति । इदमुक्तं भवति-निद्राप्रचलयोः क्षीणमोहस्य द्विचरमसमये उदयच्छेदः । अपरे पुनराहुः-उपशान्तमोहे निद्राप्रचलयोरुदयच्छेदः, पञ्चानामपि निद्राणां घोलनापरिणामे भवत्युदयः, क्षपकाणां त्वतिविशुद्धत्वाद् न निद्रोदयसम्भवः, उपशमकानां पुनरनतिविशुद्धत्वात् स्यादपीति "नाणंतरायदंसणचउ" त्ति ज्ञानावरणपञ्चकं-मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानावरणरूपम् अन्तरायपञ्चकं-दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायाख्यं दर्शनचतुष्कं-चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणलक्षणमित्येतासां क्षीणमोहचरमसमये छेदो भवति, तदनन्तरं क्षीणमोहत्वाद् इत्येतत्प्रकृतिचतुर्दशकं पूर्वोक्तपञ्चपञ्चाशतोऽपनीयते, शेषैकचत्वारिंशत् तीर्थकरनामोदयाच्च तत्प्रक्षेपे द्वाचत्वारिंशत् सयोगिकेवलिनि भवतीति । एतदेवाह—"सजोगि बायाल" त्ति स्पष्टम् ॥ २० ॥

तित्थुदया उरलाऽथिरखगइदुग परित्ततिग छ संठाणा ।

अगुरुलहुवन्नचउ निमिणतेयकम्माइसंघयणं ॥ २१ ॥

ननु पञ्चपञ्चाशतो ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकदर्शनचतुष्कलक्षणप्रकृतिचतुर्दशकापनयन एकचत्वारिंशदेव भवति, ततः कथमुक्तं सयोगिनि द्विचत्वारिंशत् ?, इत्याह—"तित्थुदय" त्ति 'तीर्थोदयात्' तीर्थकरनामोदयादित्यर्थः । यतः सयोग्यादौ तीर्थकरनामोदयो भवति, यदुक्तम्—

[1]उदए जस्स सुरासुरनरवइनिवहेहिं पूइओ होइ ।

तं तित्थयरनामं, तस्स विवागो हु केवलिणो ॥ (वृ० क० वि० गा० १४६)

ततः पूर्वोक्तैकचत्वारिंशति तीर्थकरनाम क्षिप्यते जाता द्विचत्वारिंशत्, सा च सयोगिनि भवतीति । "उरलाऽथिरखगइदुग' त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् औदारिकद्विकम्-औदारिक-

१ उदये यस्य सुरासुरनरपतिनिवहैः पूजितो भवति । तत् तीर्थकरनाम तस्य विपाको हि केवलिनः ॥

अथ तस्य भगवतः कस्मिन् गुणस्थाने कियत्यः प्रकृतय उदीरणामाश्रित्य व्यवच्छिन्ना ? इत्येतदतिदेशद्वारेणाह—

उदय व्वुदीरणा परमपमत्ताईसगगुणेसु ॥ २३ ॥

उदयवद् उदीरणा पूर्वोक्तशब्दार्था गुणस्थानेषु वक्तव्या । किमुक्तं भवति ?-यावतीनां प्रकृतीनामुदयस्वामी तावतीनामुदीरणास्वाम्यपीति । अतिप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थमाह---"परमपमत्ताईसगगुणेसु" त्ति 'परं' केवलमियान् विशेषः--अप्रमत्त आदौ येषां तेऽप्रमत्तादयः गुणाः--गुणस्थानानि, सप्त च ते गुणाश्च सप्तगुणाः, अप्रमत्तादयश्च ते सप्तगुणाश्च अप्रमत्तादिसप्तगुणास्तेष्वप्रमत्तादिसप्तगुणेषु ॥ २३ ॥ किम् ? इत्याह—

एसा पयडितिगूणा, वेयणियाऽऽहारजुगल थीणतिगं ।
मणुयाउ पमत्तंता; अजोगि अणुदीरगो भगवं ॥ २४ ॥

॥ उदीरणा सम्मत्ता ॥

'एषा' उदीरणा प्रकृतित्रिकेण ऊना—हीना वक्तव्या । इयमत्र भावना—मिथ्यादृष्टेः सप्तदशोत्तरशतस्योदयः, उदीरणाऽप्येवम् । सास्वादनस्य एकादशशतस्योदयस्तथैवोदीरणाऽपि । मिश्रस्योदयः शतस्य, उदीरणाऽपि । अविरतसम्यग्दृष्टेरुदयश्चतुरुत्तरशतस्य, तथैवोदीरणा । देशविरतस्य सप्ताशीतेरुदयः, उदीरणाऽपि । प्रमत्तस्यैकाशीतेरुदयः, उदीरणाऽपि च । अप्रमत्ते उदयः षट्सप्ततेः, उदीरणा त्रिसप्ततेः १ अपूर्वकरणे उदयो द्विसप्ततेः, उदीरणा एकोनसप्ततेः २ । अनिवृत्तिबादरे उदयः षट्षष्टेः उदीरणा त्रिषष्टेः ३ । सूक्ष्मसम्पराये उदयः षष्टेः, उदीरणा सप्तपञ्चाशतः ४ । उपशान्तमोहे उदय एकोनषष्टेः उदीरणा षट्पञ्चाशतः ५ । क्षीणमोहे उदयः सप्तपञ्चाशतः, उदीरणा चतुष्पञ्चाशतः ६ । सयोगिकेवलिन्युदयो द्विचत्वारिंशतः उदीरणा एकोनचत्वारिंशत ७ । इति ननु केन प्रकृतित्रिकेणाऽप्रमत्तादिषूदीरणा ऊना ? इत्याशङ्कयाह–वेयणियाहारजुगल" त्ति युगलशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् वेदनीययुगलं–सातवेदनीयाऽसातवेदनीयरूपम् आहारकयुगलम्—आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणम्, "थीणतिगं" ति 'स्त्यानर्द्धित्रिकं' निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिरूपं, मनुष्यायुः इत्येतासामष्टानां प्रकृतीनां प्रमत्तेऽन्तः–व्यवच्छेद उदीरणां प्रतीत्य यासां ताः प्रमत्तान्ताः । अयमत्र भावार्थः—स्त्यानर्द्धित्रिकं प्रमादरूपत्वाद् अप्रमत्तादिषु नास्त्येव, कुतस्तेषु तदुदीरणा ?; आहारकशरीरं च विकुर्वाण औत्सुक्याद् यतिः प्रमत्त एवेति अप्रमत्तादिषु तदपि नास्ति, कुतस्तेषु तदुदीरणा ?; सातासातमनुजायुषां हि प्रमादसहितेनैव योगेनोदीरणा भवति नान्येनेत्युत्तरेषु न तदुदीरणा । तदयमत्र तात्पर्यार्थः—उदयमाश्रित्य प्रमत्ते हि स्त्यानर्द्धित्रिकाहारकद्विका-

ल्यपञ्चप्रकृतयो व्यवच्छिद्यन्ते, उदीरणामाश्रित्य पुनः स्त्यानर्द्धित्रिकाहारकद्विकसातासातमनुजायुर्लक्षणा अष्टौ प्रकृतय इति मनुजायुःसातासातरूपप्रकृतित्रयेणाऽप्रमत्तादिषु ऊना उदीरणा वाच्येति। 'अयोगी' अयोगिकेवली 'अनुदीरकः' न किमपि कर्मोदीरणया क्षिपति, योगाभावात्, उदीरणा हि योग कृतकरणविशेष इति भगवान् परमप्रयत्नवान् सर्वसंवररूपचारित्रधर्मवान् चेत्यर्थः ॥२४॥

इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितायां स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकायामुदीरणाधिकारः समाप्तः ॥

गुक्तं मया यदाप्तं, विवृण्वतोदीरणाधिकारमिमम् ।
तेनास्तु सर्वलोको, दुष्कर्मोदीरणारहितः ॥

अथ सत्तास्वरूपकथनपूर्वकं यथा तेन भगवता त्रिलोकीपतिना श्रीमद्वर्धमानस्वामिना सत्तामाश्रित्य शुक्लध्यानेन कर्माणि क्षपितानि तथा प्रतिपादयन्नाह—

सत्ता कम्माण ठिई, बंधाईलद्धअत्तलाभाणं ।

स्तीर्थंकरनाम्नोऽपि सत्ता सम्भवति; सास्वादनमिश्रयोस्तु तस्मिन्नेव जिननामरहिते सप्तचत्वारिंशं शतं सत्तायां, जिननामसत्कर्मणो जीवस्य तद्भावाऽनवाप्तेः, तद्बन्धारम्भस्य च शुद्धसम्यक्त्वप्रत्ययत्वात् । यदुक्तं **बृहत्कर्मस्तवभाष्ये**--

[1]तित्थयरेण विहीणं, सीयालसयं तु संतए होइ ।
सासायणम्मि उ गुणे, सम्मामीसे य पयडीणं ॥ (गा० २५)

अविरतसम्यग्दृष्टयादीनामक्षिप्तदर्शनसप्तकानामष्टचत्वारिंशस्यापि शतस्य सत्ता सम्भवतीति ॥२५॥

अप्पुव्वाइचउक्के, अण तिरिनिरयाउ विणु बिआलसयं ।
सम्माइचउसु सत्तगखयम्मि इगचत्तसयमहवा ॥२६॥

गाथापर्यन्तवर्त्यथवाशब्दस्य सम्बन्धात् पूर्वं तावदष्टचत्वारिंशं शतं सत्तायामुक्तम्, अथवाऽयमपरः सत्तामाश्रित्य भेदः, तथाहि-'अपूर्वादिचतुष्के' अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहरूपे "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्कं "तिरिनिरयाउ" त्ति आयुःशब्दस्य प्रत्येकं योगात् तिर्यगायुर्नरकायुश्च विना द्विचत्वारिंशं शतं भवतीति । अयमाशयः-यः कश्चिद् विसंयोजितानन्तानुबन्धिचतुष्को बद्धदेवायुर्मनुजायुषि वर्तमान उपशमश्रेणिमारोहति, तस्य तिर्यगायुर्नरकायुरनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षणप्रकृतिषट्करहितं शेषं द्विचत्वारिंशं शतं सत्तायां प्राप्यते । यदुक्तं **बृहत्कर्मस्तवभाष्ये**--

[2]अणतिरिनारयरहियं, बायालसयं वियाण संतम्मि ।
उवसामगस्सऽपुव्वानियट्टि सुहुमो व संतम्मि ॥ (गा० २६)

"सम्माइचउसु" त्ति सम्यक्त्वादिचतुर्षु--अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु "सत्तगखयम्मि" त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वलक्षणसप्तकक्षये सत्येकचत्वारिंशं शतमथवा सत्तायां भवति । इहाप्यथवाशब्द आवृत्त्या योज्यते । यदुक्तं **बृहत्कर्मस्तवसूत्रे**-

[3]अणमिच्छमीससम्मं, अविरयसम्माइअप्पमत्तंता । (गा० ६) इति ॥२६॥

खवगं तु पप्प चउसु वि, पणयालं नरयतिरिसुराउ विणा ।
सत्तग विणु अडतीसं, जा अनियट्टी पढमभागो ॥२७॥

---

१ तीर्थकरेण विहीनं सप्तचत्वारिंशं शतं तु सत्तायां भवति । सास्वादने तु गुणे सम्यग्मिश्रे च प्रकृतीनाम् ॥ २ अनतिर्यङ्नारकरहितं द्वाचत्वारिंशं शतं विजानीहि सत्तायाम् । उपशामकस्य अपूर्वस्याऽनिवृत्तेः सूक्ष्मस्य (अपूर्वस्येत्यादौ विभक्तिव्यत्ययात्षष्ठी) वा सत्तायाम् (अनेत्यनेनानन्तानुबन्धिचतुष्कं गृह्यते) ॥ ३ अनमिथ्यामिश्रसम्यक् अविरतसम्यक्त्वाद्यप्रमत्तान्तम् ॥ (अत्राप्यनेत्यनेनानन्तानुबन्धिचतुष्कं ।)

क्षपकं 'तुः' पुनरर्थे, 'क्षपकं पुनः 'प्रतीत्य' आश्रित्य 'चतुर्ष्वपि' अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु "पणयालं" ति पञ्चचत्वारिंशं शतमथवा भवति । अथवाशब्द इहापि सम्बध्यते। कथम् ? इत्याह--"नरयतिरिसुराउ विण" त्ति, आयुःशब्दस्य प्रत्येकं योगात् नरकायुस्तिर्यगायुः सुरायुर्विना- अन्तरेण । इदमुक्तं भवति--यो जीवो नारकतिर्यक्सुरेषु चरमं तद्भवमनुभूय मनुष्यतयोत्पन्नस्तस्य नारकतिर्यक्सुरायूं षि स्वस्वभवे व्यवच्छिन्नसत्ताकानि जातानि, पुनस्तदनवाप्तेः । उक्तं च—

[2]सुरनरयतिरियआउं, निययभवे सव्वजीवाणं । (बृ० क० स्त० गा० ६) इति ।

इयं चैतेषु गुणस्थानेषु सामान्यजीवानां सम्भवमाश्रित्य सत्ता वर्णिता, न त्वधिकृतस्तवस्तुत्यस्य चरमजिनपरिवृढस्य, अस्याः सुरनारकतिर्यगायुःसम्भवापेक्षणीयत्वाद्, जिनस्य च तदसम्भवात्, तस्यापि च प्राग्भवापेक्षया सम्भवो वाच्यः । इदमेव पञ्चचत्वारिंशं शतं सप्तकमनन्तानुबन्धिमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वाख्यं विनाऽष्टात्रिंशं शतं भवति । कियन्ति गुणस्थानानि यावद् ? इत्याह-"जा अनियट्टी पढमभागु" त्ति, इहानिवृत्तिबादराद्धाया नव भागाः क्रियन्ते, ततोऽविरते देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते निवृत्तिबादरेऽनिवृत्तिबादरस्य च प्रथमो भागस्तावदष्टात्रिंशं शतं भवति । उक्तं च—

[3]संते अडयालसयं, खवगं तु पडुच्च होइ पणयालं ।
आउतिगं नत्थि तहिं, सत्तगखीणम्मि अडतीसं ॥

(बृ० क० स्त० भा० गा० २६)

[4]पणयालं अडतीसं, अविरयसम्माउ अप्पमत्तु त्ति ।
अप्पुव्वे अडतीसं, नवरं खवगम्मि बोधव्वं ॥

अथ क्षपकश्रेणिमधिकृत्याऽनिवृत्तिबादरादिषु प्रकृतिषु सत्ता वर्ण्यते उपशमश्रेणिसत्तायास्त्विह नाधिकार इति—

थावरतिरिनिरयायवदुग थीणतिगेग विगल साहारं ।
सोलखओ दुवीससयं, बियंसि बियतियकसायंतो ॥२८॥

इहानिवृत्तिबादरस्य प्रथमे भागेऽष्टात्रिंशं शतं सत्तायां भवति । तत्र च "थावरतिरिनिरयायवदुग" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योगात् स्थावरद्विकं-स्थावरसूक्ष्मलक्षणम्, तिर्यग्द्विकं-तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीलक्षणम्, नरकद्विकं-नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणम्, आतपद्विकम्--आतपोद्यो-

---

[1] [illegible] ॥ [2] सुरनरकतिर्यगायुर्निजकभवे सर्वजीवानाम् ॥ [3] सत्तायामष्टचत्वारिंशं शतं [illegible] भवति [illegible]चत्वारिंशम्, आयुस्त्रिकं नास्ति तत्र सप्तके क्षीणेऽष्टात्रिंशम् ॥ [4] पञ्चचत्वारिंश- [illegible] इति । [illegible]ऽष्टात्रिंशं नवरं क्षपके बोद्धव्यम् ॥



'एकशतम्' एकाधिकं शतं सत्तायाम् । तत्र च "दुनिद्दखउ" त्ति निद्राप्रचलयोर्द्वयोः क्षयो भवति, ततो नवनवतिश्चरमसमये क्षीणमोहगुणस्थानस्येति शेषः । तत्र चत्वारि च तानि दर्शनानि च चतुर्दर्शनानि-चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणाख्यानि, ज्ञानानि ज्ञानावरणानि-मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानावरणलक्षणानि पञ्च, विघ्नानि-दानलाभभोगोपभोगवीर्य-विघ्नरूपाणि पञ्च, तेषामन्तो भवति ॥३०॥ ततः—

पणसीइ सजोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइगंधदुगं ।
फासट्ठ वन्नरसतणुबंधणसंघायपण निमिणं ॥३१॥

पञ्चाशीतिः सयोगिकेवलिनि सत्तायां भवति । ततः "अजोगि दुचरिमे" त्ति अयोगि-केवलिनि द्विचरमसमये इत्येतासां द्विसप्ततिप्रकृतीनां क्षयो भवति । ता एवाह—"देवखगइ-गंधदुगं" ति । द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् देवद्विकं—देवगतिदेवानुपूर्वीरूपम्, खगतिद्विकं-शुभविहायोगत्यशुभविहायोगतिरूपम्, गन्धद्विकं—सुरभिगन्धाऽसुरभिगन्धाख्यम्, "फासट्ठ" त्ति स्पर्शाष्टकं—गुरुलघुमृदुखरशीतोष्णस्निग्धरूक्षाख्यम्, "वन्नरसतणुबंधणसंघायपण" त्ति पञ्च-कशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् वर्णपञ्चकं-कृष्णनीललोहितहारिद्रशुक्लाख्यम्, रसपञ्चकं-तिक्तकटु-कषायाम्लमधुररूपम्, तनुपञ्चकम्—औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणतनुलक्षणम्, एवं तनु-नाम्ना बन्धनपञ्चकं सङ्घातनपञ्चकं च वाच्यम्, "निमिण" त्ति निर्माणमिति ॥३१॥

संघयणअथिरसंठाणछक्क अगुरुलहुचउ अपज्जत्तं ।
सायं व असायं वा, परित्तुवंगतिग सुसर नियं ॥३२॥

षट्कशब्दस्य प्रत्येकं योगात् संहननषट्कं-वज्रऋषभनाराचऋषभनाराचनाराचाऽर्धनाराच-कीलिकासेवार्तसंहननाख्यम्, अस्थिरषट्कम्—अस्थिराऽशुभदुर्भगदुःस्वराऽनादेयाऽयशःकीर्ति-रूपम्, संस्थानषट्कं-समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डलसादिवामनकुब्जहुण्डसंस्थानाख्यम्, अगुरुलघु-चतुष्कम्—अगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासाख्यम्, अपर्याप्तम्, सातं वाऽसातं वा एकतरवेदनीयं, यदनुदयावस्थम्, "परित्तुवंगतिग" त्ति त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् प्रत्येकत्रिकं—प्रत्येक-स्थिरशुभाख्यम्, उपाङ्गत्रिकम्—औदारिकवैक्रियाऽऽहारकाङ्गोपाङ्गरूपम्, सुस्वरम्, "नियं" ति नीचैर्गोत्रमिति ॥ ३२ ॥

बिसयरिखओ य चरिमे, तेरस मणुयतसतिग जसाइज्जं ।
सुभगजिणुच्च पणिंदिय सायासाएगयरछेओ ॥३३॥

इत्येतासां द्विसप्ततिप्रकृतीनामयोगिकेवलिद्विचरमसमये सत्तामाश्रित्य क्षयो भवति । ततः एवमेतस्यां [illegible] द्विसप्ततिप्रकृतयोऽपनीयन्ते शेषास्त्रयोदश प्रकृतयोऽयोगिचरमसमये

क्षीयन्ते । तथा चाह—"विसयरिखओ" त्ति स्पष्टम् । 'चः' पुनरर्थे व्यवहितसम्बन्धश्च । चरमसमये पुनः अयोगिकेवलिनस्त्रयोदशप्रकृतीनां क्षयो भवति । "मणुयतसतिग" त्ति त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् मनुजत्रिकं मनुजगतिमनुजानुपूर्वीमनुजायुर्लक्षणम् , त्रसत्रिकं त्रसबादरपर्याप्ताख्यम् , "जसाइज्जं" ति यशःकीर्तिनाम आदेयनाम सुभगम् "जिणुच्च" त्ति जिननाम उच्चैर्गोत्रम् । "पणिंदिय" त्ति पञ्चेन्द्रियजातिः सातासातयोरेकतरं तस्य च्छेदः—सत्तामाश्रित्य क्षय इति ॥ ३३ ॥ अत्रैव मतान्तरमाह—

नरअणुपुव्वि विणा वा, बारस चरिमसमयम्मि जो खविउं ।
पत्तो सिद्धिं देविंदवंदियं नमह तं वीरं ॥३४॥

'नरानुपूर्वीं विना' मनुष्यानुपूर्वीमन्तरेण वाशब्दो मतान्तरसूचको द्वादश प्रकृतीरयोगिकेवलिचरमसमये यः क्षपयित्वा सिद्धिं प्राप्तस्तं वीरं नमतेति सण्टङ्कः । अयमत्राभिप्रायः—मनुजानुपूर्व्या अयोगिद्विचरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः, उदयाभावात् , उदयवतीनां हि द्वादशानां स्तिबुकसङ्क्रमाभावात् स्वानुभावेन दलिकं चरमसमयेऽपि दृश्यत इति युक्तस्तासां चरमसमये क्षयः, आनुपूर्वीनाम्नां तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकित्वाद् भवान्तरालगतावेवोदयस्तेन भवस्थस्य नास्ति तदुदयः, तदुदयाभावाच्चायोगिद्विचरमसमये मनुजानुपूर्व्या अपि सत्ताव्यवच्छेदः, तन्मतेऽयोगिकेवलिनो द्विचरमसमये त्रिसप्ततिप्रकृतीनां चरमसमये [च] द्वादशानां क्षय इति । ततो यो भगवान् मातापित्रोर्दिवङ्गतयोः सम्पूर्णनिजप्रतिज्ञो भक्तिसम्भारभ्राजिष्णुरोचिष्णुलोकान्तिकत्रिदशसञ्जन्मभिः पुष्पमाणवकैरिव "[1]सव्वजगज्जीवहियं भयवं तित्थं पवत्तेहि"(आव० नि० गा० २१५) इत्यादिवचोभिर्निवेदिते निष्क्रमणसमये संवत्सरं यावत् निरन्तरं स्थूरचामीकरधारासारैः प्रावृषेण्यधाराधर इवामुद्रदारिद्र्यसन्तापप्रसरमवनीमण्डलस्योपशमय्य परस्परमहमहमिकया समायातसुरासुरनरोरगनायकनिकरैः "जय जीव नन्द क्षत्रियवरवृषभ !" इत्यादिवचनरचनया स्तूयमानः सम्प्राप्य ज्ञातखण्डवनं प्रतिपन्ननिरवद्यचारित्रभारः साधिकां द्वादशसंवत्सरीं यावत् परीषहोपसर्गवर्गसंसर्गमुग्रमधिसह्य परमसितध्यानाऽकुण्ठकुठारधारया सकलघनघातिवनखण्डखण्डनमखण्डमाधाय निर्मलाऽविकलकेवलवलावलोकितनिखिललोकालोकः श्रीगौतमप्रभृतिमुनिपुङ्गवानां तत्त्वमुपदिश्य संसारसरितः सुखं सुखेन समुत्तरणाय भव्यजनानां धर्मतीर्थमुपदर्श्याऽयोगिकेवलिचरमसमये त्रयोदश प्रकृतीर्द्वादश प्रकृतीर्वा क्षपयित्वा 'सिद्धिं' परमानन्दरूपां प्राप्तः, तं 'नमत' प्रणमत 'वीरं श्रीवर्धमानस्वामिनम् , किंविशिष्टम् ? 'देवेन्द्रवन्दितं' देवानां भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानामिन्द्राः—स्वामिनो देवेन्द्रास्तैर्वन्दितः

१ सर्वजगज्जीवहितं भगवन् तीर्थं प्रवर्तय ॥

शशधरकरनिकरविमलतरगुणगणोत्कीर्तनेन स्तुतः शिरसा च प्रणतः । "वन्द्यं स्तुत्यभिवाद-नयोः" इति वचनात्, यद्वा पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् देवेन्द्रेण-देवेन्द्रसूरिणा आचा-र्येण श्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीकेण वन्दितः सकलकर्मक्षयलक्षणाऽसाधारणगुण-सङ्कीर्तनेन स्तुतः कायेन च प्रणत इति । 'नमत' इति प्रेरणायां पञ्चम्यन्तं क्रियापदम्, तत्र श्रोतॄणां कथञ्चिदनाभोगवशतः प्रमादसम्भवेऽप्याचार्येण नोद्विजितव्यम्, किन्तु मृदुमधुर-वचोभिः शिक्षानिबन्धनैः श्रोतॄणां मनांसि प्रह्लाद्य यथार्हं सन्मार्गप्रवृत्तिरुपदेष्टव्या इति ज्ञापना-र्थम् । यदाह प्रवचनोपनिषद्वेदी भगवान् हरिभद्रसूरिः—

[1]अणुवत्तणाइ सेहा, पायं पावंति जुग्गयं परमं ।
रयणं पि गुणुक्करिसं, उवेइ सोहम्मणगुणेणं ॥ (पञ्चव० गा० १७)
इत्थ य पमायखलिया, पुव्वब्भासेण कस्स व न हुंति ।
जो तेऽवणेइ सम्मं, गुरुत्तणं तस्स सफलं ति ॥ (पञ्चव० गा० १८)
को नाम सारहीणं, स हुज्ज जो भद्दवाइणो दमए ।
दुट्ठे वि य जो आसे, दमेइ तं सारहिं विंति ॥ (पञ्चव० गा० १९)इति ॥३४॥

॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितायां स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकायां सत्ताधिकारः समाप्तः ॥

॥ तत्समाप्तौ च समाप्ता लघुकर्मस्तवटीका ॥

सत्ताधिकारमेनं, विवृण्वता यन्मयाऽर्जितं सुकृतम् ।
निःशेषकर्मसत्तारहितस्तेनास्तु लोकोऽयम् ॥



१ अनुवर्तनया शिक्षकाः प्रायः प्राप्नुवन्ति योग्यतां परमाम् । रत्नमपि गुणोत्कर्षमुपैति शोधकगुणेन ॥ अत्र च प्रमादस्खलितानि पूर्वाभ्यासेन कस्य वा न भवन्ति? । यस्तानि अपनयति सम्यग् गुरुत्वं तस्य सफलमिति ॥ को नाम सारथीनां स भवेद् यो भद्रवाजिनो दमयेत् ? । दुष्टानपि च योऽश्वान् दमयति तं सारथिं ब्रुवते ॥



॥ अर्हम् ॥

तपागच्छीयश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितः

बन्धस्वामित्वनामा तृतीयः कर्मग्रन्थः ।

सावचूरिकः

सम्यग् बन्धस्वामित्वदेशकं वर्धमानमानम्य ।
बन्धस्वामित्वस्य, व्याख्येयं लिख्यते किञ्चित् ॥

इह स्वपरोपकाराय यथार्थाभिधानं बन्धस्वामित्वप्रकरणमारिप्सुराचार्यो मङ्गलादिप्रतिपादिकां गाथामाह—

बंधविहाणविमुक्कं, वंदिय सिरिवद्धमाणजिणचंदं ।
गइयाईसुं वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं ॥ १ ॥

व्याख्या–इह प्रथमार्धेन मङ्गलं द्वितीयार्धेनाऽभिधेयं साक्षादुक्तम् । प्रयोजनसम्बन्धौ तु सामर्थ्यगम्यौ । तत्र बन्धः–कर्मपरमाणूनां जीवप्रदेशैः सह सम्बन्धस्तस्य विधानं–मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिर्निर्वर्तनं बन्धविधानं तेन[1] विमुक्तः स तथा तं बन्धविधानविमुक्तं वन्दित्वा श्रीवर्धमानजिनचन्द्रम् 'वक्ष्ये' अभिधास्ये 'समासतः' संक्षेपतो न विस्तरेण, किम् ? इत्याह–'बन्धस्वामित्वं' बन्धः–कर्माणूनां जीवप्रदेशैः सह सम्बन्धस्तस्य स्वामित्वम्–आधिपत्यं जीवानामिति गम्यते । केषु ? "गइयाईसु" ति गतिरादिर्येषां तानि गत्यादीनि, आदिशब्दाद् इन्द्रियादिपरिग्रहः, तेषु गत्यादिषु मार्गणास्थानेषु ।

अत्र चेयं मार्गणास्थानप्रतिपादिका बृहद्बन्धस्वामित्वगाथा—

गइ १ इंदिए य २ काए ३, जोए ४ वेए ५ कसाय ६ नाणे य ७ ।
संजम ८ दंसण ९ लेसा १०, भव ११ सम्मे १२ सन्नि १३ आहारे १४ ॥ (गा० २)

तत्र गतिश्चतुर्धा–नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिरिति १ । इन्द्रियं स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रभेदात् पञ्चधा, इन्द्रियग्रहणेन च तदुपलक्षिता एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रिया गृह्यन्ते २ । कायः षोढा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदात् ३ । योगः पञ्चदशधा-सत्यमनोयोगः १ असत्यमनोयोगः २ सत्यासत्यमनोयोगः ३ असत्यामृषामनोयोगः ४ सत्यवाग्योगः ५ असत्यवाग्योगः ६ सत्यासत्यवाग्योगः ७ असत्यामृषावाग्योगः ८ वैक्रियकाययोगः ९ आहारककाययोगः १० औदारिककाययोगः ११ वैक्रियमिश्रकाययोगः १२ आहारक-

---

१ ०त विमुक्कं वन्दि० क० ग० घ० ॥

मिश्रकाययोगः १३ औदारिकमिश्रकाययोगः १४ कार्मणकाययोगः १५ इति ४ । वेदस्त्रिधा—स्त्रीवेदः पुरुषवेदो नपुंसकवेदश्च ५ । कषायाः क्रोधमानमायालोभाः ६ । ज्ञानं पञ्चधा—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानम् अवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानं च, ज्ञानग्रहणेन चाऽज्ञानमपि तत्प्रतिपक्षभूतमुपलक्ष्यते, तच्च त्रिविधम्—मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानं चेति ज्ञानमार्गणास्थानमष्टधा ७ । 'संयमः' चारित्रं तच्च पञ्चधा -सामायिकं छेदोपस्थापनं परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसम्परायं यथाख्यातं च, संयमग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतो देशसंयमोऽसंयमश्च सूच्यत इति संयमः सप्तधा ८ । दर्शनं चतुर्विधम्—चक्षुर्दर्शनम् अचक्षुर्दर्शनम् अवधिदर्शनं केवलदर्शनं च ९ । लेश्या षोढा—कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या च १० । भव्यः—तथारूपानादिपारिणामिकभावात् सिद्धिगमनयोग्यः, भव्यग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतोऽभव्योऽपि गृह्यते ११ । सम्यक्त्वं त्रिधा—क्षायोपशमिकम् औपशमिकं क्षायिकं च, सम्यक्त्वग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं सासादनं मिश्रं च परिगृह्यते १२ । संज्ञी—विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानसहितेन्द्रियपञ्चकसमन्वितः, तत्प्रतिपक्षभूतः सर्वोऽप्येकेन्द्रियादिरसंज्ञी सोऽपि संज्ञिग्रहणेन सूचितो द्रष्टव्यः १३ । आहारयति ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतममाहारमित्याहारकः, तत्प्रतिपक्षभूतोऽनाहारकः १४ । ननु ज्ञानादिषु किमर्थमज्ञानादिप्रतिपक्षग्रहणं कृतम् ?, उच्यते—चतुर्दशस्वपि मार्गणास्थानेषु प्रत्येकं सर्वसांसारिकसत्त्वसङ्ग्रहार्थमिति ।

उक्तरूपेषु गत्यादिषु बन्धस्वामित्वं वक्ष्ये । तत्र बन्धं च प्रतीत्य विंशत्युत्तरं प्रकृतिशतमधिक्रियते । तथाहि—ज्ञानावरणे उत्तरप्रकृतयः पञ्च, दर्शनावरणे नव, वेदनीये द्वे, मोहे सम्यक्त्वमिश्रवर्जा षड्विंशतिः, आयुषि चतस्रः, नाम्नि भेदान्तरसम्भवेऽपि सप्तषष्टिः, गोत्रे द्वे, अन्तराये पञ्च, सर्वमीलने विंशत्युत्तरं शतमिति एतच्च प्राक् सविस्तरं कर्मविपाके भावितमेव ॥ १ ॥ सम्प्रति विंशत्युत्तरशतमध्यगतानामेव वक्ष्यमाणार्थोपयोगित्वेन प्रथमं कियतीनामपि प्रकृतीनां सङ्ग्रहं पृथक्करोति—

जिण सुरविउवाहारदु, देवाउ य नरयसुहुमविगलतिगं ।
एगिंदि थावराऽऽयव, नपु मिच्छं हुंड छेवट्ठं ॥ २ ॥

अण मज्झागिइ संघयण, कुखग निय इत्थि दुहगथीणतिगं ।
उज्जोय तिरिदुगं तिरिनराउ नरउरलदुग रिसहं ॥३॥

व्याख्या—जिननाम १ सुरद्विकं—सुरगतिसुरानुपूर्वीरूपं ३ वैक्रियद्विकं—वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणम् ५ आहारकद्विकम्—आहारकशरीरं तदङ्गोपाङ्गं च ७ देवायुष्कं च ८ नरकत्रिकं—नरकगतिनरकानुपूर्वीनरकायुष्करूपं ११ सूक्ष्मत्रिकं—सूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणलक्षणं

४ विकलत्रिकं—द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयः १७ एकेन्द्रियजातिः १८ स्थावरनाम १९ आतप-
नाम २० नपुंसकवेदः २१ मिथ्यात्वं २२ हुण्डसंस्थानं २४ सेवार्तसंहननम् २४ ॥ २ ॥

"अण" त्ति अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाः २८ 'मध्याकृतयः' मध्यमसंस्थानानि-
न्यग्रोधपरिमण्डलं सादि वामनं कुब्जं चेति ३२ मध्यमसंहननानि—ऋषभनाराचं नाराचम्
अर्धनाराचं कीलिका चेति ३६ "कुखग" त्ति अशुभविहायोगतिः ३७ नीचैर्गोत्रं ३८ स्त्रीवेदः
३९ दुर्भगत्रिकं—दुर्भगदुःस्वराऽनादेयरूपं ४२ स्त्यानर्द्धित्रिकं—निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्या-
नर्द्धिलक्षणम् ४५ उद्योतनाम ४६ तिर्यग्द्विकं—तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपम् ४८ तिर्यगायुः
४९ नरायुः ५० नरद्विकं—नरगतिनरानुपूर्वीलक्षणम् ५२ औदारिकद्विकम्—औदारिकशरीर-
मौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम च ५४ वज्रऋषभनाराचसंहननम् ५५ इति पञ्चपञ्चाशत्प्रकृतिसङ्ग्रहः ॥३॥

अथैनस्य प्रकृतिसङ्ग्रहस्य यथास्थानमुपयोगं दर्शयन् मार्गणास्थानानां प्रथमं गतिमार्गणा-
स्थानमाश्रित्य बन्धः प्रतिपाद्यते—

सुरइगुणवीसवज्जं, इगसउ ओहेण बंधहिं निरया ।
तित्थ विणा मिच्छि सयं, सासणि नपुचउ विणा छनुई ॥४॥

व्याख्या—"जिन सुरविउवाहार" (गा० २) इत्यादिगाथोक्ताः क्रमेण सुरद्विकाद्ये-
[illegible] शेषमेकोत्तरशतमोघेन नारका बध्नन्ति । अयमत्राभिप्रायः—
[illegible] कर्मप्रकृतिविंशत्युत्तरशतमध्याद् मुक्त्वा शेषस्यैको-
[illegible] सामान्यतो बन्धः, सुरद्विकाद्येकोनविंशतिप्रकृतीनां तु
[illegible] । सामान्येन नरकगतौ बन्धमभिधाय सम्प्रति तस्यामेव
[illegible] दर्शयति—"तित्थ विणा" इत्यादि । प्रागुक्तमेकोत्त-
[illegible] गुणस्थानके शतं भवति । एतच्च शतं नपुंसकवेदमिथ्यात्व-
[illegible] विना सासादनगुणस्थानके षण्णवतिर्नारकाणां बन्धे ॥४॥

[illegible] मीसे, बिसयरि सम्मंमि जिणनराउजुया ।
इय [illegible] पंकाइसु तित्थयरहीणो ॥५॥

[illegible] प्रकृतीर्विना मिश्रगुणस्थाने भवति ।
[illegible] गुणस्थानके द्विसप्ततिः । 'इति' एवं बन्धमाश्रित्य [illegible]
[illegible] द्रष्टव्यः । [illegible]
[illegible] —[illegible]
[illegible] तीर्थकरनामकर्म नारकाणां [illegible]

ततस्तत्र सामान्येन शतम्, मिथ्यादृशां च शतम्, सासादनानां षण्णवतिः, मिश्राणां सप्ततिः, अविरतसम्यग्दृष्टीनामेकसप्ततिः । इह सामान्यपदेऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने च रत्नप्रभादिभङ्गस्तीर्थकरनाम्ना हीन उक्तः । मिथ्यादृष्ट्यादिषु त्रिषु गुणस्थानेषु पुनस्तस्य प्रागेवाऽपनीतत्वात् तदवस्थ एव ॥५॥

अजिणमणुआउ ओहे, सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे ।
इगनवई सासाणे, तिरिआउ नपुंसचउवज्जं ॥६॥

व्याख्या–रत्नप्रभादिनरकत्रयसामान्यबन्धाधिकृतैकोत्तरशतमध्याज्जिननाममनुजायुषी मुक्त्वा शेषा नवनवतिरोघबन्धे सप्तमपृथिव्यां नारकाणां भवति । सैव नवनवतिर्नरगतिनरानुपूर्वीरूपनरद्विकोच्चैर्गोत्रे विना षण्णवतिर्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने भवति । सैव षण्णवतिस्तिर्यगायुर्नपुंसकवेदमिथ्यात्वहुण्डसंस्थानसेवार्तसंहननवर्जिता एकनवतिः सासादने सप्तम्यां नारकाणाम् ॥६॥

अणचउवीसविरहिया, सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे ।
सतरसउ ओहि मिच्छे, पज्जतिरिया विणु जिणाहारं ॥ ७ ॥

व्याख्या–प्रागुक्ता एकनवतिरनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतिभिर्विरहिता नरकद्विकोच्चैर्गोत्राभ्यां च सहिता सप्ततिर्भवति, सा च "मीसदुगे" त्ति मिश्राऽविरतगुणस्थानद्वये द्रष्टव्या । इह सप्तम्यां नरायुस्तावद् न बध्यत एव, तद्बन्धाभावेऽपि च मिश्रगुणस्थानकेऽविरतगुणस्थानके च नरद्विकं बध्यते । अयमर्थः–नरद्विकस्य नरायुषा सह नावश्यं प्रतिबन्धो यदुत यत्रैवायुर्बध्यते तत्रैव गत्यानुपूर्वीद्वयमपि तस्याऽन्यदाऽपि बन्धात्; मिथ्यात्वसासादनयोस्तु कलुषाध्यवसायत्वेन नरद्विकं न बध्यते ।

एवं नरकगतौ बन्धस्वामित्वं प्रतिपाद्य अथ तिर्यग्गतौ तदाह—"सतरसउ" इत्यादि । विंशत्युत्तरशतं जिननामाऽऽहारकद्विकं च विना शेषं सप्तदशोत्तरशतमोघे मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने च पर्याप्तास्तिर्यञ्चो बध्नन्ति । अत्रौघे तिरश्चां सत्यपि सम्यक्त्वे भवप्रत्ययादेव तथाविधाध्यवसायाभावात् तीर्थकरनाम्नः सम्पूर्णसंयमाभावाद् आहारकद्विकस्य च बन्धो नास्तीति हृदयम् ॥ ७ ॥

विणु नरयसोल सासणि, सुराउ अण एगतीस विणु मीसे ।
ससुराउ सयरि सम्मे, बीयकसाए विणा देसे ॥ ८ ॥

व्याख्या–प्रागुक्तं सप्तदशोत्तरशतं नरकत्रिकादिषोडशप्रकृतीर्विना एकोत्तरशतं सासादने पर्याप्ततिरश्चाम् । एतदेवैकोत्तरशतं सुरायुरनन्तानुबन्ध्याद्येकत्रिंशत्प्रकृतीश्च विना एकोनसप्ततिः सा मिश्रगुणस्थाने बध्यते । अयं भावार्थः–" [1]सम्मामिच्छद्दिट्ठी आउबंधं पि न

[1] सम्यग्मिथ्यादृष्टिरायुर्बन्धमपि न करोति ॥

करेइ ।'' इति वचनाद् अत्र सुरनरायुषोरबन्धः, अनन्तानुबन्ध्यादयश्च पञ्चविंशतिप्रकृतयः सासादन एव व्यवच्छिन्नबन्धाः, तथा मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च मिश्रगुणस्थानकस्था अविरतसम्यग्दृष्टिवद् देवार्हमेव बध्नन्ति, तेन नरद्विकौदारिकद्विकवज्रऋषभनाराचानामपि बन्धाभावः । एवंच एकोनसप्ततिः सुरायुषा सहिता सप्ततिः 'सम्यक्त्वे' अविरतगुणस्थानके भवति । सप्ततिः 'द्वितीयकषायैः' अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभैर्विना षट्षष्टिर्देशविरतगुणस्थाने बध्यते ॥८॥

अथ तिर्यग्गतिबन्धाधिकार एव ग्रन्थलाघवार्थं मनुष्यगतावपि बन्धं दर्शयति–

इय चउगुणेसु वि नरा, परमजया सजिण ओहु देसाई ।
जिणइक्कारसहीणं, नवसउ अपजत्तनिरियनरा ॥ ९ ॥

व्याख्या–यथा पर्याप्ततिरश्चां मिथ्यादृष्ट्यादिषु चतुर्षु गुणस्थानेषु सप्तदशोत्तरशतादिको बन्ध उक्तः 'इति' एवं पर्याप्तनरा अपि चतुर्षु मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतिगुणस्थानेषु सप्तदशोत्तरशतादिबन्धस्वामिनो मन्तव्याः । 'परम्' अयताः अविरतसम्यग्दृष्टयः पर्याप्तनराः "सजिण" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिपर्याप्ततिर्यग्बन्धयोग्यसप्ततिर्जिननामसहिता एकसप्ततिस्तां बध्नन्ति, जिननामकर्मणोऽपि बन्धकत्वात् तेषाम् । "ओहु देसाइ" त्ति देशविरतादिगुणस्थानकेषु गुणस्थानकाऽनाश्रयणे च पर्याप्तनराणां पुनः 'ओघः' सामान्यो बन्धोऽवसेयः । स च कर्मस्तवोक्त एव । यतः कर्मस्तवग्रन्थे सामान्यतो गुणस्थानकेषु बन्धः प्रतिपादितो न पुनः किञ्चन गत्यादिमार्गणास्थानमाश्रित्य, स चात्र बहुषु स्थानेषूपयोगीति मूलतोऽपि दर्श्यते–

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीस सयं ।
तित्थयराहारगदुगवज्जं मिच्छम्मि सतरसयं ॥
नरयतिग जाइथावरचउ हुंडाऽऽयवछिवट्ठनपुमिच्छं ।
सोलंतो इगहियसउ, सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ॥

अणमज्झागिइसंघयणचउ निउज्जोय कुखगइत्थि त्ति ।
पणवीसंतो मीसे, चउसयरि दुआउय अबंधा ॥
सम्मे सगसयरि जिणाउबंधि वइर नरतिग बियकसाया ।
उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी तियकसायंतो ॥

तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिर दुग अजस अस्सायं ।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥
गुणसट्ठि अप्पमत्ते, सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुगं बंधे ॥

अडवन्न अपुव्वाइमि, निद्दुगंतो छपन्न पणभागे ।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ, तसनव उरल विणु तणुवंगा ॥
समचउर निमिण जिण वन्नअगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो ।
चरिमे छवीसबंधो, हासरईकुच्छभयभेओ ॥
अनियट्टिभागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबंधो ।
पुमसंजलणचउण्हं, कमेण छेओ सतर सुहुमे ॥
चउदंसणुच्चजसनाणविग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ ।
तिसु सायबंध छेओ, सजोगि बंधंतुणंतो य ॥ (गाथा ३–१२) इति ।

एतासां दशानामपि गाथानां व्याख्यानं कर्मस्तवटीकातो बोद्धव्यम् । इत्योघबन्धः । इह कर्मस्तवोक्तगुणस्थानकबन्धाद् नरतिरश्चां मिश्राऽविरतगुणस्थानकयोरयं विशेषः—कर्मस्तवे मिश्रगुणस्थानके चतुःसप्ततिः अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके सप्तसप्ततिः तिरश्चां पुनर्मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रऋषभनाराचसंहननरूपप्रकृतिपञ्चकस्य बन्धाभावाद् मिश्रगुणस्थानके एकोनसप्ततिः, अविरतसम्यग्दृष्टौ सुरायुःक्षेपे सप्ततिः, नराणां तु मिश्रे एकोनसप्ततिः, अविरतसम्यग्दृष्टौ तीर्थंकरनामसुरायुःक्षेपे एकसप्ततिः । अस्यां च एकसप्ततौ यदि मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रऋषभनाराचसंहननप्रकृतिपञ्चकं नरायुष्कं च क्षिप्यते तदा कर्मस्तवोक्ता सप्तसप्ततिर्भवत्यविरतगुणस्थानके । तथा कर्मस्तवे देशविरतगुणस्थानके या सप्तषष्टिरुक्ता सा तिरश्चां जिननामरहिता षट्षष्टिर्देशविरतगुणस्थाने भवति । प्रमत्तादीनि गुणस्थानानि तिरश्चां न सम्भवन्ति । नराणां तु सर्वगुणस्थानकसम्भवेन देशविरतादिगुणस्थानकेषु कर्मस्तवोक्त एव सर्वोऽप्यन्यूनाधिक ओघबन्धो वाच्यः । ततश्च पर्याप्तनराणां सामान्येन बन्धे विंशत्युत्तरशतं प्रकृतीनां प्राप्यते, तेषामेव मिथ्यादृशां सप्तदशोत्तरशतम्, सासादनानामेकोत्तरशतम्, मिश्राणामेकोनसप्ततिः, अविरतसम्यग्दृष्टीनामेकसप्ततिः, देशविरतानां सप्तषष्टिः, प्रमत्तानां त्रिषष्टिः, अप्रमत्तानामेकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वा, निवृत्तिबादराणां प्रथमे भागेऽष्टपञ्चाशत्, भागपञ्चके षट्पञ्चाशत्, सप्तमभागे षड्विंशतिः, अनिवृत्तिबादराणामाद्ये भागे द्वाविंशतिः, द्वितीये एकविंशतिः, तृतीये विंशतिः, चतुर्थे एकोनविंशतिः, पञ्चमेऽष्टादश च, सूक्ष्मसम्परायाणां सप्तदश, उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिनामेका सातलक्षणा प्रकृतिर्बन्धे प्राप्यते, अयोगिनां तु बन्धाभावः । एवमन्यत्राप्योघबन्धः कर्मस्तवानुसारेण भावनीयः । उक्तस्तिर्यग्नराणां पर्याप्तानां बन्धः, अथ तेषामेवापर्याप्तानां तमाह—"जिणइक्कारसहीणं" इत्यादि । यदेव नराणामोघबन्धे विंशत्युत्तरशतं तदेव जिननामाद्येकादशप्रकृतिहीनं शेषं नवोत्तरशतमपर्याप्ततिर्यग्नरा ओघतो मिथ्यात्वे च बध्नन्ति । यद्यपि करणापर्याप्तो देवो मनुष्यो वा जिननामकर्म सम्यक्त्व-

प्रत्ययेन बध्नाति तथापीह नराणां लब्ध्याऽपर्याप्तत्वेन विवक्षणाद् न जिननामबन्धः ॥९॥

तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ च बन्धस्वामित्वमुक्तम् । साम्प्रतं देवगतिमधिकृत्य तदुच्यते—

निरय व्व सुरा नवरं, ओहे मिच्छे इगिंदितिगसहिया ।
कप्पदुगे वि य एवं, जिणहीणो जोइभवणवणे ॥ १० ॥

व्याख्या—सुरा अपि नारकवद् ओघतो विशेषतश्च तद्बन्धस्वामिनोऽवगन्तव्याः । नवर- मयं विशेषः—ओघे मिथ्यात्वगुणस्थानके च बन्धमाश्रित्य सुरा एकेन्द्रियादित्रिकसहिता द्रष्टव्याः । ततोऽयमर्थः—यो नारकाणामेकोत्तरशतरूप ओघबन्धः स एवैकेन्द्रियजातिस्था- वरनामाऽऽतपनामप्रकृतित्रयसहितः सुराणां सामान्यतो बन्धश्चतुरग्रशतम्, तदेव मिथ्यात्वे जिननामरहितं त्र्युत्तरशतम्, एतदेवैकेन्द्रियजातिस्थावराऽऽतपनपुंसकवेदमिथ्यात्वहुण्डसेवार्त- लक्षणप्रकृतिसप्तकहीनं सासादने षण्णवतिः, षण्णवतिरेवानन्तानुबन्ध्यादिषड्विंशतिप्रकृतिरहिता मिश्रे सप्ततिः, सैव जिननामनरायुष्कयुता द्विसप्ततिस्तामविरतसम्यग्दृष्टयो देवा बध्नन्तीति सामान्यदेवगतिबन्धः । साम्प्रतं देवविशेषनामोच्चारणपूर्वकं तमाह—"कप्पदुगे" इत्यादि । 'कल्पद्विकेऽपि' सौधर्मेशानाख्यदेवलोकद्वयेऽपि 'एवं' सामान्यदेवबन्धवद् बन्धो द्रष्टव्यः । तथाहि—सामान्येन चतुरग्रशतम्, मिथ्यादृशां त्र्यग्रशतम्, सासादनानां षण्णवतिः, मिश्राणां सप्ततिः, अविरतानां द्विसप्ततिः । देवौघो जिननामकर्महीनो ज्योतिष्कभवनपति- व्यन्तरदेवेषु तद्देवीषु च विज्ञेयः, जिनकर्मसत्ताकस्य तेषूत्पादाभावेन तत्र तद्बन्धासम्भवात्, ततः सामान्यतस्त्र्यधिकशतम्, मिथ्यात्वेऽपि त्र्यधिकशतम्, सासादने षण्णवतिः, मिश्रे सप्ततिः, अविरते एकसप्ततिः ॥ १० ॥

रयणु व्व सणंकुमाराइ आणयाई उज्जोयचउरहिया ।
अपज्जतिरिय व्व नवसयमिगिंदिपुढविजलतरुविगले ॥ ११ ॥

व्याख्या—सनत्कुमाराद्याः सहस्रारान्ता देवा रत्नप्रभादिप्रथमपृथिवीत्रयनारकवद् बन्धमा- श्रित्य द्रष्टव्याः । तद्यथा—सामान्येनैकाग्रशतम्, मिथ्यादृशां शतम्, सासादनानां षण्णवतिः, मिश्राणां सप्ततिः, अविरतानां द्विसप्ततिः । आनताद्या ग्रैवेयकनवकान्ता देवा अपि उद्योत- [illegible] प्रकृतिचतुष्करहिता रत्नप्रभादिनारकवदेव द्रष्टव्याः, ततः [illegible] न बध्नन्ति, मिथ्यादृशः षण्णवतिम्, सासादना द्विनवतिम्, मिश्रेऽविरते [illegible] सम्पूर्ण एव रत्नप्रभादिभङ्गः, ततो मिश्राः सप्ततिं अवि- [illegible] गुणस्थानत्रयाभावात् पञ्चानुत्तरविमानदेवा एतामेवा- [illegible] नेयमिति । उक्तं देवगतौ बन्धस्वामित्वम्,

तद्गमनात् गतित्रसमार्गणा समाप्ता। साम्प्रतमिन्द्रियेषु कायेषु च तदारभ्यते—"अपज्ज" इत्यादि। अपर्याप्ततिर्यग्वत् नवोत्तरशतमेकेन्द्रियपृथ्वीजलतरुविकलेषु द्रष्टव्यम्। अयमर्थः—विंशत्युत्तरशतमध्यात् जिननामाद्येकादशप्रकृतीर्मुक्त्वा शेषं नवोत्तरशतमेकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाः पृथ्वीजलवनस्पतिकायाश्च सामान्यपदिनो मिथ्यादृशश्च बध्नन्ति ॥ ११ ॥

अथैतेषामेव सासादनगुणस्थाने बन्धमाह—

छनवइ सासणि विणु सुहुमतेर केइ पुण बिंति चउनवइं।
तिरियनराऊहिं विणा, तणुपज्जत्तिं न ते जंति ॥ १२ ॥

व्याख्या—प्रागुक्तं नवोत्तरशतं सूक्ष्मत्रिकादिप्रकृतित्रयोदशकं मिथ्यात्व एव व्यवच्छिन्नबन्धमिति कृत्वा तद् विना षण्णवतिः सासादने एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपृथ्वीजलवनस्पतिकायानां भवति। केचित् पुनराचार्या ब्रुवते चतुर्नवतिं तिर्यग्नरायुष्काभ्यां विना, यतस्त एकेन्द्रियविकलेन्द्रियादयः सासादनाः सन्तस्तनुपर्याप्तिं न यान्ति अतस्ते तिर्यग्नरायुरबन्धकाः। अयं भावार्थः—तिर्यग्नरायुषोस्तनुपर्याप्त्या पर्याप्तैरेव बध्यमानत्वात् पूर्वमतेन शरीरपर्याप्त्युत्तरकालमपि सासादनभावस्येष्टत्वाद् आयुर्बन्धोऽभिप्रेतः, इह तु प्रथममेव तन्निवृत्तेर्नेष्ट इति षण्णवतिः। तिर्यग्नरायुषी विना मतान्तरेण चतुर्नवतिः ॥ १२ ॥

उक्त एकेन्द्रियादीनां बन्धः, अथ पञ्चेन्द्रियाणां त्रसकायिकानां च तमाह—

ओहु पणिंदि तसे गइतसे जिणिकार नरतिगुच्च विणा।
मणवयजोगे ओहो, उरले नरभंगु तम्मिस्से ॥ १३ ॥

व्याख्या—'ओघः' विंशत्युत्तरशतादिलक्षणः कर्मस्तवोक्तः पञ्चेन्द्रियेषु त्रसकायिकेषु चावगन्तव्यः। तद्यथा—सामान्यतो विंशत्युत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम्, मिश्रे चतुःसप्ततिः, अविरते सप्तसप्ततिः, देशे सप्तषष्टिः, प्रमत्ते त्रिषष्टिः, अप्रमत्ते एकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वा, निवृत्तिबादरे प्रथमभागेऽष्टपञ्चाशत्, भागपञ्चके षट्पञ्चाशत्, सप्तमभागे षड्विंशतिः, अनिवृत्तिबादरे आद्ये भागे द्वाविंशतिः, द्वितीये एकविंशतिः, तृतीये विंशतिः, चतुर्थे एकोनविंशतिः, पञ्चमेऽष्टादश, सूक्ष्मे सप्तदश, शेषगुणस्थानत्रये सातस्यैकस्य बन्धः, अयोगिनि बन्धाभावः। गतित्रसाः—तेजोवायुकायास्तेषु जिननामाद्येकादशप्रकृतीर्नरत्रिकमुच्चैर्गोत्रं च विना विंशत्युत्तरं शतं शेषं पञ्चोत्तरं शतं बन्धे लभ्यते, सासादनादिभावस्तु नैषां सम्भवति। यत उक्तम्—

"[1]न हु किंचि लभिज्ज सुहुमतसा ॥

१ न हि किंचिल्लभन्ते सूक्ष्मत्रसाः॥

सूक्ष्मत्रसास्तेजोवायुकायजीवा इति । एवमुक्त इन्द्रियेषु कायेषु च बन्धः, सम्प्रति योगेषु तं प्रतिपादयन्नाह–"मणवयजोगे" इत्यादि । सूचकत्वात् सूत्रस्य सत्यादिमनोयोगचतुष्के तत्पूर्वके सत्यादिवाग्योगचतुष्के च ओघबन्धो विंशत्युत्तरशतादिलक्षणः कर्मस्तवोक्तो ज्ञेयः । तत्र सत्यादिस्वरूपं त्विदम्–सत्यं यथा अस्ति जीवः सदसद्रूपो देहमात्रव्यापीत्यादिरूपतया यथावस्थितवस्तुतत्त्वचिन्तनपरम् । सत्यविपरीतं त्वसत्यम् । मिश्रस्वभावं सत्यासत्यम्, यथा–धवखदिरपलाशादिमिश्रेषु बहुष्वशोकवृक्षेष्वशोकवनमेवेदमिति विकल्पनापरम् । तथा यद् न सत्यं नापि मृषा तदसत्यामृषा, इह विप्रतिपत्तौ सत्यां यद् वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञमतानुसारेण विकल्प्यते, यथा अस्ति जीवः सदसद्रूप इत्यादि तत किल सत्यं परिभाषितम् । यत् पुनर्विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञमतोत्तीर्णं विकल्प्यते, यथा नास्ति जीव एकान्तनित्यो वा इत्यादि तद् असत्यम् । यत् पुनर्वस्तुप्रतिष्ठाशामन्तरेण स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरम्, यथा हे देवदत्त ! घटमानय, गां देहि मह्यमित्यादिचिन्तनपरं तद् असत्यामृषा; इदं स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरत्वाद् न यथोक्तलक्षणं सत्यं भवति नापि मृषेति । इदमपि व्यवहारनयमतेन द्रष्टव्यम्, निश्चयनयमतेन तु विप्रतारणादिबुद्धिपूर्वकमसत्येऽन्तर्भवति, अन्यथा तु सत्ये । "उरले" त्ति मनोवाग्योगपूर्वके औदारिककाययोगे नरभङ्गः "इय चउगुणेसु वि नरा" (गा० ६) इत्यादिना प्रागुक्तस्वरूपः । यथा—ओघे विंशत्युत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम्, मिश्रे एकोनसप्ततिः, अविरते एकसप्ततिः इत्यादि । मनोरहितवाग्योगे विकलेन्द्रियभङ्गः । केवलकाययोगे त्वेकेन्द्रियभङ्गः । "तम्मिस्से" त्ति 'तन्मिश्रे' औदारिकमिश्रयोगे ॥१३॥

सम्प्रति बन्ध उच्यते—

आहारछग विणोहे, चउदससउ मिच्छि जिणपणगहीणं ।
सासणि चउनवइ विणा, नरतिरिआऊ सुहुमतेर ॥१४॥

व्याख्या–विंशत्युत्तरशतमाहारकादिप्रकृतिषट्कं विना शेषं चतुर्दशाधिकशतमोघबन्धे प्राप्यते । अयं भावार्थः–औदारिकमिश्रं कार्मणेन सह, तच्चापर्याप्तावस्थायां केवलिसमुद्घातावस्थायां वा; उत्पत्तिदेशे हि पूर्वभवादनन्तरमागतो जीवः प्रथमसमये कार्मणेनैव केवलेनाहारयति, ततः परमौदारिकस्याप्यारब्धत्वादौदारिकेण कार्मणमिश्रेण यावद् शरीरस्य निष्पत्तिः; केवलिसमुद्घातावस्थायां द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु कार्मणेन मिश्रमौदारिकमिति । अपर्याप्तावस्थायां च नाहारकादिषट्कं बध्यते इति तन्निषेधः । केवलिसमुद्घातावस्थायां पुनरेकस्य सातस्यैव बन्धोऽभिधास्यते । एतदेव चतुर्दशोत्तरशतमौदारिकमिश्रकाययोगी मिथ्यात्वे जिननामादिप्रकृतिपञ्चकहीनं शेषं नवोत्तरं शतं बध्नाति । स एव सासादने चतुर्नवतिं बध्नाति,

वोत्तरशतमध्याद् मुक्त्वा नरतिर्यगायुर्षी सूक्ष्मत्रिकादित्रयोदशप्रकृतीश्च, नरतिर्यगायुपोर्-
र्याप्तत्वेन सासादने बन्धाभावात्, सूक्ष्मत्रिकादित्रयोदशकस्य तु मिथ्यात्व एव व्यवच्छिन्न-
न्धतया च ॥१४॥

अणचउवीसाइ विणा, जिणपणजुय सम्मि जोगिणो सायं ।

विणु तिरिनराउ कम्मे, वि एवमाहारदुगि ओहो ॥१५॥

व्याख्या—प्रागुक्ता चतुर्नवतिरनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतीर्विना जिननामादिप्रकृति-
पञ्चकयुता च पञ्चसप्ततिस्तामौदारिकमिश्रकाययोगी सम्यक्त्वे बध्नाति । तथा सयोगिन औदा-
रिकमिश्रस्थाः केवलिसमुद्घाते द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु सातमेवैकं बध्नन्ति । एवं गुणस्थानक-
चतुष्क एवौदारिकमिश्रयोगो लभ्यते नान्यत्र । अथ कार्मणयोगादिषु बन्धः प्रतिपाद्यते
"विणु तिरि" इत्यादि । यथौदारिकमिश्रे बन्धविधिरोघतो विशेषतश्चोक्तः एवं कार्मण-
योगेऽपि तिर्यग्नरायुषी विना वाच्यः, कार्मणकाययोगे तिर्यग्नरायुषोर्बन्धाभावात् । कार्मणकाय-
योगो ह्यपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च जीवस्य मिथ्यात्वसासादनाऽविरतगुणस्थानकत्रयो-
पेतस्य लभ्यते । उक्तं च—

'मिच्छे सासाणे वा, अविर[२]यसम्मम्मि अहव गहियम्मि ।

जंति जिया परलोए, सेसिक्कारस गुणे मुत्तुं ॥ (प्रव० गा० १३०६)

तथा सयोगिनः केवलिसमुद्घाते तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु चेति गुणस्थानकचतुष्टय एव
कार्मणकाययोगो नान्यत्र । ततो विंशत्युत्तरशतमध्याद् आहारकषट्कतिर्यग्नरायुःप्रकृतीर्मुक्त्वा
शेषस्य द्वादशोत्तरशतस्य सामान्येन कार्मणकाययोगे बन्धः । तदेव द्वादशोत्तरशतं जिनादि-
पञ्चकं विना शेषं सप्तोत्तरशतं कार्मणकाययोगे मिथ्यादृशो बध्नन्ति । तदेव सप्तोत्तरशतं
सूक्ष्मादित्रयोदश प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषां चतुर्नवतिं कार्मणयोगे सासादना बध्नन्ति । चतुर्नवतिरे-
वाऽनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतीर्विना जिननामादिप्रकृतिपञ्चकसहिता च पञ्चसप्ततिस्तां
कार्मणयोगेऽविरता बध्नन्ति । सयोगिनस्तु कार्मणकाययोगे सातमेवैकं बध्नन्ति । तथाऽऽहा-
रककाययोगश्चतुर्दशपूर्वविदः, आहारकमिश्रकाययोगश्च तस्यैवाऽऽहारकशरीरस्य प्रारम्भसमये
परित्यागसमये च औदारिकेण सह द्रष्टव्यः । ततः 'आहारकद्विके' आहारकशरीरतन्मिश्रलक्षणे
योगद्वये ओघः कर्मस्तवोक्तः प्रमत्तगुणस्थानवर्ती त्रिषष्टिप्रकृतिबन्धरूपः । एतत् काययोगद्वयं
हि लब्ध्युपजीवनात् प्रमत्तस्यैव न त्वप्रमत्तस्य ॥१५॥

---

१ मिथ्यात्वे सासादने वाऽविरतसम्यक्त्वेऽथवा गृहीते । यान्ति जीवाः परलोकं शेषैकादश गुणस्था-
नानि मुक्त्वा ॥ २ °यसम्मम्मि अहिगए अहवा । प्रवचनसारोद्धारे त्वेवं पाठः ॥

अन्तिमे सयोगिकेवल्ययोगिकेवल्याख्ये गुणस्थानके भवतः, अत्रौघे एकस्य सातस्य बन्धः सयोगिनि च, अयोगिनि शून्यम् । तथा मतिश्रुतयोः 'अवधिद्विके' च अवधिज्ञानावधिदर्शन-लक्षणे 'अयतादीनि' अविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणमोहपर्यवसानानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति, सयोग्यादौ केवलोत्पत्त्या मत्यादेरभावात्, तत्रौघतोऽप्रमत्तादिष्वित्यादिमत आहारक-द्विकस्यापि बन्धसम्भवाद् एकोनाशीतिः, विशेषचिन्तायामविरतादिगुणस्थानकेषु कर्मस्तवोक्तः सप्तसप्तत्यादिमितो बन्धो द्रष्टव्यः ॥१८॥

अड उवसमि चउ वेयगि, खइए इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
सुहुमि सठाणं तेरस, आहारगि नियनियगुणोहो ॥ १९ ॥

व्याख्या–इह 'अयतादि' इति पदं सर्वत्र योज्यते । ततोऽयतादीनि उपशान्तमोहान्तान्यष्टौ गुणस्थानान्यौपशमिकसम्यक्त्वे भवन्ति, तत्र सामान्यत औपशमिकसम्यक्त्वे वर्तमानानां देव-मनुजायुषोर्बन्धाभावात् पञ्चसप्ततिः, अविरतेऽपि पञ्चसप्ततिः, देशे सुरायुर्बन्धात् षट्षष्टिः, प्रमत्ते द्वाषष्टिः, अप्रमत्ते अष्टपञ्चाशद् इत्यादि यावदुपशान्ते एकः । 'वेदके' क्षायोपशमि-कापरपर्यायेऽयतादीन्यप्रमत्तान्तानि चत्वारि गुणस्थानकानि, तत्रौघे एकोनाशीतिः, अविरते सप्तसप्ततिः, देशे सप्तषष्टिः, प्रमत्ते त्रिषष्टिः, अप्रमत्ते एकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वा । अतः परमु-पशमश्रेणावौपशमिकं क्षपकश्रेणौ पुनः क्षायिकम्, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं तूदीर्णमिथ्यात्व-क्षयेऽनुदीर्णमिथ्यात्वोपशमे च भवतीति । उक्तं च–

[1]मिच्छत्तं जमुइण्णं, तं खीणं अणुइयं तु उवसंतं ।
मीसीभावपरिणयं, वेइज्जंतं खओवसमं ॥ (विशेषा० गा० ५३२)

तथा क्षायिकसम्यक्त्वे अयतादीनि अयोगिकेवलिपर्यवसानानि एकादश गुणस्थानकानि, तत्रौघे एकोनाशीतिः, अविरते सप्ततिः, देशे सप्तषष्टिः इत्यादि यावदयोगिनि शून्यम् । क्षायिकसम्यक्त्वस्वरूपं त्विदम्—

[2]खीणे दंसणमोहे, तिविहम्मि वि भवनियाणभूयम्मि ।
निप्पच्चवायमउलं, सम्मत्तं खाइयं होइ ॥ (श्राव० प्र० गा० ४८)

तथा 'मिथ्यात्वत्रिके' मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रलक्षणे 'देशे' देशविरते 'सूक्ष्मसम्पराये' 'स्वस्थानं' निजस्थानम् । अयमर्थः-मिथ्यात्वमार्गणास्थाने मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, सास्वादन-

१ मिथ्यात्वं यद् उदीर्णं तत् क्षीणमनुदितं तूपशान्तम् । मिश्रीभावपरिणतं वेद्यमानं क्षयोपशमम् ॥
२ क्षीणे दर्शनमोहे त्रिविधेऽपि भवनिदानभूते । निष्प्रत्यपायमतुलं सम्यक्त्वं क्षायिकं भवति ॥

मार्गणास्थाने सासादनगुणस्थानम् , मिश्रमार्गणास्थाने मिश्रगुणस्थानम् , देशसंयममार्गणास्थाने देशविरतगुणस्थानम् , सूक्ष्मसम्परायसंयमे सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् । अत्र च स्वस्वगुणस्थानीयो बन्धः, यथा — मिथ्यात्वे ओघतो विशेषतश्च सप्तदशोत्तरशतम् , एवं सासादने एकोत्तरशतम् , मिश्रे चतुःसप्ततिः, देशे सप्तषष्टिः । सूक्ष्मे सप्तदश । आहारकद्वारे—त्रयोदश गुणस्थानानि मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगिकेवल्यन्तानि आहारके जीवे लभ्यन्ते, अयोगी त्वनाहारकः । तत्रौघतः विंशत्युत्तरशतम् , मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम् , इत्यादि यावत् सयोगिनि सातरूपैका प्रकृतिर्बन्धे भवति । एवं वेदादिषु मार्गणास्थानेषु गुणस्थानकान्युपदर्श्य सम्प्रति तेषु बन्धातिदेशमाह—"नियनियगुणोहो" त्ति निजनिजगुणौघः, एतेषु वेदादिषु यानि स्वस्वगुणस्थानानि तेष्वोघः कर्मस्तवोक्तो बन्धो द्रष्टव्य इत्यर्थः । स च यथास्थानं भावित एव ॥ १९ ॥

यच्च प्रागुक्तम् "औपशमिकसम्यक्त्वे गुणस्थानानि" इति तत्र कश्चिद्विशेषमाह—

परमुवसमि वट्टंता, आउ न बंधंति तेण अजयगुणे ।
देवमणुआउहीणो, देसाइसु पुण सुराउ विणा ॥ २० ॥

व्याख्या—सर्वत्र वेदादिषु निजनिजगुणौघो वाच्य इत्युक्तं परमौपशमिकेऽयं विशेषः—औपशमिके वर्तमाना जीवा आयुर्न बध्नन्ति तेनाऽयतगुणस्थानके देवमनुजायुर्भ्यां हीन ओघो वाच्यः, नरकतिर्यगायुषोः प्रागेव मिथ्यात्वसासादनयोरपनीतत्वान्न तद्धीनता । तथा 'देशादिषु' देशविरतप्रमत्ताऽप्रमत्तेषु पुनरोघः सुरायुर्विना ज्ञेयः । औपशमिकसम्यक्त्वं तूपशमश्रेण्यां प्रथमसम्यक्त्वलाभे वा भवति जीवस्य । उक्तं च—

[1]उवसामगसेढिगयस्स होइ उवसामियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥

(विशेषा० गा० ५२९, २७३५)

ननु क्षायोपशमिकौपशमिकसम्यक्त्वयोः कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते—क्षायोपशमिके मिथ्यात्वदलिकवेदनं विपाकतो नास्ति प्रदेशतः पुनर्विद्यते, औपशमिके तु प्रदेशतोऽपि नास्तीति विशेषः ॥ २० ॥ उक्तं वेदादिषु बन्धस्वामित्वम् । अथ लेश्याद्वारमुच्यते—

ओहे अट्ठारसयं, आहारदुगूण आइलेसतिगे ।
तं तित्थोणं मिच्छे, साणाइसु सव्वहिं ओहो ॥ २१ ॥

---

[1] उपशमकश्रेणिगतस्य भवति औपशमिकं तु सम्यक्त्वम् । यो वाऽकृतत्रिपुञ्जोऽक्षपितमिथ्यात्वो लभते सम्यक्त्वम् ॥

व्याख्या—'आद्यलेश्यात्रिके' कृष्णनीलकापोतलेश्यात्रये वर्तमाना जीवाः 'ओघे' सामान्येन विंशत्युत्तरशतमाहारकद्विकोनं जातमष्टादशाधिकशतं तद् बध्नन्ति, आहारकद्विकस्य शुभलेश्याभिर्बध्यमानत्वात् । 'तद्' अष्टादशाधिकशतं तीर्थकरनामोनं सप्तदशोत्तरशतं मिथ्यात्वगुणस्थानके बध्नन्ति । सासादनादिषु गुणस्थानकेषु पुनः 'सर्वत्र' लेश्याषट्केऽपि 'ओघः' सामान्यबन्धो द्रष्टव्यः । ततोऽत्र सासादनमिश्राऽविरतेष्वोघः कर्मस्तवोक्तः ॥ २१ ॥

तेऊ नरयनवूणा, उज्जोयचउ नरयबार विणु सुक्का ।
विणु नरयबार पम्हा, अजिणाहारा इमा मिच्छे ॥ २२ ॥

व्याख्या—विंशत्युत्तरशतं नरकत्रिकादिप्रकृतिनवकोनं तेजोलेश्यायामोघत एकादशोत्तरं शतं बध्यते, कृष्णाद्यशुभलेश्याप्रत्ययत्वाद् नरकत्रिकादिप्रकृतिनवकबन्धस्य । इदमेवैकादशोत्तरशतं जिननामाहारकद्विकरहितं शेषमष्टोत्तरशतं मिथ्यात्वे बध्यते । सासादनादिषु षट्सु गुणस्थानकेषु ओघः । विंशत्युत्तरशतमध्याद् उद्योतादिचतुष्कं नरकत्रिकादिद्वादशकं च मुक्त्वा शेषं चतुरुत्तरशतमोघतः शुक्ललेश्यायां बध्यते, उद्योतादिप्रकृतीनां तिर्यग्नरकप्रायोग्यत्वेन देवनरकप्रायोग्यबन्धकैः शुक्ललेश्यावद्भिरबध्यमानत्वात् । एतदेव चतुरुत्तरं शतं जिननामाहारकद्विकरहितं शेषमेकोत्तरशतं मिथ्यात्वे बध्यते । सासादने तदीयैकोत्तरशतरूपौघबन्धाद् उद्योतादिप्रकृतिचतुष्टयापसारेण शेषाः सप्तनवतिर्बध्यते । मिश्रादिषु एकादशगुणस्थानकेषु तदवस्थः स्वस्वगुणस्थानीयो बन्धो द्रष्टव्यः । विंशत्युत्तरशतमध्याद् नरकत्रिकादिप्रकृतिद्वादशकं विना शेषमष्टोत्तरशतं पद्मलेश्यायामोघतो बध्यते, तल्लेश्यावतां सनत्कुमारादिदेवानां तिर्यक्प्रायोग्यस्य उद्योतादिप्रकृतिचतुष्कस्य बन्धसम्भवाद् नात्र तद्बन्धाभावः । एतदेवाष्टोत्तरशतं जिननामाहारकद्विकरहितं शेषं पञ्चोत्तरशतं मिथ्यात्वे बध्यते । सासादनादिषु षट्सु गुणस्थानकेषु यथासम्भवमेकोत्तरशतादिरूपः स्वस्वौघबन्धो द्रष्टव्यः । "अजिणाहारा इमा मिच्छे" त्ति प्रथमलेश्यात्रिकस्य "ओहे अट्ठारसयं" (गा० २१) इत्यादिना निर्धारितत्वेनेमास्तेजःपद्मशुक्ललेश्या मिथ्यात्वगुणस्थानके जिननामाहारकद्विकरहिता विज्ञेयाः, तेजोलेश्यादिषु नरकनवकाद्यूनो यः सामान्यबन्धः प्रतिपादितः स मिथ्यात्वगुणस्थानके जिनादिप्रकृतित्रयरहितो विज्ञेय [illegible] दर्शितमेव ॥ २२ ॥ सम्प्रति भव्यादिद्वाराण्यभिधीयन्ते—

सव्वगुणभव्वसन्निसु, ओहु अभव्वा असन्नि मिच्छसमा ।
सासणि असन्नि सन्नि व्व कम्मणभंगो अणाहारे ॥ २३ ॥

[illegible] सर्वगुणस्थानकेषु भव्ये संज्ञिनि च मार्गणास्थाने सर्वगुणस्थानकौघः कर्म[illegible] [illegible] अभव्या असंज्ञिनश्च मिथ्यात्वगुणस्थानकसमाः । अयमर्थः—यथा

मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतबन्धः **कर्मस्तव** उक्तस्तथाऽभव्योऽसंज्ञी च सामान्यतो मिथ्यात्वे च सप्तदशोत्तरशतं बध्नाति । सासादने पुनरसंज्ञी संज्ञिवत् , एकोत्तरशतबन्धक इत्यर्थः । अनाहारके तु मार्गणास्थाने कार्मणकाययोगभङ्गः "विणु तिरिनराउ कम्मे वि" (गा० १५) इत्यादिना योगमार्गणास्थाने प्रतिपादितोऽवगन्तव्यः, कार्मणकाययोगस्थस्यैव संसारिणोऽनाहारकत्वात् । कार्मणभङ्गश्चायं विंशत्युत्तरशतमध्यादाहारकद्विकदेवायुर्नरकत्रिकतिर्यग्नरायुःप्रकृत्यष्टकं मुक्त्वा शेषस्य द्वादशोत्तरशतस्याऽनाहारके सामान्येन बन्धः । तथा जिननाम सुरद्विकं वैक्रियद्विकं च द्वादशोत्तरशतमध्याद् मुक्त्वा शेषस्य सप्तोत्तरशतस्यानाहारके मिथ्यादृष्टौ बन्धः। तथा सूक्ष्मादित्रयोदश प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषायाश्चतुर्नवतेः सासादनस्थेऽनाहारके बन्धः । तथाऽनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतीश्चतुर्नवतेर्मध्याद् मुक्त्वा शेषायाः सप्ततेर्जिननामसुरद्विकवैक्रियद्विकयुक्तायाः पञ्चसप्ततेरविरतेऽनाहारके बन्धः । तथा सयोगिनि केवलिसमुद्घाते तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेष्वनाहारक एकस्याः सातप्रकृतेर्बन्धः ॥ २३ ॥

अथ प्राग् यदुक्तं लेश्याद्वारे—"साणाइसु सव्वहिं ओहो" त्ति (गा०२१)"सासादनादिषु गुणस्थानेषु सर्वत्र लेश्याषट्के ओघो द्रष्टव्यः" इति, तत्र न ज्ञायत आदिशब्दात् कस्यां लेश्यायां कियन्ति गुणस्थानानि गृह्यन्ते ? इत्यतो लेश्यासु गुणस्थानकान्युपदर्शयन् प्रकरणसमर्थनां प्रकरणज्ञानोपायं चाह—

> **तिसु दुसु सुक्काइ गुणा, चउ सग तेर त्ति बंधसामित्तं ।**
> **देविंदसूरिलिहियं, नेयं कम्मत्थयं सोउं ॥ २४ ॥**

व्याख्या—'तिसृषु' आद्यासु कृष्णनीलकापोतलेश्यासु "चउ" इत्यादिना यथाक्रमं सम्बन्धात् 'चत्वारि' मिथ्यात्वसासादनमिश्राविरतरूपाण्याद्यानि गुणस्थानानि प्राप्यन्ते, एतद्गुणस्थानचतुष्के परिणामविशेषतः षण्णामपि लेश्यानां भावात् । 'द्वयोः' तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यात्वादीनि सप्त गुणस्थानानि, तयोरप्रमत्तगुणस्थानकान्तमपि यावद्भावात् । शुक्ललेश्यायां त्रयोदश मिथ्यात्वादीनि गुणस्थानानि, तस्या मिथ्यादृष्टिगुणस्थानात् प्रभृति यावत् सयोगिकेवलिगुणस्थानकं तावदपि भावात् । अयोगी त्वलेश्यः । इह च लेश्यानां प्रत्येकमसङ्ख्येयानि लोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि, ततो मन्दाध्यवसायस्थानापेक्षया शुक्ललेश्यादीनामपि मिथ्यादृष्ट्यादौ सम्भवो न विरुध्यते । तथा कृष्णादिलेश्यात्रयं यदिहाविरतगुणस्थानकान्तमुक्तं तद् बृहद्बन्धस्वामित्वानुसारेण, **षडशीतिके** तु तस्य प्रमत्तगुणस्थानकान्तं यावदभिहितत्वात् । तथाहि—

[1]लेसा तिन्नि पमत्तं, तेऊपम्हा उ अप्पमत्तंता ।
सुक्का जाव सजोगी, निरुद्धलेसो अजोगि त्ति ॥

(जिनवल्लभीयषडशीति गा० ७३)

तत्त्वं तु श्रुतधरा विदन्ति इति । प्रतिपादितं गत्यादिषु बन्धस्वामित्वम्, तत्प्रतिपादनाच्च समर्थितं बन्धस्वामित्वप्रकरणम् । इतिशब्दः परिसमाप्तौ । बन्धस्वामित्वमेतत् 'ज्ञेयं' बोद्धव्यं, कर्मस्तवं श्रुत्वा, अत्र बहुषु स्थानेषु तदुक्तबन्धातिदेशद्वारेण भणनात् ॥ २४ ॥

एतद्ग्रन्थस्य टीकाभूत्, परं क्वापि न साऽऽप्यते ।
स्थानस्याऽशून्यताहेतोरतोऽलेख्यवचूर्णिका ॥

॥ इति बन्धस्वामित्वावचूरिः समाप्ता ॥

ग्रन्थाग्रम् ४२६ अक्षराणि २८



[1] लेश्यास्तिस्रः प्रमत्तं [यावत्] तेजःपद्मे तु अप्रमत्तान्तम् । शुक्ला यावत् सयोगिनं निरुद्धलेश्योऽयोगीति ।

॥ अर्हं ॥

श्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचितस्वोपज्ञटीकोपेतः

षडशीतिनामा चतुर्थः कर्मग्रन्थः ।

॥ ॐ नमः प्रवचनाय ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

नमिय जिणं जियमग्गणगुणठाणुवओगजोगलेसाओ ।
बंधप्पबहूभावे, संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥ १ ॥

[illegible]

मभिहितानि इति वा [illegible] ॥ "उवओग" त्ति उपयोजनमुपयोगः–बोधरूपो [illegible], यद्वा [illegible]–वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते इत्युपयोगः, कर्मणि घञ्, यदि वा [illegible] परिच्छेदं प्रति जीवेनेत्युपयोगः, "पुंनाम्नि घः" (सि० ५–३–१३०) [illegible] जीवतत्त्वभूतोऽवबोध एवोपयोगो मन्तव्यः ३। "जोग" [illegible] [illegible] परिस्पन्द इति यावत्, यदि वा युज्यते–धावनवल्गनादिक्रियासु व्यापार्यते इति योगः, कर्मणि घञ्, यद्वा युज्यते– सम्बध्यते धावनवल्गनादिक्रियासु जीवेनेति "पुंनाम्न०" (सि० ५-३-१३०) इति करणे घप्रत्ययः, स च मनोवाक्कायलक्षणसहकारिकारणभेदात् त्रिविधो वक्ष्यमाणस्वरूपः ५। "लेसाउ" त्ति लिश्यते–श्लिष्यते कर्मणा सहात्माऽनयेति लेश्या, कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मनः शुभाशुभपरिणामविशेषः। यदुक्तम्—

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः ।
स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्तते ॥ इति ।

सा च षोढा–कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या। आसां च स्वरूपं जम्बूफलखादकषट्पुरुषीदृष्टान्तेन ग्रामघातनप्रचलितचौरषट्कदृष्टान्तेन वा एवमवसेयम् –

[1]जह जंबुपायवेगो, सुपक्कफलभरियनमियसाहग्गो ।
दिट्ठो छहिँ पुरिसेहिं, ते बिंति जंबू भक्खेमो ॥
किह पुण ते ? बितेगो, आरुहणे हुज्ज जीयसंदेहो ।
तो छिंदिऊण मूलाउ पाडिउं ताइं भक्खेमो ॥
बीयाऽऽह इद्दहेणं, किं छिन्नेण तरुणा उ अम्हं ? ति ।
साहा महल्ल छिंदह, तइओ बेई पसाहा उ ॥
गुच्छे चउत्थओ पुण, पंचमओ बेइ गिण्हह फलाइं ।
छट्ठो उ बेइ पडिया, एए च्चिय खायहा वित्तुं ॥
दिट्ठंतस्सोवणओ, जो बेइ तरुं तु छिंद मूलाओ ।
सो वट्टइ किण्हाए, साह महल्लाउ नीलाए ॥

१ यथा जम्बूपादप एकः सुपक्वफलभरितनतशाखाग्रः । दृष्टः षड्भिः पुरुषैस्ते ब्रुवते जम्बूः भक्षयामः ॥ कथं पुनस्ताः [भक्षयामः] ? ब्रवीत्येकः आरोहणे भवेद् जीवसन्देहः। ततश्छित्त्वा मूलतः पातयित्वा ताः भक्षयामः ॥ द्वितीय आह एतावता किं छिन्नेन तरुणा तु अस्माकम् ? इति। शाखा महतीश्छिन्त तृतीयो ब्रवीति प्रशाखांस्तु ॥ गुच्छांश्चतुर्थकः पुनः पञ्चमो ब्रवीति गृह्णीत फलानि। षष्ठस्तु ब्रवीति पतिताः एताः एव खादत गृहीत्वा ॥ दृष्टान्तस्योपनयो यो ब्रवीति तरुं तु छिन्त मूलतः। स वर्तते कृष्णायां शाखा महतीर्नील्याम् ॥

[1]हणह पसाहा काऊ, गुच्छा तेऊ फलाइँ पम्हाए ।
पडियाइँ सुक्कलेसा, अहवा अन्नं इमाऽऽहरणं ॥
चोरा गामवहत्थं, विणिग्गया एगु बेइ घाएह ।
जं पिच्छह तं सव्वं, दुपयं च चउप्पयं वा वि ॥
बीओ माणुस पुरिसे, य तईओ साउहे चउत्थो उ ।
पंचमओ जुज्झंते, छट्ठो पुण तत्थिमं भणइ ॥
इक्कं ता हरह धणं, बीयं मारेह मा कुणह एयं ।
केवल हरह धणं ती, उवसंहारो इमो तेसिं ॥
सव्वे मारेह त्ती, वट्टइ सो किण्हलेसपरिणामे ।
एवं कमेण सेसा, जा चरमो सुक्कलेसाए ॥

अस्यैव दृष्टान्तद्वयस्य सङ्ग्रहगाथा:—

[2]मूलं साह पसाहा, गुच्छ फले छिंद पडियभक्खणया ।
सव्वं माणुस पुरिसा, साउह जुज्झंत धणहरणा ॥

आसु च लेश्यासु यो जीवो यस्यां लेश्यायां वर्तते स प्रदर्श्यते—

[3]वेरेण निरणुकंपो, अइचंडो दुम्मुहो खरो फरुसो ।
किण्हाइ अणज्झप्पो, वहकरणरओ य तक्कालं ॥
मायाडंभे कुसलो, उक्कोडालुद्ध चवलचलचित्तो ।
मेहुणतिव्वाभिरओ, अलियपलावी य नीलाए ॥
मूढो आरंभपिओ, पावं न गणेइ सव्वकज्जेसु ।
न गणेइ हाणिवुड्ढी, कोहजुओ काउलेसाए ॥

---

१ भनक्ति प्रशाखाः कापोती गुच्छांस्तैजसी फलानि पद्मायां । पतितानि शुक्ललेश्या अथवाऽन्यदिदमाहरणम् ॥ चौरा ग्रामवधार्थं विनिर्गता एको ब्रवीति घातयत । यं प्रेक्षध्वं तं सर्वं द्विपदं च चतुष्पदं वाऽपि ॥ द्वितीयो मनुष्यान् पुरुषांश्च तृतीयः सायुधांश्चतुर्थस्तु । पञ्चमको युध्यमानान् षष्ठः पुनस्तत्रेदं भणति ॥ एकं तावद् हरथ धनं द्वितीयं मारयथ मा कुरुतैवम् । केवलं हरत धनं उपसंहारोऽयं तेषाम् ॥ सर्वान् मारयतेति वर्तते स कृष्णलेश्यापरिणामे । एवं क्रमेण शेषा यावत् चरमः शुक्ललेश्यायाम् ॥

२ मूलं शाखाः प्रशाखा गुच्छान् फलानि छिन्त पतितभक्षणता । सर्वं मनुष्यान् पुरुषान् सायुधान् युध्यमानान् [छिन्त] धनहरणम् ॥ ३ वैरेण निरनुकम्पः अतिचण्डः दुर्मुखः खरः परुषः । कृष्णायामनध्यात्मः वधकरणरतश्च तत्कालम् ॥ मायादम्भे कुशल उत्कोचालुब्धश्चपलचलचित्तः । मैथुनतीव्राभिरतः अलीकप्रलापी च नीलायाम् ॥ मूढ आरम्भप्रियः पापं न गणयति सर्वकार्येषु । न गणयति हानिवृद्धी क्रोधयुतः कापोतलेश्यायाम् ॥

[1]दक्खो संवरसीलो, उज्जुभावो दाणसीलगुणजुत्तो।
धम्मम्मि होइ बुद्धी, अरूसणो तेउलेसाए॥
सत्ताणुकंपो य थिरो, दाणं खलु देइ सव्वजीवाणं।
अइकुसलबुद्धिमंतो, धिइमंतो पम्हलेसाए॥
धम्मम्मि होइ बुद्धि, पावं वज्जेइ सव्वकज्जेसु॥
आरंभेसु न रज्जइ, अपक्खवाई य सुक्काए॥ ॥ ३ ॥

ततो जीवस्थानानि च मार्गणास्थानानि च गुणस्थानानि च उपयोगाश्च योगाश्च लेश्याश्चेति द्वन्द्वे द्वितीया शस्। “बंध” त्ति मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवद् निरन्तरं पुद्गलनिचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मनः क्षीरनीरवद् वह्न्ययःपिण्डवद्वा अन्योन्यानुगमाभेदात्मकः सम्बन्धो बन्धः १। उपलक्षणत्वाद् उदयोदीरणासत्तानां परिग्रहः। तत्र तेषामेव कर्मपुद्गलानां यथास्वस्थितिबद्धानामपवर्तनादिकरणकृते स्वाभाविके वा स्थित्यपचये सत्युदयसमयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदयः २। तेषामेव कर्मपुद्गलानामकालप्राप्तानां जीवसामर्थ्यविशेषाद् उदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा ३। तेषामेव कर्मपुद्गलानां बन्धसङ्क्रमाभ्यां लब्धात्मलाभानां निर्जरणसङ्क्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सति सद्भावः सत्ता ४। यद्वा बन्ध इति पदैकदेशेऽपि ‘भामा’--सत्यभामा’ इति न्यायेन पदप्रयोगदर्शनाद् बन्धहेतवो मिथ्यात्वाऽविरतिकषाययोगरूपा वक्ष्यमाणा गृह्यन्ते ७। “अप्पबहू” त्ति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य अल्पबहुत्वं गत्यादिरूपमार्गणास्थानादीनां परस्परं स्तोकभूयस्त्वम् ८। “भाव” त्ति जीवाजीवानां तेन तेन रूपेण भवनानि–परिणमनानि भावा औपशमिकादयः ९। ततो बन्धश्च अल्पबहुत्वं च भावाश्चेति द्वन्द्वे द्वितीयाबहुवचनं शस्। सूत्रे च “अप्पबहू” इत्यत्र दीर्घत्वं “दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ” (सि० ८–१–४) इति प्राकृतसूत्रेण। “संखिज्जाइ” त्ति सङ्ख्यायते–चतुष्पल्यादिप्ररूपणया परिमीयत इति सङ्ख्येयम्, आदिशब्दादसङ्ख्येयानन्तकपरिग्रहः १०। तत एवं जीवस्थानादिकमनन्तकपर्यवसानं द्वारकलापमत्र वक्ष्य इत्यनेनाभिधेयमाह। कथं वक्ष्ये ? इत्याह–“किमवि” त्ति किमपि किञ्चित्–स्वल्पं न विस्तरवत्, दुःषमानुभावेनापचीयमानमेधायुर्बलादिगुणानामैदंयुगीनजनानां विस्तराभिधाने सत्युपकारासम्भवात्, तदुपकारार्थं चैष शास्त्रारम्भप्रयासः। एतेन सङ्क्षिप्तरुचिसत्त्वानाश्रित्य प्रयोजनमाचष्टे। सम्बन्धस्त्वर्थापत्तिगम्यः, स चोपायोपेयलक्षणः साध्यसाधनलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा स्वयमभ्यूह्यः।

---

१ दक्षः संवरशील ऋजुभावो दानशीलगुणयुक्तः। धर्मे भवति बुद्धिः अरोषणः तेजोलेश्यायाम्॥ सत्त्वानुकम्पकश्च स्थिरः दानं खलु ददाति सर्वजीवेभ्यः। अतिकुशलबुद्धिमान् धृतिमान् पद्मलेश्यायाम्॥ धर्मे भवति बुद्धिः पापं वर्जयति सर्वकार्येषु। आरम्भेषु न रजति अपक्षपाती च शुक्लायाम्॥

इह च मार्गणास्थानगुणस्थानादयः सर्वे पदार्था न जीवपदार्थमन्तरेण विचारयितुं शक्यन्त इति प्रथमं जीवस्थानग्रहणम् १ । जीवाश्च प्रपञ्चतो निरूप्यमाणा गत्यादिमार्गणास्थानैरेव निरूपयितुं शक्यन्त इति तदनन्तरं मार्गणास्थानग्रहणम् २ । तेषु च मार्गणास्थानेषु वर्तमाना जीवा न कदाचिदपि मिथ्यादृष्ट्याद्यन्यतमगुणस्थानकविकला भवन्तीति ज्ञापनाय मार्गणास्थानकानन्तरं गुणस्थानकग्रहणम् ३ । अमूनि च गुणस्थानकानि परिणामशुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षरूपाण्युपयोगवतामेवोपपद्यन्ते नान्येषामाकाशादीनाम् , तेषां ज्ञानादिरूपपरिणामरहितत्वादिति प्रतिपत्त्यर्थं गुणस्थानकग्रहणानन्तरमुपयोगग्रहणम् ४ । उपयोगवन्तश्च मनोवाक्कायचेष्टासु वर्तमाना नियमतः कर्मसम्बन्धभाजो भवन्ति । तथा चागमः—

'जाव णं एस जीवे एयइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ खुब्भइ तं तं भावं परिणमइ ताव णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा नो णं अबंधए ।

इति ज्ञापनार्थमुपयोगग्रहणानन्तरं योगग्रहणम् ५ । योगवशाचोपात्तस्यापि कर्मणो यावद् न कृष्णाद्यन्यतमलेश्यापरिणामो जायते तावद् न तस्य स्थितिपाकविशेषो भवति, "स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण" इति वचनप्रामाण्यात् , ततो योगवशादुपात्तस्य कर्मणो लेश्याविशेषतः स्थितिपाकविशेषो भवतीति प्रतिपत्तये योगानन्तरं लेश्याग्रहणम् ६ । लेश्यावन्तश्च यथायोग्यैर्बन्धहेतुभिः कर्मबन्धोदयोदीरणासत्ताः प्रकुर्वन्तीति ज्ञापनाय लेश्यानन्तरं बन्धग्रहणम् ७ । बन्धोदयादियुक्ताश्च जीवा मार्गणास्थानाद्याश्रित्य नियमतः परस्परमल्पे वा भवेयुर्बहवो वेति निवेदनार्थं बन्धानन्तरमल्पबहुत्वग्रहणम् ८ । ते च जीवा मार्गणास्थानादिष्वल्पे वा बहवो वा भवन्तोऽवश्यं षण्णामौपशमिकादिभावानां केषुचिद् भावेषु वर्तन्त इति प्रकटनार्थमल्पबहुत्वानन्तरं भावग्रहणम् ९ । औपशमिकादिभाववतां च जीवानामल्पबहुत्वं नियमतः सङ्ख्येयकेन असङ्ख्येयकेन अनन्तकेन वा निरूपणीयमिति भावग्रहणानन्तरं सङ्ख्येयकादिग्रहणम् १० इति ।

यद्यपि चेह सामान्येनोक्तं "जीवस्थानादि वक्ष्ये" तथाप्येवं विशेषतो द्रष्टव्यम्—जीवस्थानकेषु गुणस्थानकयोगोपयोगलेश्याकर्मबन्धोदयोदीरणासत्ता वक्ष्ये, मार्गणास्थानकेषु पुनर्जीवस्थानकगुणस्थानकयोगोपयोगलेश्याऽल्पबहुत्वानि, गुणस्थानकेषु च जीवस्थानकयोगोपयोगलेश्याबन्धहेतुबन्धोदयोदीरणासत्ताऽल्पबहुत्वानि । तत्र गाथाः—

---

१ यावत् खलु एष जीव एजते व्येजते चलति स्पन्दते घट्टते क्षुभ्यति तं तं भावं परिणमते तावदष्टविधबन्धको वा सप्तविधबन्धको वा षड्विधबन्धको वा न खल्वबन्धकः ॥

'चउदसजियठाणेसु', चउदस गुणठाणगाणि १ जोगा य २ ।
उवयोग ३ लेस ४ बंधु ५ दउ ६ दीरणा ७ संत ८ अट्ठ पए ॥
चउदसमग्गणठाणेसु, मूलपएसु तिसट्ठि इयरेसु ।
जीय १ गुण २ जोगु ३ वओगा४ लेस ५ ऽप्पबहु ६ च छट्ठाणा ॥
चउदसगुणठाणेसु, जीय १ जोगु २ वओग ३ लेस ४, बंधा ५ य ।
बंधु ६ दयु ७ दीरणाओ ८, संत ९ ऽप्पबहु १० च दस ठाणा ॥ इति ॥ १ ॥

तत्र यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात् प्रथमं तावद् जीवस्थानानि निरूपयन्नाह—

इह सुहुमबायरेगिंदिबितिचउअसन्निसन्निपंचिंदी ।
अपज्जत्ता पज्जत्ता, कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥ २ ॥

'इह' अस्मिन् जगति अनेन क्रमेण चतुर्दश जीवस्थानानि प्राग्निरूपितशब्दार्थानि भवन्ति। केन क्रमेण ? इति चेद्, इत्याह-सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, एते च सर्वेऽपि प्रत्येकं पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्चेति । तत्र एकं स्पर्शनलक्षणमिन्द्रियं येषां त एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः, ते च प्रत्येकं द्वेधा—सूक्ष्मा बादराश्च । सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्माः सकललोकव्यापिनः, बादरनामकर्मोदयाद् बादराः ते च लोकप्रतिनियतदेशवर्तिनः । द्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया इति, इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रिया असंज्ञिसंज्ञिभेदभिन्नाश्च पञ्चेन्द्रियाः । तत्र द्वे स्पर्शनरसनलक्षणे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः कृमिपूतरकचन्दनकशङ्खकपर्दजलौकाप्रभृतयः । त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणरूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः कुन्थुमत्कुणयूकागर्दभेन्द्रगोपकमत्कोटकादयः ।
[illegible]

णमनहेतुः शक्तिविशेषः, सा च विषयभेदात् षोढा—आहारपर्याप्तिः १ शरीरपर्याप्तिः २ इन्द्रियपर्याप्तिः ३ उच्छ्वासपर्याप्तिः ४ भाषापर्याप्तिः ५ मनःपर्याप्तिः ६ चेति । तत्र यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः १ । यया रसीभूतमाहारं रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः २ । यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः ३ । यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय उच्छ्वासरूपतया परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः ४ । यया तु भाषाप्रायोग्यवर्गणाद्रव्यं गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः ५ । यया पुनर्मनोयोग्यवर्गणादलिकं गृहीत्वा मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः ६ । एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियादीनां संज्ञिनां च चतुःपञ्चषट्सङ्ख्या भवन्ति । यदभाणि—

[1]आहारसरीरिंदिय, पज्जत्ती आणपाणभासमणे ।
चत्तारि पंच छ प्पि य, एगिंदियविगलसन्नीणं ॥

पर्याप्तयो विद्यन्ते येषां ते पर्याप्ताः, "अभ्रादिभ्यः" (सि० ७-२-४६) इति मत्वर्थीयः अप्रत्ययः, स्वार्थिककप्रत्ययोपादानात् पर्याप्तकाः । ये पुनः स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिविकलास्तेऽपर्याप्तकाः, ते च द्विधा लब्ध्या करणैश्च । तत्र येऽपर्याप्तका एव सन्तो म्रियन्ते न पुनः स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयन्ते ते लब्ध्यपर्याप्तकाः, ये पुनः करणानि-शरीरेन्द्रियादीनि न तावद् निर्वर्तयन्ति अथ चावश्यं पुरस्ताद् निर्वर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्तकाः ।

इह चैवमागमः—

लब्ध्यपर्याप्तका अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते नार्वाग्, यस्मादागामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः, तच्चाऽऽहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यते । इति ॥ २ ॥

तदेवं निरूपितानि जीवस्थानानि । अथैतेष्वेव जीवस्थानेषु गुणस्थानानि प्रचिकटयिषुराह-

बायरअसन्निविगले, अपज्जि पढमबिय सन्निअपज्जत्ते ।
अजयजुय सन्निपज्जे, सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥ ३ ॥

इह चतुर्दश गुणस्थानानि भवन्ति । तद्यथा—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं १ सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं २ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् ३ अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं ४ देशविरतिगुणस्थानं ५ प्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ६ अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ७ अपूर्वकरणगुणस्थानम् ८

१ आहारशरीरेन्द्रियाणि पर्याप्तय आनप्राणभाषामनांसि । चतस्रः पञ्च षडपि च एकेन्द्रियविकलसंज्ञिनाम् ॥

अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानं ९ सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् १० उपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानं ११ क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानं १२ सयोगिकेवलिगुणस्थानम् १३ अयोगिकेवलिगुणस्थानम् १४ । एतेषामर्थलेशोऽयम् —

'जीवाइपयत्थेसु', जिणोवइट्ठेसु जा असद्दहणा ।
सद्दहणा वि य मिच्छा, विवरीयपरूवणा जा य ॥
संसयकरणं जं पि य, जं तेसु अणायरो पयत्थेसु ।
तं पंचविहं मिच्छं, तद्दिट्ठी मिच्छदिट्ठी य ॥
उवसमअद्धाएँ ठिओ, मिच्छमपत्तो तमेव गंतुमणो ।
सम्मं आसायंतो, सासायण सो मुणेयव्वो ॥
जह गुडदहीणि विसमाइभावसहियाणि हुंति मीसाणि ।
भुंजंतस्स तहोभयदिट्ठीए मीसदिट्ठीओ ॥
तिविहे वि हु सम्मत्ते, थोवा वि न विरइ जस्स कम्मवसा ।
सो अविरउ त्ति भन्नइ, देसे पुण देसविरईओ ॥
विगहाकसायनिद्दासद्दाइरओ भवे पमत्तु त्ति ।
पंचसमिओ तिगुत्तो, अपमत्तजई मुणेयव्वो ॥
अप्पुव्वं अप्पुव्वं, जहुत्तरं जो करेइ ठिइकंडं ।
रसकंडं तग्घायं, सो होइ अपुव्वकरणु त्ति ॥
विणिवट्टंति विसुद्धिं, समगपइट्ठा वि जम्मि अन्नुन्नं ।
तत्तो नियट्टिठाणं, विवरीयमओ वि अनियट्टी ॥
थूलाण लोहखंडाण वेयगो बायरो मुणेयव्वो ।
सुहुमाण होइ सुहुमो, उवसंतेहिं तु उवसंतो ॥

---

१ जीवादिपदार्थेषु जिनोपदिष्टेषु याऽश्रद्धा। श्रद्धाऽपि च मिथ्या विपरीतप्ररूपणा या च ॥ संशयकरणं [illegible] च यत्तेष्वनादरः पदार्थेषु। तत्पञ्चविधं मिथ्यात्वं तद्दृष्टिः मिथ्यादृष्टिश्च ॥ उपशमाद्धायां स्थितो मिथ्यात्वमप्राप्तस्तमेव गन्तुमनाः। सम्यक्त्वं आस्वादयन् सास्वादनो स ज्ञातव्यः॥ यथा गुडदधिनी [illegible] भावसहिते भवतो मिश्रे। भुञ्जानस्य तथोभयदृष्ट्या मिश्रदृष्टिकः॥ त्रिविधेऽपि हि सम्यक्त्वे [illegible] विरतिः यस्य कर्मवशात्। सोऽविरत इति भण्यते देशः पुनर्देशविरतेः॥ विकथाकषायनिद्रा[illegible] भवेत् प्रमत्त इति। पञ्चसमितस्त्रिगुप्तोऽप्रमत्तयतिर्ज्ञातव्यः॥ अपूर्वमपूर्वं यथोत्तरं यः करोति स्थिति[illegible] तद्घातं स भवत्यपूर्वकरण इति॥ विनिवर्तन्ते विशुद्धिं समकप्रविष्टा अपि [illegible] निवृत्तिस्थानं विपरीतमतोऽप्यनिवृत्ति॥ स्थूलानां लोभखण्डानां वेदको बादरो [illegible] सूक्ष्म उपशान्तैः तु उपशान्तः॥

[1]खीणम्मि मोहणिज्जे, खीणकसाओ सजोग जोगि त्ति (ग त्ति)।
होइ पउत्ता य तओ, अपउत्ता होइ हु अजोगी ॥
अविरयसासणमिच्छा, परभविया न उण सेसगुणठाणा।
मिच्छस्स तिन्नि भंगा, छावलियं होइ सासाणं ॥
तित्तीसयर चउत्थं, पुव्वाणं कोडि ऊण तेरसमं।
लहुपंचक्खर चरिमं, अंतमुहु सेसगुणठाणा ॥

ततो बादराश्च–बादरैकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुवनस्पतिलक्षणाः असंज्ञी च–विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानविकलः विकलाश्च–विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः बादरासंज्ञिविकलं तस्मिन् बादरासंज्ञिविकले। किंविशिष्टे? 'अपज्जि' त्ति अपर्याप्ते, कोऽर्थः? अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियेषु पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु, तथा अपर्याप्तेऽसंज्ञिनि, तथा विकलेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेष्वपर्याप्तेषु। किम्? इत्याह—"पढमबिय" त्ति इह "सव्वगुणा" इति पदाद् गुणशब्दस्याकर्षणम्, ततः प्रथमं–मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं द्वितीयं–सासादनगुणस्थानं भवति। अथ तेजोवायुवर्जनं किमर्थम्? इति चेद्, उच्यते—तेजोवायूनां मध्ये सम्यक्त्वलेशवतामपि उत्पादाभावात् सम्यक्त्वं चासादयतां सासादनभावाभ्युपगमात्।

नन्वेकेन्द्रियाणामागमे सासादनभावो नेष्यते, "[2]उभयाभावो पुढवाइएसु सम्मत्तलद्धीए" इति परमर्षिप्रणीतवचनप्रामाण्यात्, अत एवागमे एकेन्द्रिया अज्ञानिन एवोक्ताः, द्वीन्द्रियादयश्च केचिदपर्याप्तावस्थायां सासादनभावाभ्युपगमाद् ज्ञानिन उक्ताः केचिच्च तदभावाद् अज्ञानिनः, यदि पुनरेकेन्द्रियाणामपि सासादनभावः स्यात् तर्हि तेऽपि द्वीन्द्रियादिवद् उभयथाऽप्युच्येरन्, न चोच्यन्ते, यदुक्तम्—

[3]एगिंदिया णं भंते! किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! नो नाणी नियमा अन्नाणी। तथा—बेइंदिया णं भंते! किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! नाणी वि अन्नाणी वि। इत्यादि।

तत् कथमिहापर्याप्तबादरैकेन्द्रियेषु पृथिव्यम्बुवनस्पतिलक्षणेषु सासादनगुणस्थानकभाव उक्तः?, सत्यमेतत्, किन्तु मा त्वरिष्ठाः, सर्वमेतदग्रे प्रतिविधास्याम इति।

---

१ क्षीणे मोहनीये क्षीणकषायः सयोगः योगीति। भवति प्रयोक्ता च सकः अप्रयोक्ता भवत्येवायोगी ॥ अविरतसास्वादनमिथ्यात्वानि परभविकानि न पुनः शेषगुणस्थानानि। मिथ्यात्वस्य त्रयो भङ्गाः षडावलिकं भवति सास्वादनम् ॥ त्रयस्त्रिंशदतराणि चतुर्थं पूर्वाणां कोटिरूना त्रयोदशम्। लघुपञ्चाक्षरं चरममन्तर्मुहूर्त्तं शेषगुणस्थानानि ॥ २ उभयाभावः पृथिव्यादिकेषु सम्यक्त्वलब्धेः ॥ ३ एकेन्द्रियाः भदन्त! किं ज्ञानिनोऽज्ञानिनः? गौतम! न ज्ञानिनो नियमादज्ञानिनः ॥ द्वीन्द्रियाः भदन्त! किं ज्ञानिनोऽज्ञानिनः? गौतम! ज्ञानिनोऽप्यज्ञानिनोऽपि ॥

"सन्निअपज्जत्ते अजयजुय" त्ति। संज्ञिन्यपर्याप्ते तदेव पूर्वोक्तं मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षणं गुणस्थानकद्वयमयतयुतं भवति। यमनं यतं- विरतिरित्यर्थः, न विद्यते यतं यस्य सोऽयतोऽविरतसम्यग्दृष्टिरित्यर्थः, तेन युतं-संयुक्तमयतयुतम्। इदमुक्तं भवति—संज्ञिन्यपर्याप्ते त्रीणि मिथ्यादृष्टिसासादनाऽविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणानि गुणस्थानानि भवन्ति, न शेषाणि सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादीनि, तेषां पर्याप्तावस्थायामेव भावात्। "सन्निपज्जे सव्वगुण" त्ति संज्ञिनि पर्याप्ते सर्वाण्यपि मिथ्यादृष्ट्यादीनि अयोगिपर्यन्तानि गुणस्थानकानि भवन्ति, संज्ञिनः सर्वपरिणामसम्भवात्।

अथ कथं संज्ञिनः सयोग्ययोगिरूपगुणस्थानकद्वयसम्भवः तद्भावे तस्याऽमनस्कतया संज्ञित्वायोगात् ?, न, तदानीमपि हि तस्य द्रव्यमनःसम्बन्धोऽस्ति, समनस्काश्चाऽविशेषेण संज्ञिनो व्यवह्रियन्ते, ततो न तस्य भगवतः संज्ञिताव्याघातः। यदुक्तं सप्ततिकाचूर्णौ--

'मणकरणं केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो भन्नंति, मनोविन्नाणं पडुच्च ते सन्निणो न भवंति त्ति।

"मिच्छ सेसेसु" त्ति मिथ्यात्वं 'शेषेषु' भणितावशिष्टेषु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मपर्याप्तबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणेषु सप्तसु जीवस्थानकेषु मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं भवति न सासादनमपि, यतः परभवादागच्छतामेव घण्टालालान्यायेन सम्यक्त्वलेशमास्वादयतामुत्पत्तिकाल एवापर्याप्तावस्थायां जन्तूनां लभ्यते न पर्याप्तावस्थायाम्। अतः पर्याप्तसूक्ष्म१बादर२द्वि३त्रि४चतु५रसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां६ तदभावः, अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियेऽपि न सासादनसम्भवः, सासादनस्य मनाक् शुभपरिणामरूपत्वात्, महासंक्लिष्टपरिणामस्य च सूक्ष्मैकेन्द्रिय

एवं मनोयोगोऽपि चतुर्धा द्रष्टव्यः ४ । काययोगः सप्तधा—औदारिकम् १ औदारिक-मिश्रं २ वैक्रियं ३ वैक्रियमिश्रम् ४ आहारकम् ५ आहारकमिश्रं ६ कार्मणं च ७ । तत्रौदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः । तयोरेवापर्याप्तयोरौदारिकमिश्रकाययोगः । वैक्रियकाययोगो देवनारकयोस्तिर्यङ्मनुष्ययोर्वा वैक्रियलब्धिमतोः । वैक्रियमिश्रकाययोगोऽपर्याप्तयोर्देवनारकयोस्तिर्यङ्मनुष्ययोर्वा वैक्रियस्यारम्भकाले परित्यागकाले च । आहारकं चतुर्दशपूर्वविदः । आहारकमिश्रकाययोग आहारकस्य प्रारम्भसमये परित्यागकाले च । कार्मणकाययोगोऽष्टप्रकारकर्मविकाररूपशरीरचेष्टास्वरूपोऽन्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये केवलिसमुद्घातावस्थायां वा तानेतान् योगान् जीवस्थानकेषु व्याचिख्यासुराह—

अपजत्तछक्कि कम्मुरलमीस जोगा अपज्जसन्निसु ते ।
सविउव्वमीस एसुं, तणुपज्जेसुं उरलमन्ने ॥ ४ ॥

अपर्याप्तानां–सूक्ष्मबादरद्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां षट्कं अपर्याप्तषट्कं तस्मिन् अपर्याप्तषट्के संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तवर्जितेषु षट्सु अपर्याप्तेषु योगौ भवतः । द्विवचनस्य बहुवचनं प्राकृतत्वात्, यथा—"हत्था पाया" इत्यादौ । कौ योगौ ? इत्याह—कार्मणौदारिकमिश्रौ । तत्र कार्मणकाययोगोऽपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च, शेषकालं त्वौदारिकमिश्रकाययोगः । "अपज्जसन्निसु ते सविउव्वमीस" त्ति 'अपर्याप्तसंज्ञिषु' संज्ञ्यपर्याप्तजीवेषु 'तौ' पूर्वोक्तौ कार्मणौदारिकमिश्रकाययोगौ भवतः, किं केवलौ ? न इत्याह–सह वैक्रियमिश्रेण वर्तेते इति सवैक्रियमिश्रौ । तथा चापर्याप्तसंज्ञिनि त्रयो योगा भवन्ति कार्मणकाययोग औदारिकमिश्रकाययोगो वैक्रियमिश्रकाययोगश्च । तत्र कार्मणकाययोगोऽपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च, शेषकालं तु तिर्यङ्मनुष्ययोरौदारिकमिश्रकाययोगः । संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य देवनारकेषु पुनरुत्पद्यमानस्य वैक्रियमिश्रकाययोगो द्रष्टव्यो न शेषस्य, असम्भवात्, मिश्रता चात्र कार्मणेन सह द्रष्टव्या । अत्रैव मतान्तरमुपदर्शयन्नाह–'एषु' पूर्वनिर्दिष्टेषु शेषपर्याप्त्यपेक्षयाऽपर्याप्तेषु तनुपर्याप्त्या पर्याप्तेषु शरीरपर्याप्तेष्वित्यर्थः 'औदारिकम्' औदारिककाययोगम् 'अन्ये' केचिदाचार्याः शीलाङ्कादयः प्रतिपादयन्तीति शेषः, शरीरपर्याप्त्या हि परिसमाप्तिवत्या किल तेषां शरीरं परिपूर्णं निष्पन्नमिति कृत्वा । तथा च तद्ग्रन्थः–

औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वम्, तदारतस्तु मिश्रः ।

(आ. प्र. श्रु. द्वि. अ० पत्र १४) इति ।

नन्वनया युक्त्या संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य देवनारकेषूत्पद्यमानस्य तनुपर्याप्त्या पर्याप्तस्य वैक्रियमपि शरीरमुपपद्यत एव किमिह तद् नोक्तम् ? इति, उच्यते–उपलक्षणत्वाद् एतदपि द्रष्ट-

व्यमित्यदोषः; यद्वा इहापर्याप्ता लब्ध्यपर्याप्तका एवान्तर्मुहूर्तायुषो द्रष्टव्याः, ते च तिर्यङ्मनुष्या एव घटन्ते, तेषामेवान्तर्मुहूर्तायुष्कत्वसम्भवात्, न देवनारकाः, तेषां जघन्यतोऽपि दशवर्षसहस्रायुष्कत्वात् । लब्ध्यपर्याप्तका अपि च जघन्यतोऽपि इन्द्रियपर्याप्तौ परिसमाप्तायामेव म्रियन्ते नार्वाग् इत्युक्तमागमाभिप्रायेण । ततस्तेषां लब्ध्यपर्याप्तकानां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामौदारिकमेव शरीरमुपपद्यते न वैक्रियमित्यदोषः ।

किञ्चान्यमतकथनेनाऽयमभिप्रायः सूच्यते-यद्यपि तेषां शरीरपर्याप्तिः समजनिष्ट तथापि इन्द्रियोच्छ्वासादीनामद्याप्यनिष्पन्नत्वेन शरीरस्यासम्पूर्णत्वाद् अत एव कार्मणस्याप्यद्यापि व्याप्रियमाणत्वाद् औदारिकमिश्रमेव तेषां युक्त्या घटमानकमिति ॥४॥

सव्वे सन्निपज्जत्ते, उरलं सुहुमे सभासु(स) तं चउसु ।
बायरि सविउव्विदुगं, पज्जसन्निसु बार उवओगा ॥५॥

'सर्वे' पञ्चदशापि योगा भवन्ति । तथाहि—चतुर्धा मनोयोगः चतुर्धा वाग्योगः सप्तधा काययोगः । क ? इत्याह—'संज्ञिपर्याप्ते' संज्ञी चासौ पर्याप्तश्च संज्ञिपर्याप्तः तस्मिन् संज्ञिपर्याप्ते ।

नन्वौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रकार्मणकाययोगाः कथं संज्ञिपर्याप्तस्य घटन्ते तेषामपर्याप्तावस्थाभावित्वात् ?, उच्यते—वैक्रियमिश्रं संयतादेर्वैक्रियं प्रारभमाणस्य प्राप्यते, औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ तु केवलिनः समुद्घातावस्थायाम् । यदाह भगवानुमास्वातिवाचकवरः—

> औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः ।
> मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥
> कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।
>
> (प्रश, का. २७६–७७) इति ।

'पर्याप्ते' सूक्ष्मे सूक्ष्मैकेन्द्रिये औदारिककाययोगो भवति । पर्याप्तशब्दश्च "सव्वे सन्निपज्जत्ते" इति पदाद् डमरुकमणिन्यायेन सर्वत्र योज्यः । "चउसु" त्ति चतुर्षु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु तदेवौदारिकं भवति । किं केवलम् ? न इत्याह—'सभाषं' सह भाषया असत्यामृषास्वरूपया " 'विगलेसु असच्चमोसा' " इति वचनाद् वर्तत इति सभाषम् । कोऽर्थः ? विकलत्रिकासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु औदारिककाययोगाऽसत्यामृषाभाषालक्षणौ द्वौ योगावित्यर्थः । यद् इत्यनुवर्तते, तद् औदारिकं सह वैक्रियद्विकेन-वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणेन वर्तत इति सवैक्रियद्विकं बादरैकेन्द्रियपर्याप्ते भवति । अयमर्थः—बादरैकेन्द्रिये पर्याप्ते

१ विकलेषु असत्यामृषा इति ॥

औदारिककाययोगवैक्रियकाययोगवैक्रियमिश्रकाययोगलक्षणास्त्रयो योगा भवन्ति । तत्र औदारिककाययोगः पृथिव्यप्तेजो(वायु)वनस्पतीनाम् , वैक्रियद्विकं तु वायुकायस्येति ॥

प्ररूपिता जीवस्थानेषु योगाः । साम्प्रतमुपयोगाः प्ररूपणावसरप्राप्ताः, ते च द्वादश । तद्यथा–मतिज्ञान १ श्रुतज्ञान २ अवधिज्ञान ३ मनःपर्यवज्ञान ४ केवलज्ञान ५ लक्षणानि पञ्च ज्ञानानि, मत्यज्ञान १ श्रुताज्ञान २ विभङ्ग ३ रूपाणि त्रीण्यज्ञानानि, चक्षुर्दर्शना १ ऽचक्षुर्दर्शना २ ऽवधिदर्शन ३ केवलदर्शन ४ रूपाणि चत्वारि दर्शनानि इत्येतानुपयोगान् जीवस्थानकेषु दिदर्शयिषुराह–"पज्जसन्निसु बार उवओग" त्ति पज्जशब्देन पर्याप्त उच्यते, ततः पर्याप्ताश्च ते संज्ञिनश्च पर्याप्तसंज्ञिनः, तेषु पर्याप्तसंज्ञिषु 'द्वादश' द्वादशसङ्ख्या उपयोगा भवन्ति । ते च क्रमेणैव न तु युगपत् , उपयोगानां तथाजीवस्वभावतो यौगपद्यासम्भवात् । उक्तं च–" 'समए दो नुवओगा" इति । श्रीभद्रबाहुस्वामिपादा अप्याहुः–

[2]नाणम्मि दंसणम्मि य, एत्तो एगयरयम्मि उवउत्ता ।
सव्वस्स केवलिस्स, जुगवं दो नत्थि उवओगा ॥

(आ. नि. गा. ९७९) इति ॥ ५ ॥

पज्जचउरिंदिअसन्निसु दुदंस दुअनाण दससु चक्खु विणा ।
सन्निअपज्जे मणनाणचक्खुकेवलदुगविहूणा ॥६॥

चतुरिन्द्रियाश्च असंज्ञिनश्च चतुरिन्द्रियासंज्ञिनः, पर्याप्ताश्च ते चतुरिन्द्रियासंज्ञिनश्च तेषु पर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिषु चत्वार उपयोगा भवन्ति । के ? इत्याह–"दुदंस दुअनाण" त्ति दर्शः-दर्शनम् , द्वयोर्दर्शयोः समाहारो द्विदर्शं–चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनलक्षणम् , द्वयोरज्ञानयोः समाहारो द्व्यज्ञानं–मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपम् । अयमर्थः–पर्याप्तचतुरिन्द्रियेषु पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु च मत्यज्ञानश्रुताज्ञानचक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनलक्षणाश्चत्वार उपयोगा भवन्ति । दशसु जीवस्थानकेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रिय ४ द्वीन्द्रिय ६ त्रीन्द्रिया ८ ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिया ९ ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय १० लक्षणेषु पूर्वोक्ताश्चत्वार उपयोगाश्चक्षुर्दर्शनं विना भवन्ति । अयमर्थः–पूर्वोक्तदशजीवस्थानकेषु चक्षुर्दर्शनवर्जा अचक्षुर्दर्शनमत्यज्ञानश्रुताज्ञानलक्षणास्त्रय उपयोगा भवन्ति ।

ननु स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमसम्भवाद् भवतु मतिरेकेन्द्रियाणाम्, यत्तु श्रुतं तत् कथं जायतीति ? भाषालब्धिश्रोत्रेन्द्रियलब्धिमतो हि तद् उपपद्यते नान्यस्य । तदुक्तम्–

१ समये द्वौ नोपयोगौ २ ज्ञाने दर्शने चानयोरेकतरस्मिन्नुपयुक्ताः । सर्वस्य केवलिनो युगपद् द्वौ न स्त उपयोगौ ॥

[1]भावसुयं भासासोयलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स ।
भासाभिमुहस्स सुयं, सोऊण व जं हविज्जाहि ॥
(विशेषा० गा० १०२) इति ।

उच्यते—इह तावदेकेन्द्रियाणामाहारादिसंज्ञा विद्यन्ते तथा सूत्रेऽभिधानात् , संज्ञा चाभिलाष उच्यते । यदवादि परोपकारभूरिभिः श्रीहरिभद्रसूरिभिर्मूलावश्यकटीकायाम्—

आहारसंज्ञा आहाराभिलाषः क्षुद्वेदनीयोदयप्रभवः खल्वात्मपरिणामविशेषः (पत्र५८०)इति ।

अभिलाषश्च ममैवंरूपं वस्तु पुष्टिकारि तद् यदीदमवाप्यते ततः समीचीनं भवतीत्येवं शब्दार्थोल्लेखानुविद्धः स्वपुष्टिनिमित्तभूतप्रतिनियतवस्तुप्राप्त्यध्यवसायरूपः; स च श्रुतमेव, शब्दार्थालोचनानुसारित्वात् , श्रुतस्यैवैतल्लक्षणत्वात् ।

यदवादिपुर्दलितप्रवादिकुवादाः श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादाः—

[2]इंदियमणोनिमित्तं, जं विन्नाणं सुयाणुसारेणं ।
निययत्थुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मई सेसं ॥ (विशेषा० गा० १००)

'सुयाणुसारेणं'' ति शब्दार्थालोचनानुसारेण । केवलमेकेन्द्रियाणामव्यक्त एव कश्चनाप्यनिर्वचनीयः शब्दार्थोल्लेखो द्रष्टव्यः, अन्यथाऽऽहारादिसंज्ञाऽनुपपत्तेः । यदप्युक्तम्—भाषालब्धिश्रोत्रेन्द्रियलब्धिविकलत्वाद् एकेन्द्रियाणां श्रुतमनुपपन्नमिति, तदप्यसमीक्षिताभिधानम् , तथाहि—बकुलादेः स्पर्शनेन्द्रियातिरिक्तद्रव्येन्द्रियलब्धिविकलत्वेऽपि किमपि सूक्ष्मं भावेन्द्रियपञ्चकविज्ञानमभ्युपगम्यते " [3]पंचिंदिओ व्व बउलो नरु व्व सव्वविसओवलंभाओ" इत्यादिवचनप्रामाण्यात् । तथा भाषाश्रोत्रेन्द्रियलब्धिविकलत्वेऽपि तेषां किमपि सूक्ष्मं श्रुतमपि भविष्यति, अन्यथाऽऽहारादिसंज्ञाऽनुपपत्तेः ।

यदाह प्रशस्यभाष्यसस्यकाश्यपीकल्पः श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः—

[4]जह सुहुमं भाविंदियनाणं दव्विंदि[5]या ण विरहे वि ।
दव्वसुयाभावम्मि वि, भावसुयं पत्थिवाईणं ॥ (विशेषा० गा० १०३) इति ।

संज्ञी चासौ अपर्याप्तश्च संज्यपर्याप्तः तस्मिन् संज्यपर्याप्ते मनःपर्यवज्ञानचक्षुर्दर्शनकेवलज्ञान-

---

१ भावश्रुतं भाषाश्रोत्रलब्धिकस्य युज्यते नेतरस्य । भाषाभिमुखस्य श्रुतं श्रुत्वा वा यद् भवेत् । २ इन्द्रियमनोनिमित्तं यद् विज्ञानं श्रुतानुसारेण । निजकार्थोक्तिसमर्थं तद् भावश्रुतं मतिः शेषम् ॥ ३ पञ्चेन्द्रिय इव बकुलो नर इव सर्वविषयोपलम्भात् ॥ ४ यथा सूक्ष्मं भावेन्द्रियज्ञानं द्रव्येन्द्रियाणां विरहेऽपि । द्रव्यश्रुताभावेऽपि भावश्रुतं पृथिव्यादीनाम् ॥ ५ ०याविरहे वि । तह दव्वसुयाभावे भा० इति विशेषावश्यकभाष्ये ॥

केवलद्विकलक्षणोपयोगद्वयहीनाः शेषा मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमनःपर्यायज्ञानमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्ग-ज्ञानचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनरूपा दशोपयोगा भवन्ति ॥६॥

उक्ता जीवस्थानेषूपयोगाः । साम्प्रतं जीवस्थानेष्वेव लेश्याः प्रतिपिपादयिषुराह—

सन्निदुगि छ लेस अपज्जबायरे पढम चउ ति सेसेसु ।
सत्तट्ठछेगबंधा, संतुदया अट्ठ तेरससु ॥७॥

संज्ञिनो द्विकम्—अपर्याप्तपर्याप्तलक्षणं संज्ञिद्विकं तस्मिन्, संज्ञिन्यपर्याप्ते संज्ञिनि पर्याप्ते चेत्यर्थः, षट् लेश्याः—कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्ललक्षणा भवन्ति । अपर्याप्तबादरे प्रथमाश्चतस्रः—कृष्णनीलकापोततेजोलक्षणा भवन्ति ।

तेजोलेश्या कथमत्र प्राप्यते ? इति चेद् उच्यते—यदा

[1]पुढवीआउवणस्सइगब्भे पज्जत्तसंखजीवीसु ।
सग्गच्चुआणं वासो, सेसा पडिसेहिया ठाणा ॥ (बृ० सं० गा० १८०)

इति वचनात् कश्चनापि देवः तेजोलेश्यावान् च्युत्वा बादरैकेन्द्रियतया पृथ्व्यादिषु मध्ये समुत्पद्यते तदा तस्य कतिपयकालमपर्याप्तावस्थायां सा प्राप्यत इत्यदोषः ।

'ति सेसेसु' त्ति प्रथमा इत्यनुवर्तते, प्रथमास्तिस्रः—कृष्णनीलकापोतलक्षणाः 'शेषेषु' प्रागुक्तापर्याप्तपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तबादरैकेन्द्रियवर्जितेषु अपर्याप्तपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तबादरैकेन्द्रियलक्षणेष्वेकादशसु जीवस्थानेषु भवन्ति नान्याः, तेषां सदाऽशुभपरिणामत्वात्, शुभपरिणामरूपाश्च तेजोलेश्यादयः ॥

तदेवं जीवस्थानेषु लेश्या अभिधाय साम्प्रतमेतेष्वेव बन्धोदयोदीरणासत्कस्थानचतु-ष्टयमभिधित्सुराह—"सत्तट्ठ बंधु" इत्यादि । सप्त वा अष्ट वा सप्ताष्टाः, "सुज्वार्थे संख्या संख्येये संख्यया बहुव्रीहिः" (सि० ३-१-१९) इति सूत्रेण बहुव्रीहिसमासः, यथा द्वित्रा इत्यादौ । बन्धश्च उदीरणा च बन्धोदीरणे सप्ताष्टानां बन्धोदीरणे सप्ताष्टबन्धोदीरणे त्रयोदशसु जीवस्थानेषु संज्ञिपर्याप्तवर्जितेषु शेषेषु भवतः । एतदुक्तं भवति—अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय१पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया२ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय३पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया४ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय५पर्याप्तद्वीन्द्रिया६-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय७पर्याप्तत्रीन्द्रिया८ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय९पर्याप्तचतुरिन्द्रिया१०ऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चे-न्द्रिय११पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया१२ऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय१३रूपेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु सप्ता-नामष्टानां वा बन्धः, सप्तानामष्टानां वा उदीरणा । तथाहि—यदाऽनुभूयमानभवायुषस्त्रिभागनव-भागादिरूपे शेषे सति परभवायुर्बध्यते तदाऽष्टानामपि कर्मणां बन्धः, शेषकाले त्वायुषो बन्धा-

---

[1] पृथ्व्यम्बुवनस्पतिगर्भपर्याप्तसंख्यातजीविषु । स्वर्गच्युतानां वासः शेषाणि प्रतिषिद्धानि स्थानानि ॥

भावात् सप्तानामेव बन्धः । तथा यदाऽनुभूयमानभवायुरुदयावलिकावशेषं भवति तदा सप्तानामुदीरणा, अनुभूयमानभवायुषोऽनुदीरणात् , आवलिकाशेषस्योदीरणाऽनर्हत्वात् । उदीरणा हि उदयावलिकाबहिर्वर्तिनीभ्यः स्थितिभ्यः सकाशात् कषायसहितेन कषायासहितेन वा योगकरणेन दलिकमाकृष्य उदयसमयप्राप्तदलिकेन सहाऽनुभवनम् ।

तथा चोक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

'उदयावलियाबाहिरिल्लठिईहिंतो कसायसहियासहिएणं जोगकरणेणं दलियमाकड्ढिय उदयपत्तदलिएण समं अणुभवणमुदीरणा ।

दिवं गतः सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्यं सप्तप्रकृतीनां बन्धक इति षण्णां बन्धो जघन्येनैकं समयं यावद् , उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम् , सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानस्याऽऽन्तर्मौहूर्तिकत्वात् । तथा सप्तानां प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदे सत्येकस्याः सातवेदनीयरूपायाः प्रकृतेर्बन्धः, स च जघन्येनैकं समयम् , एकसमयता चोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहगुणस्थाने प्राग्वद्भावनीया, उत्कर्षेण पुनर्देशोनां पूर्वकोटिं यावत् । स चोत्कर्षतः कस्य वेदितव्यः ? इति चेद् उच्यते—यो गर्भवासे माससप्तकमुषित्वाऽनन्तरं शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमणजन्मना जातो वर्षाष्टकाचोर्ध्वं संयमं प्रतिपन्नः, प्रतिपत्त्यनन्तरं च क्षपकश्रेणिमारुह्य उत्पादितकेवलज्ञानदर्शनः, तस्य सयोगिकेवलिनो वेदितव्यः । अयं चात्र तात्पर्यार्थः—मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तेषु सप्तानामष्टानां वा बन्धः, आयुर्बन्धाभावाद् अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरयोश्च सप्तानां बन्धः, सूक्ष्मसम्पराये षण्णां बन्धः, उपशान्तमोहादिष्वेकस्याः प्रकृतेर्बन्धः । तथा सच्च उदयश्च प्राकृतत्वात् सन्तोदया, ततः संज्ञिपर्याप्ते सत्तामाश्रित्य त्रीणि स्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्ट चत्वारि । एवमुदयमप्याश्रित्य त्रीणि स्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्ट चत्वारि । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदयोऽष्टौ, एतासां चाष्टानां सत्ताऽभव्यानधिकृत्याऽनाद्यपर्यवसाना, भव्यानधिकृत्याऽनादिसपर्यवसाना । तथा मोहे क्षीणे सप्तानां सत्ता, सा चाजघन्योत्कर्षेणाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, सा हि क्षीणमोहगुणस्थाने, तस्य च कालमानमन्तर्मुहूर्तमिति । घातिकर्मचतुष्टयक्षये च चतसृणां सत्ता, सा च जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, उत्कर्षेण पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना । तथा सर्वप्रकृतिसमुदयोऽष्टौ, तासां च उदयोऽभव्यानाश्रित्याऽनाद्यपर्यवसानः, भव्यानाश्रित्याऽनादिसपर्यवसानः । उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतितानाश्रित्य पुनः सादिसपर्यवसानः । स च जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः, उपशमश्रेणीतः पतितस्य पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेन कस्याप्युपशमश्रेणिप्रतिपत्तेः, उत्कर्षेण तु देशोनाऽपार्धपुद्गलपरावर्तः । तथा ता एवाष्टौ मोहनीयवर्जाः सप्त, तासामुदयो जघन्येन एकं समयम् । तथाहि—मोहवर्जसप्तानां प्रकृतीनामुदय उपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा प्राप्यते. तत्र कश्चिद् उपशान्तगुणस्थानके एकं समयं स्थित्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिवं गच्छन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्यमष्टानां प्रकृतीनामुदयः, ततः सप्तानामुदयो जघन्येनैकसमयं यावदवाप्यते, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम् , उपशान्तमोहक्षीणमोहगुणस्थानयोरान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । तथा घातिकर्मवर्जाश्चतस्रः प्रकृतयः, तासां च जघन्यत उदय आन्तर्मौहूर्तिकः, उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिप्रमाण इति । पिण्डार्थश्चायम्—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमारभ्य यावद् उपशान्तमोहगुणस्थानकं तावद् अष्टानामपि सत्ता, क्षीणमोहगुणस्थाने सप्तानां सत्ता, सयोग्ययोगिगुणस्थानकयोश्चतसृणां सत्ता । तथा मिथ्यादृष्टेः प्रभृति सूक्ष्मसम्परायं यावद् अष्टानामुदयः, उपशान्तमोहगुणस्थाने क्षीणमोहगुणस्थाने च सप्तानां प्रकृतीनामुदयः, सयोग्ययोगिगुणस्थानयोश्चत-

संसारः, कषमयन्ते-गच्छन्ति एभिर्जन्तव इति कषायाः; यद्वा कषस्यायः-लाभो येभ्यस्ते कषायाः ६। ज्ञातिर्ज्ञानम्, यद्वा ज्ञायते—परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानम्, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोध इत्यर्थः ७। संयमनं-सम्यगुपरमणं सावद्ययोगादिति संयमः, यद्वा संयम्यते-नियम्यत आत्मा पापव्यापारसम्भारादनेनेति संयमः "संनिव्युपाद्यमः" (सि० ५-३-२५) इति सूत्रेणालप्रत्ययः, यदि वा सम्—शोभना यमाः-प्राणातिपातानृतभाषणादत्तादानाब्रह्मपरिग्रहविरमणलक्षणा अस्मिन्निति संयमश्चारित्रम् ८। दृश्यते-विलोक्यते वस्त्वनेनेति दर्शनम्, यदि वा दृष्टिर्दर्शनम्, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यात्मको बोध इत्यर्थः ९। लिश्यते-श्लिष्यते कर्मणा सहाऽऽत्माऽनयेति लेश्या १०। भवति-परमपदयोग्यतामासादयतीति भव्यः-सिद्धिगमनयोग्यः "भव्यगेयजन्यरम्यापात्याप्लाव्यं न वा" (सि० ५-१-७) इति कर्तरि यप्रत्ययः, सूत्रे च यकारलोपः प्राकृतत्वात् ११। "सम्म" त्ति सम्यक्शब्दः प्रशंसार्थोऽविरुद्धार्थो वा, सम्यग् जीवः, तद्भावः सम्यक्त्वम्, प्रशस्तो मोक्षाविरोधी वा प्रशमसंवेगादिलक्षण आत्मधर्म इति यावत्। यदाहुः **श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः—**

से य[1] सम्मत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणीयकम्माणुवेयणोवसमखयसमुत्थे पसमसंवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे ॥ (आव० नि० पत्र ८११-१) इत्यादि १२।

संज्ञानं संज्ञा-भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनं सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः, "व्रीह्यादिभ्यस्तौ" (सि० ७-२-५) इति इन्[2]प्रत्ययः, विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानसहितेन्द्रियपञ्चकसमन्विता इत्यर्थः १३। ओजआहारलोमाहारकवलाहाराणामन्यतममाहारमाहारयति-गृह्णातीत्याहारः, "अच्" (सि० ५-१-४९) इत्यच् [प्रत्ययः] आहारक इत्यर्थः १४। ओजआहारादीनां लक्षणमिदम्—

[3]सरीरेणोयाहारो, तयाइ फासेण लोमआहारो।
पक्खेवाहारो पुण, कावलिओ होइ नायव्वो ॥ (प्रव० गा० ११८०) ॥ १ ॥

उक्तानि मूलभूतानि चतुर्दश मार्गणास्थानानि। इदानीमेतेषामेवोत्तरभेदानाह—

सुरनरतिरिनिरयगई, इगबियतियचउपणिंदि छक्काया।
भूजलजलणाऽनिलवणतसा य मणवयणतणुजोगा ॥ १० ॥

---

१ तच्च सम्यक्त्वं प्रशस्तसम्यक्त्वमोहनीयकर्माणुवेदनोपशमक्षयसमुत्थः प्रशमसंवेगादिलिङ्गः शुभ आत्मपरिणामः ॥ २ अतिप्रबलोऽयं लेखकदोषो यत्रोपलभ्यतेऽदः किन्तु व्रीह्यादिभ्य इति। तत्त्वतस्तु-शिखादिभ्य इन्नित्यनेनैवेन् (सि० ७-२-४) ॥ ३ शरीरेणौजआहारस्त्वचा स्पर्शेन लोमाहारः। प्रक्षेपाहारः पुनः कावलिको भवति ज्ञातव्यः ॥

"विभंग" त्ति विपरीतो भङ्गः—[illegible] विभङ्गम्, [illegible] विभङ्गज्ञानमुच्यते इत्यर्थः। सह आकारेण—[illegible] "आगारो उ विसेसो" इति वचनात् विशेषेण वर्तन्त इति साकाराणि। [illegible] —[illegible]माणानि चत्वारि दर्शनान्यनाकाराणि· अमूनि च पञ्च ज्ञानानि साकाराणि। [illegible] —सामान्यविशेषा-त्मकं हि सकलं ज्ञेयं वस्तु, कथम्? इति चेद् उच्यते - दूरादेव हि शाल[illegible]बकुलाशोक-चम्पककदम्बजम्बुनिम्बादिविशिष्टव्यक्तिरूपतया[illegible] [illegible]तः सामान्येन वृक्षमात्रप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमपि रूपं [illegible] तत् सामान्य[illegible]मनाकारं दर्शनमुच्यते, "निर्विशेषं विशेषाणामग्रहो दर्शनमुच्यते" इति वचनप्रामाण्यात्। यत् पुनस्तस्यैव निकटीभूतस्य तालतमालशालादिव्यक्तिरूपतयाऽवधारितं तमेव महीरुहसमूहमुत्पश्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीति-जनकं परिस्फुटं रूपमाभाति तद् विशेषरूपं साकारं ज्ञानम् अप्रमेयप्रभावपरमेश्वरप्रवचनप्रवीण-चेतसः प्रतिपादयन्ति, सह विशिष्टाकारेण वर्तत इति कृत्वा। तदेवं प्रतिप्राणिप्रसिद्धप्रमाणा-बाधितप्रतीतिवशात् सर्वमपि वस्तुजातं सामान्यविशेषरूपद्वयात्मकं भावनीयमिति ॥११॥

सामइय छेय परिहार सुहुम अहक्खाय देस जय अजया ।
चक्खु अचक्खू ओही, केवलदंसण अणागारा ॥१२॥

समानां—ज्ञानदर्शनचारित्राणामायः—लाभः समायः समाय एव सामायिकं विनयादिगकृतिगण-त्वाद् इकण्प्रत्ययः, यद्वा समः-रागद्वेषविप्रमुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति, आयो लाभः प्राप्ति-रिति पर्यायाः, समस्य आयः समायः, समो हि प्रतिक्षणमपूर्वैर्ज्ञानदर्शनचरणपर्यायैर्भवाटवीभ्रमण-संक्लेशविच्छेदकैर्निरुपमसुखहेतुभिरधःकृतचिन्तामणिकामधेनुकल्पद्रुमोपमैर्युज्यते समाय एव सामायिकं मूलगुणानामाधारभूतं सर्वसावद्यविरतिरूपं चारित्रम्। यदाह वाचकमुख्यः—

सामायिकं गुणानामाधारः खमिव सर्वभावानाम् ।
न हि सामायिकहीनाश्चरणादिगुणान्विता येन ॥
तस्माज्जगाद भगवान्, सामायिकमेव निरुपमोपायम् ।
शारीरमानसानेकदुःखनाशस्य मोक्षस्य ॥

यद्यपि च सर्वमपि चारित्रमविशेषतः सामायिकं तथापि च्छेदादिविशेषैर्विशेष्यमाणमर्थतः शब्दान्तरतश्च नानात्वं भजते। प्रथमं पुनरविशेषणात् सामान्यशब्द एवावतिष्ठते सामायिकमिति। तच्च द्विधा—इत्वरं यावत्कथिकं च। तत्रेत्वरं भाविव्यपदेशान्तरत्वात् स्वल्पकालम्, तच्च प्रथम-चरमतीर्थकरतीर्थे भरतैरवतेषु यावद् अद्यापि शैक्षकस्य महाव्रतानि नारोप्यन्ते तावद् विज्ञेयम्।

१ आकारस्तु विशेषः ॥

आत्मनः कथा यावद् यदास्ते तद् यावत्कथं यावज्जीवमित्यर्थः, यावत्कथमेव यावत्कथिकम् , एतच्च भरतैरवतेषु प्रथम[1]चरमवर्जमध्यमद्वाविंशतितीर्थंकरतीर्थान्तर्गतसाधूनां महाविदेहतीर्थंकरमुनीनां चावसेयम् , तेषा[2]मुपस्थापनाया अभावात् । "छेय" त्ति छेदोपस्थापना, तत्र पूर्वपर्यायस्य[3]छेदेनोपस्थापना-महा[4]व्रतेष्वारोपणं यत्र चारित्रे तत् छेदोपस्थापनम् , भरतैरवतप्रथमचरमतीर्थकरतीर्थ एव नान्यत्र । तच्च द्विधा—सातिचारं निरतिचारं च । तत्राऽनतिचारमित्वरसामायिकस्य शैक्षकस्य यद् आरोप्यते, तीर्थान्तरं वा सङ्क्रामतः साधोः, यथा श्रीपार्श्वनाथतीर्थाद् वर्धमानस्वामितीर्थं सङ्क्रामतः पञ्चयामधर्मप्रतिपत्तौ । सातिचारं पुनर्यद् मूलगुणघातिनः पुनर्व्रतोच्चारणम् । "परिहार" त्ति 'परिहारविशुद्धिकं' परिहरणं परिहारस्तपोविशेषस्तेन विशुद्धिर्यस्मिंश्चारित्रे तत् परिहारविशुद्धिकम् , तच्च द्विधा—निर्विशमानकं निर्विष्टकायिकं च । तत्र निर्विशमानका विवक्षितचारित्रसेवकाः, निर्विष्टकायिका आसेवितविवक्षितचारित्रकायिकाः, तदव्यतिरेकात् चारित्रमप्येवमुच्यते।

इह नवको गणः, तत्रैको वाचनाचार्यश्चत्वारो निर्विशमानकाश्चत्वारश्चाऽनुचारिणः । निर्विशमानकानां चायं तपोविशेषः—

[5]परिहारियाण उ तवो, जहन्न मज्झो तहेव उक्कोसो ।
सीउण्हवासकाले, भणिओ धीरेहिँ पत्तेयं ॥
तत्थ जहन्नो गिम्हे, चउत्थ छट्ठं तु होइ मज्झिमओ ।
अट्ठममिह उक्कोसो, इत्तो सिसिरे पवक्खामि ॥
सिसिरे उ जहन्नाई, छट्ठाई दसमचरिमगो होइ ।
वासासु अट्ठमाई, बारसपज्जंतगो नेओ ॥
पारणगे आयामं, पंचसु गहो दोस(सु)ऽभिग्गहो भिक्खे ।
कप्पट्ठिया वि पइदिण, करेंति एमेव आयामं ॥
एवं छम्मास तवं, चरिउं परिहारिया अणुचरंति ।
अणुचरगे परिहारिय[6]पयट्ठिए जाव छम्मासा ॥

---

१ ०मपश्चिमव० क० ख० ग० घ० ङ० ॥ २ ०मुत्थापनाया अ० क० ख० ग० ङ० ॥ ३ छेदेनोत्था० ख० ङ० । छेदोत्थाप० ग० ॥ ४ ०व्रतेषु यत्र क० ख० ग० घ० ङ० ॥ ५ परिहारिकाणां तु तपः जघन्यं मध्यमं तथैवोत्कृष्टम् । शीतोष्णवर्षाकाले भणितं धीरैः प्रत्येकम् ॥ तत्र जघन्यं ग्रीष्मे चतुर्थं षष्ठं तु भवति मध्यमम् । अष्टममिह उत्कृष्टमितः शिशिरे प्रवक्ष्यामि ॥ शिशिरे तु जघन्यादि षष्ठादि दशमचरमकं भवति । वर्षासु अष्टमादि द्वादशपर्यन्तकं ज्ञेयम् ॥ पारणके आचाम्लं पञ्चसु ग्रहः द्वयोरभिग्रहो भिक्षायाम् । कल्पस्थिता अपि प्रतिदिनं कुर्वन्ति एवमेवाचामाम्लम् ॥ एवं षण्मासान् तपश्चरित्वा परिहारिका अनुचरन्ति । अनुचरकाः परिहारिकपदस्थिता यावत् षण्मासान् ॥ ६ प्रवचनसारोद्धारे तु-०परिट्ठिए-०परिस्थिताः इति ॥

[1]ओसप्पिणीएँ दोसु, जम्मणओ [2]तीसु संतिभावेणं ।
उस्सप्पिणि विवरीओ, जम्मणओ संतिभावेणं ॥ (पञ्चव० गा० १४८७)

नोउत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपे चतुर्थारकप्रतिभागे काले न सम्भवन्ति, महाविदेहक्षेत्रे तेषामसम्भवात्। चारित्रद्वारे—संयमद्वारेण मार्गणा। तत्र सामायिकस्य च्छेदोपस्थापनस्य च चारित्रस्य यानि जघन्यानि संयमस्थानानि तानि परस्परं तुल्यानि, समानपरिणामत्वात्, ततोऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि संयमस्थानान्यतिक्रम्योर्ध्वं यानि संयमस्थानानि तानि परिहारविशुद्धियोग्यानि, तान्यपि च केवलिप्रज्ञया परिभाव्यमानान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तानि प्रथमद्वितीयचारित्राविरोधीनि तेष्वपि सम्भवात् । तत ऊर्ध्वं यानि सङ्ख्यातीतानि संयमस्थानानि तानि सूक्ष्मसम्परायययथाख्यातचारित्रयोग्यानि । उक्तं च—

[3]तुल्ला जहन्नठाणा, संजमठा[4]णाण पढमबिइयाणं ।
तत्तो असंखलोए, गंतुं परिहारियट्ठाणा ॥ (पञ्चव० गा० १५३०)

[5]ते [5]वि असंखा लोगा, अविरुद्धा चेव पढमबीयाणं ।
उवरिं पि तो असंखा, संजमठाणाउ दुण्हं पि ॥(पञ्चव० गा० १५३१) ।

तत्र परिहारविशुद्धिककल्पप्रतिपत्तिः स्वकीयेष्वेव संयमस्थानेषु वर्तमानस्य भवति न शेषेषु । यदा त्वतीतनयमधिकृत्य पूर्वप्रतिपन्नो विवक्ष्यते तदा शेषेष्वपि संयमस्थानेषु भवति, परिहारविशुद्धिककल्पसमाप्त्यनन्तरमन्येष्वपि च चारित्रेषु सम्भवात्, तेष्वपि च वर्तमानस्याऽतीतनयमपेक्ष्य पूर्वप्रतिपन्नत्वात् । उक्तं च—

[6]सट्ठाणे पडिवत्ती, अन्नेसु वि हुज्ज पुव्वपडिवन्नो ।
तेसु वि वट्टंतो सो, तीयनयं पप्प वुच्चइ उ ॥ (पञ्चव० गा० १५३२)

तीर्थद्वारे—परिहारविशुद्धिको नियमतः तीर्थे प्रवर्तमान एव सति भवति, न तूच्छेदेऽनुत्पत्त्यां वा तदभावे जातिस्मरणादिना । उक्तं च—

---

१ अवसर्पिण्यां द्वयोर्जन्मतस्तिसृषु सद्भावेन । उत्सर्पिण्यां विपरीतं जन्मतः सद्भावतः ॥ २ तिसु भ सं॰ पञ्चवस्तुके ॥ ३ तुल्यानि जघन्यस्थानानि संयमस्थानयोः प्रथमद्वितीययोः । ततोऽसङ्ख्यातलोकान् गत्वा परिहारिकस्थानानि ॥ ४ ॰णाइं प० क० ख० ग० घ० ङ० ॥ ४ तान्यपि असङ्ख्यानि लोकानि अविरुद्धान्येव प्रथमद्वितीययोः । उपर्यपि ततोऽसङ्ख्यातानि संयमस्थानानि द्वयोरपि ॥ ५ ताण वि असंखलो॰ पञ्चवस्तुके ॥ ६ स्वस्थाने प्रतिपत्तिरन्येष्वपि भवेत् पूर्वप्रतिपन्नः । तेष्वपि वर्तमानः सोऽतीतनयं प्राप्य उच्यते तु ॥

[1]तित्थि त्ति नियमओ च्चिय, होइ स तित्थम्मि न उण तदभावे ।
विगएऽणुप्पन्ने वा, जाईसरणाइएहिं तु ॥ (पञ्चव० गा० १४९२)

पर्यायद्वारे-पर्यायो द्विधा-गृहस्थपर्यायो यतिपर्यायश्च । एकैकोऽपि द्विधा-जघन्य उत्कृष्टश्च । तत्र गृहस्थपर्यायो जघन्य एकोनत्रिंशद्वर्षाणि, यतिपर्यायो विंशतिः, द्वावपि चोत्कृष्टतो देशोनपूर्वकोटीप्रमाणौ । उक्तं च-

[2]एयस्स एस नेओ, गिहिपरियाओ जहन्निगुणतीसा ।
जइपरियाओ वीसा, दोसु वि उक्कोस देसूणा (पञ्चव० गा० १४९४)

आगमद्वारे-अपूर्वागमं स नाधीते, यस्मात् तं कल्पमधिकृत्य प्रगृहीतोचितयोगाराधनत एव स कृतकृत्यतां भजते, पूर्वाधीतं तु विश्रोतसिकाक्षयनिमित्तं नित्यमेवैकाग्रमनाः सम्यक् प्रायोऽनुस्मरति । उक्तं च—

[3]अप्पुव्वं नाहिज्जइ, आगममेसो पडुच्च तं [4]कप्पं ।
जमुचिय[5]पगहियजोगाराहणओ चेव कयकिच्चो ॥
[6]पुव्वाहीयं तु तयं, पायं अणुसरइ निच्चमेवेसो ।
एगग्गमणो सम्मं, विस्सोयसिगाइखयहेऊ ॥ (पञ्चव० गा० १४९५-९६)

वेदद्वारे-प्रवृत्तिकाले वेदः पुरुषवेदो वा नपुंसकवेदो वा भवेत्, न स्त्रीवेदः, स्त्रियाः परि[illegible] [illegible]प्रतिपत्त्यसम्भवात् । अतीतनयमधिकृत्य पुनः पूर्वप्रतिपन्नश्चिन्त्यमानः सवेदो वा [illegible] वा, तत्र सवेदः श्रेणिप्रतिपत्त्यभावे उपशमश्रेणिप्रतिपत्तौ वा, क्षपकश्रेणिप्रति[illegible] [illegible] इति । उक्तं च-

[7]वेदो पवित्तिकाले, इत्थीवज्जो उ होइ एगयरो ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्ज सवेओ अवेओ वा ॥ (पञ्चव० गा० १४९७)

[illegible]-[illegible] एवायं नास्थितकल्पे, " [8]ठियकप्पम्मि वि नियमा" (पञ्चव० गा० [illegible] [illegible] । तथाऽऽचेलक्यादिषु दशस्वपि स्थानेषु ये स्थिताः साधवस्तत्कल्प[illegible]

[illegible] म पुनस्तदभावे । विगतेऽनुत्पन्ने वा जातिस्मरणादि[illegible]
[illegible] दर्शनत्रिंशत् (वर्षाणि) । यतिपर्यायो [illegible]
[illegible] प्रतीत्य तं कल्पम् । [illegible]
[illegible] पञ्चवस्तुके ॥ [illegible] पूर्वाधीतं तु [illegible]
[illegible] पञ्चवस्तुके ॥ [illegible]
[illegible] ॥ न स्थितकल्प एव नियमात् ।

भिक्षाद्वारे—भिक्षा विहारकमश्चाऽस्य तृतीयस्यां पौरुष्यां भवति, शेषासु च पौरुषीषु कायोत्सर्गः, निद्राऽपि चाऽस्याऽल्पा द्रष्टव्या। यदि पुनः कथमपि जङ्घाबलमस्य परिक्षीणं भवति तथाऽप्येकोऽविहरन्नपि महाभागो न द्वितीयपदमापद्यते, किन्तु तत्रैव यथाकल्पमात्मीययोगान् विदधाति। उक्तं च—

[1]तइयाए पोरिसीए, भिक्खाकालो विहारकालो उ।
सेसासु य उस्सग्गो, पायं अप्पा य निद्दा[2] वि॥ (पञ्चव० गा० १५२१)

[3]जंघाबलम्मि खीणे अविहरमाणो वि नवरि नावज्जे।
तत्थेव अहाकप्पं, कुणइ उ जोगं महाभागो॥ (पञ्चव० गा० १५२२)

एते च परिहारविशुद्धिका द्विविधाः, तद्यथा—इत्वरा यावत्कथिकाश्च। तत्र ये कल्पसमाप्त्यनन्तरमेव कल्पं गच्छं वा समुपयास्यन्ति त इत्वराः, ये पुनः कल्पसमाप्त्यनन्तरमव्यवधानेन जिनकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते यावत्कथिकाः। उक्तं च—

[4]इत्तरिय थेरकप्पे, जिणकप्पे आवकहिय त्ति॥ (पञ्चव० गा० १५२४)

अत्र स्थविरकल्पग्रहणमुपलक्षणं स्वकल्पे वेति द्रष्टव्यम्। तत्रेत्वराणां कल्पप्रभावाद् देवमनुष्यतिर्यग्योनिककृता उपसर्गाः सद्योघातिन आतङ्का अतीव्रा(?)निपद्याश्च वेदना न प्रादुःषन्ति, यावत्कथिकानां सम्भवेयुरपि। ते हि जिनकल्पं प्रतिपत्स्यमाना जिनकल्पभावमनुविदधति, जिनकल्पिकानां चोपसर्गादयः सम्भवन्तीति। उक्तं च—

[5]इत्तरियाणुवसग्गा आयंका वेयणा य न हवन्ति।
आवकहियाण भइया, (पञ्चव० गा० १५२६) इति।

तथा "सुहुम" त्ति 'सूक्ष्मसम्परायं' सम्परैति—पर्यटति संसारमनेनेति सम्परायः—क्रोधादिकषायः, सूक्ष्मो लोभांशमात्रावशेषतया सम्परायो यत्र तत् सूक्ष्मसम्परायम्। इदमपि संक्लिश्यमानकविशुद्ध्यमानकभेदं द्विधा। तत्र श्रेणिप्रच्यवमानस्य संक्लिश्यमानकम्, श्रेणिमारोहतो विशुद्ध्यमानकमिति। "अहखाय" त्ति अथशब्दोऽत्र याथातथ्ये, आङ् अभिविधौ, आ—समन्ताद् याथातथ्येन ख्यातमथाख्यातम्, कषायोदयाभावतो निरतिचारत्वात् पारमार्थिकरूपेण ख्यातमथाख्यातम्। यद्वा यथा सर्वस्मिन् जीवलोके ख्यातं—प्रसिद्धम् अकषायं भवति चारित्र-

१ तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षाकालो विहारकालस्तु। शेषासु च उत्सर्गः प्रायोऽल्पा च निद्राऽपि॥ २ निद्द त्ति इति पञ्चवस्तुके॥ ३ जङ्घाबले क्षीणेऽविहरन्नपि नवरं नापद्यते। तत्रैव यथाकल्पं करोति तु योगं महाभागः॥ ४ इत्वराः स्थविरकल्पे, जिनकल्पे यावत्कथिका इति॥ ५ इत्वरिकाणामुपसर्गा आतङ्का वेदनाश्च न भवन्ति। यावत्कथिकानां भक्ताः॥

मिति पञ्चद् यथाख्यातम् । "देसजय" त्ति देशे–सङ्कल्पनिरपराधत्रसवधविषये यतं–यमनं संयमो यस्य स देशयतः–सम्यग्दर्शनयुत एकाणुव्रतादिधारी, अनुमतिमात्रश्रावक इत्यर्थः ।

यदाह श्रीशिवशर्मसूरिवरः कर्मप्रकृतौ—

'एगव्वयाइ चरमो, अणुमइमित्त त्ति देसजई ॥ (गा० ३४०)

"अजय" त्ति न विद्यते यतं–विरतं विरतिर्यस्य सोऽयतः सर्वथा विरतिहीनः । तथा दर्शन-शब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनरूपाणि चत्वारि दर्शनानि। तत्र चक्षुषा दर्शनं–वस्तुसामान्यांशात्मकं ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम् १, अचक्षुषा–चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद् दर्शनं–सामान्यांशात्मकं ग्रहणं तद् अचक्षुर्दर्शनम् २, अवधिना–रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शनं–सामान्यांशग्रहणमवधिदर्शनम् ३, केवलेन–संपूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद् दर्शनं–सामान्यांशग्रहणं तत् केवलदर्शनम् ४ इति । किंरूपाण्येतानि दर्शनानि ? अत आह–'अनाकाराणि' सामान्याकारयुक्तत्वे सत्यपि न विद्यते विशिष्टव्यक्त आकारो येषु तान्यनाकाराणि । भावार्थः प्रागेवोक्त इति ॥ १२ ॥

किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्हा य सुक भव्वियरा ।
वेयग खइगुवसम मिच्छ मीस सासाण सन्नियरे ॥ १३ ॥

इह षोढा लेश्या–कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या 'चः' समुच्चये व्यवहितसम्बन्धश्च, स च शुक्ललेश्या च इत्यत्र योज्यः । 'भव्यः' मुक्तिगमनार्हः 'इतरः' अभव्यः कदाचनापि सिद्धिगमनानर्हः । "वेयग" त्ति 'वेदकं' सम्यक्त्वपुद्गलवेदनात् क्षायोपशमिकमित्यर्थः । तत्रोदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षयेण अनुदीर्णस्य चोपशमेन विष्कम्भितोदयस्वरूपेण यद् निर्वृत्तं तत् क्षायोपशमिकम् । उक्तं च—

[3]मिच्छत्तं जमुइन्नं, तं खीणं अणुदियं च उवसंतं ।
मीसीभावपरिणयं, वेइज्जंतं खओवसमं ॥ (विशेषा० गा० ५३२)

तथा "खइग" त्ति क्षयेण–अत्यन्तोच्छेदेन त्रिविधस्याऽपि दर्शनमोहनीयस्य निर्वृत्तं क्षायिकम् । तच्च क्षपकश्रेण्यामेवं भवति–

[4]पढमकसाए समयं, खवेइ अंतोमुहुत्तमित्तेणं ।
तत्तु च्चिय मिच्छत्तं, तओ य मीसं तओ सम्मं ॥

---

१ एकव्रतादिचरमः अनुमतिमात्र इति देशयतिः २ ०ष्टो व्यक्त आ० ब० ॥ ३ मिथ्यात्वं यदुदीर्णं तत् क्षीणमनुदितं चोपशान्तम् । मिश्रभावपरिणतं वेद्यमानं क्षायोपशमिकम् ॥ ४ प्रथमकषायान् समकं क्षपयति अन्तर्मुहूर्तमात्रेण । तत एव मिथ्यात्वं ततश्च मिश्रं ततः सम्यक्त्वम् ॥

[1]बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा ।
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि ॥
तम्मि मओ जाइ दिवं, तप्परिणामो य सत्तए खीणे ।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामइगईओ ॥
खीणम्मि दंसणतिए, किं होइ तओ तिदंसणाईओ ? ।
भन्नइ सम्मदिट्ठी, सम्मत्तखए कओ सम्मं ? ॥
निव्वलियमयणकुद्दवरूवं मिच्छत्तमेव सम्मत्तं ।
खीणं न उ जो भावो, सद्दहणालक्खणो तस्स ॥
सो तस्स विसुद्धयरो, जायइ सम्मत्तपुग्गलक्खयओ ।
दिट्ठि व्व सण्हसुद्धब्भपडलविगमे मणूसस्स ॥
जह सुद्धजलाणुगयं, [2]वत्थं सुद्धं जलक्खए सुतरं ।
सम्मत्तसुद्धपुग्गलपरिक्खए दंसणं पेवं ॥ (विशेषा० गा० १३१५-२१)
[3]तम्मि य तइय चउत्थे, भवम्मि सिज्झंति खइयसम्मत्ते ।
सुरनरयजुगलिसु गई, इमं तु जिणकालियनराणं ॥
पडिवत्तीए अविरयदेसपमत्तापमत्तविरयाणं ।
अन्नयरो पडिवज्जइ, सुक्कज्झाणोवगयचित्तो ॥ (विशेषा० गा० १३१४)

तथा उदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षये सति अनुदीर्णस्य उपशमः—विपाकप्रदेशवेदनरूपस्य द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भणं तेन निर्वृत्तमौपशमिकम्, तच्च द्विधा—ग्रन्थिभेदसम्भवमुपशमश्रेणिसम्भवं च । तत्र ग्रन्थिभेदसम्भवमेवम्—इह गम्भीरापारसंसारसागरमध्यमध्यासीनो जन्तुर्मिथ्यात्वप्रत्ययमनन्तान् पुद्गलपरावर्तान् अनन्तदुःखलक्षाण्यनुभूय कथमपि तथाभव्यत्वपरिपाकवशतो गिरिनदीपत्थरघोलनाकल्पेनाऽनाभोगनिर्वर्तितयथाप्रवृत्तिकरणेन "करणं परिणामोऽत्र" इति वच-

१ बद्धायुः प्रतिपन्नः प्रथमकषायक्षये यदि म्रियेत । ततो मिथ्यात्वोदयतश्चिनुयाद् भूयो न क्षीणे ॥ तस्मिन् मृतो याति दिवं तत्परिणामश्च सप्तके क्षीणे । उपरतपरिणामः पुनः पश्चान्नानामतिगतिकः ॥ [illegible] किं भवति ततस्त्रिदर्शनातीतः ? । भण्यते सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वक्षये कुतः सम्यक्त्वम् ? ॥ [illegible] मिथ्यात्वमेव सम्यक्त्वम् । क्षीणं न तु यो भावः श्रद्धानलक्षणस्तस्य ॥ [illegible] [illegible] सम्यक्त्वपुद्गलक्षयतः । दृष्टिरिव श्लक्ष्णशुद्धाभ्रपटलविगमे मनुष्यस्य ॥ यथा शुद्धजला- [illegible] सुतराम् । सम्यक्त्वशुद्धपुद्गलपरिक्षये दर्शनमप्येवम् ॥ २ तुल० [illegible] । [illegible] सिध्यन्ति क्षायिकसम्यक्त्वे । सुरनारकयुगलिषु गतिरिदं तु जिनकालिक- [illegible] [illegible] अविरतदेशप्रमत्ताप्रमत्तविरतानाम् । अन्यतरः प्रतिपद्यते शुक्लध्यानोपगतचित्तः ।

नाध्यवसायविशेषरूपेणाऽऽयुर्वर्जानि ज्ञानावरणीयादिकर्माणि सर्वाण्यपि पल्योपमासंख्येयभाग-न्यूनैकसागरोपमकोटाकोटीस्थितिकानि करोति, अत्र चाऽन्तरे जीवस्य कर्मजनितो घनराग-द्वेषपरिणामरूपः कर्कशनिबिडचिरप्ररूढगुपिलवक्रग्रन्थिवद् दुर्भेदोऽभिन्नपूर्वो ग्रन्थिर्भवति।

तदुक्तम्—

'तीए वि थोवमित्ते, खविए इत्थंतरम्मि जीवस्स ।
हवइ हु अभिन्नपुव्वो, गंठी एवं जिणा बिंति ॥ (धर्मसं० गा० ७५२)
गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो ॥ (विशेषा० गा० ११९५) इति।

इमं न ग्रन्थिं यावद् अभव्या अपि यथाप्रवृत्तिकरणेन कर्म क्षपयित्वाऽनन्तशः समागच्छन्ति।
उक्तं चावश्यकटीकायाम्—

अभव्यस्यापि कस्यचिद् यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासाद्य अर्हदादिविभूतिदर्शनतः प्रयोजनान्तरतो वा प्रवर्तमानस्य श्रुतसामायिकलाभो भवति न शेषलाभ इति ॥ (पत्र ७६)

एतदनन्तरं कश्चिदेव महात्मा समासन्नपरमनिर्वृतिसुखः समुल्लसितप्रचुरदुर्निवारवीर्यप्रसरो निशितकुठारधारयेव परमविशुद्ध्या यथोक्तस्वरूपस्य ग्रन्थेर्भेदं विधाय मिथ्यात्वस्थितेरन्तर्मुहूर्तमुदयक्षणादुपर्यतिक्रम्याऽपूर्वकरणानिवृत्तिकरणलक्षणविशुद्धिजनितसामर्थ्योऽन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणं तत्प्रदेशवेद्यदलिकाभावरूपमन्तरकरणं करोति। अत्र यथाप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणानामयं क्रमः—

'जा गंठी ता पढमं, गंठिं समइच्छओ भवे बीयं ।
अनियट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥ (विशेषा० गा० १२०३)

"गंठिं समइच्छओ" त्ति ग्रन्थिं समतिक्रामतः-भिन्दानस्येति, "सम्मत्तपुरक्खडे" त्ति सम्यक्त्वं पुरस्कृतं येन तस्मिन्, आसन्नसम्यक्त्वे जीवेऽनिवृत्तिकरणं भवतीत्यर्थः। एतस्मिंश्चान्तरकरणे कृते सति तस्य मिथ्यात्वकर्मणः स्थितिद्वयं भवति। अन्तरकरणादधस्तनी प्रथमा स्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, तस्मादेवान्तरकरणादुपरितनी शेषा द्वितीया स्थितिः। स्थापना .... । तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकवेदनादसौ मिथ्यादृष्टिरेव। अन्तर्मुहूर्तेन पुनस्तस्यामपगतायामन्तरकरणप्रथमसमय एव औपशमिकसम्यक्त्वमवाप्नोति, मिथ्यात्वदलिकवेदनाभावात्। यथा हि वनदावानलः

---

१ तस्या अपि स्तोकमात्रे क्षपितेऽत्रान्तरे जीवस्य। भवति हि अभिन्नपूर्वो ग्रन्थिरेवं जिना ब्रुवते ॥ ग्रन्थिरिति सुदुर्भेदः कर्कशघनरूढगूढग्रन्थिरिव। जीवस्य कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणामः ॥ २ यावद् ग्रन्थिस्तावत् प्रथमं ग्रन्थिं समतिक्रामतो भवेद् द्वितीयम्। अनिवृत्तिकरणं पुनः पुरस्कृतसम्यक्त्वे जीवे ॥

पूर्वदग्धेन्धनमूषरं वा देशमवाप्य विध्यायति तथा मिथ्यात्वेन्धनमनवाप्योऽप्यन्तरकरणमवाप्य विध्यायति, तथा च सति तस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभः । यदाहुः श्रीपूज्यपादाः-

[1]ऊसरदेसं दड्ढिल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प ।
इय मिच्छस्स अणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ (विशेषा. गा. २७३४) इति।

न्यावर्णितं ग्रन्थिभेदसम्भवमौपशमिकसम्यक्त्वम् । अथोपशमश्रेणिसम्भवमौपशमिकसम्यक्त्वं त्रिभुवनजनप्रथितप्रवचनोपनिषद्वेदिश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रणीतगाथाभिरेव भाव्यते—

[2]उवसामगसेढीए, पट्ठवओ अप्पमत्तविरओ त्ति ।
पज्जवसाणे सो वा, होइ पमत्तो अविरओ वा ॥
अन्ने भणंति अविरय-देस-पमत्ता-ऽपमत्तविरयाणं ।
अन्नयरो पडिवज्जइ, दंसणसमयम्मि उ नियट्टी ॥
(विशेषा० गा० १२८५-१२८६)

[3]संजलणाईण समो, जुत्तो संजोयणादओ जे उ ।
ते पुव्वि चिय समिया, नणु सम्मत्ताइलाभम्मि ॥ (विशेषा० गा० १२९०)

आचार्यः—

[4]आसि खओवसमो सिं, समोऽहुणा भणइ को विसेसो सिं ।
नणु खीणम्मि उइन्ने, सेसोवसमे खओवसमो ॥
सो चेव नणूवसमो, उइए खीणम्मि सेसए समिए ।
सुहुमोदयया मीसे, न तूवसमिए विसेसोऽयं ॥
वेएइ संतकम्मं, खओवसमिएसु नाणुभागं सो ।
उवसंतकसाओ पुण, वेएइ न संतकम्मं पि ॥ (विशेषा० गा० १२९१-९३)

---

१ ऊषरदेशं दग्धं च विध्यायति वनदवः प्राप्य । इति मिथ्यात्वस्यानुदये औपशमिकसम्यक्त्वं लभते जीवः ॥ २ उपशमकश्रेण्याः प्रस्थापकोऽप्रमत्तविरत इति । पर्यवसाने स वा भवति प्रमत्तोऽविरतो वा ॥ अन्ये भणन्त्यविरतदेशप्रमत्ताप्रमत्तविरतानाम् । अन्यतरः प्रतिपद्यते दर्शनसमये तु निवृत्तिः ॥ ३ आक्षे संज्वलनादीनां शमो युक्तः संयोजनादयो ये तु । ते पूर्वमेव शमिताः ननु सम्यक्त्वादिलाभे ॥ ३ ननु क्षीणे ०समणम्मि-०शमने ॥ ४ आसीत् क्षयोपशम एषां शमोऽधुना भण्यते को विशेषोऽनयोः ? । ननु क्षीणे उदीर्णे शेषोपशमे क्षयोपशमः ॥ स एव ननूपशमः उदिते क्षीणे शेषके शमिते । सूक्ष्मोदयता मिश्रे न तूप-पशमिके विशेषोऽयम् ॥ वेदयति सत्कर्म क्षायोपशमिकेषु नानुभागं सः । उपशान्तकषायः पुनर्वेदयति न सत्कर्माणि ॥

'संजोयणाइयाणं, नणुदओ संजयस्स पडिसिद्धो ।
सच्चमिह सोऽणुभागं, पडुच्च न पएसकम्मं तु ॥
भणियं च सुए जीवो, वेएइ न वाऽणुभागकम्मं तु ।
जं पुण पएसकम्मं, नियमा वेएइ तं सव्वं ॥
नाणुदियं निज्जरए, नासंतमुदेइ जं तओऽवस्सं ।
सव्वं पएसकम्मं, वेएउं मुच्चए सव्वो ॥
किह दंसणाइघाओ, न होइ संजोयणाइवेयणओ ।
मंदाणुभावयाए, जहाऽणुभावम्मि वि कहिंचि ॥
निच्चमुइन्नं पि जहा, सयलचउन्नाणिणो तदावरणं ।
न वि घाइ मंदयाए, पएसकम्मं तहा नेयं ॥ (विशेषा० गा० १२९४–९८)

इव
मे

(५-३-१२६) कर्तर्यनट्प्रत्ययः, सति ह्यस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखदो निःश्रेयसतरुबीजभूतो ग्रन्थिभेदसम्भवौपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयमात्रेण उत्कर्षतः षड्भिरावलिकाभिरा- गच्छतीति, ततः सह आसादनेन वर्तत इति सासादनम् । यद्वा सास्वादनं तत्र सम्यक्त्वलक्षण- रसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनम्, यथा हि भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तपुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति तथाऽत्रापि गुणस्थाने मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तस्य पुरुषस्य सम्यक्त्वमुद्वमतस्तद्रसास्वादो भवतीति इदं सास्वादनमुच्यत इति । तथा "सन्नि" त्ति विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाक् संज्ञी, इतरोऽसंज्ञी सर्वोऽप्येकेन्द्रियादिः ॥१३॥

आहारेयर भेया, सुरनरयविभंगमइसुओहिदुगे ।
सम्मत्ततिगे पम्हासुक्कासन्नीसु सन्निदुगं ॥१४॥

[illegible]मन्यतममाहारमाहारयतीत्याहारकः । 'इतरः' अनाहारको [illegible] [illegible] "भेय" त्ति चतुर्दशमूलमार्गणास्थानानामिमेऽवान्तराश्चतुरादिसङ्ख्या भेदा भवन्ति [illegible] [illegible] । तथाहि–गतिश्चतुर्धा, इन्द्रियं पञ्चधा, कायः षोढा, योगस्त्रिधा, [illegible] [illegible] अज्ञानत्रिकमिति ज्ञानमार्गणास्थानमष्टधा, संयमपञ्चकं देश- [illegible] [illegible], लेश्या षोढा, भव्योऽभव्यश्चेति भव्यमार्गणास्थानं द्विधा, [illegible] [illegible] सम्यक्त्वमार्गणास्थानं षोढा, संज्ञिमार्गणास्थानं [illegible] [illegible] मार्गणास्थानं द्विधा । सर्वेऽप्येते एकत्र मील्यन्ते तत [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

गृह्यते, न लब्ध्यपर्याप्तः, तस्य मिथ्यादृष्टित्वाद् अशुभलेश्याकत्वाद् असंज्ञिकत्वाच्चेति । आह–क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकेषु कथं संज्ञी अपर्याप्तको लभ्यते ? उच्यते–इह यः कश्चित् पूर्वबद्धायुष्कः क्षपकश्रेणिमारभ्यानन्तानुबन्ध्यादिसप्तकक्षयं कृत्वा क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य यदा गतिचतुष्टयस्यान्यतरस्यां गतावुत्पद्यते तदा सोऽपर्याप्तः क्षायिकसम्यक्त्वे प्राप्यते, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वयुक्तश्च देवादिभवेभ्योऽनन्तरमिहोत्पद्यमानस्तीर्थंकरादिरपर्याप्तकः सुप्रतीत एव । औपशमिकं सम्यक्त्वं पुनरपर्याप्तावस्थायामनुत्तरसुरस्य द्रष्टव्यम् ।

इहौपशमिकसम्यक्त्वमपर्याप्तस्य केचिद् नेच्छन्ति, तथा च ते प्राहुः–न तावदस्यामेवापर्याप्तावस्थायामिदं सम्यक्त्वमुपजायते, तदानीं तस्य तथाविधविशुद्ध्यभावात्; अथैतत्तदानीं मोत्पादि, यत्तु पारभविकं तद् भवतु, केन विनिवार्यत इति मन्येथास्तदपि न युक्तियुक्तमुत्पश्यामः, यतो यो मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रथमतया सम्यक्त्वमौपशमिकमवाप्नोति स तावत्तद्भावमापन्नः सन् कालं न करोत्येव । यदुक्तमागमे—

[1]अणबंधोदयमाउगबंधं कालं च सासणो कुणई ।
उवसमसम्मद्दिट्ठी, चउण्हमिक्कं पि नो कुणई ॥

उपशमश्रेणेर्मृत्वाऽनुत्तरसुरेषूत्पन्नस्याऽपर्याप्तकस्यैतल्लभ्यते इति चेद् नन्वेतदपि न बहु मन्यामहे, तस्य प्रथमसमय एव सम्यक्त्वपुद्गलोदयात् क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं भवति न त्वौपशमिकम् । उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ–

[2]जो उवसमसम्मद्दिट्ठी उवसमसेढीए कालं करेइ सो पढमसमए चेव सम्मत्तपुंजं उदयावलियाए छोढूण सम्मत्तपुग्गले वेएइ, तेण न उवसमसम्मद्दिट्ठी अपज्जत्तगो लब्भइ इत्यादि ।

तस्मात् पर्याप्तसंज्ञिलक्षणमेकमेव जीवस्थानकमत्र प्राप्यत इति स्थितम् ।

अपरे पुनराहुः–भवत्येवापर्याप्तावस्थायामप्यौपशमिकं सम्यक्त्वम्, सप्ततिचूर्ण्यादिषु तथाभिधानात् । सप्ततिचूर्णौ हि गुणस्थानकेषु नामकर्मणो बन्धोदयादिमार्गणावसरेऽविरतसम्यग्दृष्टेरुदयस्थानचिन्तायां पञ्चविंशत्युदयः सप्तविंशत्युदयश्च देवनारकानधिकृत्योक्तः, तत्र नारकाः क्षायिकवेदकसम्यग्दृष्टयः, देवास्तु त्रिविधसम्यग्दृष्टयोऽपि । तथा च तद्ग्रन्थः–

[3]पणवीससत्तावीसोदया देवनेरइए पडुच्च, नेरइगो [4]खयगवेयगसम्मद्दिट्ठी

---

१ अनन्तानुबन्धिबन्धोदयं आयुर्बन्धं कालं च सासादनः करोति । औपशमिकसम्यग्दृष्टिश्चतुर्णामेकमपि न करोति ॥ २ य उपशमसम्यग्दृष्टिरुपशमश्रेणौ कालं करोति स प्रथमसमय एव सम्यक्त्वपुञ्जमुदयावलिकायां क्षिप्त्वा सम्यक्त्वपुद्गलान् वेदयति तेन नोपशमसम्यग्दृष्टिरपर्याप्तको लभ्यते ॥ ३ पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ देवनैरयिकान् प्रतीत्य, नैरयिकः क्षायिकवेदकसम्यग्दृष्टिर्देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि ॥ ४ खइग क० ख० ग० घ० ङ० ॥

दस चरम तसे अजयाहारग तिरि तणु कसाय दु अनाणे ।
पढमतिलेसा भवियर अचक्खु नपु मिच्छि सव्वे वि ॥ १६ ॥

'त्रसे' त्रसकाये 'चरमाणि' अन्तिमानि पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि दश जीवस्थानानि भवन्ति, द्वीन्द्रियादीनामेव त्रसत्वात् । 'अयते' अविरते सर्वाण्यपि जीवस्थानानि भवन्ति । तथा आहारके "तिरि" त्ति तिर्यग्गतौ 'तनुयोगे' काययोगे कषायचतुष्टये 'द्वयोरज्ञानयोः' मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपयोः 'प्रथमत्रिलेश्यासु' कृष्णलेश्यानीललेश्याकापोतलेश्यालक्षणासु भव्ये 'इतरस्मिन्' अभव्ये "अचक्खु" त्ति अचक्षुर्दर्शने "नपु" त्ति नपुंसकवेदे "मिच्छि" त्ति मिथ्यात्वे 'सर्वाण्यपि' चतुर्दशापि जीवस्थानकानि भवन्ति, सर्वजीवस्थानकव्यापकत्वाद् अयतादीनामिति ॥ १६ ॥

पजसन्नी केवलदुगे, संजय मणनाण देस मण मीसे ।
पण चरम पज्ज वयणे, तिय छ व पज्जियर चक्खुम्मि ॥ १७ ॥

"पजसन्नि" त्ति पर्याप्तसंज्ञिलक्षणमेकमेव जीवस्थानं भवति । क्व? इत्याह—'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणे 'संयतेषु' सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायथाख्यातरूपपञ्चप्रकारसंयमवत्सु "मणनाण" त्ति मनःपर्यायज्ञाने "देस" त्ति देशयते—देशविरते श्रावक इत्यर्थः, "मण" त्ति मनोयोगे "मीस" त्ति मिश्रे—सम्यग्मिथ्यादृष्टौ । तत्र केवलद्विके संयतेषु मनःपर्यायज्ञाने देशविरते च संज्ञिपर्याप्तलक्षणं जीवस्थानकं विना नान्यद् जीवस्थानकं सम्भवति, तत्र सर्वविरतिदेशविरत्योरभावात् । मनोयोगेऽ[1]प्येतदन्तरेणाऽन्यद् जीवस्थानकं न घटते, तत्र मनःसद्भावायोगात् । मिश्रे पुनः पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरेकेण शेषं जीवस्थानकं तथाविधपरिणामाभावादेव न सम्भवतीति । तथा पञ्च जीवस्थानानि 'चरमाणि' अन्तिमानि 'पर्याप्तानि' पर्याप्तद्वीन्द्रियपर्याप्तत्रीन्द्रियपर्याप्तचतुरिन्द्रियपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि "वयण" त्ति वचनयोगे—वाग्योगे भवन्ति न शेषाणि, तेषु वाग्योगासम्भवात् । "तिय छ व पज्जियर चक्खुम्मि" त्ति चक्षुर्दर्शने त्रीणि जीवस्थानानि पर्याप्तचतुरिन्द्रियपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपाणि नान्यानि, तेषु चक्षुष एवाभावात् । अत्रैव मतान्तरेण विकल्पमाह—षड् वा जीवस्थानानि चक्षुर्दर्शने भवन्ति । कथम् ? इत्याह—"पज्जियर" त्ति पूर्वप्रदर्शितपर्याप्तत्रिकं सेतरमपर्याप्तत्रिकसहितं षड् भवन्ति । इदमुक्तं भवति—अपर्याप्तपर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपाणि षड् जीवस्थानानि चक्षुर्दर्शने भवन्ति, चतुरिन्द्रियादीनामिन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तानां शेषपर्याप्त्यपेक्षया अपर्याप्तानामपि आचार्यान्तरैश्चक्षुर्दर्शनाभ्युपगमात् ।

१ °प्येनमन्तरे° क° घ° ङ° ॥

यदुक्तं पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्—

करणापर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियादिषु इन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्दर्शनं भवति । (पत्र-५-१) इति ॥ १७ ॥

थीनरपणिंदि चरमा, चउ अणहारे दु सन्नि छ अपज्जा ।

ते सुहुमअपज्ज विणा, सासणि इत्तो गुणे वुच्छं ॥ १८ ॥

स्त्रीवेदे नरवेदे पञ्चेन्द्रिये च 'चरमाणि' अन्तिमानि पर्याप्तापर्याप्तासंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि चत्वारि जीवस्थानानि भवन्ति । यद्यपि च सिद्धान्ते असंज्ञी पर्याप्तोऽपर्याप्तो वा सर्वथा नपुंसक एवोक्तः । तथा चोक्तं श्रीभगवत्याम्—

ते [1]णं भंते ! असन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिया किं इत्थिवेयगा पुरिसवेयगा नपुंसगवेयगा ? गोयमा ! नो इत्थिवेयगा नो पुरिसवेयगा नपुंसगवेयगा (श० २४ उ० १ पत्र ८०६) इति । तथापीह स्त्रीपुंसलिङ्गाकारमात्रमङ्गीकृत्य स्त्रीवेदे नरवेदे चासंज्ञी निर्दिष्ट इत्यदोषः ।

उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्—

यद्यपि चासंज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ नपुंसकौ तथापि स्त्रीपुंसलिङ्गाकारमात्रमङ्गीकृत्य स्त्रीपुंसावुक्तौ (पत्र १०) इति ।

अपर्याप्तकश्चेह करणापर्याप्तको गृह्यते न लब्ध्यपर्याप्तकः, लब्ध्यपर्याप्तकस्य सर्वस्य नपुंसकत्वात् । अनाहारके "दु सन्नि छ अपज" त्ति द्विविधः संज्ञी पर्याप्तापर्याप्तलक्षणः षड् अपर्याप्ताश्चेत्यष्टौ जीवस्थानानि भवन्ति । अयमर्थः—अपर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि सप्त जीवस्थानानि अनाहारके विग्रहगतावेकं द्वौ त्रीन् वा समयान् यावद् आहारासम्भवात् सम्भवन्ति,

[2]विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समुहया अजोगी य ।

सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा ॥ (श्रावकप्र० गा० ९८)

इति वचनात् ; संज्ञिपर्याप्तलक्षणं जीवस्थानम् अनाहारके केवलिसमुद्घातावस्थायां तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु लभ्यते । उक्तं च—

कार्मणशरीरयोगी, तृतीयके पञ्चमे चतुर्थे च ।

समयत्रये च तस्मिन्, भवत्यनाहारको नियमात् ॥ (प्रश० का० २७७)

---

१ ते भदन्त ! असंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः किं स्त्रीवेदकाः पुरुषवेदकाः नपुंसकवेदकाः ? गौतम ! न स्त्रीवेदका न पुरुषवेदका नपुंसकवेदका इति ॥ २ विग्रहगतिमापन्नाः केवलिनः समुद्धता अयोगिनश्च । सिद्धाश्चानाहाराः शेषा आहारका जीवाः ॥

“ते सुहुमअपज्ज विणा सासणि” त्ति सास्वादने सम्यक्त्वे भवन्ति । एतानि षड् अपर्याप्त-पर्याप्तसंज्ञिद्विकलक्षणान्यष्टौ जीवस्थानानि सूक्ष्मापर्याप्तं विना सप्त भवन्ति । एतदुक्तं भवति—अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-लक्षणानि सप्त जीवस्थानकानि सास्वादनसम्यक्त्वे भवन्तीति, यत्पुनः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तलक्षणं जीव-स्थानं तत् सास्वादनसम्यक्त्वे न वर्तते इति, सास्वादनसम्यक्त्वस्य मनाक् शुभपरिणामरूपत्वात्, महासंक्लिष्टपरिणामस्य च सूक्ष्मैकेन्द्रियमध्ये उत्पादाभावात् । सूत्रे च सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययः प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचार्यपि । यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे “लिङ्गं व्यभिचार्यपि” इति । उक्तानि मार्गणास्थानकेषु जीवस्थानकानि । इत ऊर्ध्वमेतेष्वेव मार्गणास्थानकेषु “गुणि” त्ति गुणस्थानकानि ‘वक्ष्ये’ प्रतिपादयिष्य इति ॥ १८ ॥ अथ यथाप्रतिज्ञातमेव निर्वाहयन्नाह—

पण तिरि चउ सुरनरए, नर सन्नि पणिंदि भव्व तसि सव्वे ।
इग विगल भू दग वणे, दु दु एगं गइतस अभव्वे ॥ १९ ॥

पञ्च गुणस्थानकानि मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतिलक्षणानि “तिरि” त्ति तिर्यग्गतौ भवन्ति । चतुःशब्दस्य प्रत्येकं योगात् ‘सुरे’ ‘सुरगतौ चत्वारि प्रथमगुणस्थानकानि ‘नरके’ नरकगतौ च प्रथमानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति न देशविरतादीनि, तेषु भवस्वभावतो देशतोऽपि विरतेरभावादिति । ‘नरे’ नरगतौ ‘संज्ञिनि’ विशिष्टमनोविज्ञानभाजि पञ्चेन्द्रिये भव्ये ‘त्रसे’ त्रसकाये च ‘सर्वाण्यपि’ चतुर्दशापि गुणस्थानकानि भवन्ति, एतेषु मिथ्या-दृष्टयादीनामयोगिकेवल्यवसानानां सर्वभावानामपि सम्भवात् । “इग” त्ति एकेन्द्रियेषु सामान्यतः “विगल” त्ति ‘विकलेन्द्रियेषु’ द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु ‘भुवि’ पृथ्वीकाये ‘उदके’ अप्काये ‘वने’ वनस्पतिकाये “दु दु” त्ति ‘द्वे द्वे’ आद्ये मिथ्यात्वसासादनलक्षणे भवतः । तत्र मिथ्यात्व-मविशेषेण सर्वेषु द्रष्टव्यम्; सासादनं तु तेजोवायुवर्जबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियपृथिव्यम्बु-वनस्पतिषु लब्ध्या पर्याप्तकेषु करणेन त्वपर्याप्तकेषु, न सर्वेष्विति । तथा एकं मिथ्यात्वलक्षणं गुणस्थानकं भवति, केषु ? इत्याह—गत्या गमनेन त्रसाः न तु त्रसनामकर्मोदयाद् गतित्रसाः तेजोवायवस्तेषु, सासादनभावोपगतस्य तेषु मध्ये उत्पादाभावाद् अभव्येषु चेति ॥ १९ ॥

वेय तिकसाय नव दस, लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे ।
बारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहखाइ चरम चऊ ॥ २० ॥

‘वेदे’ वेदत्रये वेदत्रयाणां कषायाणां समाहारस्त्रिकषायं-क्रोधमानमायालक्षणं तस्मिन् त्रिकषाये “पढम” त्ति प्रथमानीति पदं डमरुकमणिन्यायेन सर्वत्र योज्यम् । ततो वेदे—स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणे कषायत्रये च प्रथमानि मिथ्यादृष्टयादीनि अनिवृत्तिबादरपर्यन्तानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति

न शेषाणि, अनिवृत्तिबादरगुणस्थान एव वेदत्रिकस्य कषायत्रिकस्य चोपशान्तत्वेन क्षीणत्वेन वा शेषेषु गुणस्थानेषु तदसम्भवात् । 'लोभे' लोभकषाये दश गुणस्थानानि, तत्र नव पूर्वोक्तानि दशमं तु सूक्ष्मसम्परायलक्षणम्, तत्र किट्टीकृतसूक्ष्मलोभकषायदलिकस्य वेद्यमानत्वात् । चत्वारि प्रथमानि 'अयते' विरतिहीन इत्यर्थः, कोऽर्थः ? विरतिहीने मिथ्यात्वसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्तीति । "दु ति अन्नाणतिगे" त्ति 'अज्ञानत्रिके' मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणे प्रथमे द्वे गुणस्थानके मिथ्यादृष्टिसास्वादनरूपे भवतः, न मिश्रमपि । यतो यद्यपि मिश्रगुणस्थानके यथास्थितवस्तुतत्त्वनिर्णयो नास्ति तथापि न तान्यज्ञानान्येव सम्यग्ज्ञानलेशव्यामिश्रत्वाद् अत एव न मिश्रगुणस्थानकमभिधीयते । उक्तं च—

मिथ्यात्वाधिकस्य मिश्रदृष्टेरज्ञानबाहुल्यं सम्यक्त्वाधिकस्य पुनः सम्यग्ज्ञानबाहुल्यम् (जिनवल्लभीयषडशीतिटीका पत्र १६०-२) इति ।

ज्ञानलेशसद्भावतो न मिश्रगुणस्थानकमज्ञानत्रिके लभ्यते इत्येके प्रतिपादयन्ति तन्मतमधिकृत्यास्माभिरपि 'द्वे' इत्युक्तम् ।

अन्ये पुनराहुः—अज्ञानत्रिके त्रीणि गुणस्थानानि, तद्यथा—मिथ्यात्वं सास्वादनं मिश्रदृष्टिश्च । यद्यपि " 'मिस्सम्मी वामिस्सा" (पञ्चसं० गा० २०) इति वचनाद् ज्ञानव्यामिश्राण्यज्ञानानि प्राप्यन्ते न शुद्धाज्ञानानि तथापि तान्यज्ञानान्येव, शुद्धसम्यक्त्वमूलत्वेनात्र ज्ञानस्य प्रसिद्धत्वात्, अन्यथा हि यद्यशुद्धसम्यक्त्वस्यापि ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा सास्वादनस्यापि ज्ञानाभ्युपगमः स्यात्, न चैतदस्ति, तस्याज्ञानित्वेनानन्तरमेवेह प्रतिपादितत्वात् तस्माद् अज्ञानत्रिके प्रथमं गुणस्थानकत्रयमवाप्यत इति ।

तन्मतमाश्रित्यास्माभिरपि 'त्रिकम्' इत्युक्तम् । तत्त्वं तु केवलिनो विशिष्टश्रुतविदो वा विदन्तीति । द्वादश प्रथमानि गुणस्थानकानि अचक्षुर्दर्शने चक्षुर्दर्शने च भवन्ति, यतो मिथ्यादृष्टिप्रभृतिक्षीणमोहपर्यन्तेषु गुणस्थानकेष्वचक्षुर्दर्शनचक्षुर्दर्शनसम्भवात् । यथाख्याते चारित्रे 'चरमाणि' अन्तिमानि उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति, एषु कषायाभावादिति ॥ २० ॥

मणनाणि सग जयाई, समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे ।
केवलदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइ सुओहिदुगे ॥ २१ ॥

'मनोज्ञाने' मनःपर्यवज्ञाने "सग" त्ति सप्त गुणस्थानानि भवन्ति । कानि ? इत्याह—'यतादीनि' तत्र "यमू उपरमे" यमनं यतं सम्यक् सावद्याद् उपरमणमित्यर्थः, यतं विद्यते यस्य

१ मिश्रे व्यामिश्राणि ॥

न यतः-प्रमत्तयतिः, यत आदौ येषां तानि यतादीनि-प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानीति। सामायिके छेदोपस्थापने च चत्वारि यतादीनि गुणस्थानानि, प्रमत्ताप्रमत्तनिवृत्तिबादरानिवृत्तिबादराणीत्यर्थः द्वे गुणस्थानके प्रमत्ताप्रमत्तरूपे परिहारविशुद्धिकचारित्र इत्यर्थः, नोत्तराणि, तस्मिन् चारित्रे वर्तमानस्य श्रेण्यारोहणप्रतिषेधात्। 'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे द्वे गुणस्थाने भवतः, के? इत्याह–'चरमे' अन्तिमे सयोगिकेवलिगुणस्थानकायोगिकेवलिगुणस्थानके इति। "अजयाइ नव मइसुओहिदुगे" त्ति अयतः-अविरतः स आदौ येषां तान्ययतादीनि–अविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणमोहपर्यवसानानि नव गुणस्थानानि भवन्ति 'मतौ' मतिज्ञाने 'श्रुते' श्रुतज्ञाने 'अवधिद्विके' अवधिज्ञानावधिदर्शनरूपे, न शेषाणि। तथाहि–न मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानानि मिथ्यादृष्टिसासादनयोः

अड उवसमि चउ वेयगि, खइगे इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
सुहुमे य सठाणं तेर जोग आहार सुक्काए ॥ २२ ॥

काकाक्षिगोलकन्यायाद् इह "अय[1]तादीनि" [इति] पदं सर्वत्र योज्यते । ततोऽयतादीन्युपशा-
न्तमोहान्तान्यष्टौ गुणस्थानान्यौपशमिकसम्यक्त्वे भवन्ति । अयतादीन्यप्रमत्तान्तानि चत्वारि
'वेदके' क्षायोपशमिकापरपर्याये गुणस्थानकानि भवन्ति । क्षायिकसम्यक्त्वे अयतादीन्ययोगिकेव-
लिपर्यवसानान्येकादश गुणस्थानकानि भवन्ति । तथा 'मिथ्यात्वत्रिके' मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्र-
लक्षणे 'देशे' देशविरते 'सूक्ष्मे' सूक्ष्मसम्पराये 'चः' समुच्चये 'स्वस्थानं' निजस्थानम् । इदमुक्तं
भवति-मिथ्यात्वमार्गणास्थाने मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, सासादनमार्गणास्थाने सासादनं गुणस्था-
नम्, मिश्रे मार्गणास्थाने मिश्रं गुणस्थानम्, देशसंयममार्गणास्थाने देशविरतंगुणस्थानम्, सूक्ष्म-
सम्परायसंयममार्गणास्थाने सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् । तथा 'योगे' मनोवाक्कायलक्षणे अयोगि-
केवलिवर्जितानि शेषाणि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, सर्वेष्वप्येतेषु यथायोगं योगत्रयस्यापि
सम्भवात् । तथा आहारकेषु आद्यानि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, सर्वेष्वप्येतेषु ओजोलोम-
प्रक्षेपाहाराणामन्यतमस्याहारस्य यथायोगं सम्भवात् । तथा 'सुक्काए' त्ति शुक्ललेश्यायां प्रथमानि
त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, न त्वयोगिकेवलिगुणस्थानम्, तस्य लेश्यातीतत्वादिति ॥२२॥

अस्सन्निसु पढमदुगं, पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त ।
पढमंतिमदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥ २३ ॥

'असंज्ञिषु' संज्ञिव्यतिरिक्तेषु प्रथमं मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षणं गुणस्थानकद्वयं भवति । तत्र
मिथ्यात्वमविशेषेण सर्वत्र द्रष्टव्यम्, सासादनं तु लब्धिपर्याप्तकानां
(ग्रन्थाग्रम् -१०००) करणापर्याप्तावस्थायामिति । प्रथमासु तिसृषु लेश्यासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि प्रमत्तान्तानि षड् गुणस्था-
नानि भवन्ति । 'चः' समुच्चये । कृष्णनीलकापोतलेश्यानां हि प्रत्येकमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेश-
प्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि, ततो मन्दसंक्लेशेषु तदध्यवसायस्थानेषु तथाविधसम्यक्त्वदेशविरति-
सर्वविरतीनामपि सद्भावो न विरुध्यते । उक्तं च—

सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनां प्रतिपत्तिकाले शुभलेश्यात्रयमेव भवति । उत्तरकालं तु सर्वा
अपि लेश्याः परावर्तन्तेऽपि इति ।

श्रीमदाराध्यपादा अप्याहुः—

[2]सम्मत्तसुयं सव्वासु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्तं ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरीए उ लेसाए ॥ (आव० नि० गा० ८२२)

---

१ ०तादीवि प० क० ॥ २ सम्यक्त्वश्रुतं सर्वासु लभते शुद्धासु तिसृषु च चारित्रम् । पूर्वप्रतिपन्नः पुनरन्यतरस्यां तु लेश्यायाम् ॥

श्रीभगवत्यामप्युक्तम्—

'सामाइयसंजए णं भंते ! कइलेसासु हुज्जा ? गोयमा ! छसु लेसासु होज्जा, एवं छेओवट्ठावणियसंजए वि (श० २५ उ० ७ पत्र ९१३-१) इत्यादि ।

तथा 'द्वयोः' तेजोलेश्यापद्मलेश्ययोः सप्त गुणस्थानानि भवन्ति, तत्र षट् पूर्वोक्तान्येव सप्तमं त्वप्रमत्तगुणस्थानकम् , अप्रमत्तसंयताध्यवसायस्थानापेक्षया मिथ्यादृष्ट्यादीनां प्रमत्तान्तानां तेजोलेश्यापद्मलेश्ये तारतम्येन जघन्यात्यन्ताविशुद्धिके द्रष्टव्ये । तथा अनाहारके पञ्च गुणस्थानानि भवन्ति । कानि ? इत्याह—'प्रथमान्तिमद्विकाऽयतानि' इति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योगात् प्रथमद्विकं—मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षणम् अन्तिमद्विकं—सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणम् 'अयतः' इत्यविरतसम्यग्दृष्टिश्चेति । तत्र मिथ्यात्वसास्वादनाविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणं गुणस्थानकत्रयमनाहारके [illegible] प्राप्यते, सयोगिकेवलिगुणस्थानकं त्वनाहारके समुद्घातावस्थायां तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु द्रष्टव्यम् । यदवादि—"चतुर्थतृतीयपञ्चमेष्वनाहारकः" इति । अयोगिकेवल्यवस्थायां [illegible] पुद्गलग्रहणाभावाद् अनाहारकत्वम् , "औदारिकवैक्रियाहारक [illegible] आहारः" इति प्रवचनोपनिषद्वेदिनः । एवं मार्गणास्थानेषु गत्यादि[illegible] ॥ २३ ॥

[illegible] योगानभिधित्सुः प्रथमं तावद्योगानेव स्वरूपत आह—

[illegible] निउव्वियाहारा ।

[illegible], इय जोगा कम्ममणाहारे ॥ २४ ॥

[illegible] मनःप्रभृत्येव [illegible]

[illegible] मनोयोगश्चतुर्धा, तद्यथा—सत्यमनोयोगः १ असत्यमनो[illegible]

[illegible] मनोयोगः ४ । तत्र सन्तो मुनयः पदार्था वा, [illegible]

[illegible]

द्भावाद् असत्य इति सत्यासत्यमनोयोग इति, व्यवहारनयमतापेक्षया चैवमुच्यते, परमार्थतः पुनर-
मसत्य एव यथाविकल्पितार्थायोगात् ३ । न विद्यते सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते मृषा यत्र
सोऽमृषः, असत्यश्चासावमृषश्च "वर्ते नञादिभिन्नैः" (सि० ३-१-१०५) इति कर्मधारयः,
असत्यामृषश्चासौ मनोयोगश्च असत्यामृषमनोयोगः ४ । इह विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञ-
मतानुसारेण यद् विकल्प्यते, यथाऽस्ति जीवः सदसद्रूप इत्यादि, तत् किल सत्यं परिभाषितम्
आराधकत्वात् । यत्तु विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठाशया सर्वज्ञमतोत्तीर्णं किञ्चिद् विकल्प्यते, यथा
नास्ति जीव एकान्तनित्यो वेत्यादि, तद् असत्यमिति परिभाषितं विराधकत्वात् । यत् पुनर्वस्तु-
प्रतिष्ठाशामन्तरेण स्वरूपमात्रप्रतिपादनपरं व्यवहारपतितं किञ्चिद् विकल्प्यते' यथा हे देवदत्त !
घटमानय गां देहि मह्यमित्यादि, तद् एतत् स्वरूपमात्रप्रतिपादनं व्यावहारिकं विकल्पज्ञानम् ।
न यथोक्तलक्षणं सत्यं नापि मृषेत्यसत्यामृषमनोयोग इति व्याख्यातश्चतुर्धा मनोयोगः । "वइ"
त्ति वाग्योगोऽपि चतुर्धा द्रष्टव्यः, तथाहि--सत्यवाग्योगः १ असत्यवाग्योगः २ सत्यासत्य-
वाग्योगः ३ असत्यामृषवाग्योगः ४ । तत्र सतां हिता सत्या, सत्या चासौ वाक् च सत्यवाक्,
तया सहकारिकारणभूतया योगो [सत्य]वाग्योगः, अथवा वचनगतं सत्यत्वं तत्कार्यत्वाद् योगे-
ऽप्युपचर्यते, ततश्च सत्यश्चासौ वाग्योगश्च सत्यवाग्योगः, भावार्थः सत्यमनोयोगवद् वाच्यः १ ।
असत्या-सत्याद् विपरीता सा चासौ वाक् चाऽसत्यवाक् तया योगोऽसत्यवाग्योगः २ । तथा
सत्या चासावसत्या चेत्यादि पूर्ववत् कर्मधारयो बहुव्रीहिर्वा, सा चासौ वाक् च सत्यासत्यवाक्,
तत्प्रत्ययो योगः सत्यासत्यवाग्योगः ३ । न विद्यते सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते मृषा यत्र
सोऽमृषः, असत्यश्चासावमृषश्चासत्यामृषः, स चासौ वाग्योगश्च असत्यामृषवाग्योगः, शेषं मनो-
योगवत् सर्वं वाच्यम् ४ । अत्र तृतीयचतुर्थौ मनोयोगौ वाग्योगौ च परिस्थूरव्यवहारनयमतेन
द्रष्टव्यौ । निश्चयनयमतेन तु मनोज्ञानं वचनं वा सर्वमदुष्टविवक्षापूर्वकं सत्यम्, अज्ञानादि-
दूषिताशयपूर्वकं त्वसत्यम्, उभयानुभयरूपं तु नास्त्येव सत्यासत्यराशिद्वयेऽन्तर्भावादिति भाव-
नीयम् । तथा काययोगः सप्तधा-वैक्रियकाययोग आहारककाययोगः "उरल" त्ति औदारिक-
काययोगः "मीस" त्ति मिश्रशब्दस्य पूर्वदर्शितशरीरत्रिकेण सह सम्बन्धाद् वैक्रियमिश्र-
काययोग आहारकमिश्रकाययोग औदारिकमिश्रकाययोगः "कम्मण" त्ति कार्मणकाययोग इत्य-
क्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्-विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियम् । तथाहि-
तदेकं भूत्वाऽनेकं भवति, अनेकं भूत्वैकम् अणु भूत्वा महद् भवति, महद् भूत्वाऽणु, तथा खचरं
भूत्वा भूमिचरं भवति, भूमिचरं भूत्वा खचरम्, अदृश्यं भूत्वा दृश्यं भवति, दृश्यं भूत्वाऽदृश्य-
मित्यादि । यद्वा विशिष्टं कुर्वन्ति तदिति वैकुर्विकम्, पृषोदरादित्वाद् अभीष्टरूपसिद्धिः । तच्च
द्विधा--औपपातिकं लब्धिप्रत्ययं च । तत्रौपपातिकमुपपातजन्मनिमित्तम्, तच्च देवनारकाणाम्,

लब्धिप्रत्ययं तिर्यङ्मनुष्याणाम् । उक्तं च श्रीमदनुयोगद्वारलघुवृत्तौ—

[1]विविहा विसिट्ठगा वा, [2]किरिया तीए अ जं भवं तमिह ।
नियमा विउव्वियं पुण, नारगदेवाण पयईए ॥ (पत्र. ८७)

तदेव काययोगस्तन्मयो वा योगो वैक्रिययोगो वैकुर्विककाययोगो वा १ । वैक्रियं मिश्रं यत्र कार्मणेन औदारिकेण वा स वैक्रियमिश्रः, तत्र कार्मणेन मिश्रं देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायां प्रथमसमयादनन्तरम्, बादरपर्याप्तकवायोः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां च वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियारम्भकाले वैक्रियपरित्यागकाले वा औदारिकेण मिश्रम्, ततो वैक्रियमिश्रश्चासौ कायश्च वैक्रियमिश्रकायस्तेन योगो वैक्रियमिश्रकाययोगः २ । चतुर्दशपूर्वविदा तथाविधकार्योत्पत्तौ विशिष्टलब्धिवशाद् आह्रियते निर्वर्त्यत इत्याहारकम्, अथवाऽऽह्रियन्ते गृह्यन्ते तीर्थकरादिसमीपे सूक्ष्मा जीवादयः पदार्था अनेनेत्याहारकम् । "कृद्बहुलं" (बहुलम् सि० ५-१-२) इति कर्मणि करणे वा णकः । यदवादि—

[3]कज्जम्मि समुप्पन्ने, सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए ।
जं इत्थ आहरिज्जइ, भणंति आहारगं तं तु ॥ (अनु. हा. टी. पत्र ८७)
पाणिदयरिद्धिसंदरिसणत्थमत्थोवगहणहेउं वा ।
संसयवुच्छेयत्थं, गमणं जिणपायमूलम्मि ॥
(अनु. चू. पत्र ६१, अनु. हा. टी. पत्र ८७)

तदेव कायस्तेन योग आहारककाययोगः ३ । आहारकं मिश्रं यत्र औदारिकेणेति गम्यते स आहारकमिश्रः, सिद्धप्रयोजनस्य चतुर्दशपूर्वविद आहारकं परित्यजत औदारिकमुपाददानस्य आहारकं प्रारभमाणस्य वा प्राप्यते, स एव कायस्तेन योग आहारकमिश्रकाययोगः ४ । तथा औदारिककाययोगः, इह प्रसिद्धसिद्धान्तसन्दोहविवरणप्रकरणप्रमाणग्रन्थप्रथनावाप्तसुधांशुधामधवलयशःप्रसरधवलितसकलमुनिवरावलयप्रभुश्रीहरिभद्रसूरिदर्शिता व्युत्पत्तिर्लिख्यते—

[4]तत्थ ताव उदारं उरालं [5]उरलं ओरालं वा । तित्थगरगणधरसरीराइं पडुच्च उदारं वुच्चइ, न तओ उदारतरमन्नमत्थि त्ति [6]काउं, उदारं नाम प्रधानम् । उरालं नाम विस्तरालं विशालमिति

---

१ [illegible] विशिष्टा वा क्रिया तस्यां च यद् भवं तदिह । नियमाद् वैकुर्विकं पुनः नारकदेवानां प्रकृत्या । [illegible] २ [illegible] तस्यां च तदिह । अनुयोगद्वारलघुवृत्तौ ॥ ३ कार्ये समुत्पन्ने श्रुतकेवलिना विशिष्ट[illegible] [illegible] भणन्ति आहारकं तत् तु ॥ प्राणिदयर्द्धिसन्दर्शनार्थमर्थावग्रहणहेतुर्वा । संशयव्यु[illegible] [illegible] ४ तत्र तावदुदारमुरालमुरलमोरालं वा । तीर्थकरगणधरशरीराणि प्रतीत्य [illegible] [illegible] उदारतरमन्यदस्तीति कृत्वा ॥ ५ ओरालं ओरालियं अनुयोगद्वारचूर्णौ । ६ [illegible] [illegible] अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥

२४]

ा, [1]जं भणियं होइ, कहं ? साइरेगजोयणसहस्समवट्ठियप्पमाणमोरालियं, अन्नमिद्दहमित्तं नत्थि, वेउव्वियं हुज्ज लक्खमहियं, अवट्ठियं पंचधणु[2]सयाइं अहे सत्तमाए, इत्थं पुण अवट्ठियपमाणं अइरेगं जोयणसहस्सं वनस्पत्यादीनामिति । उरलं नाम स्वल्पप्रदेशोपचितत्वाद् बृहत्त्वाच्च भिण्डवत् । [3]ओरालं नाम मांसास्थिस्नाय्वाद्यवयवबद्धत्वात् । ([4]अनु. हा. टी. पत्र ८७)

श्रीपूज्या अप्याहुः—

[5]तत्थोदारमु[6]रालं, ओरालमहव महल्लगत्तेण ।
ओरालियं ति पढमं, पडुच्च तित्थेसरसरीरं ॥
भण्णइ य तहोरालं, वित्थरवंतं वणस्सतिं पप्प ।
पयईइ नत्थि अन्नं, इद्दहमित्तं विसालं ति ॥
उरलं थेवपएसोवचियं पि महल्लगं जहा भिंडं ।
मंसट्ठिण्हारुवद्धं, ओरालं समयपरिभासा ॥ (अनु. हा. टी. पत्र ८७)

सर्वत्र स्वार्थिक इकप्रत्ययः, उदारमेव उरालमेव उरलमेव ओरालमेव औदारिकम् , पृषोदरादित्वाद् इष्टरूपनिष्पत्तिः, औदारिकमेव चीयमानत्वात् कायः, तेन सहकारिकारणभूतेन तद्विषयो वा योग औदारिककाययोगः ५ । तथा औदारिकं मिश्रं यत्र कार्मणेनेति गम्यते स औदारिकमिश्रः, उत्पत्तिदेशे हि पूर्वभवादनन्तरमागतो जीवः प्रथमसमये कार्मणेनैव केवलेनाऽऽहारयति, ततः परमौदारिकस्याऽप्यारब्धत्वाद् औदारिकेण कार्मणमिश्रेण यावत् शरीरनिष्पत्तिः । यदाह ाकलश्रुताम्भोनिधिपारदृश्वा विश्वानुग्रहकाम्यया निर्मितानेकशास्त्रसन्दर्भः **श्रीभद्रबाहुस्वामी**–

[7]जोएण कम्मएणं, आहारेई अणंतरं जीवो ।
तेण परं मीसेणं, जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥

केवलिसमुद्घातावस्थायां तु द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु कार्मणेन मिश्रमौदारिकं प्रतीतमेव, "मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥" (प्रश० का० २७६) इति वचनात् , औदारिक-

१ यद् भणितं भवति, कथं सातिरेकयोजनसहस्रमवस्थितप्रमाणमौदारिकम् , अन्यदेतावन्मात्रं नास्ति, वैक्रियं भवेद् लक्षाधिकम् , अवस्थितं पञ्च धनुःशतानि अधः सप्तम्याम्, अत्र पुनः अवस्थितप्रमाणं सातिरेकं योजनसहस्रम् ॥ २ ०सतं, इमं पु० अनुयोगद्वारचूर्णिलघुवृत्त्योः ॥ ३ ओरल्लियं अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ ४ समग्रोऽप्येष पाठः अनुयोगद्वारचूर्णावपि पत्र ६०–६१ तमेऽस्ति ॥ ५ तत्रोदारमुरालं ओरालमथवा महत्तया । औदारिकमिति प्रथमं प्रतीत्य तीर्थेश्वरशरीरम् ॥ भण्यते च तथोरालं विस्तारवद् वनस्पतिं प्राप्य । प्रकृत्या नास्त्यन्यद् एतावन्मात्रं विशालमिति ॥ उरलं स्तोकप्रदेशोपचितमपि महद्यथा भिण्डम् । मांसास्थिस्नायुबद्धमोरालं समयपरिभाषा ॥ ६ ०रालं उरलं ओरालमहव विण्णेयं । इति अनुयोगद्वारलघुवृत्तौ पाठः ॥ ७ योगेन कार्मणेनाहारयत्यनन्तरं जीवः । ततः परं मिश्रेण यावच्छरीरस्य निष्पत्तिः ॥

औदारिकद्विकेन—औदारिकौदारिकमिश्रलक्षणेन ऊनाः—हीना एकादश योगाः 'सुरे' सुरगतौ 'नरके' नरकगतौ भवन्ति । अयमर्थः—कार्मणयोगचतुर्विधमनोवचनवैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणा एकादश योगाः सुरेषु नारकेषु च भवन्ति । तत्र कार्मणमन्तरालगत्युत्पत्तिप्रथमसमय एव, वैक्रियमिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, पर्याप्तावस्थायां तु वैक्रियं मनोवचोयोगचतुष्टयं च । यत् पुनरौदारिकद्विकं तद् भवप्रत्ययादेव देवनारकाणां न सम्भवति । आहारकद्विकं तु सुरनारकाणां भवस्वभावतया विरत्यभावेन सर्वविरतिसम्भवचतुर्दशपूर्वाधिगमाभावान्न सम्भवतीति ॥ २६ ॥

कम्मुरलदुगं थावरि, ते सविउव्विदुग पंच इगि पवणे ।
छ असन्नि चरमवइजुय, ते विउव्विदुगूण चउ विगले ॥ २७ ॥

कार्मणम् 'औदारिकद्विकम्' औदारिकौदारिकमिश्रलक्षणमिति त्रयो योगाः । क्व ? इत्याह—"थावरि" त्ति स्थावरे पृथिव्यप्तेजोवनस्पतिकायरूपे, वायुकायिकस्य पृथग् वक्ष्यमाणत्वात् । अयमत्र भावः—स्थावरचतुष्के कार्मणौदारिकौदारिकमिश्रलक्षणास्त्रयो योगा भवन्ति । तत्र कार्मणमन्तरालगत्युत्पत्तिप्रथमसमये वा, औदारिकमिश्रं तु अपर्याप्तावस्थायाम्, पर्याप्तावस्थायां तु औदारिकमिति । 'ते' पूर्वोक्तास्त्रयो योगाः सवैक्रियद्विकाः सह वैक्रियद्विकेन—वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणेन वर्तन्ते इति सवैक्रियद्विकाः पञ्च भवन्ति । क्व ? इत्याह—"इगि" त्ति सामान्येन एकेन्द्रिये 'पवणे' वायुकाये च । तत्र कार्मणौदारिकौदारिकमिश्रयोगत्रयभावना प्राग्वत् । वैक्रियद्विकभावना त्वियम्—इह किल चतुर्विधा वायवो भवन्ति । तद्यथा—सूक्ष्मा अपर्याप्ताः १ सूक्ष्माः पर्याप्ताः २ बादरा अपर्याप्ताः ३ बादराः पर्याप्ताश्च ४ । तत्र बादरपर्याप्तानां केषाञ्चिद् वैक्रियलब्धिसम्भवोऽस्ति तानधिकृत्य वैक्रियमिश्रं वैक्रियं च लभ्यते ।

ननु कथमुच्यते केषाञ्चिद् वैक्रियलब्धिसम्भवोऽस्ति ? यावता सर्वेऽपि बादरपर्याप्तवायवः वैक्रिया एव, अवैक्रियाणां चेष्टाया एवाप्रवृत्तेः । उक्तं च—

"केइ भणंति—सव्वे वेउव्विया वाया वायंति, अवेउव्वियाणं चिट्ठा चेव न पवत्तइ ।
(अनु० सू० पत्र १७, अनु० हा० टी० पत्र ६२) इति ।

तद् अयुक्तम्, सम्यक् सिद्धान्तापरिज्ञानात्, अवैक्रियाणामपि तेषां स्वभावत एव चेष्टोपपत्तेः । यदाह भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिरनुयोगद्वारटीकायाम्—

"वाउक्काइया चउव्विहा—सुहुमा पज्जत्ता अपज्जत्ता, बादरा वि य पज्जत्ता अपज्जत्ता । तत्थ तिन्नि रासी पत्तेयं असंखेज्जलोगागासपएसरासिपमाणमित्ता, जे पुण बादरा पज्जत्ता ते पय-

---

१ केचिद् भणन्ति—सर्वे वैक्रियिका वाता वान्ति, अवैक्रियाणां चेष्टैव न प्रवर्तते ॥ २ °याणं वाणं अनुयोगद्वारचूर्णिपुस्तकयोः । ३ वायुकायिकाश्चतुर्विधाः—सूक्ष्माः पर्याप्ताः १ अपर्याप्ताः २, बादरा

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible] ।

[illegible] ॥

[illegible] । यथा— [illegible] ।

[illegible] । एवं च—

[illegible] ।

(अनु० सू० पत्र [illegible]) इति ।

[illegible]—

[illegible]

१ [illegible] ॥ २ [illegible] । ३ [illegible]

रासंखेज्जइभागमित्ता । तत्थ ताव तिण्हं रासीणं वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि । बायरपज्जत्ताणं पि असंखिज्जइभागमित्ताणं लद्धी अत्थि । जेसिं पि लद्धी अत्थि ते वि पलिओवमासंखिज्जभागसमयमित्ता संपयं पुच्छासमए वेउव्वियवत्तिणो । तया जेण सव्वेसु चेव[1] उड्ढलोगाइसु चला वायवो विज्जंति तम्हा अवेउव्विया वि वाया वायंति त्ति घित्तव्वं । सभावो तेसिं वाइयव्वं । (पत्र ९२, अनु० चू० पत्र ६७) इति ।

वानाद्वायुरिति कृत्वा "तिण्हं रासीणं" ति त्रयाणां राशीनां पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मापर्याप्तबादरवायुकायिकानाम् । तथा त एव पूर्वोक्ताः पञ्च कार्मणौदारिकद्विकवैक्रियद्विकलक्षणयोगाः चरमा चतुर्थी असत्यामृषरूपा वाग् वचनयोगश्चरमवाक् तया युक्ताः षड् योगा भवन्ति । क्व ? इत्याह 'असंज्ञिनि' संज्ञिव्यतिरिक्ते जीवे । तत्र कार्मणमपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च, औदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, पर्याप्तावस्थायामौदारिकम् । बादरपर्याप्तवायुकायिकानां वैक्रियद्विकम्, चरमभाषा शङ्खादिद्वीन्द्रियादीनामिति । त एव पूर्वोक्ताः षड् योगा वैक्रियद्विकेन-वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणेन ऊनाः-हीनाश्चत्वारो भवन्ति । क्व ? इत्याह-'विकलेषु' द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु । कोऽर्थः ? तत्र कार्मणौदारिकद्विकभावना प्राग्वत् । चरमभाषा च असत्यामृषरूपा शङ्खादीनां भवति, शेषास्तु भाषा न भवन्त्येव "[2]विगलेसु असच्चमोसे वा" इति वचनादिति ॥२७॥

कम्मुरलमीस विणु मण, वइ समइय छेय चक्खु मणनाणे ।
उरलदुग कम्म पढमंतिम मणवइ केवलदुगम्मि ॥ २८ ॥

कार्मणमौदारिकमिश्रं विना शेषास्त्रयोदश योगा भवन्ति । क्व ? इत्याह-मनोयोगे वाग्योगे सामायिकसंयमे छेदोपस्थापनसंयमे चक्षुर्दर्शने मनःपर्यायज्ञाने । भावना सुकरैव । यौ तु कार्मणौदारिकमिश्रौ तौ तेषु सर्वथा न सम्भवत एव, तयोरपर्याप्तावस्थायां भावात्, मनोयोगवाग्योगसामायिकच्छेदोपस्थापनचक्षुर्दर्शनमनःपर्यायज्ञानानां च तस्यामवस्थायामसम्भवात् ।[3]तथा "उरलदुग" त्ति औदारिकद्विकमौ[4]दारिकौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ [मिश्रकाययोगौ] सयोग्यवस्थायामेव समुद्घातगतस्य वेदितव्यौ ["कम्म" त्ति कार्मणकाययोगः]

अपि च पर्याप्ताः ३ अपर्याप्ताः ४ । तत्र त्रयो राशयः प्रत्येक असङ्ख्येयलोकप्रमाणप्रदेशराशिप्रमाणमात्राः, ये पुनर्बादराः पर्याप्तास्ते प्रतरासङ्ख्यातभागमात्राः । तत्र तावत् त्रयाणां राशीनां वैक्रियलब्धिरेव नास्ति । बादरपर्याप्तानामपि असङ्ख्यातभागमात्राणां लब्धिरस्ति । येषामपि लब्धिरस्ति तेऽपि पल्योपमासङ्ख्येयभागसमयमात्राः साम्प्रतं पृच्छासमये वैकुर्विकवर्त्तिनः । तथा येन सर्वेष्वेव ऊर्ध्वलोकादिषु चला वायवो विद्यन्ते तस्मादवैकुर्विका अपि वाता वान्तीति ग्रहीतव्यम् । स्वभावस्तेषां वातव्यम् । १ ०व लोगा० ख० अनुयोगद्वारलघुटीकायाम् । व लोगागासाइ० अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ २ विकलेषु असत्यामृषा वा ॥ ३ । इत ऊर्ध्वम्-'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे सप्त योगाः । के ते ? इत्याह-, इत्येवंरूपः पाठो यदि स्याच्चदा सङ्गतिमेति । ४ ०दारिकमिश्रकार्म० क० ख० ग० घ० ङ० ॥

तन्मिश्रसहिताः सन्त एकादश योगा भवन्ति, देशविरतानामम्बडादीनां वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियद्विकसम्भवात् । तथा त एव नव पूर्वोक्ताः 'सकार्मणौदारिकमिश्राः' सह कार्मणौदारिकमिश्राभ्यां वर्तन्त इति सकार्मणौदारिकमिश्राः सन्त एकादश योगा यथाख्यातसंयमे भवन्ति । अयमर्थः—मनोयोगचतुष्टयवाग्योगचतुष्टयकार्मणौदारिकद्विकलक्षणा एकादश योगा यथाख्याते भवन्ति । तत्र मनोवाक्चतुष्कौदारिकयोगाः सुज्ञाना एव । कार्मणमौदारिकमिश्रं तु यथाख्यातसंयमश्रीकुलगृहस्य भगवतः केवलिनः सम्भवति, तस्य हि समुद्घातगतस्य तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु कार्मणम्, "कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।" (प्रश० का० २७७) इति वचनात्, द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेष्वौदारिकमिश्रम्, "मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥" (प्रश० का० २७६) इति वचनाद् अवाप्यत इति यथाख्यातसंयमे द्वयोरपि सम्भवात् ।

अथ विनेयजनानुग्रहाय केवलिसमुद्घातस्वरूपमभिधीयते—तत्र सम्यग् अपुनर्भावेन उत्प्राबल्येन कर्मणो हननं—घातः प्रलयो यस्मिन् प्रयत्नविशेषे स समुद्घातः । अयं च केवलिसमुद्घातोऽष्टसामयिकः, तं च प्रारभमाणः प्रथममेवाऽऽयोजिकाकरणमान्तर्मौहूर्तिकमुदीरणावलिकायां कर्मप्रक्षेपव्यापाररूपमभ्येति । अथाऽऽयोजिकाकरणमिति कः शब्दार्थः ? उच्यते—"आङ् मर्यादायाम्" आ—मर्यादया केवलिदृष्ट्या योजनं—शुभानां योगानां व्यापारणमायोजिका, "भावे" (सि० ५-३-१२२) णकः, तस्याः करणमायोजिकाकरणम् । आह च—

[1]कइसमइए णं भंते ! आओजीकरणे पन्नत्ते ! गोयमा ! असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए आओजीकरणे पन्नत्ते ॥ (प्रज्ञापनापत्र ६०१—१)

अयं कृतकृत्योऽपि केवली किमर्थं समुद्घातं करोति ? इति चेद्, उच्यते—वेदनीयनामगोत्राणामायुषा सह समीकरणार्थम् । यदाह भगवान् श्रीभद्रबाहुस्वामी—

[2]नाऊण वेयणिज्जं, अइबहुयं आउयं च थोवागं ।
गंतूण समुग्घायं, खवेइ कम्मं निरवसेसं ॥ (आ. नि. गा. ९५४)

प्रज्ञापनायामप्युक्तम्—

[3]कम्हा णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छइ ! गोयमा ! केवलिस्स चत्तारि कम्मंसा अक्खीणा अवेइया अणिज्जिन्ना भवन्ति । तं जहा-वेयणिज्जे आउए नामे गोए । सव्वबहुए से वेयणिज्जे

---

१ कतिसामयिकं भदन्त ? आयोजिकाकरणं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ? असङ्ख्येयसामयिकमान्तर्मौहूर्तिकम् आयोजिकाकरणं प्रज्ञप्तम् ॥ २ ज्ञात्वा वेदनीयं अतिबहुकं आयुष्कं च स्तोकम् । गत्वा समुद्घातं क्षपयति कर्म निरवशेषम् ॥ ३ कस्माद् भदन्त ? केवली समुद्घातं गच्छति ? गौतम ? केवलिनश्चत्वारः कर्मांशा अक्षीणा अवेदिता अनिर्जीर्णा भवन्ति । तद्यथा—वेदनीयं आयुष्कं नाम गोत्रम् । सर्वबहुकं तस्य वेदनीयं कर्म भवति सर्वस्तोकं तस्यायुःकर्म भवति, [illegible]

कम्मे हवइ, सव्वथोवे से आउए कम्मे हवइ, विसमं समं करेइ बंधणेहिं ठिईहि य, विसमसमीकरणयाए बंधणेहिं ठिईहि य एवं खलु केवली समुग्घायं गच्छइ ॥ (पत्र ६०१-१)

"बंधणेहिं" ति बध्यन्त आत्मप्रदेशैः सह लोलीभावेन संश्लिष्टाः क्रियन्ते योगवशाद् ये ते बन्धनाः, "भुजिपत्यादिभ्यः कर्मापादाने" (सि० ५-३-१२८) इति कर्मण्यनट्, कर्मपरमाणवः स्थितयः--वेदनाकालाः, शेषं सुगमम् । उक्तं च—

> आयुषि समाप्यमाने, शेषाणां कर्मणां यदि समाप्तिः ।
> न स्यात् स्थितिवैषम्याद्, गच्छति स ततः समुद्घातम् ॥
> स्थित्या च बन्धनेन च, समीक्रियार्थं हि कर्मणां तेषाम् ।
> अन्तर्मुहूर्त्तशेषे, तदायुषि समुज्जिघांसति सः ॥

अथ सर्वेऽपि केवलिनः समुद्घातं गच्छन्ति न वा ? इति चेद्, उच्यते-यस्य केवलिन आयुषा सह वेदनीयनामगोत्राणि समस्थितिकानि भवन्ति स हि न केवलिसमुद्घातं करोति, शेषस्तु करोति । उक्तं च श्रीमदार्यश्यामपादैः—

> [1]सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छंति ? गोयमा ! नो इ[2]णट्ठे समट्ठे ।
> जस्साउएण तुल्लाइं, बंधणेहिं ठिईहि य । भवोवग्गाहिकम्माइं, समुग्घायं से न गच्छइ ॥
> अगंतूणं समुग्घायं, अणंता केवली जिणा । जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ॥
> (पत्र० ६०१-१)

समुद्घातं च कुर्वन् केवली प्रथमसमये बाहुल्यतः स्वशरीरप्रमाणमूर्ध्वमधश्च लोकान्तपर्यन्तमात्मप्रदेशानां सङ्घातदण्डं दण्डस्थानीयं ज्ञानाभोगतः करोति, द्वितीयसमये तु तमेव दण्डं पूर्वापरदिग्द्वयप्रसारणात् पार्श्वतो लोकान्तगामिकपाटमिव कपाटं करोति, तृतीयसमये तमेव कपाटं दक्षिणोत्तरदिग्द्वयप्रसारणाद् मन्थसदृशं मन्थानं करोति लोकान्तप्रापिणमेव । एवं च लोकस्य प्रायो बहु पूरितं मन्थान्तराण्यपूरितानि भवन्ति, अनुश्रेणि गमनात्, चतुर्थे तु समये तान्यपि मन्थान्तराणि सह लोकनिष्कुटैः पूरयति, ततश्च सकलो लोकः पूरितो भवतीति । तदनन्तरमेव पञ्चमे समये यथोक्तक्रमात् प्रतिलोमं मन्थान्तराणि संहरति जीवप्रदेशान् सकर्मकान् सङ्कोचयति, षष्ठे समये मन्थानमुपसंहरति घनतरसङ्कोचनात्, सप्तमे समये कपाटमुपसंहरति

---

१ सर्वेऽपि भदन्त ! केवलिनः समुद्घातं गच्छन्ति ? गौतम ! नायमर्थः समर्थः । यस्याऽऽयुषा तुल्यानि बन्धनैः स्थितिभिश्च । भवोपग्राहिकर्माणि समुद्घातं स न गच्छति ॥ अगत्वा समुद्घातमनन्ताः केवलिनो जिनाः । जरामरणविप्रमुक्ताः सिद्धिं वरगतिं गताः ॥ २ ०णमट्ठे क० ख० घ० ङ० ॥

दण्डात्मनि सङ्कोचनात्, अष्टमे समये दण्डं समुपहृत्य शरीरस्थ एव भवति। न चैतत् स्वमनीषिकाविजृम्भितम्। यदाहुर्वृद्धाः—

[1]उड्ढाहायय लोगंतगामिणं सो सदेहविक्खंभं ।
पढमसमयम्मि दंडं, करेइ बिइयम्मि उ कवाडं ॥
तइयसमयम्मि मंथं, चउत्थए लोगपूरणं कुणइ ।
पडिलोमं संहरणं, काउं तो होइ देहत्थो ॥ (विशेषा० गा० ३०५२-३०५३)

वाचकवरोऽप्याह—

दण्डं प्रथमे समये, कपाटमथ चोत्तरे तथा समये ।
मन्थानमथ तृतीये, लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥
संहरति पञ्चमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे ।
सप्तमके तु कपाटं, संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥ (प्रश० का० २७४-२७५)

तस्येदानीं समुद्घातस्य योगव्यापारश्चिन्त्यते—योगाश्च मनोवाक्कायाः, अत्रैषां कः कदा व्याप्रियते ? । तत्रेह मनोवाग्योगयोरव्यापार एव, प्रयोजनाभावात्।

यदाह **धर्मसारमूलटीकायां** भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिः—

मनोवचसी तदा न व्यापारयति, प्रयोजनाभावात् ।

काययोगस्य तु औदारिककाययोगस्यौदारिकमिश्रकाययोगस्य वा कार्मणकाययोगस्य वा व्यापारो न शेषस्य, लब्ध्युपजीवनाभावेन शेषस्य काययोगस्याऽसम्भवात् । तत्र प्रथमाष्टमसमययोरौदारिककायप्राधान्याद् औदारिककाययोग एव, द्वितीयषष्ठसप्तमकेषु पुनः कार्मणशरीरस्यापि व्याप्रियमाणत्वाद् औदारिकमिश्र एव, तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु तु केवलमेव कार्मणं शरीरं व्यापारभागिति कार्मणकाययोगः ।

यदाहुः **श्रीमदार्यश्यामपादाः श्रीमत्प्रज्ञापनायां षट्त्रिंशत्तमे समुद्घातपदे**—

[2]पढमट्ठमेसु समएसु ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ, बिइयछट्ठसत्तमेसु समएसु ओरालियमीसगसरीरकायजोगं जुंजइ, तइयचउत्थपंचमेसु समएसु कम्मगसरीरकायजोगं जुंजइ ॥ (पत्र ६०१-२)

---

१ ऊर्ध्वाधआयतं लोकान्तगामिनं स स्वदेहविष्कम्भम्। प्रथमसमये दण्डं करोति द्वितीये तु कपाटम् ॥ तृतीयसमये मन्थानं चतुर्थके लोकपूरणं करोति। प्रतिलोमं संहरणं कृत्वा ततो भवति देहस्थः ।

२ प्रथमाष्टमयोः समययोरौदारिकशरीरकाययोगं युनक्ति, द्वितीयषष्ठसप्तमेषु समयेषु औदारिकमिश्रशरीरकाययोगं युनक्ति, तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु समयेषु कार्मणशरीरकाययोगं युनक्ति ॥

समये समये कर्मादाने सति सन्ततेर्न मोक्षः स्यात् ।
यद्यपि हि विमुच्यन्ते, स्थितिक्षयात् पूर्वकर्माणि ॥
नाकर्मणो हि वीर्यं, योगद्रव्येण भवति जीवस्य ।
तस्याऽवस्थानेन तु, सिद्धः समयस्थितिर्बन्धः ॥

योगनिरोधं च कुर्वाणः प्रथमं मनोयोगं निरुणद्धि, तत्र पर्याप्तमात्रसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य प्रथमसमये यावन्ति मनोद्रव्याणि यावन्मानश्च तद्व्यापारस्तस्माद् असङ्ख्येयगुणहीनं मनोयोगं प्रतिसमयं निरुन्धानोऽसङ्ख्येयैः समयैः साकल्येन निरुणद्धि । यदाह भगवान् श्रीमदार्यश्यामः-

[1]से णं पुव्वामेव सन्निस्स पंचिंदियस्स पज्जत्तयस्स जहन्नजोगिस्स हिट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं पढमं मणजोगं निरुंभइ ॥ (प्रज्ञा० समु० पद ३६ पत्र ६०७-२)

भाष्यकाराऽप्याह—

[2]पज्जत्तमित्तसन्निस्स जत्तियाइं जहन्नजोगिस्स । हुंति मणोदव्वाइं, तव्वावारो य जम्मत्तो ॥
तदसंखगुणविहीणं, समए समए निरुंभमाणो सो ।
मणसो सव्वनिरोहं, कुणइ असंखिज्जसमएहिं ॥
(विशेषा० गा० ३०५९-३०६०)

[3]तओ अणंतरं च णं बेइंदियस्स पज्जत्तगस्स जहन्नजोगिस्स हिट्ठा असंखिज्जगुणहीणं दुच्चं वइजोगं निरुंभइ ॥ (प्रज्ञा० समु० पद ३६ पत्र ६०७-२)

भाष्यकृदप्याह—

[4]पज्जत्तमित्तबिंदियजहन्नवइजोगपज्जवा जे उ । तदसंखगुणविहीणं,समए समए निरुंभंतो ॥
सव्ववइजोगरोहं, संखाईएहिँ कुणइ समएहिं । (विशेषा० गा० ३०६१-३०६२)

[5]तओ अणंतरं च णं सुहुमस्स पणगजीवस्स अपज्जत्तगस्स जहन्नजोगिस्स हिट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं तच्चं कायजोगं निरुंभइ ॥ (प्रज्ञा० समु० पद ३६ पत्र ६०७-२)

---

१ स पूर्वमेव संज्ञिनः पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्ययोगिनोऽधस्तादसङ्ख्येयगुणपरिहीणं प्रथमं मनोयोगं निरुणद्धि ॥ २ पर्याप्तमात्रसंज्ञिनो यावन्ति जघन्ययोगिनः भवन्ति मनोद्रव्याणि तद्व्यापारश्च यन्मात्रः ॥ तदसङ्ख्यगुणविहीनं समये समये निरुन्धन् सः । मनसः सर्वनिरोधं करोत्यसङ्ख्येयसमयैः । ३ ततोऽनन्तरं च द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्ययोगिनोऽधस्तादसङ्ख्येयगुणहीनं द्वितीयं वचोयोगं निरुणद्धि ॥ ४ पर्याप्तमात्रद्वीन्द्रियजघन्यवचोयोगपर्यायाः ये तु । तदसङ्ख्यगुणविहीनं समये समये निरुन्धन् ॥ सर्ववचोयोगरोधं सङ्ख्यातीतैः करोति समयैः ॥ ५ ततोऽनन्तरं च सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य अपर्याप्तकस्य जघन्ययोगिनोऽधस्तादसङ्ख्येयगुणपरिहीणं तृतीयं काययोगं निरुणद्धि ॥

तं च काययोगं निरुन्धानः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपातिध्यानमधिरोहति । तत्सामर्थ्याच्च वद-नोदरादिविवरपूरणेन सङ्कुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति । यदाह **भाष्यसुधासुधांशुः–**

[1]तत्तो य सुहुमपणगस्स पढमसमओववन्नस्स ॥ (विशेपा॰ गा॰ ३०६२)
जो किर जहन्नजोगो, तदसंखेज्जगुणहीणमिक्किक्के ।
समए निरुंभमाणो, देहतिभागं च मुंचंतो ॥
रुंभइ स कायजोगं, संखाईएहिं चेव समएहिं ।
तो कयजोगनिरोहो, सेलेसीभावयामेई ॥ (विशेपा॰ गा॰ ३०६३–३०६४)
सीलं च समाहाणं, निच्छयओ सव्वसंवरो सो य ।
तस्सेसो सेलेसो, सेलेसी होइ तदवत्था ॥
हस्सक्खराइ मज्झेण जेण कालेण पंच भण्णंति ।
अच्छइ सेलेसिगओ, तत्तियमित्तं तओ कालं ॥
तणुरोहारंभाओ, झायइ सुहुमकिरियानियट्टिं सो ।
वुच्छिन्नकिरियमप्पडिवाई सेलेसिकालम्मि ॥ (विशेपा॰गा॰३०६७–३०६९)

प्रज्ञापनायामप्युक्तम्–

[2]जोगनिरोहं करित्ता अजोगयं पाउणइ, अजोगयं पाउणित्ता ईसिं हस्सपंचक्खरुच्चारणद्धाए असंखेज्जसमइयं अंतमुहुत्तियं सेलेसिं पडिवज्जइ, पुव्वरइयगुणसेढीयं च णं कम्मं तीसे सेलेसद्धाए असंखेज्जाहिं गुणसेढीहिं असंखेज्जे कम्मखंधे खवयंते वेदणिज्जाउयनामगोए इच्चेए चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवित्ता ओरालियतेयाकम्मगाइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढीए अफुसमाण-गईए एगसमएणं अविग्गहेणं उड्ढं गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ ॥ (समु॰प॰३६ पत्र ६०७–२)

---

१ ततश्च सूक्ष्मपनकस्य प्रथमसमयोपपन्नस्य ॥ यः किल जघन्ययोगः तदसङ्ख्येयगुणहीनमेकैक-स्मिन् । समये निरुन्धन् देहत्रिभागं च मुञ्चन् ॥ रुणद्धि स काययोगं सङ्ख्यातीतैरेव समयैः । ततः कृत-योगनिरोधः शैलेशीभावतामेति ॥ शीलं च समाधानं निश्चयतः सर्वसंवरः स च । तस्येशः शैलेशः शैलेशी भवति तदवस्था ॥ ह्रस्वाक्षराणि मध्येन येन कालेन पञ्च भण्यन्ते । आस्ते शैलेशीगतस्तावन्मात्रं ततः कालम् ॥ तनुरोधारम्भाद् ध्यायति सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्तिं सः । व्युच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपातिनं शैलेशी-काले ॥ २ योगनिरोधं कृत्वाऽयोगतां प्राप्नोति, अयोगतां प्राप्य ईषत् पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणाद्धया असङ्ख्येयसामयिकीमान्तर्मौहूर्तिकीं शैलेशीं प्रतिपद्यते, पूर्वरचितगुणश्रेणिकं च कर्म तस्यां शैलेश्यद्धायाम-सङ्ख्येयाभिर्गुणश्रेणिभिरसङ्ख्येयान् कर्मस्कन्धान् क्षपयन् वेदनीयायुर्नामगोत्राणि इत्येतांश्चतुरः कर्मांशान् युगपत् क्षपयित्वौदारिकतैजसकार्मणानि सर्वैर्विप्रहानैर्विप्रजह्य ऋजुश्रेण्याऽस्पृशद्गत्या एकसमयेनाविग्रहे-णोर्ध्वं गत्वा साकारोपयुक्तः सिध्यति ॥

चउरिंदि सन्नि दुअनाणदंस इग बि ति थावरि अचक्खू ।
तिअनाण दंसणदुगं, अनाणतिग अभव मिच्छदुगे ॥ ३२ ॥

चतुरिन्द्रिये असंज्ञिनि च चत्वार उपयोगा भवन्ति । के ते ? इत्याह–'द्व्यज्ञानदर्शने' द्वे अज्ञाने–मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपे, द्वे दर्शने–चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनलक्षणे इत्यर्थः । तथा त एव पूर्वोक्ताश्चत्वार उपयोगाः "अचक्खु" त्ति अचक्षुषः–चक्षुर्दर्शनरहिताः सन्तस्त्रयो भवन्ति । केषु ? इत्याह–"इग" त्ति सामान्यत एकेन्द्रियेषु द्वीन्द्रियेषु त्रीन्द्रियेषु 'स्थावरेषु' पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतिषु । कोऽर्थः ? एकद्वित्रीन्द्रियस्थावरेषु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनरूपास्त्रय उपयोगा भवन्तीत्यर्थः, न शेषाः, यतः सम्यक्त्वाभावाद् मतिश्रुतज्ञानासम्भवः, सर्वविरत्यभावाच्च मनःपर्यायज्ञानकेवलज्ञानकेवलदर्शनाभावः, यत् पुनरवधिद्विकं विभङ्गज्ञानं च तद् भवप्रत्ययं गुणप्रत्ययं वा, न चाऽनयोरन्यतरोऽपि प्रत्ययः सम्भवति, चक्षुर्दर्शनोपयोगाभावस्तु चक्षुरिन्द्रियाभावादेव सिद्धः । तथा त्रयाणामज्ञानानां समाहारः त्र्यज्ञानम्, अज्ञानत्रयम्-मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूपं 'दर्शनद्विकं' चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनलक्षणमित्येते पञ्चोपयोगा भवन्ति । क्व ? इत्याह–'अज्ञानत्रिके' मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूपे । यत्त्वज्ञानत्रिकेऽवधिदर्शनं पूर्वाचार्यैः कुतश्चित् कारणाद् नेष्यते तद् न सम्यगवगच्छामः, तथाविधसम्प्रदायाभावात्; अथ च सिद्धान्ते प्रतिपाद्यते, तथा च प्रज्ञप्तिसूत्रं पूर्वदर्शितमेव, तदभिप्रायादस्माभिरपि नोक्तमिति । 'अभवे' अभव्ये 'मिथ्यात्वद्विके' मिथ्यात्वे सास्वादने [च] पञ्चोपयोगाः-अज्ञानत्रिकदर्शनद्विकरूपा न शेषाः, अज्ञातसम्यक्त्वविरत्यभावादिति ॥ ३२ ॥

केवलदुगे नियदुगं, नव तिअनाण विणु खइय अहखाए ।
दंसणनाणतिगं देसि मीसि अन्नाणमीसं तं ॥ ३३ ॥

'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणे 'निजद्विकं' केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपमुपयोगद्विकं भवति, न शेषा दश, ज्ञानदर्शनव्यवच्छेदेनैव केवलयुगलस्य सद्भावात्, "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे ।" (आ० नि० गा० ५३९) इति वचनात् । तथा क्षायिके सम्यक्त्वे यथाख्याते च संयमे नवोपयोगा भवन्ति । के ते ? इत्याह–'अज्ञानत्रिकं' मतिश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणं विना, यतः क्षायिकयथाख्यातयोरज्ञानत्रिकं न भवत्येव, तस्य मिथ्यात्वनिबन्धनत्वात्, निर्मूलतो मिथ्यात्वक्षयेणोपशमेन च क्षायिकसम्यक्त्वयथाख्यातोत्पादात्, अत एतयोर्नवैवोपयोगा भवन्तीति । तथा 'देशे' देशविरते षडुपयोगा भवन्ति । कथम् ? इत्याह–'दर्शनज्ञानत्रिकं' त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धः, दर्शनत्रिकं–चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनरूपम्, ज्ञानत्रिकं–मतिश्रुतावधिज्ञानरूपमिति, न शेषाः, मिथ्यात्वसर्वविरत्यभावात् । मिश्रे तदेव दर्शनज्ञानत्रिकं

ज्ञानमिश्रं द्रष्टव्यम्, मतिज्ञानं मत्यज्ञानमिश्रं १ श्रुतज्ञानं श्रुताज्ञानमिश्रं २ अवधिज्ञानं विभङ्ग-ज्ञानमिश्रं ३ दर्शनत्रिकं ३ चेति मिश्रेऽपि षडुपयोगाः सिद्धा भवन्ति । इह चावधिदर्शनमाग-माभिप्रायेण उच्यते, अन्यथा एतेष्वेव मार्गणास्थानकेषु गुणस्थ.नव मार्गणायां 'अजयाइ नव इगुओहिदुगे" (गा० २१) इत्युक्तमिति ॥ ३३ ॥

मणनाणचक्खुवज्जा, अणहारे तिन्नि दंस चउ नाणा ।
चउनाणसंजमोवसम वेयगे ओहिदंसे य ॥ ३४ ॥

मनःपर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनवर्जाः शेषा दशोपयोगा अनाहारके भवन्ति । यत्तु मनःपर्यवज्ञानं चक्षुर्दर्शनं तदनाहारके न सम्भवति, यतोऽनाहारको विग्रहगतौ केवलिसमुद्घातावस्थायां च, न च तदानीं मनःपर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनसम्भव इति । तथा 'त्रीणि दर्शनानि' चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्श-नावधिदर्शनरूपाणि 'चत्वारि ज्ञानानि' मतिश्रुतावधिमनःपर्यायलक्षणानीत्येवं सप्तोपयोगा भवन्तिः क्व ? इत्याह—चतुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् चतुर्षु ज्ञानेषु—मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमनः-पर्यायज्ञानेषु, तथा चतुर्षु संयमेषु—सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायेषु, औपशमिके सम्यक्त्वे 'वेदके' क्षायोपशमिकापरपर्याये[1], अवधिदर्शने 'चः' समुच्चये, न शेषाः, तत्सद्भावे मत्यज्ञानादीनामसम्भवात् । इहाप्यवधिदर्शने मत्यज्ञानाद्युपयोगप्रतिषेधो बहुश्रुताचार्या-भिप्रायापेक्षया द्रष्टव्यः, अन्यथा हि मत्यज्ञानादिमतामपि सूत्रे साक्षाद् अवधिदर्शनं प्रतिपादि-तमेव, प्रज्ञप्तिसूत्रं च प्रागेवोक्तमिति ॥ ३४ ॥

उक्ता मार्गणास्थानेषु उपयोगाः । अथ योगेषु जीवगुणस्थानकयोगोपयोगान् अधिकृत्य मतान्तरमाह—

दो तेर तेर बारस, मणे कमा अट्ठ दु चउ चउ वयणे ।
चउ दु पण तिन्नि काए, जियगुणजोगोवओगऽन्ने ॥ ३५ ॥

अन्ये त्वाचार्याः "मणि" त्ति मनोयोगे द्वे जीवस्थानके, त्रयोदश गुणस्थानकानि, त्रयोदश योगाः, द्वादशोपयोगा इतीच्छन्ति 'क्रमात्' क्रमेण यथासङ्ख्यमित्यर्थः । अत्रायमभिप्रायः—प्राग् योगान्तरसहितोऽसहितो वा स्वरूपमात्रेणैव काययोगादिर्विवक्षितस्तेन तत्र यथोक्तगुण-स्थानकादिवक्तव्यता सर्वाऽप्युपपद्यते, इह तु काययोगादिर्योगान्तरविरहित एव विवक्ष्यते । यथा—मनोयोगवाग्योगविरहितः काययोगः, मनोयोगविरहितो वाग्योगः । ततो मनोयोगे द्वे अन्तिमे जीवस्थानके, अयोगिकेवलिवर्जितानि त्रयोदश गुणस्थानानि, कार्मणौदारिकमिश्रवर्जितास्त्रयोदश योगाः, कार्मणौदारिकमिश्रौ हि काययोगौ अपर्याप्तावस्थायां केवलिसमुद्घातावस्थायां वा । न

---

१ °ये, अवधिद्विके-अवधिज्ञानावधिदर्शनरूपे चः क० ख० ग० घ० ङ० मुद्रितपुस्तकादर्शे च ॥

च तदानीं मनोयोगः, अपर्याप्तावस्थायां मनस एवाभावात्, केवलिसमुद्‌घातावस्थायां तु प्र
जनाभावात् । उक्तं च—

मनोवचसी तु तदा सर्वथा न व्यापारयति, प्रयोजनाभावात् । (धर्मसारमूलटीकायाः

तथा 'वचने' मनोयोगविरहिते वाग्योगे क्रमाद् अष्टौ जीवस्थानानि-पर्याप्तापर्याप्तद्वीन्द्रि
त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपाणि, द्वे गुणस्थाने-मिथ्यात्वसासादनलक्षणे, चत्वारो यो
कार्मणौदारिकमिश्रौदारिकासत्यामृषावाग्योगरूपाः, चत्वार उपयोगाः-मत्यज्ञानश्रुताज्ञानचक्षुर्द
चक्षुर्दर्शनलक्षणाः । वाग्योगो हि मनोयोगविरहितस्वभावो द्वीन्द्रियादिष्वेवाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय
न्तेषु सम्भवति नान्येषु । ततो यथोक्तान्येव जीवस्थानकादीनि तत्र सम्भवन्ति नोनाधिकानि
तथा केवलकाययोगे चत्वारि पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियलक्षणानि जीवस्थानकानि द्वे
गुणस्थानके-मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षणे, पञ्च योगाः—वैक्रियद्विकौदारिकद्विककार्मणरूपाः,
उपयोगाः-मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनस्वरूपाः । केवलकाययोगो हि एकेन्द्रियेष्वेवाः
तत्र जीवस्थानकादीनि यथोक्तान्येव घटन्त इति ॥ ३५ ॥

अभिहितं योगेष्वभिधेयमतम् । साम्प्रतं मार्गणास्थानेषु लेश्या अभिधित्सुराह—

तत्वात् । 'शेषस्थानेषु' सुरगतौ तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ पञ्चेन्द्रियत्रसकाययोगत्रयवेदत्रयकषाय-चतुष्टयमतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमनःपर्यायज्ञानमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानसामायिकच्छेदो-पस्थापनपरिहारविशुद्धिकदेशविरताविरतचक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनभव्याभव्यक्षायिकक्षायोपश-मिकौपशमिकसास्वादनमिश्रमिथ्यात्वसंज्ञ्याहारकानाहारकलक्षणेकचत्वारिंशत्सु शेषमार्गणास्थान-केषु षडपि लेश्याः ।

उक्ता मार्गणास्थानेषु लेश्याः। इदानीं मार्गणास्थानेषु स्वस्थानापेक्षयाऽल्पबहुत्वं निरूरूपयिषु-राह—'नरनिरय' इत्यादि । इह यथासङ्ख्येन योजना कर्तव्या । सा चैवम्—नरा निरयदेव-तिर्यग्योनिकेभ्यः सकाशात् स्तोकाः । यत इह द्विविधा नराः -वान्तपित्तादिजन्मानः सम्मूर्छजाः, स्त्रीगर्भोत्पन्नाः गर्भजाश्च । तत्राद्याः कदाचिद् न भवन्त्येव, जघन्यतः समयस्य उत्कृष्टतस्तु चतुर्विंशतिमुहूर्तानां तदन्तरकालस्य प्रतिपादितत्वात् ।

यदाह सन्देहसन्दोहशैलशृङ्गभङ्गदम्भोलिर्भगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः—

[2]बारस मुहुत्त गब्भे, उक्कोस समुच्छिमेसु चउवीसं ।

उक्कोस विरहकालो, दोसु वि य जहन्नओ समओ ॥ (वृ० सं० पत्र १३०-१)

उत्पन्नानां तु जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वेन परतः सर्वेषां निर्लेपत्वसम्भवाद् यदा तु भवन्ति तदा जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, उत्कृष्टतस्त्वसङ्ख्याताः । इतरे तु सर्वदैव सङ्ख्येया भवन्ति नासङ्ख्येयाः, तत्र सङ्ख्येयकस्य सङ्ख्यातभेदत्वान्न ज्ञायते कियदपि सङ्ख्येयकम् अतो विशेषत इदं प्ररूप्यते—इह षष्ठवर्गः पञ्चमवर्गेण यदा गुणितो भवति तदा गर्भजमनुष्य-सङ्ख्या भवति । अथ कोऽयं षष्ठः (ग्रन्थाग्रम्-१५००) वर्गः ? कश्च पञ्चमः ? इत्येतदुच्यते—विवक्षितः कश्चिद् राशिस्तेनैव राशिना यत्र गुण्यते स तावद् वर्गः । तत्रैकस्य वर्ग एव न भवति, अतो वृद्धिरहितत्वादेष वर्ग एव न गण्यते । द्वयोस्तु वर्गश्चत्वारो भवन्ति, एष प्रथमो वर्गः ४ । चतुर्णां वर्गः षोडशेति द्वितीयो वर्गः १६ । षोडशानां वर्गो द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके तृतीयो वर्गः २५६ । अस्य राशेर्वर्गः पञ्चषष्टिः सहस्राणि पञ्च शतानि षट्त्रिंशदधिकानि चतुर्थो वर्गः ६५५३६ । अस्य राशेर्वर्गः सार्धगाथया प्रोच्यते—

[3]चत्तारि य कोडिसया, अउणत्तीसं च हुंति कोडीओ ।

अउणावन्नं लक्खा, सत्तट्ठिं चेव य सहस्सा ॥

---

१ सा चैक्ये द्वन्द्वमेययोरिति 'एकचत्वारिंशति' इति भाव्यम्, भविष्यत्यपि, तथापि लेखकेन पण्डितंमन्येन वा फेनाप्येतद् अङ्कितं लक्ष्यते ॥ २ द्वादश मुहूर्त्ता गर्भजेषु सम्मूर्च्छिमेषु चतुर्विंशतिः । उत्कर्षतो विरह-कालः द्वयोरपि च जघन्यतः समयः ॥ ३ चत्वारि च कोटिशतानि एकोनत्रिंशच्च भवन्ति कोटयः । एकोनपञ्चाशद् लक्षाः सप्तषष्टिरेव च सहस्राणि ॥ द्वे च शते षण्णवतिः पञ्चमवर्गोऽयं विनिर्दिष्टः ॥

दो य सया छन्नउया, पंचम[1]वग्गो इमो विणिद्दिट्ठो । (अनु० चू० पत्र ७०)

अङ्कस्थापना----४२९४९६७२९६ । अस्यापि राशेर्वर्गो गाथात्रयेण प्रतिपाद्यते--

[2]लक्खं कोडाकोडी, चउरासीइं भवे सहस्साइं ।
चत्तारि य सत्तट्ठा, हुंति सया कोडिकोडीणं ॥
चोयालं लक्खाइं, कोडीणं सत्त चेव य सहस्सा ।
तिन्नि य सया य [3]सयरी, कोडीणं हुंति नायव्वा ॥
पंचाणउई लक्खा, एगावन्नं भवे सहस्साइं ।
छ स्सोलसुत्तर सया, एसो छट्ठो हवइ वग्गो ॥(अनु० चू० पत्र ७०)

[अङ्कतोऽपि दर्श्यते--] १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ । तदयं षष्ठो वर्गः पूर्वोक्तेन पञ्चमवर्गेण गुण्यते, तथा च सति या सङ्ख्या भवति तस्यां जघन्यपदिनो गर्भजमनुष्या वर्तन्ते । सा चेयम् ----७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ । अयं च राशिः कोटीकोट्यादिप्रकारेण केनाऽप्यभिधातुं न शक्यतेऽतः पर्यन्तादारभ्याङ्कमात्रसङ्ग्रहार्थं गाथाद्वयम्:--

[4]छग तिन्नि तिन्नि सुन्नं, पंचेव य नव य तिन्नि चत्तारि ।
पंचेव तिन्नि नव पंच, सत्त तिन्नेव तिन्नेव ॥
चउ छ दो चउ इक्को, पण दो छक्किक्कगो य अट्ठेव ।
दो दो नव सत्तेव [5]य, अंकट्ठाणा पराहुत्ता ॥ (अनु० चू० पत्र० ७०)

[illegible]कोनत्रिंशदङ्कस्थानेषु जघन्यपदिनो गर्भजमनुष्या वर्तन्ते ।

उक्तं चानुयोगद्वारेषु—

[6]जहण्णपए[संखिज्जा] संखिज्जाओ कोडाकोडाकोडीओ । (पत्र २०५--२)

[illegible] जघन्यपदिनो मनुष्याः, उत्कृष्टपदिनस्त्वसङ्ख्याताः । उक्तं चानुयोगद्वारसूत्रे--

---

१ [illegible] । अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ २ लक्षं कोटाकोटी चतुरशीतिर्भवन्ति सहस्राणि । [illegible] कोटिकोटीनाम् ॥ चतुश्चत्वारिंशद् लक्षाः कोटीनां सप्त [illegible] कोटीनां भवन्ति ज्ञातव्यानि ॥ पञ्चनवतिर्लक्षा एकपञ्चाशद् [illegible] षष्ठो भवति वर्गः ॥ ३ सत्तरि अनुयोगद्वारचूर्णिलघुवृत्त्योः । [illegible] त्रीणि चत्वारि । पञ्चैव त्रीणि नव पञ्च सप्त [illegible] अष्टैव । द्वे द्वे नव सप्तैव च [illegible] ॥ अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ ६ जघन्यपदे सङ्ख्येयाः [illegible]

उक्कोसपए असंखिज्जा असंखिज्जाहिं उसप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खित्तओ उक्कोसपए रूवपक्खित्तेहिं मणूसेहिं सेढी अवहीरइ, असंखेज्जाहिं अवसप्पिणीहिं उस्सप्पिणीहिं कालओ, खित्तओ अंगुलपढमवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पन्नं ॥ (पत्र २०५--२)

अस्येयमक्षरगमनिका----उत्कृष्टपदे मनुष्या असङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयराशितुल्याः। क्षेत्रतस्त्वेकस्मिन् मनुष्यरूपे प्रक्षिप्ते मनुष्यरूपैरेका नभःप्रदेशश्रेणिरपह्रियते । कियता कालेन ? इत्याह----असङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः । कियता क्षेत्रखण्डापहारेण ? इत्याह--"अंगुलपढमवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पन्नं" ति श्रेणेरङ्गुलप्रमाणे क्षेत्रे यः प्रदेशराशिस्तस्य यत् प्रथमं वर्गमूलं तत् तृतीयवर्गमूलप्रदेशराशिना गुण्यते, गुणिते च यः प्रदेशराशिर्भवति तत्प्रमाणं क्षेत्रखण्डमेकैकं रूपमपहरति । अयमर्थः--इह किलाङ्गुलप्रमाणक्षेत्रे नभःप्रदेशराशिः सद्भावतोऽसङ्ख्येयप्रदेशपरिमाणोऽप्यसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयपरिमाणः कल्प्यते २५६; अत्र प्रथमं वर्गमूलं षोडश १६, द्वितीयं वर्गमूलं चत्वारि ४, तृतीयं वर्गमूलं द्वे २; तत्र प्रथमवर्गमूलं षोडशलक्षणं तृतीयवर्गमूलेन गुणितं जाता द्वात्रिंशत् ३२, एवमेते नभःप्रदेशाः सद्भावतोऽसङ्ख्येया अप्यसत्कल्पनया द्वात्रिंशत्सङ्ख्याः परिग्राह्याः । ततः श्रेणेर्मध्याद् यथोक्तप्रमाणं द्वात्रिंशत्प्रदेशप्रमाणमित्यर्थः क्षेत्रखण्डं यद्येकैकं मनुष्यरूपं क्रमेण प्रतिसमयमपहरति तदाऽसङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः सर्वाऽपि श्रेणिरपह्रियते यद्येकं मनुष्यरूपं स्यात् , तच्च नास्ति, सर्वोत्कृष्टानामपि समुदितगर्भजसम्मूर्छजमनुष्याणामेतावतामेव भावात् । इदमुक्तं भवति----उत्कृष्टपदवर्तिभिरपि सर्वतः सप्तरज्जुप्रमाणस्य घनीकृतस्य लोकस्यैकैकप्रदेशपङ्क्तिरूपं श्रेणिमात्रमपि अङ्गुलमात्रप्रदेशराशिसम्बन्धितृतीयवर्गमूलगुणितप्रथमवर्गमूलप्रदेशप्रमाणैरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणाङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसम्बन्धिद्विकलक्षणतृतीयवर्गमूलगुणितषोडशकलक्षणप्रथमवर्गमूललब्धद्वात्रिंशत्प्रदेशप्रमाणैराकाशखण्डैर्मनुष्यरूपस्थानीयैरपह्रियमाणमपि नापह्रियते, एकरूपहीनत्वात् ; यदि पुनरेकं रूपमन्यत् स्यात् ततः सकलाऽपि श्रेणिरपह्रियेत । कालतश्च प्रतिसमयमेतावत्प्रमाणैरप्याकाशखण्डैरपह्रियमाणा श्रेणिरसङ्ख्याताभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिर्निःशेषतोऽपह्रियते, कालतः सकाशात् क्षेत्रस्यात्यन्तसूक्ष्मत्वात् । उक्तं च----

[1]उक्कोसपए जे मणुस्सा हवंति तेसु इक्कम्मि मणूसरूवे पक्खित्ते समाणे तेहिं मणुस्सेहिं सेढी

---

[1] उत्कृष्टपदे ये मनुष्या भवन्ति तेष्वेकस्मिन् मनुष्यरूपे प्रक्षिप्ते सति तैर्मनुष्यैः श्रेणिरपह्रियते । तस्याश्च श्रेणेः कालक्षेत्राभ्यां अपहारो मृग्यते-कालतस्तावदसङ्ख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः, क्षेत्रतोऽङ्गुलप्रथमवर्गमूलं तृतीयवर्गमूलगुणितम् । किं भणितं भवति ?-तस्याः श्रेणेरङ्गुलायते खण्डे यः प्रदेशराशिः तस्य यत् प्रथमवर्गमूलप्रदेशराशिमानं तत् तृतीयवर्गमूलप्रदेशराशिगुणिते सति यः प्रदेशराशिर्भवति एतावद्भिः खण्डैरपह्रियमाणाऽपह्रियमाणा यावन्निस्तिष्ठति तावद् मनुष्या अपि अपह्रियमाणा अपह्रियमाणा निस्तिष्ठन्ति ।

अवहीरइ । तीसे य सेढीए कालखित्तेहिं अवहारो मग्गिज्जइ—कालओ [1]ताव असंखिज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं, खित्तओ अंगुलपढमवग्गमूलं तइयवग्गमूलप[2]डुप्पन्नं । किं भणियं होइ ?—तीसे सेढीए अंगुलायए खंडे जो पएसरासी तस्स जं प[3]ढमवग्गमूलपएसरासिमाणं तं तइयवग्गमूलपएसरासिपडुप्पाइए समाणे जो पएसरासी हवइ एवइएहिं खंडेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी जाव निट्ठाइ ताव मणुस्सा वि अवहीरमाणा अवहीरमाणा निट्ठंति । आह कहमेगा सेढी एद्दहमित्तेहिं खण्डेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणिओसप्पिणीहिं अवहीरइ ? आयरिओ आह—खेत्तस्स सुहुमत्तणओ । सुत्ते वि जं भणियं—

[4]सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरयं हवइ खित्तं ।
अंगुलसेढीमित्ते, ओसप्पिणीओ असंखिज्जा (अनु० चू० पत्र ७२) इति।

अतो निरयादिभ्यः सकाशात् स्तोका नराः, तेभ्यो नारका असङ्ख्येयगुणाः । यत एवमनुयोगद्वारेषु नारकपरिमाणमुपदर्श्यते—

नेरइयाणं भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—बद्धिल्लया मुक्किल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धिल्लया ते णं असंखेज्जा असंखिज्जाहिं उस्सप्पिणिअवसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असंखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखेज्जइभागो । तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलं बीयवग्गमूलपडुप्पन्नं, अहव णं अंगुलबिइयवग्गमूलघणपमाणमित्ताओ सेढीओ ॥ (पत्र १९९-२)

अस्येयमक्षरगमनिका-नारकाणां बद्धानि वैक्रियशरीराण्यसङ्ख्येयानि, प्रतिनारकमेकैकवैक्रियसद्भावाद् नारकाणां चासङ्ख्येयत्वात् , तानि च कालतोऽसङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयराशितुल्यानि । क्षेत्रतस्तु प्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयश्रेणीनां ये प्रदेशास्तत्सङ्ख्यानि भवन्ति । ननु प्रतरासङ्ख्येयभागेऽसङ्ख्येययोजनकोटयोऽपि भवन्ति तत् किमेतावत्यपि क्षेत्रे या नभःश्रेणयो भवन्ति ता इह गृह्यन्ते ? न, इत्याह—"तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई" इत्यादि । तासां श्रेणीनां विष्कम्भसूचिर्विस्तरश्रेणिर्ग्राह्येति शेषः । कियती ? इत्याह—"अंगुल" इत्यादि । अङ्गुलप्रमाणप्रतरक्षेत्रे यः श्रेणिराशिः तत्र किलासङ्ख्येयानि वर्गमूलान्युत्तिष्ठन्ति अतः प्रथमवर्गमूलं द्वितीय-

[illegible] एतावन्मात्रैः खण्डैरपह्रियमाणा अपह्रियमाणा असंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरप[illegible] [illegible] ? [illegible]—क्षेत्रस्य सूक्ष्मत्वात् । सूत्रेऽपि यद्भणितं—सूक्ष्मश्च भवति कालस्ततः सूक्ष्मतरं [illegible] [illegible]सर्पिण्योऽसंख्येयाः ॥ १ जाव अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ २ [illegible] [illegible] तइयवग्गमूलपएसरासिणा पडुप्पाइज्जइ, पडुप्पाइते समाणे [illegible] [illegible] अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ ४ गाथेयमावश्यकनिर्युक्ती सन्मति[illegible]

वर्गमूलेन प्रत्युत्पन्नं-गुणितम् , तथा च यावन्त्योऽत्र श्रेणयो लब्धा एतावत्प्रमाणश्रेणीनां विष्कम्भसूचिर्भवति , एतावत्यः श्रेणयोऽत्र गृह्यन्त इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति--अङ्गुलप्रमाणे प्रतरक्षेत्रे किलाऽसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिके द्वे शते श्रेणीनां भवतः, तद्यथा--२५६, अत्र प्रथमवर्गमूलं १६, द्वितीयं ४, चतुर्भिश्च षोडश गुणिता जाता चतुःषष्टिः ६४, एषा चतुःषष्टिरपि सद्भावतोऽसङ्ख्येयाः श्रेणयो मन्तव्याः, एतावत्सङ्ख्यश्रेणीनां विस्तरसूचिरिह ग्राह्या । अथवा 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, अयं द्वितीयः प्रकारः प्रस्तुतार्थविषये । तथाहि--"अङ्गुलबिइयवग्गमूलघण" इत्यादि । अङ्गुलप्रमाणप्रतरक्षेत्रवर्तिश्रेणिराशेर्यद् द्वितीयवर्गमूलमनन्तरं चतुष्टयरूपं दर्शितं तस्य यो घनश्चतुःषष्टिलक्षणस्तत्प्रमाणाः श्रेणयोऽत्र गृह्यन्त इति प्ररूपणैव भिद्यतेऽर्थतस्तु स एव । इदमत्र तात्पर्यम्--सप्तरज्जुप्रमाणस्य घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्ध्वाधआयता एकप्रादेशिक्यः श्रेणयोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिगतद्वितीयवर्गमूलघनप्रदेशराशिप्रमाणास्तासां यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणा नारकाः, अतस्ते नरेभ्योऽसङ्ख्यातगुणा एव ॥

एतेभ्योऽपि देवा असङ्ख्यातगुणाः । कथम् ? इति चेद् उच्यते---देवा हि भवनपत्यादिभेदेन चतुर्धा, भवनपतयोऽसुरादिभेदेन दशविधाः । तत्राऽसुरकुमारा अपि तावद् घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्ध्वाधआयता एकप्रादेशिक्यः श्रेणयोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रगतप्रदेशराशिसम्बन्धिप्रथमवर्गमूलासङ्ख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणास्तासां सम्बन्धी यावान् प्रदेशराशिस्तावत्सङ्ख्याकाः, एवं नागकुमारादयोऽपि द्रष्टव्याः । तथा सङ्ख्येययोजनप्रमाणाकाशप्रदेशसूचिरूपैः खण्डैर्यावद्भिर्घनीकृतस्य लोकस्य मण्डकाकारः प्रतरोऽपह्रियते तावत्प्रमाणा व्यन्तराः । उक्तं च—

[1]संखिज्जजोयणाणं, सूइपएसेहि भाइओ पयरो ।
वंतरसुरेहिं हीरइ, एवं एक्केक्कभेएणं ॥ (पञ्चसं० गा० ४८)

अस्या अक्षरगमनिका—सङ्ख्येययोजनप्रमाणा 'सूचिः' एकप्रादेशिकी पङ्क्तिस्तत्प्रदेशैः-सङ्ख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकपङ्क्तिप्रदेशैरिति यावत् भक्तं प्रतरं व्यन्तरसुरैरपह्रियते तावद्भागलब्धराशिप्रमाणा व्यन्तरसुरा इत्यर्थः । इयमत्र भावना—सङ्ख्येययोजनप्रमाणसूचिप्रदेशाः किलाऽसत्कल्पनया दश, प्रतरप्रदेशाश्च लक्षम् , ततो दशभिर्भागे हृते लब्धाः सहस्रा दश एतावन्त इत्यर्थः । 'एवम् ' उक्तेन प्रकारेण प्रतिनिकायं व्यन्तराणां भावना कार्या । न चैवं सर्वसमुदायपरिमाणनियमव्याघातप्रसङ्गः, सूचिप्रमाणहेतुयोजनसङ्ख्येयत्वस्य वैचित्र्यादिति ॥

तथा षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणैराकाशप्रदेशसूचिरूपैः खण्डैर्यावद्भिर्यथोक्तस्वरूपं प्रतरमपह्रियते तावत्प्रमाणा ज्योतिष्का देवाः । उक्तं च—

---

१ संख्येययोजनानां सूचिप्रदेशैः भक्तः प्रतरः । व्यंतरसुरैः ह्रियते एवमेकैकभेदेन ॥

[1]छपन्नदोसयंगुलसूइपएसेहिं भाइयं पयरं ।
जोइसिएहिं हीरइ, (पञ्चसं० गा० ४९) इति ।

अत एवोक्तम्—" [2]वाणमंतरेहिंतो संखेज्जगुणा जोइसिय" त्ति । तथा वैमानिकदेवा घनीकृतस्य लोकस्य या उर्ध्वाधआयता एकप्रादेशिक्यः श्रेणयोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसम्बन्धितृतीयवर्गमूलघनप्रमाणास्तासां यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणाः, अतः सकलभवनपत्यादिसमुदायापेक्षया चिन्त्यमाना देवा नारकेभ्योऽसङ्ख्यातगुणा एव । तेभ्योऽपि च देवेभ्यस्तिर्यञ्चोऽनन्तगुणाः, तत्रानन्तसङ्ख्योपेतस्य वनस्पतिकायस्य सद्भावात् । उक्तं च—

[3]एएसि णं भंते ! नेरइयाणं तिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं देवाणं सिद्धाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वथोवा मणुस्सा, नेरइया असंखेज्जगुणा, देवा असंखेज्जगुणा, सिद्धा अणंतगुणा, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ॥
(प्रज्ञाप० पत्र ११९-२)

तथा—

[4]थोवा नरा नरेहि य, असंखगुणिया हवंति नेरइया ।
तत्तो सुरा सुरेहि य, सिद्धाऽणंता तओ तिरिया ॥
(जीवस० गा० २७१) इति ॥ ३७ ॥

[illegible] । साम्प्रतमिन्द्रियद्वारे कायद्वारे तदभिधित्सुराह—

[illegible] थोवा तिन्नि अहिया अणंतगुणा ।
[illegible] नूजलानिल अहिय वणाऽणंता ॥ ३८ ॥

[illegible] स्तोकाः, तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया 'अधिकाः' विशेषाधिकाः, [illegible] त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः । तत्र च यद्यपि [illegible] कोटीकोटीप्रमाणा [illegible] त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिया [illegible]

[illegible]

[1]'जह बेइंदियाणं तहा तेइंदियाणं चउरिंदियाण वि भाणियव्वं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण वि । (अनुयो० पत्र २०४–१) इति ।

तथापि सूचिपरिमाणहेतुयोजनगतासङ्ख्यातरूपसङ्ख्याया बहुभेदत्वान्न यथोक्तविशेषाधिकत्वाभिधानव्याघातः । अत एव च हेतोस्तिर्यग्योनिपञ्चेन्द्रियेषु द्वीन्द्रियादितुल्यतया सूत्रेऽभिहितेष्वपि तत्रापि नरनिरयदेवप्रक्षेपेऽपि पञ्चेन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियादिभ्यः स्तोका एव द्रष्टव्याः । यदभ्यधायि—

[2]"पंचिंदिया य थोवा, विवज्जएण वियला विसेसहिया । (जीवस० गा० २७५)

द्वीन्द्रियेभ्योऽपि चैकेन्द्रिया अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायजीवराशेरनन्तानन्तत्वात् ।

यदुक्तमार्षे---

[3]एएसि णं भंते ! एगिंदियबेंदियतेइंदियचउरिंदियपंचिंदियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुआ वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया, चउरिंदिया विसेसाहिया, तेंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया विसेसाहिया, एगिंदिया अणंतगुणा ।

(प्रज्ञापनापद ३ पत्र १२०–२)

"तस थोव" इत्यादि । 'त्रसाः' द्वीन्द्रियादयः पूर्वनिर्दिष्टसङ्ख्यास्तेजस्कायिकादिभ्यः स्तोकाः । तेभ्यस्त्रसेभ्योऽसङ्ख्यातगुणाः "अग्गि" त्ति अग्निकायिकाः, तेषां सूक्ष्मबादरभेदभिन्नानामसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः "भू" त्ति पृथिवीकायिका विशेषाधिकाः । तेभ्यः "जल" त्ति अप्कायिका विशेषाधिकाः । तेभ्यः "अनिल" त्ति वायुकायिका विशेषाधिकाः । यद्यपि च एतेषामपि पृथिवीकायिकादीनामसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणतया सूत्रे अविशेषेण निर्देशः कृतः, तथा चोक्तम्--

[4]जहा पुढविकाइयाणं एवं आउकाइयाणं पि । (अनु० पत्र २०२--१) इत्यादि ।

तथापि लोकानामसङ्ख्यातत्वस्याऽनेकभेदभिन्नत्वादित्थं विशेषाधिकत्वाभिधानेऽपि न कश्चिद्दोषः । उक्तं च श्रीप्रज्ञापनायाम्----

" [5]एएसि णं भंते ! तसकाइयाणं पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं

---

१ यथा द्वीन्द्रियाणां तथा त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणामपि भणितव्यं पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानामपि ॥
२ पञ्चेन्द्रियाश्च स्तोका विपर्ययेण विकला विशेषाधिकाः ॥ ३ एतेषां भदन्त ! एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय-
चतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोकाः
पञ्चेन्द्रियाः, चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, एकेन्द्रिया
अनन्तगुणाः ॥ ४ यथा पृथ्वीकायिकानामेवमप्कायिकानामपि ॥ ५ एतेषां भदन्त ! त्रसकायिकानां पृथ्वी-
कायिकानामप्कायिकानां तेजस्कायिकानां वायुकायिकानां वनस्पतिकायिकानामकायिकानां च कतरे कतरे-
भ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ? सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः, तेजस्कायिका
असङ्ख्येयगुणाः, पृथ्वीकायिका विशेषाधिका, अप्कायिका विशेषाधिकाः, वायुकायिका विशेषाधिकाः,
अकायिकाअनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः ॥

[1]तिगुणा तिरूवअहिया, तिरियाणं इत्थिया मुणेयव्वा ।
सत्तावीसगुणा पुण, मणुयाणं तदहिया चेव ॥
बत्तीसगुणा बत्तीसरूवअहिया उ तह य देवाणं ।
देवीओ पन्नत्ता, जिणेहिं जियरागदोसेहिं ॥ (प्रवच० गा० ८८३-८८४)

स्त्रीभ्यश्च 'क्लीबाः' नपुंसका अनन्तगुणाः' अनन्तगुणता च वनस्पत्यपेक्षया द्रष्टव्या। उक्तं च-

[2]एएसि णं भंते ! जीवाणं सवेयगाणं इत्थीवेयगाणं पुरिसवेयगाणं नपुंसकवेयगाणं अवेयगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पुरिसवेयगा, इत्थीवेयगा संखेज्जगुणा, अवेयगा अणंतगुणा, नपुंसगवेयगा अणंतगुणा, सवेयगा विसेसाहिया ॥ (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३४-२) ॥ ३९ ॥

माणी कोही माई, लोही अहिय मणनाणिणो थोवा ।
ओहि असंखा मइसुय, अहिय सम असंख विब्भंगा ॥ ४० ॥

कषायद्वारे--सर्वस्तोका मानिनः, मानपरिणामकालस्य क्रोधादिपरिणामकालापेक्षया सर्वस्तोकत्वात् । तेभ्यः क्रोधिनो विशेषाधिकाः क्रोधपरिणामकालस्य मानपरिणामकालापेक्षया विशेषाधिकत्वात् । तेभ्योऽपि मायिनो विशेषाधिकाः, यद् भूयस्त्वेन जन्तूनां प्रभूतकालं च मायाबहुलत्वात् । ततोऽपि लोभिनो विशेषाधिकाः, सर्वेषामपि प्रायः संसारिजीवानां सदा परिग्रहाद्याकाङ्क्षासद्भावात् । उक्तं च—

[3]एएसि णं भंते ! जीवाणं सकसाईणं कोहकसाईणं माणकसाईणं मायाकसाईणं लोभकसाईणं अकसाईण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अकसाई, माणकसाई अणंतगुणा, कोहकसाई विसेसाहिया, मायाकसाई विसेसाहिया, लोभकसाई विसेसाहिया, सकसाई विसेसाहिया । (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३५--१)

---

१ त्रिगुणास्त्रिरूपाधिकास्तिरश्चां स्त्रियो ज्ञातव्याः । सप्तविंशतिगुणाः पुनर्मनुजानां तदधिका एव 'सप्तविंशत्यधिका एवेत्यर्थः' ॥ द्वात्रिंशद्गुणा द्वात्रिंशद्रूपाधिकास्तु तथा च देवेभ्यः । देव्यः प्रज्ञप्ता जिनैर्जितरागदोषैः ॥ २ एतेषां भदन्त ! जीवानां सवेदकानां स्त्रीवेदकानां पुरुषवेदकानां नपुंसकवेदकानामवेदकानां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका जीवाः पुरुषवेदकाः, स्त्रीवेदकाः सङ्ख्येयगुणाः, अवेदका अनन्तगुणाः, नपुंसकवेदका अनन्तगुणाः, सवेदका विशेषाधिकाः ॥ ३ एतेषां भदन्त ? जीवानां सकषायिणां क्रोधकषायिणां मानकषायिणां मायाकषायिणां लोभकषायिणां अकषायिणां च कतरे कतरेभ्यः अल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका जीवा अकषायिणः, मानकषायिणोऽनन्तगुणाः, क्रोधकषायिणो विशेषाधिकाः, मायाकषायिणो विशेषाधिकाः, लोभकषायिणो विशेषाधिकाः, सकषायिणो विशेषाधिकाः ॥

सम्यक्त्वद्वारे—सास्वादनसम्यग्दृष्टयः स्तोकाः, औपशमिकसम्यक्त्वात् केषाञ्चिदेव प्रच्यवमानानां सास्वादनत्वात् । तेभ्यः "उवसम" त्ति औपशमिकसम्यग्दृष्टयः सङ्ख्यातगुणाः ॥४३॥

मीसा संखा वेयग, असंखगुण खइय मिच्छ दु अणंता ।
सन्नियर थोव णंताऽणहार थोवेयर असंखा ॥ ४४ ॥

तेभ्यश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टिभ्यो मिश्राः असङ्ख्यातगुणाः । तेभ्यः "वेयग" त्ति क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयोऽसङ्ख्यातगुणाः । तेभ्यः क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः, क्षायिकसम्यक्त्ववतां सिद्धानामानन्त्यात् । तेभ्योऽपि मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः, सिद्धेभ्योऽपि वनस्पतिजीवानामनन्तगुणत्वात्, तेषां च मिथ्यादृष्टित्वादिति । संज्ञिद्वारे—संज्ञिनो जीवाः स्तोकाः, देवनारकसमनस्कपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नराणामेव संज्ञित्वात् । तेभ्यः 'इतरे' असंज्ञिनोऽनन्तगुणाः, वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् । यदागमे प्यगादि—

[1]एएसि णं भंते ! जीवाणं सन्नीणं असन्नीणं नोसन्नी[2]णं नोअसन्नीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सन्नी, नोसन्नीनोअसन्नी अणंतगुणा, असन्नी अणंतगुणा । (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३९-१)

तथाऽऽहारकद्वारे-अनाहारकाः स्तोकाः, विग्रहगत्यापन्नसमुद्घातकेवलिभवस्थायोगिकेवलिसिद्धानामेवानाहारकत्वात् । यदाह भाष्यसुधाम्भोधिः—

विग्ग[3]हगइमावन्ना, केवलिणो समुहया अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा[4] ॥

तेभ्यः 'इतरे' आहारका जीवा असङ्ख्यातगुणाः । यदवाचि वाचंयमप्रवरैः श्रीमदार्यश्यामपादैः—

[5]एएसि णं भंते ! जीवाणं आहारगाणं अणाहारगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अणाहारगा, आहारगा असंखिज्जगुणा । (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३८-१)

---

१ एतेषां भदन्त ? जीवानां संज्ञिनामसंज्ञिनां नोसंज्ञिनां नोअसंज्ञिनां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका जीवाः संज्ञिनः, नोसंज्ञिनोअसंज्ञिनोऽनन्तगुणाः, असंज्ञिनोऽनन्तगुणाः ॥ २ ०न्नीनोअसन्नीणं प्रज्ञापनायाम् ॥ ३ विग्रहगतिमापन्नाः केवलिनः समुद्धता अयोगिनश्च । सिद्धाश्चानाहाराः शेषा आहारका जीवाः ॥ ४ गाथेयं श्रावकप्रज्ञप्ति-प्रवचनसारोद्धार-जैचन्द्रीयसङ्ग्रहणीषु वर्त्तते परं भाष्यकारग्रन्थस्था नोपलब्धा ॥ ५ एतेषां भदन्त ! जीवानां आहारकाणामनाहारकाणां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका जीवा अनाहारकाः, आहारका असङ्ख्येयगुणाः ॥

न च मिथ्यादृष्टिसासादनायतानां चतुर्दशपूर्वाधिगमसम्भव इति । तथा 'अपूर्वपञ्चके' अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहलक्षणे नव योगा भवन्ति । तद्यथा— चतुर्विधो मनोयोगः ४ चतुर्विधो वाग्योगः ४ औदारिककाययोगः १ इति, न शेषाः, अत्यन्तविशुद्धतया तेषां वैक्रियाहारकद्विकारम्भासम्भवात्, तत्र स्थितानां च स्वभावत एव श्रेण्यारोहाभावात्। औदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, कार्मणं त्वपान्तरालगतौ। यद्वा उभे अपि केवलिसमुद्घातावस्थायाम्, ततस्ते अप्यत्र गुणस्थानकपञ्चके न सम्भवत इति । तथा त एव पूर्वोक्ता नव योगाः सवैक्रियाः सन्तो दश योगाः 'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके भवन्ति । तथाहि—चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगौदारिकवैक्रियलक्षणा दश योगा मिश्रे भवन्ति, न शेषाः । तद्यथा—आहारकद्विकस्याऽसम्भवः पूर्वाधिगमासम्भवादेव, कार्मणशरीरं त्वपान्तरालगतौ सम्भवति, अस्य च मरणासम्भवेनाऽपान्तरालगत्यसम्भवस्ततस्तस्याप्यसम्भवः । अत एवौदारि[1]कवैक्रियमिश्रे अपि न सम्भवतः, तयोरपर्याप्तावस्थाभावित्वात् ।

ननु मा भूद् देवनारकसम्बन्धि वैक्रियमिश्रम्, यत् पुनर्मनुष्यतिरश्चां सम्यग्मिथ्यादृशां वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियकरणसम्भवेन तदारम्भकाले वैक्रियमिश्रं भवति तत् कस्माद् नाभ्युपगम्यते ? उच्यते—तेषां वैक्रियकरणासम्भवादन्यतो वा यतः कुतश्चित् कारणात् पूर्वाचार्यैर्नाभ्युपगम्यते तन्न सम्यगवगच्छामः, तथाविधसम्प्रदायाभावात्, एतच्च प्रागेवोक्तमिति । तथा त एव पूर्वोक्ता नव योगाः 'सवैक्रियद्विकाः' वैक्रियवैक्रियमिश्रसहिताः सन्त एकादश 'देशे' देशविरते भवन्ति, अम्बडस्येव वैक्रियलब्धिमतो देशविरतस्य वैक्रियारम्भसम्भवादिति ॥ ४६ ॥

साहारदुग पमत्ते, ते विउवाहारमीस विणु इयरे ।
कम्मुरलदुगंताइममणवयण सजोगि न अजोगी ॥ ४७ ॥

पूर्वोक्ता एवैकादश योगाश्चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगौदारिकवैक्रियद्विकलक्षणाः 'साहारकद्विकाः' आहारकाहारकमिश्रसहिताः सन्तस्त्रयोदश योगाः प्रमत्ते भवन्ति । औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगाभावस्तु पूर्वोक्तयुक्तेरेवावसेय इति । त एव पूर्वोक्तास्त्रयोदश योगा वैक्रियमिश्राहारकमिश्रं विना एकादश 'इतरस्मिन्' अप्रमत्तगुणस्थानके भवन्ति । तथाहि—चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगौदारिकवैक्रियाहारकलक्षणा एकादश योगा अप्रमत्ते । यत्तु वैक्रियमिश्रमाहारकमिश्रं च तन्न सम्भवति, तद् वैक्रियस्याहारकस्य च प्रारम्भ[2]काले भवति, तदानीं च लब्ध्युपजीवनादिनौत्सुक्यभावतः प्रमादभावः सम्भवतीति । तथौदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, कार्मणं त्वपान्तरालगतौ। यद्वा उभे अपि केवलिसमुद्घातावस्थायाम्, ततस्ते अप्यत्र गुणस्थानके न सम्भवत इति । तथा

१ ०कमिश्रवै० क० ग० घ० ॥ २ ० मादिका० क० ग० घ० ङ० ॥

कार्मणम् 'औदारिकमिश्रकम्' [illegible]
मनोयोगो [illegible]
भवन्ति, कार्मणौदारिकमिश्रे तु [illegible]
योगेन युक्तः 'अयोगी' अयोगिकेवली [illegible] इति ॥ ४७ ॥

उक्ता गुणस्थानकेषु योगाः । [illegible] आह—

> तिअनाण दुदंसाइमदुगे अजइ देसि नाणदंसतिगं ।
> ते मीसि मीस समणा, जयाइ केवलिदुगंतदुगे ॥ ४८ ॥

'आदिमद्विके' मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणप्रथमद्वितीयगुणस्थानकद्वये इत्यर्थः । "तिअनाण दुदंस" त्ति त्रयाणामज्ञानानां समाहारस्त्र्यज्ञानं—मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपं, दर्शने द्वे द्वयोर्दर्शयोः समाहारो द्विदर्श—चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनरूपमित्येते पञ्चोपयोगा मिथ्यादृष्टिसासादनयोर्भवन्ति, न शेषाः, सम्यक्त्वविरत्यभावात् । तथा 'अयते' अविरतसम्यग्दृष्टौ 'देशे' देशविरते षडुपयोगा भवन्ति । तथाहि—"नाणदंसतिगं" ति त्रिकशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् ज्ञानत्रिकं—मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानरूपं दर्शत्रिकं—चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनलक्षणमिति, न शेषाः, सर्वविरत्यभावात् । 'ते' पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपाः षडुपयोगाः 'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके 'मिश्राः' अज्ञानसहिता द्रष्टव्याः तस्योभयदृष्टिपातित्वात्, केवलं कदाचि[1]त् सम्यक्त्वबाहुल्यतो ज्ञानबाहुल्यम्, कदाचिच्च मिथ्यात्वबाहुल्यतोऽज्ञानबाहुल्यम्, समकक्षतायां तूभयांशसमतेति । अस्मिंश्च गुणस्थानके यद् अवधिदर्शनमुक्तं तत् सैद्धान्तिकमतापेक्षया द्रष्टव्यमित्युक्तं प्राक् । "समणा जयाइ" त्ति "यमूं उपरमे" यमनं यतं—सर्वसावद्यविरतं तद् विद्यते यस्य स यतः—"अभ्रादिभ्यः" (सि० ७–२–४६) इत्यप्रत्ययः प्रमत्तगुणस्थानकवर्ती साधुः, यत आदिर्येषां गुणस्थानकानां तानि यतादीनि—प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानि सप्त गुणस्थानकानि तेषु पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकाख्याः षडुपयोगाः "समण"त्ति मनःपर्यायज्ञानसहिताः सप्त भवन्तीति, न शेषाः, मिथ्यात्वघातिकर्मक्षयाभावात् । 'केवलद्विकं' केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणोपयोगद्वयरूपम् 'अन्तद्विके' सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणचरमगुणस्थानकद्वये भवति, न शेषा दश ज्ञानदर्शनलक्षणाः, तदुच्छेदेनैव केवलज्ञानकेवलदर्शनोत्पत्तेः, "[2]नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" (आ० नि०गा० ५३९) इति वचनात् ॥ ४८ ॥ तदेवमभिहिता गुणस्थानकेषूपयोगाः । साम्प्रतं यदिह प्रकरणे सूत्राभिमतमपि कार्मग्रन्थिकाभिप्रायानुसरणतो नाधिकृतं तद्दर्शयन्नाह—

---

१ ०त् कस्याचित् सम्य० क० ग० घ० ॥ २ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने ॥

सासणभावे नाणं, विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं ।
नेगिंदिसु सासाणो, नेहाहिगयं सुयमयं पि ॥ ४९ ॥

'सासादनभावे' सास्वादनसम्यग्दृष्टित्वे सति ज्ञानं भवति नाज्ञानमिति 'श्रुतमतमपि' सिद्धान्तसम्मतमपि, तथाहि—

[1]बेइंदिया णं भंते ! किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी वि अन्नाणी वि । जे नाणी ते नियमा दुनाणी, आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी । जे अन्नाणी ते वि नियमा दुअन्नाणी, तं जहा--मइअन्नाणी सुयअन्नाणी । (भ० श० ८ उ० पत्र ३४३-२)

इत्यादिसूत्रे द्वीन्द्रियादीनां ज्ञानित्वमभिहितं तच्च सास्वादनापेक्षयैव, न शेषसम्यक्त्वापेक्षया, असम्भवात् । उक्तं च प्रज्ञापनाटीकायाम्---

[2]बेइंदियस्स दो नाणा कहं लब्भंति ? भण्णइ--सासायणं पडुच्च तस्सापज्जत्तयस्स दो नाणा लब्भंति इति ।

ततः सासादनभावेऽपि ज्ञानं सूत्रसम्मतमेव। तच्चेत्थं सूत्रसम्मतमपि नेह प्रकरणेऽधिकृतम् , किन्त्वज्ञानमेव, कर्मग्रन्थाभिप्रायस्यानुसरणात् । तदभिप्रायश्चायम्-सास्वादनस्य मिथ्यात्वाभिमुखतया तत्सम्यक्त्वस्य मलीमसत्वेन तन्निबन्धनस्य ज्ञानस्यापि मलीमसत्वादज्ञानरूपतेति ।

तथा सूत्रे वैक्रिये आहारके चारभ्यमाणे तेन प्रारभ्यमाणेन सहौदारिकस्यापि मिश्रीभवनाद् औदारिकमिश्रमुक्तमिति । तथा चाह प्रज्ञापनाटीकाकारः—

यदा पुनरौदारिकशरीरी वैक्रियलब्धिसम्पन्नो मनुष्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिको वा पर्याप्तबादरवायुकायिको वा वैक्रियं करोति तदौदारिकशरीरयोग एव वर्तमानः प्रदेशान् विक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलानादाय यावद् वैक्रियशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तिं न गच्छति तावद् वैक्रियेण मिश्रता, व्यपदेशश्च औदारिकस्य प्रधानत्वात् (पद १६ पत्र ३११-१) ।

एवमाहारकेणापि सह मिश्रता द्रष्टव्या, आहारयति चैतेनैवेति तस्यैव व्यपदेश इति । परित्यागकाले वैक्रियस्याहारकस्य च यथाक्रमं वैक्रियमिश्रमाहारकमिश्रं च । उक्तं च श्रीप्रज्ञापनाटीकायाम्—

[यदा] आहारकशरीरी भूत्वा कृतकार्यः ? पुनरप्यौदारिकं गृह्णाति तदाऽऽहारकस्य प्रधानत्वा-

---

१ द्वीन्द्रिया भदन्त ? किं ज्ञानिनोऽज्ञानिनः ? गौतम ! ज्ञानिनोऽप्यज्ञानिनोऽपि । ये ज्ञानिनस्ते नियमाद् द्विज्ञानिनः, आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनः । येऽज्ञानिनस्तेऽपि नियमाद् द्व्यज्ञानिनः, तद्यथा--मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनः ॥ २ द्वीन्द्रियस्य द्वे ज्ञाने कथं लभ्येते ? भण्यते-सास्वादनं प्रतीत्य तस्यापर्याप्तकस्य द्वे ज्ञाने लभ्येते ॥

दौदारिकप्रदेशं प्रति व्यापाराभावान्न परित्यजति यावत् सर्वथैवाहारकं तावदौदारिकेण मिश्रतेति आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोग इति ।

तच्चैवं वैक्रियाहारकारम्भकाले औदारिकमिश्रं सूत्रेऽभिहितमपि नेह प्रकरणेऽधिकृतं कार्मग्रन्थिकैः, गुणविशेषप्रत्ययसमुत्थलब्धिविशेषकारणतया प्रारम्भकाले परित्यागकाले च वैक्रियस्याहारकस्य च प्राधान्यविवक्षणेन वैक्रियमिश्रस्याऽऽहारकमिश्रस्य चैवाभिधानात्, तदभिप्रायस्य चेहानुसरणात् । तथा नैकेन्द्रियेषु "सासाणो" त्ति भावप्रधानोऽयं निर्देशः, सासादनभावः सूत्रे मतः, अन्यथा द्वीन्द्रियादीनामिवैकेन्द्रियाणामपि ज्ञानित्वमुच्येत, न चोच्यते, किं तु विशेषतः प्रतिषिध्यते । तथाहि—

[1]एगिंदिया णं भंते! किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! नो नाणी नियमा अन्नाणी (भ० श० ८ उ० २ पत्र ३४५-२) इति ।

स चेत्थं सासादनभावप्रतिषेधः सूत्रे मतोऽपि केनचित् कारणेन कार्मग्रन्थिकैर्नाभ्युपगम्यत इतीहापि प्रकरणे नाधिक्रियते, तदभिप्रायस्यैवेह प्रायोऽनुसरणादिति । "नेहाहिगयं सुयमयं पि" इत्येतद् विभक्तिपरिणामेन प्रतिपदं सम्बन्धनीयम्, तथैव सम्बन्धितमिति ॥ ४९ ॥

अधुना गुणस्थानकेष्वेव लेश्या अभिधित्सुराह—

छसु सव्वा तेउतिगं, इगि छसु सुक्का अजोगि अल्लेसा ।
बंधस्स मिच्छअविरइकसायजोग त्ति चउ हेऊ ॥ ५० ॥

'षट्सु' मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतदेशविरतप्रमत्तलक्षणेषु गुणस्थानकेषु 'सर्वाः' षडपि कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्ललेश्या भवन्ति । "तेउतिगं इगि" त्ति 'एकस्मिन्' अप्रमत्तगुणस्थानके 'तेजस्त्रिकं' तेजःपद्मशुक्ललेश्यात्रयं भवति, न पुनराद्यं लेश्यात्रयमित्यर्थाल्लभ्यम् । 'षट्सु' अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु गुणस्थानकेषु शुक्ललेश्या भवति न शेषाः पञ्च । 'अयोगिनः' अयोगिकेवलिनः 'अलेश्याः' अपगतलेश्याः । इह लेश्यानां प्रत्येकमसङ्ख्येयानि लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि, ततो मन्दाध्यवसायस्थानापेक्षया शुक्ललेश्यादीनामपि मिथ्यादृष्ट्यादौ कृष्णलेश्यादीनामपि प्रमत्तगुणस्थानकेऽपि सम्भवो न विरुध्यत इति ॥

तदेवमुक्ता गुणस्थानकेषु लेश्याः । सम्प्रति बन्धहेतवो वक्तुमवसरप्राप्ताः, ते च मूलभेदतश्चत्वार उत्तरभेदतश्च सप्तपञ्चाशत्, तानुभयथाऽपि प्रचिकटयिषुराह—"बंधस्स मिच्छ" इत्यादि,

---

१ एकेन्द्रिया भदन्त ! किं ज्ञानिनोऽज्ञानिनः ? गौतम ! नो ज्ञानिनो नियमादज्ञानिनः ॥

केवलयोगस्तु मिथ्यात्वाविरतिकषायाभावेऽपि बध्यत इति योगप्रत्ययमिति । एवं सातलक्षणा प्रकृतिश्चतुष्प्रत्ययिका । तथा मिथ्यात्वप्रत्ययिकाः षोडश प्रकृतयः । इह याः कर्मस्तवे— “नरयतिग ३ जाइ ४ थावरचउ ४ हुंडाऽऽयव १ छिवट्ठ १ नपु १ मिच्छं १ । सोलंतो” (गा० ४) इति गाथाखण्डेन नरकत्रिकादीनां षोडशप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टावन्त उक्तस्ता मिथ्यात्वप्रत्ययाः प्रत्येतव्याः । तद्भावे बध्यन्ते तदभावे तूत्तरेषु सास्वादनादिषु न बध्यन्त इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां मिथ्यात्वमेवासां प्रधानं कारणम्, शेषप्रत्ययत्रयं तु गौणमिति । तथा मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिकाः पञ्चत्रिंशत् प्रकृतयः, तथाहि—“सासणि तिरि ३ थीण ३ दुहग ३ तिगं ॥ अण ४ मज्झागिइ ४ संघयणचउ ४ नि १ उज्जोय १ कुखगइ १ त्थि १ त्ति । ” (कर्मस्तव गा० ४-५) इति गाथाखण्डेन तिर्यक्त्रिकस्त्यानर्द्धित्रिकादीनां सास्वादने बन्धव्यवच्छेद उक्तः, तथा—“ वइर १ नरतिग ३ बियकसाया ४ । उरलदुगंतो २” (कर्मस्त० गा० ६) इति गाथाखण्डेन वज्रर्षभनाराचादीनां दशानां प्रकृतीनां देशविरते बन्धव्यवच्छेद उक्तः, एवं च पञ्चविंशतेर्दशानां च मीलने पञ्चत्रिंशत् प्रकृतयो मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिका एताः, शेषप्रत्ययद्वयं तु गौणम्, तद्भावेऽप्युत्तरत्र तद्बन्धाभावादिति भावः । भणितशेषा आहारकद्विकतीर्थकरनामवर्जाः शेषा अपि प्रकृतयो योगवर्जत्रिप्रत्ययिका भवन्ति, मिथ्यादृष्ट्यविरतेषु सकषायेषु च सर्वेषु सूक्ष्मसम्परायान्तेषु यथासम्भवं बध्यन्त इति मिथ्यात्वाविरतिकषायलक्षणप्रत्ययत्रयनिबन्धना भवन्तीत्यर्थः । उपशान्तमोहादिषु केवलयोगसत्त्वेऽप्येतासां बन्धो नास्तीति योगप्रत्ययवर्जनम्, अन्वयव्यतिरेकगम्यत्वात् कार्यकारणभावस्येति हृदयम् । आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणाहारकद्विकतीर्थकरनाम्नोस्तु प्रत्ययः “[1]सम्मत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारं ।” (बृहच्छत० गा० ४५) इति वचनात् संयमः सम्यक्त्वं चाभिहित इतीह तद्वर्जनमिति ॥५३॥

उक्तं प्रासङ्गिकम् । इदानीमुत्तरबन्धभेदान् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

पणपन्न पन्न तियछहिय चत्त गुणचत्त छचउदुगवीसा ।
सोलस दस नव नव सत्त हेउणो न उ अजोगिम्मि ॥ ५४ ॥

मिथ्यादृष्टौ पञ्चपञ्चाशद् बन्धहेतवः १ । सासादने पञ्चाशद् बन्धहेतवः २ । चत्तशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्र्यधिकचत्वारिंशदित्यर्थः, बन्धहेतवो मिश्रगुणस्थानके ३ । षडधिकचत्वारिंशद् बन्धहेतवोऽविरतिगुणस्थानके ४ । एकोनचत्वारिंशद् बन्धहेतवो देशविरतगुणस्थानके ५ । विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् षड्विंशतिर्बन्धहेतवः प्रमत्तगुणस्थाने ६ । चतुर्विंशतिर्बन्धहेतवोऽप्रमत्तगुणस्थानके ७ । द्वाविंशतिर्बन्धहेतवोऽपूर्वकरणे ८ । षोडश बन्धहेतवोऽनिवृत्तिबादरे

[1] सम्यक्त्वगुणनिमित्तं तीर्थकरं संयमेनाहारकम् ॥

१ । दश बन्धहेतवः सूक्ष्मसम्पराये १० । नव [illegible] १२ । नव [illegible] क्षीणमोहे १२ । नव बन्धहेतवः सयोगिकेवलिगुणस्थाने १३ । [illegible] अयोगिकेवलिनि कोऽपि बन्धहेतुरस्ति, बन्धाभावादिति ॥ ५४ ॥ अथामूनेव [illegible] भावयन्नाह—

पणपन्न मिच्छि हारगदुगूण सासाणि पन्न मिच्छ विणा ।
मिस्सदुगकम्मअण विणु तिचत्त मीसे अह छचत्ता ॥ ५५ ॥

मिथ्यादृष्टौ आहारककाययोगाहारकमिश्ररूपाहारकद्विकहीनाः पञ्चपञ्चाशद् बन्धहेतवो भवन्ति, आहारकद्विकवर्जनं तु "संयमवतां तदुदयो भवति" इति वचनात् । सासादने मिथ्यात्वपञ्चकेन विना पञ्चाशद् बन्धहेतवो भवन्ति, पूर्वोक्तायाः पञ्चपञ्चाशतो मिथ्यात्वपञ्चकेऽपनीते पञ्चाशद् बन्धहेतवः सासादने द्रष्टव्याः । मिश्रे त्रिचत्वारिंशद् बन्धहेतवो भवन्ति, कथम् ? इत्याह—'मिश्रद्विकम्' औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणं "कम्म" त्ति कार्मणशरीरं "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनस्तैर्विना । इयमत्र भावना—"न सम्ममिच्छो कुणइ कालं" इति वचनात् सम्यग्मिथ्यादृष्टेः परलोकगमनाभावाद् औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रद्विकं कार्मणं च न सम्भवति, अनन्तानुबन्ध्युदयस्य चास्य निषिद्धत्वाद् अनन्तानुबन्धिचतुष्कं च नास्ति, अत एतेषु सप्तसु पूर्वोक्तायाः पञ्चाशतोऽपनीतेषु शेषास्त्रिचत्वारिंशद् बन्धहेतवो मिश्रे भवन्ति । 'अथ' अनन्तरं षट्चत्वारिंशद् बन्धहेतवो भवन्ति ॥ ५५ ॥

सदुमिस्सकम्म अजए, अविरइकम्मुरलमीसबिकसाए ।
मुत्तु गुणचत्त देसे, छवीस साहारदु पमत्ते ॥ ५६ ॥

क्व ? इत्याह—'अयते' अविरते, कथम् ? इत्याह—"सदुमिस्सकम्म" त्ति द्वयोर्मिश्रयोः समाहारो द्विमिश्रम् , द्विमिश्रं च कार्मणं च द्विमिश्रकार्मणम् , सह द्विमिश्रकार्मणेन वर्तते या त्रिचत्वारिंशत् । इयमत्र भावना—अविरतसम्यग्दृष्टेः परलोकगमनसम्भवात् पूर्वापनीतमौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणं द्विकं कार्मणं च पूर्वोक्तायां त्रिचत्वारिंशति पुनः प्रक्षिप्यते ततोऽविरते षट्चत्वारिंशद् बन्धहेतवो भवन्ति । तथा 'देशे' देशविरते एकोनचत्वारिंशद् बन्धहेतवो भवन्ति, कथम् ? इत्याह—अविरतिः--त्रसासंयमरूपा कार्मणम् औदारिकमिश्रं द्वितीयकषायान्--अप्रत्याख्यानावरणान् मुक्त्वा शेषा एकोनचत्वारिंशदिति । अत्रायमाशयः--विग्रहगतावपर्याप्तकावस्थायां च देशविरतेरभावात् कार्मणौदारिकमिश्रद्वयं न सम्भवति, त्रसासंयमाद् विरतत्वाद् त्रसाविरतिर्न जाघटीति ।

ननु त्रसासंयमात् सङ्कल्पजाद् एवासौ विरतो न त्वारम्भजादपि तत् कथमसौ त्रसाविरतिः सर्वाऽप्यपनीयते ?, सत्यम् , किन्तु गृहिणामशक्यपरिहारत्वेन सत्यप्यारम्भजा त्रसाविरतिर्न विव-

क्षितेत्यदोषः। एतच्च बृहच्छतकबृहच्चूर्णिमनुसृत्य लिखितमिति न स्वमनीषिका परिभावनीया। तथाऽप्रत्याख्यानावरणोदयस्याऽस्य निषिद्धत्वाद् इत्यप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयं न घटां प्राञ्चति। तत एते सप्त पूर्वोक्तायाः षट्चत्वारिंशतोऽपनीयन्ते तत एकोनचत्वारिंशद् बन्धहेतवः शेषा देशविरते भवन्ति। तथा षड्विंशतिर्बन्धहेतवः प्रमत्ते भवन्ति। "साहारदु" त्ति सह आहारद्विकेन-आहारकाहारकमिश्रलक्षणेन वर्तत इति साहारकद्विका॥ ५६॥

अविरइ इगार तिकसायवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया।
चउवीस अपुव्वे पुण, दुवीस अविउव्वियाहारा ॥५७॥

त्रसाविरतेर्देशविरतेऽपनयनात् शेषा एकादशाविरतय इह गृह्यन्ते, तृतीयाः कषायास्त्रिकषायाः-प्रत्याख्यानावरणास्तद्वर्जाः-तद्विरहिता साहारकद्विका च सैव एकोनचत्वारिंशत् षड्विंशतिर्भवति। इदमत्र हृदयम्—प्रमत्तगुणस्थाने एकादशधा अविरतिः प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयं च न सम्भवति, आहारकद्विकं च सम्भवति, ततः पूर्वोक्ताया एकोनचत्वारिंशतः पञ्चदशकेऽपनीते द्विके च तत्र प्रक्षिप्ते षड्विंशतिर्बन्धहेतवः प्रमत्ते भवन्तीति। तथा अप्रमत्तस्य लब्ध्यनुपजीवनेनाऽऽहारकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणमिश्रद्विकरहिता सैव षड्विंशतिश्चतुर्विंशतिर्बन्धहेतवोऽप्रमत्ते भवन्ति। 'अपूर्वे' अपूर्वकरणे पुनः सैव चतुर्विंशतिर्वैक्रियाहारकरहिता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवो भवन्तीति॥ ५७॥

अछहास सोल बायरि, सुहुमे दस वेयसंजलणति विणा।
खीणुवसंति अलोभा, सजोगि पुव्वुत्त सग जोगा ॥ ५८॥

एते च पूर्वोक्ता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवः 'अछहासाः' हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणहास्यषट्करहिताः षोडश बन्धहेतवः "बायरि" त्ति अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके भवन्ति, हास्यादिषट्कस्यापूर्वकरणगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नत्वादिति भावः। तथा त एव षोडश त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् वेदत्रिकं-स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणं सञ्ज्वलनत्रिकं-सञ्ज्वलनक्रोधमानमायारूपं तेन विना दश बन्धहेतवः सूक्ष्मसम्पराये भवन्ति, वेदत्रयस्य सञ्ज्वलनक्रोधमानमायात्रिकस्य चानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नत्वात्। त एव दश 'अलोभाः' लोभरहिताः सन्तो नव बन्धहेतवः क्षीणमोहे उपशान्तमोहे च भवन्ति, मनोयोगचतुष्कवाग्योगचतुष्कौदारिककाययोगलक्षणा नव बन्धहेतव उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च प्राप्यन्ते, न तु लोभः, तस्य सूक्ष्मसम्पराय एव व्यवच्छिन्नत्वात्। सयोगिकेवलिनि पूर्वोक्ताः सप्त योगाः, तथाहि—औदारिकमौदारिकमिश्रं कार्मणं प्रथमान्तिमौ मनोयोगौ प्रथमान्तिमौ वाग्योगौ चेति। तत्रौदारिकं

सयोग्यवस्थायाम् औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ [1]समुद्घातावस्थायामेव वेदितव्यौ ।

मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥ (प्रशम० का० २७६)

कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च । (प्रशम० का० २७७) इति

प्रथमान्तिममनोयोगौ भगवतोऽनुत्तरसुरादिभिर्मनसा पृष्टस्य मनसैव देशनात् , प्रथमान्तिमवाग्योगौ तु देशनादिकाले । अयोगिकेवलिनि न कश्चिद् बन्धहेतुः, योगस्यापि व्यवच्छिन्नत्वात् ॥ ५८ ॥ उक्ता गुणस्थानकेषु बन्धहेतवः । सम्प्रति गुणस्थानकेष्वेव बन्धं निरूपयन्नाह-

अपमत्तंता सत्तट्ठ मीसअप्पुव्वबायरा सत्त ।

बंधइ छ स्सुहुमो एगमुवरिमाऽबंधगाऽजोगी ॥ ५९ ॥

मिथ्यादृष्टिप्रभृतयोऽप्रमत्तान्ताः सप्ताष्टौ वा कर्माणि बध्नन्ति, आयुर्बन्धकालेऽष्टौ शेषकाले तु सप्त । "मीसअप्पुव्वबायरा" इति मिश्रापूर्वकरणानिवृत्तिबादराः सप्तैव बध्नन्ति, तेषामायुर्बन्धाभावात् । तत्र मिश्रस्य तथास्वाभाव्याद् , इतरयोः पुनरतिविशुद्धत्वाद् , आयुर्बन्धस्य च घोलनापरिणामनिबन्धनत्वात् । "छ स्सुहुमु" त्ति सूक्ष्मसम्परायो मोहनीयायुर्वर्जानि षट् कर्माणि बध्नाति, मोहनीयबन्धस्य बादरकषायोदयनिमित्तत्वात् , तस्य च तदभावात् , आयुर्बन्धाभावस्त्वतिविशुद्धत्वादवसेयः । "एगमुवरिम" त्ति 'एकं' सातवेदनीयं कर्म 'उपरितनाः' सूक्ष्मसम्परायाद् उपरिष्टाद्वर्तिन उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनो बध्नन्ति, न शेषकर्माणि, तद्बन्धहेतुत्वाभावात् । 'अबन्धकः' सर्वकर्मप्रपञ्चबन्धरहितः 'अयोगी' चरमगुणस्थानकवर्ती' सर्वबन्धहेतुत्वाभावादिति ॥ ५९ ॥ उक्ता गुणस्थानकेषु बन्धस्थानयोजना साम्प्रतं गुणस्थानकेष्वेवोदयसत्तास्थानयोजनां निरूपयन्नाह—

आसुहुमं संतुदए, अट्ठ वि मोह विणु सत्त खीणम्मि ।

चउ चरिमदुगे अट्ठ उ, संते उवसंति सत्तुदए ॥ ६० ॥

सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकमभिव्याप्य सत्तायामुदये चाष्टावपि कर्मप्रकृतयो भवन्ति । अयमर्थः—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावत् सत्तायामुदये चाष्टावपि कर्माणि प्राप्यन्ते । 'मोह विना' मोहनीयं वर्जयित्वा सप्त कर्मप्रकृतयो भवन्ति 'क्षीणे' क्षीणमोहगुणस्थानके, सत्तायामुदये च मोहनीयस्य क्षीणत्वात् । "चउ चरिमदुगे" त्ति 'चरमद्विके' सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिगुणस्थानद्वये सत्तायामुदये च चतस्रोऽघातिकर्मप्रकृतयो भवन्ति, तत्र घातिकर्मचतुष्टयस्य क्षीणत्वात् । "अट्ठ उ संते उवसंति सत्तुदए" त्ति तुशब्दस्य व्यवहितसम्बन्धात्

---

[1] [illegible]

[illegible] वेदनीयायुर्वर्जानि [illegible] मोहनीयोदयाभावादिति [illegible] ॥

[illegible]

उदीरंति पमत्तंता, सगट्ठ मीसट्ठ वेयआउ विणा ।
छग अपमत्ताइ तओ, छ पंच सुहुमो पणुवसंतो ॥ ६१ ॥

[illegible] "छ पंच सुहुमो" त्ति ['सूक्ष्मः' [illegible]] [illegible] "पणुवसंतो" त्ति उपशान्तमोहः पञ्च कर्मा-ण्युदीरयति न वेदनीयायुर्मोहनीयकर्माणि, [illegible] "वेदनायुर्मोहवर्जानि" इति भावार्थः ॥ ६१ ॥

पण दो खीण दु जोगी णुदीरगु अजोगि थोव उवसंता ।
संखगुण खीण सुहुमा, नियट्टिअपुव्व सम अहिया ॥ ६२ ॥

क्षीणमोहो नामगोत्रवेदनीयायुर्वर्जानि पञ्च कर्माण्युदीरयति । यानि च तावद् उदीरयति यावद् ज्ञाना-वरणदर्शनावरणान्तरायाणां समयाधिकावलिकाशेषाणि न भवन्ति, आवलिकावशेषेषु तु तेषु तेषामप्युदी-रणाया अभावात् । [illegible] द्वे एव नामगोत्राख्ये कर्मणी उदीरयति । "दु जोगि' त्ति 'द्वे' कर्मणी नामगोत्राख्ये योगी—सयोगिकेवली उदीरयति, न शेषाणि । [illegible] वेदनीयायुषो-रुदीरणा [illegible] न भवति । "णुदीरगु अजोगि" त्ति अयोगिकेवली, न कस्यापि कर्मण उदीरकः, योगसापेक्षत्वाद् उदीरणायाः, तस्य च योगाभावादिति ॥

उक्ता गुणस्थानकेषूदीरणास्थानयोजना । सम्प्रति गुणस्थानकेषु वर्तमानानां जन्तूनामल्पबहुत्वमाह—'थेव उवसंत'' त्ति स्तोकाः 'उपशान्ताः' उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनो जीवाः, यतस्ते प्रतिपद्यमानका उत्कर्षतोऽपि चतुःपञ्चाशत्प्रमाणा एव प्राप्यन्त इति । तेभ्यः सकाशात् क्षीणमोहाः सङ्ख्येयगुणाः, यतस्ते प्रतिपद्यमानका एकस्मिन् समयेऽष्टोत्तरशतप्रमाणा अपि लभ्यन्ते। एतच्चोत्कृष्टपदापेक्षयोक्तम् अन्यथा कदाचित् विपर्ययोऽपि द्रष्टव्यः—स्तोकाः क्षीणमोहाः, बहवस्तु तेभ्य उपशान्तमोहाः । तथा तेभ्यः क्षीणमोहेभ्यः सकाशात् सूक्ष्मसम्परायानिवृत्तिबादरापूर्वकरणा विशेषाधिकाः। स्वस्थाने पुनरेते चिन्त्यमानास्त्रयोऽपि 'समाः' तुल्या इति ॥६२॥

जोगि अपमत्त इयरे, संखगुणा देससासणामीसा ।
अविरय अजोगिमिच्छा, असंख चउरो दुवे णंता ॥ ६३ ॥

तेभ्यः सूक्ष्मादिभ्यः सयोगिकेवलिनः सङ्ख्यातगुणाः, तेषां कोटीपृथक्त्वेन लभ्यमानत्वात्। तेभ्योऽप्रमत्ताः सङ्ख्येयगुणाः, कोटीसहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात् । तेभ्यः ''इयरे'' त्ति अप्रमत्तप्रतियोगिनः प्रमत्ताः सङ्ख्येयगुणाः । प्रमादभावो हि बहूनां बहुकालं च लभ्यते विपर्ययेण त्वप्रमाद इति न यथोक्तसङ्ख्याव्याघातः। ''देस'' इत्यादि देशविरतसास्वादनमिश्राविरतलक्षणाश्चत्वारो यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणाः । अयोगिमिथ्यादृष्टिलक्षणौ च द्वौ यथोत्तरमनन्तगुणौ । तत्र प्रमत्तेभ्यो देशविरता असङ्ख्येयगुणाः, तिरश्चामप्यसङ्ख्यातानां देशविरतिभावात् । सास्वादनास्तु कदाचित् सर्वथैव न भवन्ति, यदा भवन्ति तदा जघन्येनैको द्वौ वा, उत्कर्षतस्तु देशविरतेभ्योऽप्यसङ्ख्येयगुणाः । तेभ्योऽपि मिश्रा असङ्ख्येयगुणाः, सास्वादनाद्धाया उत्कर्षतोऽपि षडावलिकामात्रतया स्तोकत्वात्, मिश्राद्धायाः पुनरन्तर्मुहूर्तप्रमाणतया प्रभूतत्वात् । तेभ्योऽप्यसङ्ख्येयगुणा अविरतसम्यग्दृष्टयः, तेषां गतिचतुष्टयेऽपि प्रभूततया सर्वकालसम्भवात् । तेभ्योऽप्ययोगिकेवलिनो भवस्थाभवस्थभेदभिन्ना अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽप्यनन्तगुणा मिथ्यादृष्टयः, साधारणवनस्पतीनां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् तेषां च मिथ्यादृष्टित्वादिति ॥६३॥

तदेवमभिहितं गुणस्थानवर्तिनां जीवानामल्पबहुत्वम् । इदानीं ''नमिय जिणं जियमग्गण'' (गा० १) इत्यादि द्वारगाथासूचितं भावद्वारं व्याचिख्यासुराह—

उवसमखयमीसोदयपरिणामा दु नव ठार इगवीसा ।
तियभेय सन्निवाइय सम्मं चरणं पढम भावे ॥ ६४ ॥

इह किल षड् भावा भवन्ति । विशिष्टहेतुभिः स्वतो वा जीवानां तत्तद्रूपतया भवनानि भवन्त्येभिरुपशमादिभिः पर्यायैरिति वा भावाः । किंनामानः पुनस्ते ? इत्याह—''उवसमखयमीसोदय'' इत्यादि । अत्र सूचकत्वात् सूत्रस्यैवं प्रयोगः, ''उवसम'' त्ति औपशमिको भावः,

"खय" त्ति क्षायिको भावः, "मीस" त्ति क्षायोपशमिको भावः, "उदय" त्ति औदयिको भावः, "परिणाम" त्ति पारिणामिको भावः । तत्रोपशमनमुपशमः–विपाकप्रदेशरूपतया द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भणं स एव तेन वा निर्वृत्त औपशमिकः । क्षयः–कर्मणोऽत्यन्तोच्छेदः स एव तेन वा निर्वृत्तः क्षायिकः । क्षयश्च–समुदीर्णस्याभावः उपशमश्च–अनुदीर्णस्य विष्कम्भितोदयत्वं ताभ्यां निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः । उदयः–शुभाशुभप्रकृतीनां विपाकतोऽनुभवनं स एव तेन वा निर्वृत्त औदयिकः । परि–समन्ताद् नमनं–जीवानामजीवानां च जीवत्वादिस्वरूपानुभवनं प्रति प्रह्वीभवनं परिणामः स एव तेन वा निर्वृत्तः पारिणामिकः । एतेषामेव यथासङ्ख्यं भेदानाह—"दु नव ठार इगवीसा तिय भेय" त्ति द्वौ भेदावौपशमिकस्य १ नव भेदाः क्षायिकस्य २ अष्टादश भेदाः क्षायोपशमिकस्य ३ एकविंशतिर्भेदा औदयिकस्य ४ त्रयो भेदाः पारिणामिकस्य ५ । "संनिवाइय" त्ति सम्–इति संहतरूपतया नि–इति नियतं पतनं–गमनमेकत्र वर्तनं सन्निपातः, कोऽर्थः ? एषामेव द्व्यादिसंयोगप्रकारस्तेन निर्वृत्तः सान्निपातिकः, अयं च षष्ठो भावः ६ । अथ "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायात् औपशमिकादिभावानां द्व्यादीन् भेदान् प्रचिकटयिषुराह—"सम्मं चरणं पढम भावे" त्ति इह यथासङ्ख्यं दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयकर्मोपशमभूतं सम्यक्त्वं चरणं च 'प्रथमे' आद्ये 'भावे' औपशमिकलक्षणे भवतीति शेषः । इति निरूपितौ द्वौ भेदावौपशमिकभावस्य ॥ ६४ ॥

बीए केवलजुयलं, सम्मं दाणाइलद्धि पण चरणं ।
तइए सेसुवओगा, पण लद्धी सम्म विरइदुगं ॥ ६५ ॥

'द्वितीये' क्षायिके भावे नव भेदा भवन्ति । तथाहि–'केवलयुगलं केवलज्ञानं केवलदर्शनम् । तत्र केवलज्ञानावरणक्षयभूतत्वेन क्षायिकं केवलज्ञानं १ केवलदर्शनावरणक्षयसम्भूतं क्षायिकं केवलदर्शनं २ दर्शनमोहनीयक्षयसमुत्थं क्षायिकं सम्यक्त्वं ३ 'दानादिलब्धयः पञ्च' दानलाभभोगोपभोगवीर्यलक्षणा दानादिरूपपञ्चप्रकारान्तरायक्षयोद्भूताः क्षायिक्यः ८ चारित्रमोहनीयक्षयसम्भूतं च क्षायिकं चरणं यथाख्यातसंज्ञितमित्यर्थः ९ । तथा 'तृतीये' क्षायोपशमिकभावेऽष्टादश भेदा भवन्ति । तद्यथा–'शेषोपयोगाः' केवलज्ञानकेवलदर्शनव्यतिरिक्ता मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमनःपर्यवज्ञानरूपज्ञानचतुष्टयमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपाज्ञानत्रिकचक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनलक्षणदर्शनत्रिकस्वरूपा दशोपयोगाः १० "पण लद्धि" त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् दानलाभभोगोपभोगवीर्यलक्षणा लब्धयः पञ्च ५ "सम्म" त्ति सम्यक्त्वं १ 'विरतिद्विकं' देशविरतिसर्वविरतिलक्षणम् २ इत्येतेऽष्टादश भेदाः क्षायोपशमिके भवन्ति । तत्र चत्वारि ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमसम्भूतत्वेन, त्रीणि दर्शनानि

दर्शनावरणक्षयोपशमोद्भूतत्वेन, दानादिपञ्चलब्धयः पञ्चविधान्तरायकर्मक्षयोपशमजन्यत्वेन क्षायोपशमिकभावान्तर्वर्त्तिन्य इति ।

ननु दानादिलब्धयः पूर्वं क्षायिकभाववर्तिन्य उक्ताः, इह तु क्षायोपशमिक्य इति कथं न विरोधः ? नैतदेवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात् । इह दानादिलब्धयो द्विविधा भवन्ति—अन्तरायकर्मणः क्षयसम्भविन्यः क्षयोपशमसम्भविन्यश्च । तत्र च याः क्षायिक्यः पूर्वमुक्तास्ताः क्षयसम्भूतत्वेन केवलिन एव, याः पुनरिह क्षायोपशमिकान्तर्गता उच्यन्ते ताः क्षयोपशमसम्भूताश्छद्मस्थानामेव । सम्यक्त्वसर्वविरती अपि क्षायोपशमिके अत्र ग्राह्ये, ते च यथासङ्ख्यं दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयक्षयोपशमोद्भवत्वेन प्रस्तुतभाव एव वर्तेते इति भावः । देशविरतिरप्यप्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमजत्वेन क्षायोपशमिकभावे वर्तत एवेति ॥ ६५ ॥

अन्नाणमसिद्धत्तासंजमलेसाकसायगइवेया ।
मिच्छं तुरिए भव्वाभव्वत्तजियत्तपरिणामे ॥ ६६ ॥

अज्ञानम् १ असिद्धत्वम् २ असंयमः ३ लेश्याः-कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्ललेश्याभेदात् षट् ९ कषायाः-क्रोधमानमायालोभाख्याश्चत्वारः १३ गतिः—नरकतिर्यङ्मनुष्यसुरगतिभेदाच्चतुर्धा १७ वेदाः-स्त्रीपुंनपुंसकाख्यास्त्रयः २० मिथ्यात्वम् २१ इत्येते एकविंशतिभेदाः 'तुर्ये' चतुर्थे औदयिके भावे भवन्तीत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—इहासदध्यवसायात्मकं सज्ज्ञानमप्यज्ञानं तच्च मिथ्यात्वोदयजमेव । यदभ्यधायि—

[1]जह दुव्वयणमवयणं, कुच्छिय सीलं असीलमसईए ।
भन्नइ तह नाणं पि हु, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥ (विशेषा० गा० ५२०)

असिद्धत्वमपि सिद्धत्वाभावरूपमष्टप्रकारकर्मोदयजमेव । असंयमः-अविरतत्वं तदप्रत्याख्यानावरणोदयाद् जायते । लेश्यास्तु येषां मते कषायनिष्यन्दो लेश्याः तन्मतेन कषायमोहनीयोदयजन्याद् औदयिक्यः, यन्मतेन तु योगपरिणामो लेश्याः तदभिप्रायेण योगत्रयजनककर्मोदयप्रभवाः, येषां त्वष्टकर्मपरिणामो लेश्यास्तन्मतेन संसारित्वासिद्धत्ववद् अष्टप्रकारकर्मोदयजा इति । कषायाः-क्रोधमानमायालोभरूपा मोहनीयकर्मोदयादेव भवन्ति । इह गतयः-गतिनामकर्मोदयादेव नारकत्वतिर्यक्त्वमनुजत्वदेवत्वलक्षणपर्याया जायन्त इति । वेदाः-स्त्रीपुंनपुंसकाख्या नोकषायमोहनीयोदयादेव जायमानाः स्पष्टमौदयिका एवेति । मिथ्यात्वमप्यतत्त्वश्रद्धानरूपं मिथ्यात्वमोहनीयोदयजमेव इत्यौदयिकं प्रतीतमिति ।

---

१ यथा दुर्वचनमवचनं कुत्सितं शीलमशीलमसत्याः । भण्यते तथा ज्ञानमपि खलु मिथ्यादृष्टेरज्ञानम् ॥

ननु निद्रापञ्चकासातादिवेदनीयहास्यरत्यरतिप्रभृतयः प्रभूततरभावा अन्येऽपि कर्मोदयजन्याः सन्ति तत् किमित्येतावन्त एवैते निर्दिष्टाः ?, सत्यम्, उपलक्षणत्वादन्येऽपि द्रष्टव्याः, केवलं पूर्वशास्त्रेषु प्राय एतावन्त एव निर्दिष्टा दृश्यन्त इत्यत्राप्येतावन्त एवास्माभिः प्रदर्शिताः । तथा भव्यत्वम् १ अभव्यत्वं २ जीवत्वम् ३ इत्येते त्रयो भेदाः पारिणामिके भावे भवन्ति । तदेवं द्विभेद औपशमिको भावः २ नवभेदः क्षायिकः ९ अष्टादशभेदः क्षायोपशमिकः १८ एकविंशतिभेद औदयिकः २१ त्रिभेदः पारिणामिकः । ३ सर्वेऽपि भावपञ्चकभेदास्त्रिपञ्चाशदिति ॥६६॥

प्ररूपितं सप्रभेदं भावपञ्चकम् । अधुना सान्निपातिकाख्यषष्ठभावभेदप्ररूपणायोपक्रम्यते—तत्र च यद्यप्यौपशमिकादिभावानां पञ्चानामपि द्विकादिसंयोगभङ्गाः षड्विंशतिर्भवन्ति, तद्यथा—औपशमिक १ क्षायिक २ क्षायोपशमिक ३ औदयिक ४ पारिणामिक ५ इति भावपञ्चकं पट्टिकादावालिख्यते ततो दश द्विकसंयोगा अक्षसंचारणया लभ्यन्ते, दशैव त्रिकसंयोगाः, पञ्च चतुष्कसंयोगाः, एकः पञ्चकसंयोग इति । तथापि षडेव संयोगा जीवेष्वविरुद्धाः सम्भवन्ति । शेषास्तु विंशतिः संयोगभङ्गाः प्ररूपणामात्रभावित्वेनासम्भविन एव, अतः सम्भविषड्भेदद्वारेण गत्याद्याश्रिता यावन्तः सान्निपातिकभावभेदाः सम्भवन्ति यावन्तश्च न सम्भवन्ति तदेतत् प्रकटयन्नाह—

चउ चउगईसु मीसगपरिणामुदएहिं चउ सखइएहिं ।
उवसमजुएहिं वा चउ, केवलि परिणामुदयखइए ॥ ६७ ॥

चत्वारो भङ्गाश्चतसृषु गतिषु चिन्त्यमानासु भवन्ति । कैः कृत्वा ? इत्याह—मिश्रकपारिणामिकौदयिकैर्भावैस्त्रिभिर्निष्पादितैरिति । इयमत्र भावना—गतिचतुष्टयद्वारेण चिन्त्यमानः क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकलक्षण एकोऽप्ययं त्रिकसंयोगरूपः सान्निपातिको भावश्चतुर्धा भवति । तथाहि—क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिकं जीवत्वादि, औदयिकी नरकगतिः इत्येको नरकगत्याश्रितस्त्रिकसंयोगः । एवं तिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यभिलापेन त्रयो भङ्गका अन्येऽपि वाच्या इति । एवं चतुर्विधां गतिं प्रतीत्य त्रिकसंयोगेन चत्वारो भेदा निरूपिताः । सम्प्रति चतुःसंयोगेन चतुरो भेदानाह—"चउ सखइएहिं" ति चत्वारो भेदा भवन्ति । कैः ? इत्याह—सह क्षायिकेण वर्तन्ते ये क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकलक्षणा भावास्ते सक्षायिकास्तैः सक्षायिकैः । अयमर्थः—गतिचतुष्टयद्वारेण चिन्त्यमानः क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकक्षायिकलक्षण एकोऽप्ययं चतुष्कसंयोगरूपः सान्निपातिको भावश्चतुर्धा भवति । तद्यथा—क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिकं जीवत्वादि, औदयिकी नरकगतिः, क्षायिकं सम्यक्त्वमित्येको नरकगत्याश्रितश्चतुष्कसंयोगः । एवं तिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यभिलापेन त्रयो भङ्गका अन्येऽपि वाच्या इति । एवं चतु-

विंधां गतिं प्रतीत्यैकप्रकारेण चतुष्कसंयोगेन चत्वारो भेदा निरूपिताः । अमुना प्रकारान्तरेण चतुष्कसंयोग एव चतुरो भेदानाह—"उवसमजुएहिं वा चउ" त्ति वाशब्दोऽथवाशब्दार्थः, अथवा क्षायिकभावाभावे औपशमिकेन प्रदर्शितस्वरूपेण भावेन पुनः कलितैः पूर्वोक्तैः क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकैरेव निष्पन्नस्य सान्निपातिकभावस्य गतिचतुष्कं प्रतीत्य 'चत्वारः' चतुःसङ्ख्या भेदा भवन्तीति शेषः। तद्यथा—क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिकं जीवत्वम्, औदयिकी नरकगतिः, औपशमिकं सम्यक्त्वमित्येको नरकगत्याश्रितश्चतुष्कसंयोगः । एवं तिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यभिलापेन त्रयो भङ्गा अन्येऽपि वाच्याः । तदेवमभिहिता गतिचतुष्टयमाश्रित्यैकेन त्रिकसंयोगेन द्वाभ्यां चतुष्कसंयोगाभ्यां द्वादश विकल्पाः । सम्प्रति शुद्धसंयोगत्रयस्वरूपं शेषभेदत्रयं निरूपयितुमाह—"केवलि परिणामुदयखइए" त्ति 'केवली' केवलज्ञानी पारिणामिकौदयिकक्षायिके सान्निपातिकभेदे त्रिकसंयोगरूपे वर्तते, यतस्तस्य पारिणामिकं जीवत्वादि औदयिकी मनुजगतिः क्षायिकाणि ज्ञानदर्शनचारित्रादीनि । तदेवमेकस्त्रिकसंयोगः केवलिषु सम्भवतीति ॥६७॥

खयपरिणामे सिद्धा, नराण पणजोगुवसमसेढीए ।
इय पनर सन्निवाइयभेया वीसं असंभविणो ॥६८॥

'सिद्धाः' निर्दग्धसकलकर्मेन्धनाः क्षायिकपारिणामिके सान्निपातिकभेदे द्विकसंयोगरूपे वर्तन्ते । तथाहि—सिद्धानां क्षायिकं ज्ञानदर्शनादि, पारिणामिकं जीवत्वमिति द्विकसंयोगो भवति । 'नराणां' मनुष्याणां पञ्चकसंयोगः सान्निपातिकभेद उपशमश्रेण्यामेव प्राप्यते, यतो यः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्मनुष्य उपशमश्रेणीं प्रतिपद्यते तस्यौपशमिकं चारित्रं क्षायिकं सम्यक्त्वं क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि औदयिकी मनुजगतिः पारिणामिकं जीवत्वं भव्यत्वं चेति । 'इति' अमुना पूर्वदर्शितप्रकारेण गत्यादिषु संयोगषट्कचिन्तनलक्षणेन परस्परविरोधाभावेन सम्भविनः पञ्चदश सान्निपातिकभेदाः षष्ठभावविकल्पाः प्ररूपिता इति शेषः । "वीसं असंभविणो" त्ति विंशतिसङ्ख्याः संयोगा असम्भविनः, प्ररूपणामात्रभावित्वेन न जीवेषु तेषां सम्भवोऽस्तीति।

ननु षड्विंशतिभेदाः प्राक् प्रदर्शिताः, इह तु पञ्चदशानां विंशतेश्च मीलने पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्या भेदाः प्राप्नुवन्तीति कथं न विरोधः?, अत्रोच्यते—ननु विस्मरणशीलो देवानांप्रियः, यतोऽनन्तरमेवोदितं गत्यादिद्वारेणैव ते चिन्त्यमानाः पञ्चदश भवन्ति, मौला द्व्यादिसंयोगास्तु षडेव । तथाहि—एको द्विकसंयोगः, द्वौ द्वौ त्रिकचतुष्कसंयोगौ, एकः पञ्चकसंयोग इति षण्णां विंशत्या मीलने षड्विंशतिसङ्ख्यैवोपजायत इति नात्र कश्चन विरोध इति ॥ ६८ ॥

अभिहिताः सप्रभेदा जीवानामौपशमिकादयो भावाः । साम्प्रतमेतानेव कर्मविषये चिन्तयन्नाह-

मोहेव समो मीसो, चउघाइसु अट्ठकम्मसु य सेसा ।
धम्माइ पारिणामियभावे खंधा उदइए वि ॥ ६९ ॥

'मोहे एव' षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदाद्, यथा वृक्षे शाखा वृक्षस्य शाखा, मोहनीयस्यैव कर्मणः 'शमः' उपशमोऽनुदयावस्था भस्मच्छन्नाग्नेरिव न तु समस्तानां कर्मणाम् । "मीसो चउघाइसु" त्ति 'मिश्रः' क्षयोपशमः, तत्र क्षयः—उदयावस्थस्यात्यन्ताभावस्तेन सहोपशमः—अनुदयावस्था दरविध्यातवह्निवत् क्षयोपशमः, 'चतुर्षु' चतुःसङ्ख्येषु 'घातिषु' ज्ञानादिगुणघातकेषु कर्मस्वित्युत्तरोक्तमत्रापि सम्बन्धनीयम्, ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायलक्षणानां घातिकर्मणामेव क्षयोपशमो भवति न त्वघातिकर्मणामिति । 'अष्टकर्मसु' ज्ञानावरणाद्यन्तरायावसानेषु 'चः' पुनरर्थे अष्टकर्मसु पुनः 'शेषाः' औदयिकक्षायिकपारिणामिकभावा भवन्ति । तत्रोदयः—विपाकानुभवनम्, क्षयः—अत्यन्ताभावः, परिणामः—तेन तेन रूपेण परिणमनमित्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—मोहनीयकर्मणः पञ्चापि भावाः प्राप्यन्ते । मोहनीयवर्जितज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायलक्षणानां तु त्रयाणां घातिकर्मणामुदयक्षयक्षयोपशमपरिणामस्वभावाश्चत्वार एव भावा भवन्ति न पुनरुपशमः । शेषाणां वेदनीयायुर्नामगोत्रस्वरूपाणां चतुर्णामप्यघातिकर्मणामुदयक्षयपरिणामलक्षणास्त्रय एव भावा भवन्ति; न तु क्षयोपशमोपशमाविति ।

प्रतिपादिता जीवेषु तदाश्रितकर्मसु च पञ्चापि भावाः । अधुना तान् अजीवेषु विभणिषुराह—"धम्माइ" इत्यादि । इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् धर्मास्तिकायः १ अधर्मास्तिकायः २ आकाशास्तिकायः ३ पुद्गलास्तिकायः ४ कालद्रव्यं ५ चेति परिग्रहः । तत्र धारयति—गतिपरिणतजीवपुद्गलान् तत्स्वभावतायामवस्थापयतीति धर्मः, अस्तयश्चेह प्रदेशास्तेषां चीयत इति कायः—सङ्घातोऽस्तिकायः, ततो धर्मश्चासावस्तिकायश्च धर्मास्तिकायः । तथा न धारयति—गतिपरिणतानपि जीवपुद्गलान् तत्स्वभावतायां नावस्थापयति स्थित्युपष्टम्भकत्वात् तस्येत्यधर्मः शेषं प्राग्वत् । आ—समन्तात् काशते—अवगाहदानतया प्रतिभासत इत्याकाशः, शेषं प्राग्वत् । पूरणगलनधर्माणः पुद्गलाः, पृषोदरादित्वाद् इष्टरूपसिद्धिः, शेषं पूर्ववत् । तथा "कलण् सङ्ख्याने" कलनं कालः, कल्यते वा—परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति कालः, कलानां वा—समयादिरूपाणां समूहः कालः । आह सामूहिके प्रत्यये नपुंसकलिङ्गेन भवितव्यम्, यथा कापोतं मायूरं चेति, [तन्न,] यदाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः—उच्यते रूढिवशाद् लिङ्गस्य न नियमः । यदाह पाणिनिः—लिङ्गमशिष्यम्, लोकाश्रयत्वात् तस्येति ।

ततः काल एव तत्तद्रूपद्रवणाद् द्रव्यं कालद्रव्यम्, तत्र च कालस्य वस्तुतः समयरूपस्य निर्विभागत्वाद् न देशप्रदेशसम्भवः, अत एवात्रास्तिकायत्वाभावो वेदितव्यः ।

नन्वतीतानागतवर्तमानभेदेन कालस्यापि त्रैविध्यमस्तीति किमिति नोक्तम्?, सत्यम्, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाऽविद्यमानत्वाद् वार्तमानिक एव समयरूपः सद्रूपः।

यद्येवं तर्हि पूर्वसमयनिरोधेनैवोत्तरसमयसद्भावेऽसङ्ख्यातानां समयानां समुदयसमित्याद्यसम्भवादावलिकादयः शास्त्रान्तरप्रतिपादिताः कालविशेषाः कथं सङ्गच्छन्ते?, सत्यम्, तत्त्वतो न सङ्गच्छन्त एव, केवलं व्यवहारार्थमेव कल्पिता इति।

अथ केऽमी आवलिकादयः कालविशेषाः? इति विनेयजनपृच्छायां तदनुग्रहाय समयादारभ्य कालविशेषाः प्रतिपाद्यन्ते। तत्र समयस्वरूपमेव**मनुयोगद्वारे** प्रतिपाद्यते, तद्यथा—

'से किं तं समए? समयस्स णं परूवणं करिस्सामि—से जहानामए तुन्नागदारए सिया तरुणे बलवं जुगवं जुवाणे अप्पायंके थिरग्गहत्थे दढपाणिपायपासपिट्ठंतरोरुपरिणए तलजमलजुगलपरिघनिभबाहू चम्मिट्ठगदुहणमुट्ठियसमाहयनिचियगायकाए लंघणपवणजवणवायामसमत्थे उरस्सबलसमन्नागए छेए दक्खे पत्तट्ठे कुसले मेहावी निउणे निउणसिप्पोवगए एगं महइं पडसाडियं वा पट्टसाडियं वा गहाय सयराहं हत्थमित्तं ओसारिज्जा, तत्थ चोयए पन्नवगं एवं वयासी-जेणं कालेणं तेणं तुन्नागदारएणं तीसे पडसाडियाए वा पट्टसाडियाए वा सयराहं हत्थमित्तं

---

१ अथ कोऽसौ समयः? समयस्य प्ररूपणां करिष्यामि—असौ यथानामकः तुन्नागदारकः स्यात् तरुणः बलवान् युगवान् युवा अल्पातङ्कः स्थिरहस्ताग्रो दृढपाणिपादपार्श्वपृष्ठान्त्रोरुपरिणतः तलयमलयुगलपरिघनिभबाहुः चर्मेष्टकाद्रुघणमुष्टिकसमाहतनिचितगात्रकायो लङ्घनप्लवनजवनव्यायामसमर्थ उरस्यबलसमन्वागतः छेको दक्षः प्राप्तार्थः कुशलो मेधावी निपुणो निपुणशिल्पोपगत एकां महतीं पटशाटिकां वा पट्टशाटिकां वा गृहीत्वा शीघ्रं हस्तमात्रमपसारयेत्, तत्र चोदकः प्रज्ञापकमेवमवादीत्—येन कालेन तेन तुन्नागदारकेण तस्याः पटशाटिकाया वा पट्टशाटिकाया वा शीघ्रं हस्तमात्रं अपसारितं स समयो भवति? नायमर्थः समर्थः, कस्मात्? यस्मात् सङ्ख्येयानां तन्तूनां समुदयसमितिसमागमेन पटशाटिका निष्पद्यते, उपरितने तन्तावच्छिन्ने आधस्त्यस्तन्तुर्न च्छिद्यते, अन्यस्मिन् काले उपरितनस्तन्तुः छिद्यते अन्यस्मिन् काले आधस्त्यः तन्तुश्छिद्यते, तस्मादसौ समयो न भवति। एवं वदन्तं प्रज्ञापकं चोदक एवमवादीत्—येन कालेन तेन तुन्नागदारकेण तस्याः पटशाटिकाया वा पट्टशाटिकाया वा उपरितनस्तन्तुश्छिन्नः स समयः? न भवति, कस्मात्? यस्मात् सङ्ख्येयानां पक्ष्मणां समुदयसमितिसमागमेनैकस्तन्तुर्निष्पद्यते, उपरितने पक्ष्मण्यच्छिन्ने आधस्त्यं पक्ष्म न च्छिद्यते, अन्यस्मिन् काले उपरितनं पक्ष्म च्छिद्यतेऽन्यस्मिन् काले आधस्त्यं पक्ष्म छिद्यते, तस्मात् स समयो न भवति। एवं वदन्तं प्रज्ञापकं चोदक एवमवादीत्-येन कालेन तेन तुन्नागदारकेण तस्य तन्तोरुपरितनं पक्ष्म छिन्नं स समयः? न भवति, कस्मात्? यस्मादनन्तानां सङ्घातानां समुदयसमितिसमागमेन एकं पक्ष्म निष्पद्यते, उपरितने सङ्घातेऽविसङ्घातिते आधस्त्यः सङ्घातो न विसङ्घात्यते, अन्यस्मिन् काले उपरितनः सङ्घातो विसङ्घात्यतेऽन्यस्मिन् काले आधस्त्यः सङ्घातो विसङ्घात्यते, तस्मात् स समयो न भवति। अतोऽपि सूक्ष्मतरः समयः प्रज्ञप्तः श्रमणायुष्मन्!॥ असङ्ख्येयानां समयानां समुदयसमितिसमागमेन सैकाऽऽवलिकेति प्रोच्यते॥

ओसारिए से समए भवइ ? नो इणट्ठे समट्ठे, कम्हा ? जम्हा संखिज्जाणं तंतूणं समुदयसमिति-समागमेणं[1] पडसाडिया निप्फज्जइ, उवरिल्लयम्मि तंतुम्मि अच्छिन्ने हिट्ठिल्ले तंतू न छिज्जइ, अन्नम्मि काले उवरिल्ले तंतू छिज्जइ अन्नम्मि काले हिट्ठिल्ले तंतू छिज्जइ, तम्हा से समए न भवइ। एवं वयंतं पन्नवगं चोयए एवं वयासी—जेणं कालेणं तेणं तुन्नागदारएणं तीसे पडसाडियाए वा पट्टसाडियाए वा उवरिल्ले तंतू छिन्ने से समए[2] ? न भवइ, कम्हा ? जम्हा संखिज्जाणं पम्हाणं समुदयसमिइसमागमेणं एगे तंतू निप्फज्जइ, उवरिल्ले पम्हम्मि अच्छिन्ने हिट्ठिल्ले पम्हे न छिज्जइ, अन्नम्मि काले उवरिल्ले पम्हे छिज्जइ अन्नम्मि काले हिट्ठिल्ले पम्हे छिज्जइ, तम्हा से समए न भवइ। एवं वयंतं पन्नवगं चोयए एवं वयासी—जेणं कालेणं तेणं तुन्नागदारएणं तस्स तंतुस्स उवरिल्ले पम्हे छिन्ने से समए[3] ? न भवइ, कम्हा ? जम्हा अणंताणं संघायाणं समुदयसमिइसमागमेणं एगे पम्हे निप्फज्जइ, उवरिल्ले संघाए अविसंघाइए हिट्ठिल्ले संघाए न विसंघाइज्जइ, अन्नम्मि काले उवरिल्ले संघाए विसंघाइज्जइ अन्नम्मि काले हिट्ठिल्ले संघाए विसंघाइज्जइ, तम्हा से समए न भवइ। इत्तो वि णं सुहुमतराए समए पन्नत्ते समणाउसो ! १ (पत्र १७५–२)॥ असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमिइसमागमेणं सा एगा आवलिय त्ति पवुच्चइ २ (पत्र १७८–२) ॥

सङ्ख्येया आवलिका आनः, एक उच्छ्वास इत्यर्थः ३। ता एव सङ्ख्येया निःश्वासः ४। द्वयोरपि कालः प्राणुः ५। सप्तभिः प्राणुभिः स्तोकः ६। सप्तभिः स्तोकैर्लवः ७। सप्तसप्तत्या लवानां मुहूर्तः ८। त्रिंशता मुहूर्तैरहोरात्रः ९। तैः पञ्चदशभिः पक्षः १०। ताभ्यां द्वाभ्यां मासः ११। मासद्वयेन ऋतुः १२। ऋतुत्रयमानमयनम् १३। अयनद्वयेन संवत्सरः १४। पञ्चभिस्तैर्युगम् १५। विंशत्या युगैर्वर्षशतम् १६। तैर्दशभिर्वर्षसहस्रम् १७। तेषां शतेन वर्षलक्षम् १८। चतुरशीत्या च वर्षलक्षैः पूर्वाङ्गं भवति १९। पूर्वाङ्गं चतुरशीतिवर्षलक्षैर्गुणितं पूर्वं भवति २०, तच्च सप्ततिः कोटिलक्षाणि षट्पञ्चाशच्च कोटिसहस्राणि वर्षाणाम्। उक्तं च—

[4]पुव्वस्स य परिमाणं, सयरिं खलु होंति कोडिलक्खाओ।
छप्पन्नं च सहस्सा, बोधव्वा वासकोडीणं॥ (जीवस० गा० ११३)

स्थापना–७०५६००००००००००। इदमपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं त्रुटिताङ्गं भवति २१। एतदपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं त्रुटितम् २२। एतदपि चतुरशीतिलक्षैर्गुणितमटटाङ्गम् २३। एतदपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितमटटम् २४। एवं सर्वत्र पूर्वः पूर्वो राशिश्चतुरशीतिलक्षस्व

१ ०णं एगा प० अनुयोगद्वारे॥ २–३ ०ए भवइ ? न भ० अनुयोगद्वारे॥ ४ पूर्वस्य च परिमाणं सप्ततिः खलु भवति कोटिलक्षाणाम्। षट्पञ्चाशच्च सहस्रा ज्ञातव्या वर्षकोटीनाम्॥

दृष्टिसास्वादनयोरज्ञान[illegible] २ लक्षणा दश भवन्ति, [illegible] ज्ञान ३ दर्शन ३ मिश्र-रूपसम्यक्त्व १ लक्षणा द्वादश भेदा भवन्ति, [illegible] एव द्वादश, विरतौ च द्वादश[illegible] [illegible], [illegible] देशविरति-विरहितेषु पूर्वप्रदर्शितेषु द्वादशभेदेषु [illegible] त्रयोदश, अपूर्वकरणानिवृत्ति-बादरसूक्ष्मसम्परायेषु चतुर्दशभ्यः [illegible] त्रयोदश, उपशान्तमोहक्षीण-मोहयोस्त्रयोदशभ्यश्चारित्र[illegible] द्वादश क्षायोपशमिकभावभेदाः प्राप्यन्ते ।

अधुनौदयिकभावभेदा भाव्यन्ते—मिथ्यादृष्टावज्ञानासिद्धत्वादय एकविंशतिरपि भेदा भवन्ति, सास्वादन एकविंशतेर्मिथ्यात्वापगमे विंशतिः, मिश्राविरतयोर्विंशतेरज्ञानापगमे एकोनविंशतिः, देशविरते च देवनारकगत्यभावे सप्तदश, प्रमत्ते च तिर्यग्गत्यसंयमाभावे पञ्चदश, अप्रमत्ते च पञ्चदशभ्य आद्यलेश्यात्रिकाभावे द्वादश, अपूर्वकरणेऽनिवृत्तिबादरे च द्वादशभ्यस्तेजःपद्मलेश्ययोरभावे दश, सूक्ष्मसम्पराये सञ्ज्वलनलोभमनुजगतिशुक्ललेश्याऽसिद्धत्वलक्षणाश्चत्वार औदयिका भावाः, उपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिषु चतुर्भ्यः सञ्ज्वलनलोभाभावे त्रयः, अयोगिकेवलिनस्तु मनुजगत्यसिद्धत्वरूपमौदयिकभावभेदद्वयं प्राप्यते ।

औपशमिकभावभेदा उच्यन्ते—अविरतादारभ्योपशान्तं यावदौपशमिकसम्यक्त्वरूप औपशमिकभावभेदः प्राप्यते, औपशमिकचारित्रलक्षणस्त्वनिवृत्तेरारभ्योपशान्तं यावत् प्राप्यते ।

क्षायिकभावभेदश्च क्षायिकसम्यक्त्वरूपोऽविरतादारभ्योपशान्तं यावत् प्राप्यते, क्षीणमोहे च क्षायिकं सम्यक्त्वं चारित्रं च प्राप्यते, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोस्तु नवापि क्षायिक-भावाः प्राप्यन्ते ।

पारिणामिकभावभेदा मिथ्यादृष्टौ त्रयोऽपि, सास्वादनादारभ्य च क्षीणमोहं यावदभव्यत्ववर्जौ द्वौ भवतः, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोस्तु जीवत्वमेवेति, भव्यत्वस्य च प्रत्यासन्नसिद्धावस्थाया-मभावादधुनाऽपि तदपगतप्रायत्वादिना केनचित् कारणेन शास्त्रान्तरेषु नोक्तमिति नास्माभि-रप्यत्रोच्यते ।

यस्य भावस्य भेदा यस्मिन् गुणस्थानके यावन्त उक्तास्तेषां सम्भविभावभेदानामेकत्र मीलने सति तावद्भेदनिष्पन्नः षष्ठः सान्निपातिकभावभेदस्तस्मिन् गुणस्थानके भवति । यथा—मिथ्या-दृष्टावौदयिकभावभेदा एकविंशतिः, क्षायोपशमिकभावभेदा दश, पारिणामिकभावभेदास्त्रयः, सर्वे भेदाश्चतुस्त्रिंशत् । एवं सास्वादनादिष्वपि सम्भविभावभेदमीलने तावद्भेदनिष्पन्नः षष्ठः सान्निपातिकभावभेदो वाच्यः । एतदर्थसङ्ग्राहिण्यश्चैता गाथा यथा—

"[1]पण अंतराय अन्नाण तिन्नि अचक्खुचक्खु दस एए ।
मिच्छे साणे य हवंति मीसए अंतराय पण ॥
नाणतिग दंसणतिगं, मीसगसम्मं च बारस हवंति ।
एवं च अविरयम्मि वि, नवरि तहिं दंसणं सुद्धं ॥
देसे य देसविरई, तेरसमा तह पमत्तअपमत्ते ।
मणपज्जवपक्खेवा, चउदस अप्पुव्वकरणे उ ॥
वेयगसम्मेण विणा, तेरस जा सुहुमसंपराउ त्ति ।
ते च्चिय उवसमखीणे, चरित्तविरहेण बारस उ ॥
खाओवसमिगभावाण कित्तणा गुणपए पडुच्च कया ।
उदइयभावे इण्हिं, ते चेव पडुच्च दंसेमि ॥
चउगइयाई इगवीस मिच्छि साणे य हुंति वीसं च ।
मिच्छेण विणा मीसे, इगुणीसमनाणविरहेण ॥
एमेव अविरयम्मी, सुरनारयगइविओगओ देसे ।
सत्तरस हुंति ते च्चिय, तिरिगइअस्संजमाभावा ॥
पन्नरस पमत्तम्मी, अपमत्ते आइलेसतिगविरहे ।
ते च्चिय बारस सुक्केगलेसओ दस अपुव्वम्मि ॥
एवं अनियट्टिम्मि वि, सुहुमे संजलणलोभमणुयगई ।
अंतिमलेसअसिद्धत्तभावओ जाण चउ भावा ॥
संजलणलोभविरहा, उवसंतक्खीणकेवलीण तिगं ।
लेसाभावा जाणसु, अजोगिणो भावदुगमेव ॥

१ पञ्चान्तरायाः अज्ञानानि त्रीणि अचक्षुश्चक्षुः दश एते । मिथ्यात्वे सासादने च भवन्ति मिश्रके अन्तरायाः पञ्च ॥ ज्ञानत्रिकं दर्शनत्रिकं मिश्रसम्यक्त्वं च द्वादश भवन्ति । एवं चाविरतेऽपि नवरं तत्र दर्शनं शुद्धम् ॥ देशे च देशविरतिस्त्रयोदशी तथा प्रमत्ताप्रमत्तयोः । मनःपर्यवप्रक्षेपात् चतुर्दश अपूर्वकरणे तु ॥ वेदकसम्यक्त्वेन विना त्रयोदश यावत् सूक्ष्मसम्पराय इति । त एव उपशान्तक्षीणयोः चारित्रविरहेण द्वादश तु ॥ क्षायोपशमिकभावानां कीर्त्तना गुणपदानि प्रतीत्य कृता । औदयिकभावे इदानीं तान्येव प्रतीत्य दर्शयामि ॥ चतुर्गत्यादिका एकविंशतिर्मिथ्यात्वे सासादने च भवन्ति विंशतिश्च । मिथ्यात्वेन विना मिश्रे एकोनविंशतिरज्ञानविरहेण ॥ एवमेवाविरते सुरनारकगतिवियोगतो देशे । सप्तदश भवन्ति त एव तिर्यग्गत्यसंयमाभावात् ॥ पञ्चदश प्रमत्तेऽप्रमत्ते आदिलेश्यात्रिकविरहे । त एव द्वादश शुक्लैकलेश्यातो दश अपूर्वे ॥ एवमनिवृत्तेऽपि सूक्ष्मे सञ्ज्वलनलोभमनुजगत्योः । अन्तिमलेश्यासिद्धत्वयोर्भावाद् जानीहि चत्वारो भावाः । सञ्ज्वलनलोभविरहादुपशान्तक्षीणकेवलिनां त्रिकम् । लेश्याभावाज्जानीहि अयोगिनो भावद्विकमेव ॥

त्रिधा' त्रिप्रकारं वेदितव्यम्, तद्यथा--परीत्तानन्तकं १ युक्तानन्तकम् २ अनन्तानन्तकम् ३ इति। एवमेतानि समुदितानि सप्तापि पदानि पुनरेकैकशस्त्रिरूपाणि भवन्तीति दर्शयितु-माह-"जहन्नमज्झुकसा सव्वे" त्ति प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययाद् 'जघन्यमध्यमोत्कृष्टानि' जघन्य-मध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नानि 'सर्वाणि' समस्तानि एकैकशः सप्तापि पदानि वेदितव्यानीत्यर्थः। तथाहि-जघन्यसङ्ख्येयकं मध्यमसङ्ख्येयकम् उत्कृष्टसङ्ख्येयकम्। तथा जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकं मध्यमपरीत्तासङ्ख्येयकम् उत्कृष्टपरीत्तासङ्ख्येयकम्। जघन्ययुक्तासङ्ख्येयकं मध्यमयुक्तासङ्ख्येयकम् उत्कृष्टयुक्तासङ्ख्येयकम्। जघन्यासङ्ख्यातासङ्ख्येयकं मध्यमासङ्ख्यातासंख्येयकम् उत्कृष्टासङ्ख्यातासङ्ख्येयकम्। तथा जघन्यपरीत्तानन्तकं मध्यमपरीत्तानन्तकम् उत्कृष्टपरीत्तानन्तकम्। जघन्ययुक्तानन्तकं मध्यमयुक्तानन्तकम् उत्कृष्टयुक्तानन्तकम्। जघन्यानन्तानन्तकं मध्यमानन्तानन्तकम् उत्कृष्टानन्तानन्तकम्। तदेवं सङ्ख्यातकं त्रिधा असङ्ख्यातमनन्तकं च नवधा भवतीति ॥ ७१ ॥

तदेवं सङ्ख्येयकादिभेदप्ररूपणामात्रं कृत्वा विस्तरतस्तत्स्वरूपं निरूपयितुं सङ्ख्यातकं त्रिधेति यदुद्दिष्टं तद् विवृण्वन्नाह--

लहु संखिज्जं दु चिय, अओ परं मज्झिमं तु जा गुरुयं।
जंबूदीवपमाणयचउपल्लपरूवणाइ इमं ॥ ७२ ॥

इहैकको गणनसङ्ख्यां न लभते, यत एकस्मिन् घटादौ दृष्टे घटादि वस्त्विदं तिष्ठतीत्येवमेव प्रायः प्रतीतिरुत्पद्यते, नैकसङ्ख्याविषयत्वेन। अथवा आदानसमर्पणादिव्यवहारकाले एकं वस्तु प्रायो न कश्चिद् गणयति, अतोऽसंव्यवहार्यत्वादल्पत्वाद्वा नैको गणनसङ्ख्यां लभते, तस्माद् द्विप्रभृतिरेव गणनसङ्ख्या। अत एवाह-'सङ्ख्येयं' सङ्ख्यातकं 'लघु' जघन्यं-ह्रस्वं, चियशब्दस्याऽवधारणार्थत्वात्, यदाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः प्राकृतलक्षणे—"णइ चेअ चिय च अवधारणे" (सि० ८-२-१८४) द्वावेव, नैकः, पूर्वोदितयुक्तेः। 'अतः परम्' एतस्माद् द्विकभूतजघन्यसङ्ख्यातकादूर्ध्वं मध्यमं तु सङ्ख्यातकं पुनस्त्रिचतुरादिकमनेकप्रकारं भवति। कियद्दूरं यावद् मध्यमं भवति? इत्याह—"जा गुरुयं" ति 'यावद्' इत्यवधौ 'गुरुकम्' उत्कृष्टं-सर्वोपरिवर्त्ति सङ्ख्यातकं प्राप्नोतीति शेषः। अथेदमेव गुरुकं सङ्ख्यातकं कथं विज्ञेयम्? इत्याह---'इदम्' अधुनैव वक्ष्यमाणस्वरूपं गुरुकं सङ्ख्यातकं ज्ञेयमिति शेषः। कया? 'जम्बूद्वीपप्रमाणचतुष्पल्यप्ररूपणया' जम्बूनाम्ना वृक्षेणोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपस्तेन जम्बूद्वीपेन प्रमाणम्-इयत्तावधारणं येषां ते जम्बूद्वीपप्रमाणकास्ते च ते चत्वारः-चतुःसङ्ख्याः पल्याश्च-धान्यपल्या इव जम्बूद्वीपप्रमाणकचतुःपल्यास्तेषां प्रकृष्टरूपा प्ररूपणा-व्यावर्णना तया। एतदुक्तं भवति-यथा जम्बूद्वीपो लक्षयोजनप्रमाण एवमेतेऽप्यायामविष्कम्भाभ्यां प्रत्येकं लक्षयोजनप्रमाणा वृत्ताकारत्वाच्च परिधिना,

[1]तओ पडिसलागापल्ले पढमा सलागा छूढा। तओ अणवट्ठिओ उक्खित्तो निट्ठियट्ठाणाओ परओ पुव्वक्कमेण पक्खित्तो निट्ठिओ य, तओ सलागापल्ले सलागा पक्खित्ता। एवं अण्णेणं अण्णेणं अणवट्ठिएण आइक्कनिक्किरंतेणं जाहे पुणो सलागापल्लो भरिओ अणवट्ठिओ य, ताहे पुणो सलागापल्लो उक्खित्तो पक्खित्तो निट्ठिओ य पुव्वक्कमेण, ताहे पडिसलागापल्ले बिइया पडिसलागा छूढा। एवं आइरणनिक्किरणेण जाहे तिन्नि वि पडिसलागसलागअणवट्ठियपल्ला य भरिता ताहे पडिसलागापल्लो उक्खित्तो पक्खिप्पमाणो निट्ठिओ य ताहे महासलागापल्ले पढमा महासलागा छूढा, ताहे सलागापल्लो उक्खित्तो पक्खिप्पमाणो निट्ठिओ य ताहे पडिसलागापल्ले सलागा पक्खित्ता। ताहे अणवट्ठिओ उक्खित्तो पक्खित्तो य ताहे सलागापल्ले सलागा पक्खित्ता। एवं आइरण-निक्किरणक्कमेण ताव कायव्वं जाव परंपरेणं महासलाग पडिसलाग सलाग अणवट्ठियपल्लो य चउरो वि भरिया, ताहे उक्कोसमइच्छियं। इत्थ जावइया अणवट्ठियपल्लसलागापल्लपडिसलागा-पल्लेण य दीवसमुद्दा उद्धरिया, जे य चउपल्लट्ठिया सरिसवा एस सव्वो वि एतप्पमाणो रासी एगरूवूणो उक्कोसयं संखिज्जयं हवइ। जहण्णुक्कोसट्ठाणमज्झे जे ठाणा ते सव्वे पत्तेयं अज-हण्णमणुक्कोसया संखिज्जया भणियव्वा। सिद्धंते य जत्थ जत्थ संखिज्जयगहणं कयं तत्थ तत्थ सव्वं अजहन्नमणुक्कोसयं दट्ठव्वं। एवं संखेज्जगे परूविए सीसो पुच्छइ—भगवं! किमेएणं अणवट्ठियपल्लसलागपडिसलागाईहि य दीवसमुद्दुद्धारगहणेण य उक्कोससंखिज्जपरूवणा किज्जइ? गुरू भणइ—नत्थि अन्नो संखिज्जगस्स फुडयरो परूवणोवाओ त्ति ([1]पत्र १११) ॥७७॥

---

१ ततः प्रतिशलाकापल्ये प्रथमा शलाका क्षिप्ता ततोऽनवस्थित उत्क्षिप्तो निष्ठितस्थानात् परतः पूर्व-क्रमेण प्रक्षिप्तो निष्ठितश्च, ततः शलाकापल्ये शलाका प्रक्षिप्ता। एवमन्येनान्येन अनवस्थितेन आकिरण-निष्किरणेन यदा पुनः शलाकापल्यः भृतोऽनवस्थितश्च, तदा पुनः शलाकापल्य उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्तो निष्ठि-तश्च पूर्वक्रमेण, तदा प्रतिशलाकापल्ये द्वितीया प्रतिशलाका क्षिप्ता। एवं आकिरणनिष्किरणेन यदा त्रयोऽपि प्रतिशलाकाशलाकानवस्थितपल्याश्च भृताः तदा प्रतिशलाकापल्य उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्यमाणो निष्ठि-तश्च तदा महाशलाकापल्ये प्रथमा महाशलाका क्षिप्ता, तदा शलाकापल्य उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्यमाणो निष्ठि-तश्च तदा प्रतिशलाकापल्ये शलाका प्रक्षिप्ता। तदाऽनवस्थित उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्तश्च तदा शलाकापल्ये शलाका प्रक्षिप्ता। एवं आकिरणनिष्किरणक्रमेण तावत् कर्त्तव्यं यावत् परम्परया महाशलाका प्रतिशलाका शलाकाऽनवस्थितपल्यश्च चत्वारोऽपि भृताः तदोत्कृष्टं अतिक्रान्तम्। अत्र यावन्तोऽनवस्थितपल्यशला-कापल्यप्रतिशलाकापल्यैश्च द्वीपसमुद्रा उद्धृताः, ये च चतुष्पल्यस्थिताः सर्षपा एष सर्वोऽपि एतत्प्रमाणो राशिरेकरूपोन उत्कृष्टकं सङ्ख्यातकं भवति। जघन्योत्कृष्टस्थानमध्ये यानि स्थानानि तानि सर्वाणि प्रत्ये-कमजघन्यानुत्कृष्टानि सङ्ख्यातकानि भणितव्यानि। सिद्धान्ते च यत्र यत्र सङ्ख्येयग्रहणं कृतं तत्र तत्र सर्व-मजघन्यमनुत्कृष्टं द्रष्टव्यम्। एवं सङ्ख्यातके प्ररूपिते शिष्यः पृच्छति—भगवन्! किमेतेनानवस्थितपल्य-शलाकाप्रतिशलाकादिभिश्च द्वीपसमुद्रोद्धारग्रहणेन चोत्कृष्टसङ्ख्यातकप्ररूपणा क्रियते? गुरुर्भणति—नास्त्य-न्यः सङ्ख्येयकस्य स्फुटतरः प्ररूपणोपाय इति ॥ १ एष समग्रोऽपि पाठः अनुयोगद्वारचूर्णौ ७८ तमे [illegible]।

इत्युक्तं त्रिविधमपि सङ्ख्येयकम् । इदानीं नवविधमसङ्ख्येयकं नवविधमेव चानन्तकं निरूरूपयिषुर्गाथायुगमाह—

रूवजुयं तु परित्तासंखं लहु अस्स रासि अब्भासे ।
जुत्तासंखिज्जं लहु, आवलियासमयपरिमाणं ॥ ७८ ॥

पूर्वोक्तमेवोत्कृष्टं सङ्ख्येयकं 'रूपयुतं तु' रूपेण-एकेन सर्षपेण पुनर्युक्तं सत् 'लघु' जघन्यं 'परीत्तासङ्ख्य' परीत्तासङ्ख्येयकं भवति । इदमत्र हृदयम्—इह येनैकेन सर्षपरूपेण रहितोऽनन्तरोद्दिष्टो राशिरुत्कृष्टसङ्ख्यातकमुक्तं तत्र राशौ तस्यैव रूपस्य निक्षेपो यदा क्रियते तदा तदेवोत्कृष्टं सङ्ख्यातकं जघन्यं परीत्तासङ्ख्यातकं भवतीति । इह च जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकेऽभिहिते यद्यपि तस्यैव मध्यमोत्कृष्टभेदप्ररूपणावसरस्तथापि परीत्तयुक्तनिजपदभेदत्रिभेदानामप्यसङ्ख्येयकानां मध्यमोत्कृष्टभेदौ पश्चादल्पवक्तव्यत्वात् प्ररूपयिष्येते, अतोऽधुना जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकं तावदाह—
"अस्स रासि अब्भासे" इत्यादि अस्य राशेः-जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकगतराशेः 'अभ्यासे' परस्परगुणने सति 'लघु' जघन्यं युक्तासङ्ख्येयकं भवति । तच्च 'आवलिकासमयपरिमाणम्' आवलिका— "'असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमिइसमागमेणं" (अनुयो० पत्र १७८-२) इत्यादिसिद्धान्तप्रसिद्धा तस्याः समयाः निर्विभागाः कालविभागास्तत्परिमाणमावलिकासमयपरिमाणम्, जघन्ययुक्तासङ्ख्येयकतुल्यसमयराशिप्रमाणा आवलिका इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति-जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकसम्बन्धीनि यावन्ति सर्षपलक्षणानि रूपाणि तान्येकैकशः पृथक् पृथक् संस्थाप्य तत एकैकस्मिन् रूपे जघन्यपरीत्तासङ्ख्यातकप्रमाणो राशिर्व्यवस्थाप्यते, तेषां च राशीनां परस्परमभ्यासो विधीयते । इयं भावना— असत्कल्पनया किल जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकराशिस्थाने पञ्च रूपाणि कल्प्यन्ते, तानि विरल्यन्ते-जाताः पञ्चैकका: १ १ १ १ १, एककानामधः प्रत्येकं पञ्चैव वाराः पञ्च पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते । तद्यथा- १ १ १ १ १ / ५ ५ ५ ५ ५ । अत्र पञ्चभिः पञ्च गुणिता जाता पञ्चविंशतिः, साऽपि पञ्चभिराहता जातं पञ्चविंशं शतम् इत्यादिक्रमेणामीषां राशीनां परस्पराभ्यासे जातानि पञ्चविंशत्यधिकान्येकत्रिंशच्छतानि ३१२५ । एष कल्पनया तावदेतावन्मात्रो राशिर्भवति, सद्भावतस्त्वसङ्ख्येयरूपो जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकतया मन्तव्य इति ॥ ७८ ॥

निरूपितं जघन्ययुक्तासङ्ख्येयकम् । सम्प्रति शेषजघन्यासङ्ख्यातासङ्ख्यातकभेदस्य जघन्यपरीत्तानन्तकादिस्वरूपाणां त्रयाणां जघन्यानन्तकभेदानां च स्वरूपमतिदेशतः प्रतिपिपादयिषुराह—

बितिचउपंचमगुणणे, कमा सगासंख पढमचउसत्त ।
णंता ते रूवजुया, मज्झा रूवूण गुरु पच्छा ॥ ७९ ॥

---

१ असङ्ख्येयानां समयानां समुदयसमितिसमागमेन ॥

[1]तओ पडिसलागापल्ले पढमा सलागा छूढा। तओ अणवट्ठिओ उक्खित्तो निट्ठियट्ठाणाओ परओ पुव्वक्कमेण पक्खित्तो निट्ठिओ य, तओ सलागापल्ले सलागा पक्खित्ता । एवं अण्णेणं अण्णेणं अणवट्ठिएण आकिरणनिक्किरंतेणं जाहे पुणो सलागापल्लो भरिओ अणवट्ठिओ य, ताहे पुणो सलागापल्लो उक्खित्तो पक्खित्तो निट्ठिओ य पुव्वक्कमेण, ताहे पडिसलागापल्ले बिइया पडिसलागा छूढा। एवं आइरणनिक्किरणेण जाहे तिन्नि वि पडिसलागसलागअणवट्ठियपल्ला य भरिता ताहे पडिसलागापल्लो उक्खित्तो पक्खिप्पमाणो निट्ठिओ य ताहे महासलागापल्ले पढमा महासलागा छूढा, ताहे सलागापल्लो उक्खित्तो पक्खिप्पमाणो निट्ठिओ य ताहे पडिसलागापल्ले सलागा पक्खित्ता। ताहे अणवट्ठिओ उक्खित्तो पक्खित्तो य ताहे सलागापल्ले सलागा पक्खित्ता । एवं आइरण-निक्किरणक्कमेण ताव कायव्वं जाव परंपरेणं महासलाग पडिसलाग सलाग अणवट्ठियपल्लो य चउरो वि भरिया, ताहे उक्कोसमइच्छियं । इत्थ जावइया अणवट्ठियपल्लसलागापल्लपडिसलागा-पल्लेण य दीवसमुद्दा उद्धरिया, जे य चउपल्लट्ठिया सरिसवा एस सव्वो वि एतप्पमाणो रासी एगरूवूणो उक्कोसयं संखिज्जयं हवइ। जहण्णुक्कोसट्ठाणमज्झे जे ठाणा ते सव्वे पत्तेयं अज-हण्णमणुक्कोसया संखिज्जया भणियव्वा । सिद्धंते य जत्थ जत्थ संखिज्जयगहणं कयं तत्थ तत्थ सव्वं अजहन्नमणुक्कोसयं दट्ठव्वं । एवं संखेज्जगे परूविए सीसो पुच्छइ–भगवं ! किमेएणं अणवट्ठियपल्लसलागपडिसलागाईहि य दीवसमुद्दुद्धारगहणेण य उक्कोससंखिज्जपरूवणा किज्जइ? गुरू भणइ–नत्थि अन्नो संखिज्जगस्स फुडयरो परूवणोवाओ त्ति ([1]पत्र १११) ॥७७॥

---

१ ततः प्रतिशलाकापल्ये प्रथमा शलाका क्षिप्ता ततोऽनवस्थित उत्क्षिप्तो निष्ठितस्थानात् परतः पूर्व-क्रमेण प्रक्षिप्तो निष्ठितश्च, ततः शलाकापल्ये शलाका प्रक्षिप्ता । एवमन्येनान्येन अनवस्थितेन आकिरण-निष्किरणेन यदा पुनः शलाकापल्यः भृतोऽनवस्थितश्च, तदा पुनः शलाकापल्य उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्तो निष्ठि-तश्च पूर्वक्रमेण, तदा प्रतिशलाकापल्ये द्वितीया प्रतिशलाका क्षिप्ता । एवं आकिरणनिष्किरणेन यदा त्रयोऽपि प्रतिशलाकाशलाकानवस्थितपल्याश्च भृताः तदा प्रतिशलाकापल्य उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्यमाणो निष्ठि-तश्च तदा महाशलाकापल्ये प्रथमा महाशलाका क्षिप्ता, तदा शलाकापल्य उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्यमाणो निष्ठि-तश्च तदा प्रतिशलाकापल्ये शलाका प्रक्षिप्ता । तदाऽनवस्थित उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्तश्च तदा शलाकापल्ये शलाका प्रक्षिप्ता । एवं आकिरणनिष्किरणक्रमेण तावत् कर्त्तव्यं यावत् परम्परया महाशलाका प्रतिशलाका शलाकाऽनवस्थितपल्यश्च चत्वारोऽपि भृताः तदोत्कृष्टं अतिक्रान्तम् । अत्र यावन्तोऽनवस्थितपल्यशला-कापल्यप्रतिशलाकापल्यैश्च द्वीपसमुद्रा उद्धृताः, ये च चतुष्पल्यस्थिताः सर्षपा एष सर्वोऽपि एतत्प्रमाणो राशिरेकरूपोन उत्कृष्टकं सङ्ख्यातकं भवति । जघन्योत्कृष्टस्थानमध्ये यानि स्थानानि तानि सर्वाणि प्रत्येकं अजघन्यानुत्कृष्टानि सङ्ख्यातकानि भणितव्यानि । सिद्धान्ते च यत्र यत्र सङ्ख्येयग्रहणं कृतं तत्र तत्र सर्वं अजघन्यमनुत्कृष्टं द्रष्टव्यम् । एवं सङ्ख्यातके प्ररूपिते शिष्यः पृच्छति–भगवन् ! किमेतेनानवस्थितपल्य-शलाकाप्रतिशलाकादिभिश्च द्वीपसमुद्रोद्धारग्रहणेन चोत्कृष्टसङ्ख्यातकप्ररूपणा क्रियते ? गुरुर्भणति–नास्त्य-न्यः सङ्ख्येयकस्य स्फुटतरः प्ररूपणोपाय इति ॥ १ एष समग्रोऽपि पाठः अनुयोगद्वारचूर्णौ ७६ तमे पत्रेऽप्यस्ति ॥

जघन्यानन्तानन्तकं भवति । आह परीत्तासङ्ख्यातकयुक्तासङ्ख्यातकासङ्ख्यातासङ्ख्यातकपरीत्तानन्तकयुक्तानन्तकानन्तानन्तकलक्षणाः षडपि राशयो जघन्यास्तावन्निर्दिष्टाः, मध्यमा उत्कृष्टाश्चैते कथं मन्तव्याः ? इत्याह–"ते रूवजुया" इत्यादि 'ते' अनन्तरोद्दिष्टा जघन्याः षडपि राशयो रूपेण–एककलक्षणेन युताः–समन्विता रूपयुताः सन्तः किं भवन्ति ? इत्याह–'मज्झाः' मध्यमा अजघन्योत्कृष्टा इति यावत् । तत्र यः प्राग्निर्दिष्टो जघन्यपरीत्तासङ्ख्यातकराशिः स एकस्मिन् रूपे प्रक्षिप्ते मध्यमो भवति, उपलक्षणं चैतत् , नैकरूपप्रक्षेप एव मध्यमभणनं किन्त्वेकैकरूपनिक्षेपेऽयं तावद् मध्यमो मन्तव्यो यावद् उत्कृष्टपरीत्तासङ्ख्येयकराशिर्न भवतीति । एवमनया दिशा जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकादयोऽपि राशय एकैकस्मिन् रूपे निक्षिप्ते मध्यमाः सम्पद्यन्ते, तदनु चैकैकरूपवृद्ध्या तावद् मध्यमा अवसेया यावत् स्वं स्वमुत्कृष्टपदं नासादयन्तीति । तर्हि ते षडपि किंस्वरूपाः सन्त उत्कृष्टा भवन्ति ? इत्याह–"रूवूण गुरु पच्छ" त्ति रूपेण–एककलक्षणेन ऊनाः–न्यूना रूपोनाः सन्तस्त एव प्रागभिहिता जघन्या राशयः, तेशब्द आवृत्त्येहापि सम्बन्धनीयः, किं भवन्ति ? इत्याह–'गुरवः' उत्कृष्टाः 'पाश्चात्याः' पश्चिमराशय इत्यर्थः । इयमत्र भावना–जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकराशिरेकेन रूपेण न्यूनः स एव पाश्चात्य उत्कृष्टपरीत्तासङ्ख्येयकस्वरूपो भवति, जघन्यासङ्ख्यातासङ्ख्यातकराशिस्त्वेकेन रूपेण न्यूनः सन् पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तासङ्ख्यातकस्वरूपो भवति, जघन्यपरीत्तानन्तकराशिः पुनरेकेन रूपेण न्यूनः पाश्चात्य उत्कृष्टासङ्ख्यातासङ्ख्यातकस्वरूपो भवति, जघन्ययुक्तानन्तकराशिस्त्वेकरूपोनः पाश्चात्य उत्कृष्टपरीत्तानन्तकस्वरूपो भवति, जघन्यानन्तानन्तकराशिरेकरूपरहितः पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तानन्तकस्वरूपो भवतीति । इदं चासङ्ख्येयकानन्तकभेदानामित्थं प्ररूपणमागमाभिप्रायत उक्तं, कैश्चिदन्यथाऽपि चोच्यते ॥७९॥ अत्र एवाह–

> इय सुत्तुत्तं अन्ने, वग्गियमिक्कसि चउत्थयमसंखं ।
> होइ असंखासंखं, लहु रूवजुयं तु तं मज्झं ॥८०॥

'इति' पूर्वोक्तप्रकारेण यद् असङ्ख्यातकानन्तकस्वरूपं प्रतिपादितं तत् सूत्रे–अनुयोगद्वारलक्षणे सिद्धान्ते उक्तं–निगदितम् । तथा चोक्तं श्रीअनुयोगद्वारेषु—

'उक्कोसए संखिज्जए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं परित्तासंखिज्जयं होइ । तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं परित्तासंखिज्जयं न पावेइ । उक्कोसयं परित्तासंखिज्जयं कित्तियं होइ ? जहन्नयं परित्तासंखिज्जयं जहन्नयपरित्तासंखिज्जयमित्ताणं रासीणं अन्नमन्नब्भासो रूवूणो

---

१ उत्कृष्टके सङ्ख्येयके रूपं प्रक्षिप्तं जघन्यकं परीत्तासङ्ख्येयकं भवति । ततः परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि यावदुत्कृष्टं परीत्तासङ्ख्येयकं न प्राप्नोति । उत्कृष्टकं परीत्तासङ्ख्येयकं कियद् भवति ? जघन्यकं परीत्तासङ्ख्येयकं जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकमात्राणां राशीनामन्योन्याभ्यासो रूपोन

'उक्कोसयं परित्तासंखिज्जयं हवइ, अहवा जहन्नयं जुत्तासंखिज्जयं रूवूणं उक्कोसयं परित्तासंखिज्जयं होइ। जहन्नयं जुत्तासंखिज्जयं कित्तियं होइ? जहन्नयपरित्तासंखिज्जयमित्ताणं रासीणं अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नयं जुत्तासंखिज्जयं होइ, अहवा उक्कोसए परित्तासंखिज्जए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं जुत्तासंखिज्जयं होइ, आवलिया वि तित्तिया चेव। तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं जुत्तासंखिज्जयं न पावइ। उक्कोसयं जुत्तासंखिज्जयं कित्तियं होइ?, जहन्नएणं जुत्तासंखिज्जएणं आवलिया गुणिया अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसयं जुत्तासंखिज्जयं होइ, अहवा जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं रूवूणं उक्कोसयं जुत्तासंखिज्जयं होइ। जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं कित्तियं होइ ? जहन्नएणं जुत्तासंखिज्जएणं आवलिया गुणिया अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं होइ, अहवा उक्कोसए जुत्तासंखिज्जए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं होइ। तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं असंखिज्जासंखिज्जयं न पावेइ। उक्कोसयं असंखिज्जासंखिज्जयं कित्तियं होइ? जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं जहन्नयअसंखिज्जासंखिज्जयमित्ताणं रासीणं अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसयं असंखिज्जासंखिज्जयं होइ, अहवा जहन्नयं परित्ताणंतयं रूवूणं उक्कोसयं असंखिज्जासंखिज्जयं होइ। जहन्नयं परित्ताणंतयं कित्तियं होइ? जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं जहन्नयअसंखिज्जासंखिज्जयमित्ताणं रासीणं अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नयं परित्ताणंतयं होइ, अहवा उक्कोसए असंखिज्जासंखिज्जए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं परित्ताणंतयं होइ। तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं

---

१ उत्कृष्टकं परीत्तासङ्ख्येयकं भवति, अथवा जघन्यकं युक्तासङ्ख्येयकं रूपोनं उत्कृष्टकं परीत्तासङ्ख्येयकं भवति। जघन्यकं युक्तासङ्ख्येयकं कियद् भवति? जघन्यकपरीत्तासङ्ख्येयकमात्राणां राशीनामन्योन्याभ्यासः प्रतिपूर्णो जघन्यकं युक्तासङ्ख्येयकं भवति, अथवोत्कृष्टके परीत्तासङ्ख्येयके रूपं प्रक्षिप्तं जघन्यकं युक्तासङ्ख्येयकं भवति, आवलिकाऽपि तावत्येव। ततः परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि यावदुत्कृष्टकं युक्तासङ्ख्येयकं न प्राप्नोति। उत्कृष्टकं युक्तासङ्ख्येयकं कियद् भवति? जघन्यकेन युक्तासङ्ख्येयकेनावलिका गुणिता अन्योन्याभ्यासो रूपोन उत्कृष्टकं युक्तासङ्ख्येयकं भवति, अथवा जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं रूपोनं उत्कृष्टकं युक्तासङ्ख्येयकं भवति। जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं कियद् भवति? जघन्यकेन युक्तासङ्ख्येयकेनावलिका गुणिता अन्योन्याभ्यासः प्रतिपूर्णो जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं भवति, अथवोत्कृष्टके युक्तासङ्ख्येयके रूपं प्रक्षिप्तं जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं भवति। ततः परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि यावदुत्कृष्टकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं न प्राप्नोति। उत्कृष्टकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं कियद् भवति? जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं जघन्यकासङ्ख्येयासङ्ख्येयकमात्राणां राशीनामन्योन्याभ्यासो रूपोन उत्कृष्टकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं भवति, अथवा जघन्यकं परीत्तानन्तकं रूपोनं उत्कृष्टकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं भवति। जघन्यकं परीत्तानन्तकं कियद् भवति? जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयं जघन्यकासङ्ख्येयासङ्ख्येयकमात्राणां राशीनामन्योन्याभ्यासः प्रतिपूर्णो जघन्यकं परीत्तानन्तकं भवति, अथवोत्कृष्टकेऽसङ्ख्येयासङ्ख्येयके रूपं प्रक्षिप्तं जघन्यकं परीत्तानन्तकं भवति। ततः परमजघन्योत्कृष्टानि

∞ 'एवमुक्कोसयं अणंताणंतयं नत्थि ∞ ।

तदत्र तत्त्वं केवलिनो विदन्ति । सूत्रे तु यत्र क्वचिदनन्तानन्तकं गृह्यते तत्र सर्वत्राजघन्योत्कृष्टशब्दवाच्यमनन्तानन्तकं द्रष्टव्यम् । तदेवं व्याख्यातं सप्रपञ्चं सङ्ख्यातकासङ्ख्यातकानन्तकादिस्वरूपम्, तन्निरूपणे च व्याख्याता "नमिय जिणं जियमग्गण" (गा० १) इत्यादि मौलद्वारगाथा । सम्प्रति षडशीतिसङ्ख्यगाथाप्रमाणत्वेन यथार्थं **षडशीतिकशास्त्रं** समर्थयन्नाह– "इय सुहुमत्थवियारो" इत्यादि । 'इति' पूर्वोक्तप्रकारेण सूक्ष्मः–मन्दमत्यगम्यो योऽर्थः–शब्दाभिधेयं तस्य विचारः विचारणं 'लिखितः'–अक्षरविन्यासीकृतः **पञ्चसङ्ग्रहादिशास्त्रेभ्य** इति शेषः । कैः ? इत्याह–'देवेन्द्रसूरिभिः' करालकलिकालपातालतलावमज्जद्विशुद्धधर्मधुरोद्धरणधुरीणश्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिक्रमकमलचञ्चरीकैरिति ॥८६॥

॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिता स्वोपज्ञषडशीतिकटीका समाप्ता ॥



॥ अर्हम् ॥

नमः कर्मतत्त्वरहस्यवेदिभ्यः ।

पूज्यश्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचितः स्वोपज्ञटीकोपेतः

शतकनामा पञ्चमः कर्मग्रन्थः ।

॥ ॐ नमः प्रवचनाय ॥

यो विश्वविश्वभविनां भवबीजभूतं, कर्मप्रपञ्चमवलोक्य कृपापरीतः ।
तस्य क्षयाय निजगाद सुदर्शनादिरत्नत्रयं स जयतु प्रभुवर्धमानः ॥ १ ॥
अग्रायणीयपूर्वादुद्धृत्य परोपकारसारधिया ।
येनाभ्यधायि शतकः, स जयतु शिवशर्मसूरिवरः ॥ २ ॥
अनुयोगधरान् सर्वान् , धर्माचार्यान् मुनींस्तथा नत्वा ।
स्वोपज्ञशतकसूत्रं विवृणोमि यथाश्रुतं किञ्चित् ॥ ३ ॥

तत्रादावेवाभीष्टदेवतास्तुत्यादिप्रतिपादिकामिमां गाथामाह—

नमिय जिणं धुवबंधो १ दय २ सत्ता ३ घाइ ४ पुन्न ५ परियत्ता ६ ।
सेयर १२ चउहविवागा १६, वुच्छं बंधविह २० सामी २४ य ॥ १ ॥

जिनं नत्वा ध्रुवबन्धिन्यादि वक्ष्य इति सम्बन्धः । तत्र 'नत्वा' नमस्कृत्य, कम् १ इत्याह—
तनं' राग-द्वेष-मोहादिदुर्वारवैरिविजेतारं वीतरागम् , परमार्हन्त्यमहिमालङ्कृतं तीर्थकरमित्यर्थः ।
नेन परमाभीष्टदेवतानमस्कारेण ऐकान्तिकमात्यन्तिकं भावमङ्गलमाह, अनेन चाऽऽशास्त्रपरि-
ाप्तेर्निष्प्रत्यूहता भवतीति । क्त्वाप्रत्ययस्य चोत्तरक्रियासापेक्षत्वाद् उत्तरक्रियामाह—ध्रुवबन्धो-
ादि वक्ष्ये । तत्र मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवद् निरन्तरं पुद्गलनिचिते
के कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मनः क्षीर-नीरवद् वह्नि-अयःपिण्डवद्वाऽन्योऽन्यानुगमाभेदात्मकः
बन्ध बन्धः १ । तेषामेव कर्मपुद्गलानामपवर्तनादिकरणकृते स्वाभाविके वा स्थित्यपचये सति
ायसमयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदयः २ । तेषामेव कर्मपुद्गलानां बन्ध-सङ्क्रमाभ्यां लब्धात्मलाभानां
र्जरण-सङ्क्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सति सद्भावः सत्ता ३ । बन्धश्च उदयश्च सच्च बन्धोदय-
न्ति, ततो ध्रुवशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् ध्रुवाणि बन्धोदयसन्ति यासां ता ध्रुवबन्धोदयसत्यः ।
ाइ" त्ति "घातिन्यः, देशघातिन्यः सर्वघातिन्यश्चेत्यर्थः ४ । "पुन्न" त्ति पुण्यप्रकृतयः ५ ।

---

१ सं० २ °त्ति सर्वघातिन्यो देशघातिन्यश्चेत्यर्थः । छा० °त्ति घातिन्यो देश-सर्वघातिन्यः,
घातिन्यो देशघातिन्यश्चेत्यर्थः ॥

"परियत्त" त्ति 'परिवृत्ताः' परावर्तमानाः ६। "सेयर" त्ति 'सेतराः' सप्रतिपक्षाः-विपक्षयुक्ता इत्यक्षरार्थः। भावार्थोऽयम्–ध्रुवबन्धिन्यः १ अध्रुवबन्धिन्यः २ ध्रुवोदयाः ३ अध्रुवोदयाः ४ ध्रुवसत्ताकाः ५ अध्रुवसत्ताकाः ६ सर्वदेशघातिन्यः ७ अघातिन्यः ८ पुण्यप्रकृतयः ९ पापप्रकृतयः १० परावर्तमानाः ११ अपरावर्तमानाः १२ चेति द्वादश द्वाराणि वक्ष्ये।

तत्र निजहेतुसद्भावे यासां प्रकृतीनां ध्रुवः–अवश्यम्भावी बन्धो भवति ता ध्रुवबन्धिन्यः १। यासां च निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यम्भावी बन्धस्ता अध्रुवबन्धिन्यः २। यदवादि–

[1]नियहेउसंभवे वि हु, भयणिज्जो जाण होइ पयडीणं।
बंधो ता अधुवाओ, धुवा अभयणिज्जबंधाओ॥ (पञ्चसं० गा० १५३)

निजहेतवश्चेह मिथ्यात्वादयो मन्तव्याः। यासामव्यवच्छिन्नोऽनुसन्ततः स्वोदयव्यवच्छेदकालं यावदुदयस्ता ध्रुवोदयाः ३। यासां तु व्यवच्छिन्नोऽप्युदयो भूयोऽपि प्रादुर्भवति तथाविधद्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावस्वरूपं पञ्चविधं हेतुसम्बन्धं प्राप्य ता अध्रुवोदयाः ४। यदभाणि–

[2]अव्वुच्छिन्नो उदओ, जाणं पयडीण ता धुवोदइया।
वुच्छिन्नो वि हु संभवइ, जाण अधुवोदया ताओ॥ (पञ्चसं० गा० १५५)

याः सर्वसंसारिणामप्राप्तसम्यक्त्वाद्युत्तरगुणानां सातत्येन भवन्ति ता ध्रुवसत्ताकाः ५। यास्तु कादाचित्कभाविन्यस्ता अध्रुवसत्ताकाः ६। सर्वेतरघातित्वं च प्रकृतीनां स्वविषयघातनभेदतो भवति। तत्र सर्वस्वविषयघातिन्यः सर्वघातिन्यः, स्वविषयदेशघातिन्यश्च देशघातिन्यः। स्वविषयं चासामुत्तरत्र व्याख्यास्यामः। ततः सर्वं–समस्तं देशं च–कञ्चन स्वावार्यं गुणं घ्नन्तीत्येवंशीलाः सर्व-देशघातिन्यः ७। ज्ञान दर्शनादिगुणानां मध्ये न कञ्चिद् गुणं घ्नन्तीत्येवंशीला अघातिन्यः। केवलं यथा स्वयमतस्करस्वभावोऽपि तस्करैः सह वर्तमानस्तस्कर इव दृश्यते, एवमेता अपि घातिनीभिः सह वेद्यमानास्तद्दोषा इव भवन्ति। यदाहुः श्रीशिवशर्मसूरिप्रवराः–

[3]अवसेसा पयडीओ, अघाइया घाइयाहिं पलिभागो। (बृ० शत० गा० ८०)

"पलिभागु" त्ति सादृश्यम्। घातत्वं च प्रकृतीनां रसविशेषाद् विज्ञेयम् ८। पुण्यप्रकृतयो जीवाह्लादजनिकाः शुभा उच्यन्ते ९। पापप्रकृतयः कटुकरसा अशुभा उच्यन्ते १०। याः प्रकृतयोऽन्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभयं वा विनिवार्य स्वकीयं बन्धमुदयमुभयं वा दर्शयन्ति ताः

---

१ निजहेतुसम्भवेऽपि हि भजनीयो यासां भवति प्रकृतीनाम्। बन्धस्ता अध्रुवा ध्रुवाः अभजनीयबन्धाः॥
२ अव्युच्छिन्न उदयो यासां प्रकृतीनां ता ध्रुवोदयाः,। व्युच्छिन्नोऽपि हि सम्भवति यासां अध्रुवोदयास्ताः॥
३ अवशेषाः प्रकृतयोऽघातिन्यो घातिनीभिः परिभागः॥

तिर्यङ्-नारकगतिलक्षणाश्चतस्रः, खगतिः-विहायोगतिः-प्रशस्ता ऽप्रशस्तभेदाद् द्वेधा, "पुव्वि" त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् आनुपूर्व्यः-देवानुपूर्वी-मनुजानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी-नरकानुपूर्वी-रूपाश्चतस्रः, जिननाम–तीर्थकरनाम, श्वासनाम उच्छ्वासनामेत्यर्थः, उद्योतनाम आतपनाम पराघातनाम "तसवीस" त्ति त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविंशतिः-त्रसदशकं स्थावरदशकमित्यर्थः, गोत्रम् उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रभेदेन द्विधा, वेदनीयं–सातवेदनीयमसातवेदनीयमिति द्विधा, हास्यादियुगलद्विकं-हास्य-रति-अरति-शोकाभिधम् , वेदाः-स्त्री पुं-नपुंसकरूपास्त्रयः, आयूंषि-देवायुर्मनुजायुस्तिर्यगायुर्नरकायुरिति चत्वारि इति। एतास्त्रिसप्ततिप्रकृतयः 'अध्रुवबन्धाः' अध्रुवबन्धिन्यो भवन्तीति शेषः। एतासां निजहेतुसद्भावेऽप्यवश्यं बन्धाभावादध्रुवबन्धित्वम् । तथाहि–पराघात-उच्छ्वासनाम्नोः पर्याप्तनाम्नैव सह बन्धो नापर्याप्तनाम्ना अतोऽध्रु[1]वत्वम् । आतपं पुनरेकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतिसहचरितमेव नान्यदा । उद्योतं तु तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धेनैव सह बध्यते। आहारकद्विकं जिननाम्नी अपि यथाक्रमं संयम सम्यक्त्वप्रत्ययेनैव बध्येते नान्यथेत्यध्रुवबन्धित्वम्। शेषशरीरोपाङ्गत्रिकादीनां षट्षष्टिप्रकृतीनां सविपक्षत्वाद् निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यं बन्ध इत्यध्रुवबन्धित्वं सुप्रतीतमेव । उक्ता अध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः । साम्प्रतं ध्रुवबन्धिन्यध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकान् ग्रन्थलाघवार्थं च वक्ष्यमाणध्रुवोदया-ऽध्रुवोदयप्रकृतीनां च भङ्गकान् बन्धमाश्रित्य उदयमाश्रित्य च चिन्तयन्नाह–"भंगा अणाइसाई" इत्यादि । 'भङ्गाः' भङ्गकाश्चत्वारो भवन्ति । कथम् ? इत्याह–अनादि-सादयोऽनन्त-सान्तोत्तराः । इदमुक्तं भवति–अनादि-सादिशब्दौ आदी येषां ते अनादिसादयः, प्राकृतत्वाद् आदिशब्दस्य लोपः । अनन्त-सान्तशब्दावुत्तरे-उत्तरपदे येषां ते अनन्त-सान्तोत्तराः, "ते लुग्वा" (सिद्ध० ३-२-१०८) इति सूत्रेण पदशब्दस्य लोपः । यदि वा भङ्गा अनादि-सादयोऽनन्त-सान्तोत्तराः सन्तश्चत्वारो भवन्ति । तद्यथा–अनाद्यनन्तः १ अनादिसान्तः २ साद्यनन्तः ३ सादिसान्तः ४ चेति ॥ ३ ॥ ४ ॥

उक्ता भङ्गाः । अथ यत्रोदये बन्धे वा ये भङ्गका घटन्ते तानाह—

पढमबिया धुवउदइसु, धुवबंधिसु तइयवज्ज भंगतिगं ।
मिच्छम्मि तिन्नि भंगा, दुहा वि अधुवा तुरियभंगा ॥ ५ ॥

'प्रथमद्वितीयौ' अनाद्यनन्ता-ऽनादिसान्तलक्षणौ ध्रुवोदयासु प्रकृतिषु भङ्गकौ भवतः । तथाहि–न विद्यत आदिर्यस्याऽनादिकालात् सन्तानभावेन सततप्रवृत्तेः सोऽनादिः, अनादिश्चासौ अनन्तश्च कदाचिदप्यनुदयाभावादनाद्यनन्तः, अयं च भङ्गको निर्माण-स्थिरा ऽस्थिरा-ऽगुरुलघु-शुभा-ऽशुभ-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्क-ज्ञानपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चक-दर्शनचतुष्कलक्षणानां षड्-

---

१ छा० ०वबन्धित्वम् ॥

सम्यक्शास्त्रपरिज्ञानाद्विरक्ता भवतो जनाः ।
लब्ध्वा दर्शनसंशुद्धिं, ते यान्ति परमां गतिम् ॥

तदेतेन मङ्गलाद्यभिधानेन सकलशास्त्रकृतां प्रवृत्तिरनुसृता भवति । तथा च तैः प्रणिजगदे—

प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थमभिधेय-प्रयोजने ।
मङ्गलं चैव शास्त्रादौ, वाच्यमिष्टार्थसिद्धये ॥ इति । ॥ १ ॥

अथ "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायात् तत्प्रथमतो ध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीर्व्याचिख्यासुराह—

वन्नचउतेयकम्माऽगुरुलहुनिमिणोवघायभयकुच्छा ।
मिच्छकसायावरणा, विग्घं धुवबंधि सगचत्ता ॥ २ ॥

प्राकृतत्वाद् लिङ्ग-वचनव्यत्ययेन ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः "सगचत्त" त्ति सप्तचत्वारिंशत्सङ्ख्या भवन्ति । तथाहि- वर्णेनोपलक्षितं चतुष्कं वर्णचतुष्कं-वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शनलक्षणम् , ततो वर्णचतुष्कं च तैजसं च कार्मणं चागुरुलघु चेत्यादिद्वन्द्वे वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघात-भय-कुत्साः । कुत्सा-जुगुप्सा । तथा मिथ्यात्वं च कषायाश्चावरणानि च मिथ्यात्व-कषाया-ऽऽवरणानि । तत्र वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातानि इत्येता नव नामप्रकृतयः, भयं कुत्सा मिथ्यात्वं कषायाः षोडश इत्येता एकोनविंशतिर्मोहनीयप्रकृतयः, आवरणानि ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवकस्वरूपाणि चतुर्दश, विघ्नम्—अन्तरायं दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायभेदात् पञ्चविधमिति । एवं सप्तचत्वारिंशदप्येता ध्रुवबन्धिन्यः, निजहेतुसद्भावेऽवश्यं बन्धसद्भावादिति ॥२॥

उक्ता ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः । साम्प्रतमध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीरभिधित्सुराह—

तणुवंगाऽऽगिइसंघयणजाइगइखगइपुव्विजिणसासं ।
उज्जोयाऽऽयवपरघातसवीसा गोय वेयणियं ॥३॥
हासाइजुयलदुगवेयआउ तेवुत्तरी अधुवबंधा ।
भंगा अणाइसाई, अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥४॥

तनवः—शरीराणि औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकलक्षणास्तिस्रः, तैजस-कार्मणयोर्ध्रुवबन्धित्वेनाभिहितत्वात् , उपाङ्गानि-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गरूपाणि त्रीणि, आकृतयः-संस्थानानि समचतुरस्र-न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-कुब्ज-वामन-हुण्डाख्याः षट् , संहननानि-अस्थिनिचयात्मकानि वज्रऋषभनाराच-ऋषभनाराच-नाराचा-ऽर्धनाराच-कीलिका-सेवार्तलक्षणानि षट् , जातयः-एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियरूपाः पञ्च, गतयः—देव-मनुष्य-

यदा तु ततः प्रतिपतितः पुनर्बन्धविधानेन सादित्वमासाद्य भूयोऽपि कालान्तरेऽपूर्वकरणमारूढस्य बन्धाभावस्तदा चतुर्थ इति । चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणानां बन्धो देशविरतगुणस्थानकं यावद् अनादिः ततः प्रमत्तादौ बन्धोपरमात् सान्त इति द्वितीयभङ्गः । ततः प्रतिपतितो भूयोऽपि बन्धनेन सादित्वमासाद्य यदा पुनः प्रमत्तादावबन्धको भवति तदा चतुर्थो भङ्गकः । अप्रत्याख्यानावरणानां त्वविरतसम्यग्दृष्टिं यावद् अनादिबन्धं कृत्वा यदा देशविरतादावबन्धको भवति तदा द्वितीयः । ततः प्रतिपतितो भूयोऽपि तानेव बद्ध्वा पुनस्तेषां यदा देशविरतेष्वबन्धको भवति तदा चतुर्थ इति । मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिनां तु मिथ्यादृष्टिरनादिबन्धको यदा सम्यक्त्वावाप्तौ बन्धोपरमं करोति तदा द्वितीयः । पुनर्मिथ्यात्वगमनेन तान् बद्ध्वा यदा भूयोऽपि सम्यक्त्वलाभे सति बन्धं न विधत्ते तदा चतुर्थ इति । एवं ध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकत्रयं निरूपितमिति । तथा मिथ्यात्वस्य ध्रुवोदयस्य भङ्गा अनाद्यनन्त १ अनादिसान्त २ सादिसान्त-३ स्वभावास्त्रयो भवन्ति । तत्रानाद्यनन्तोऽभव्यानाम्, यतस्तेषां न कदाचिद् मिथ्यात्वोदयविच्छेदः समपादि सम्पत्स्यते चेति १ । अनादिसान्तस्त्वनादिमिथ्यादृष्टेः, तत्प्रथमतया सम्यक्त्वलाभे मिथ्यात्वस्याभावात् २ । सादिसान्तः पुनः प्रतिपतितसम्यक्त्वस्य सादिके मिथ्यात्वोदये सम्पन्ने पुनरपि सम्यक्त्वलाभाद् मिथ्यात्वोदयाभावे सम्भवति ३ इति । "दुहा वि अधुवा तुरियभंगं" त्ति 'द्विधापि' द्विभेदा अपि बन्धमाश्रित्योदयमाश्रित्य च 'अध्रुवाः' अध्रुवबन्धिन्योऽध्रुवोदयाश्चेत्यर्थः तुरीयः-चतुर्थो भङ्गः सादिसान्तलक्षणो यासां तास्तुरीयभङ्गा भवन्ति । तत्राध्रुवबन्धिनीनां पूर्वोक्तत्रिसप्ततिसङ्ख्यप्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वादेव सादिसान्तलक्षण एक एव भङ्गको भवति । तथा अध्रुवोदयानामुदयः सह आदिना-उदयविच्छेदे सति तत्प्रथमतयोदयभवनस्वभावेन वर्तत इति सादिः, स चासौ सान्तश्च पुनरुदयव्यवच्छेदात् सपर्यवसानश्च सादिसान्तः । ततश्चाध्रुवोदयानामयमेवैको भङ्गको भवति नान्यः, अध्रुवत्वादेवेति भावः ॥५॥

उक्ताः सभावार्था ध्रुवबन्धिन्योऽध्रुवबन्धिन्यश्च प्रकृतयः । प्रसङ्गतो ध्रुवा-ऽध्रुवोदयानां प्रकृतीनां भङ्गकाश्च । सम्प्रति ध्रुवा-ऽध्रुवोदयप्रकृतिद्वारनिरूपणायाह—

निमिण थिरअथिर अगुरुय, सुहअसुहं तेय कम्म चउवन्ना ।
नाणंतराय दंसण, मिच्छं धुवउदय सगवीसा ॥ ६ ॥

"निमिण" त्ति प्राकृतत्वाद् निर्माणं स्थिरा-ऽस्थिरम् "अगुरुय" त्ति अगुरुलघु शुभा-ऽशुभं तैजसं कार्मणं 'चतुर्वर्णं' वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणमित्येता द्वादश नाम्नो ध्रुवोदयाः ज्ञानावरणपञ्चकम् अन्तरायपञ्चकं दर्शनचतुष्कं मिथ्यात्वमिति सप्तविंशतिप्रकृतयः 'ध्रुवोदयाः' नित्योदयाः, सर्वासामपि स्वोदयव्यवच्छेदकालं यावदव्यवच्छिन्नोदयत्वादिति ॥६॥

अभिहिता ध्रुवोदयाः प्रकृतयः । इदानीमध्रुवोदयाः प्रकृतीराह—

थिरसुभियर विणु अद्धुवबंधी मिच्छ विणु मोहधुवबंधी ।
निद्दोवघाय मीसं, सम्मं पणनवइ अधुवुदया ॥ ७ ॥

इतरशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'स्थिरेतर शुभेतर-प्रकृतिचतुष्कं विना' स्थिरमस्थिरं शुभमशुभं विना शेषा एकोनसप्ततिसङ्ख्या अध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः । तथाहि—तैजस-कार्मणवर्जं शरीरत्रिकम् अङ्गोपाङ्गत्रयं संस्थानषट्कं संहननषट्कं जातिपञ्चकं गतिचतुष्कं विहायोगतिद्विकम् आनुपूर्वीचतुष्कं जिननाम उच्छ्वासनाम उद्योतम् आतपं पराघातं त्रस-बादर-पर्याप्तक-प्रत्येक-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्ति-स्थावर--सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारण--दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं साता-ऽसातवेदनीयं हास्य-रती अरति-शोकौ स्त्री-पुं-नपुंसकरूपं वेदत्रयम् आयुश्चतुष्कमिति । तथा मिथ्यात्वं विना मोहध्रुवबन्धिन्योऽष्टादश । तद्यथा—षोडश कषाया भयं जुगुप्सा । निद्राः पञ्च उपघातनाम मिश्रं सम्यक्त्वमिति पञ्चनवतिरध्रुवोदयाः, व्यवच्छिन्नस्याप्युदयस्य पुनरुदयसद्भावादिति । यद्येवं मिथ्यात्वस्याप्यध्रुवोदयतैव युज्यते, सम्यक्त्वप्राप्तौ व्यवच्छिन्नस्यापि तदुदयस्य मिथ्यात्वगमने पुनः सद्भावात् ? इति, अत्रोच्यते—यासां प्रकृतीनां येषु गुणस्थानकेषु गुणप्रत्ययतोऽद्याप्युदयव्यवच्छेदो न विद्यते, अथ [च] द्रव्य-क्षेत्र-कालाद्यपेक्षया तेष्वेव गुणस्थानकेषु कदाचिदसौ भवति कदाचिद् नेति ता एवाध्रुवोदयाः, यथा निद्रायाः मिथ्यादृष्टेरारभ्य क्षीणमोहं यावदुदयोऽव्यवच्छिन्नो वर्तते, अथ च न सततमसौ भवतीति । मिथ्यात्वस्य तु नेदं लक्षणम् , यतस्तस्य यत्र प्रथमगुणस्थानके नाद्याप्युदयव्यवच्छेदः तत्र सततोदय एव न कादाचित्क इति ध्रुवोदयतैव तस्येति । ७॥

उक्तमध्रुवोदयप्रकृतिद्वारम् । सम्प्रति ध्रुवसत्ताका-ऽध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारद्वयं निरूपयन्नाह—

तसवन्नवीस सगतेयकम्म धुवबंधि सेस वेयतिगं ।
आगिइतिग वेयणियं, दुजुयल सग उरल सास चउ ॥८॥
खगईतिरिदुग नीयं, धुवसंता सम्म मीस मणुयदुगं ।
विउविक्कार जिणाऊ, हारसगुच्चा अधुवसंता ॥९॥

इह त्रसेति शब्दस्य प्रत्येकं योगात् त्रसविंशतिर्वर्णविंशतिश्च । तत्र त्रसेनोपलक्षिता विंशतिः त्रसविंशतिः । तद्यथा—त्रस-बादर-पर्याप्तक-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्ति-लक्षणं त्रसदशकम् , स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिलक्षणं स्थावरदशकम् , उभयमीलने त्रसविंशतिरियमुच्यते । वर्णविंशतिस्त्वियम्—[illegible] पञ्च वर्णाः, सुरभिगन्धा-ऽसुरभिगन्धभेदेन द्वौ गन्धौ, तिक्त [illegible]

कषाया-ऽम्ल-मधुरभेदात् पञ्च रसाः, गुरु-लघु-मृदु-खर-शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्षस्पर्शभेदादष्टौ स्पर्शाः, सर्वेऽप्यमी च वर्णविंशतिरित्युच्यते, वर्णैरोपलक्षिता विंशतिर्वर्णविंशतिरिति कृत्वा । "सगतेय-कम्म" त्ति 'तैजस-कार्मणसप्तकं' तैजसशरीर १ कार्मणशरीर २ तैजसतैजसबन्धन ३ तैजसकार्मण-बन्धन ४ कार्मणकार्मणबन्धन ५ तैजससङ्घातन ६ कार्मणसङ्घातन ७ लक्षणम् । "धुवबंधि सेस" त्ति वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणयोरुक्तत्वात् शेषा एकचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः । तथाहि—अगुरु-लघु-निर्माण-उपघात-भय-जुगुप्सा-मिथ्यात्व-कषायषोडशक-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवका-ऽन्तरायपञ्चकमिति । 'वेयतिगं' स्त्री-पुं-नपुंसकलक्षणम् । "आगिइतिग" त्ति "तणुवंगागिइसंघ-यण जाइगइखगइ" (गा० ३) इत्यादिकर्मविपाकगाथोक्तक्रमाश्रितं गृह्यते, तत आकृतयः—संस्थानानि षट्, संहननानि षट्, जातयः पञ्च इत्येवमाकृतित्रिकशब्देन सप्तदश भेदा गृह्यन्ते । 'वेयणियं' साता-ऽसातभेदाद् द्विधा । द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगलं हास्य-रति-अरति-शोकरूपम् । "सग-उरल" त्ति औदारिकसप्तकम्—औदारिकशरीर १ औदारिकाङ्गोपाङ्ग २ औदारिकसङ्घातन ३-औदारिकौदारिकबन्धन ४ औदारिकतैजसबन्धन ५ औदारिककार्मणबन्धन ६ औदारिकतैजस-कार्मणबन्धन ७ रूपम् । "सासचउ" त्ति 'उच्छ्वासचतुष्कं' उच्छ्वास-उद्योता-ऽऽतप-पराघातरूपम् । "खगइतिरिदुग" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् खगतिद्विकं—प्रशस्तविहायोगति-अप्रशस्त-विहायोगतिलक्षणम्, तिर्यग्द्विकं—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूपम् । "नीयं" ति नीचैर्गोत्रमिति । एतास्त्रिंशदुत्तरशतसङ्ख्याः प्रकृतयो ध्रुवसत्ताका अभिधीयन्ते, ध्रुवसत्ताकत्वं चासां सम्यक्त्व-लाभादर्वाक् सर्वेष्वपि जन्तुषु सद्भावात् । अथानन्तानुबन्धिनां कषायाणामुद्वलनसम्भवादध्रुवसत्ताक-तैव युज्यते अतः कथं ध्रुवसत्ताकप्रकृतीनां त्रिंशदधिकशतसङ्ख्या सङ्गच्छते ? नैवं यतः, यतोऽवाप्तसम्यक्त्वाद्युत्तरगुणानामेव जीवानामेतद्विसंयोगो, न सर्वजीवानाम्, अध्रुवसत्ताकता चानवाप्तोत्तरगुणजीवापेक्षयैव चिन्त्यते अतोऽनन्तानुबन्धिनां ध्रुवसत्ताकतैव; यदि चोत्तरगुणप्राप्त्य-पेक्षया अध्रुवसत्ताकता कक्षीक्रियते तदा सर्वासामपि प्रकृतीनां स्यात्, नानन्तानुबन्धिनामेव, यतः सर्वा अपि प्रकृतयो यथास्थानमुत्तरगुणेषु सत्सु सत्ताव्यवच्छेदमनुभवन्त्येवेति । तथा "सम्म" त्ति सम्यक्त्वं मिश्रम्, 'मनुजद्विकं' मनुजगति-मनुजानुपूर्वीरूपम्, "विउविकार" त्ति 'वैक्रियैकादशकम्' देवगति १ देवानुपूर्वी २ नरकगति ३ नरकानुपूर्वी ४ वैक्रियशरीर ५-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग ६ वैक्रियसङ्घातन ७ वैक्रियवैक्रियबन्धन ८ वैक्रियतैजसबन्धन ९ वैक्रियकार्मण-बन्धन १० वैक्रियतैजसकार्मणबन्धन ११ लक्षणम्, जिननाम, आयुश्चतुष्कम्, "हारसग" त्ति प्राकृतत्वात् आकारलोपे 'आहारकसप्तकम्' आहारकशरीर १ आहारकाङ्गोपाङ्ग २ आहारकसङ्घा-तन ३ आहारकाहारकबन्धन ४ आहारकतैजसबन्धन ५ आहारककार्मणबन्धन ६ आहारकतैजस-कार्मणबन्धनाख्यम् ७, उच्चैर्गोत्रम् इत्येता अष्टाविंशतिसङ्ख्याः प्रकृतयोऽध्रुवसत्ताका उच्यन्ते ।

अयमिह भावार्थः—[illegible] न सत्तायां नास्ति, केषाञ्चि-स्तीति। तथा मनुष्यद्विके [illegible] तेजो-वायुकायिकजीव-मध्यगतस्योद्वर्तनाप्रयोगेण सत्तायां न लभ्यते, [illegible] तु भवति। तथा वैक्रियैकादशकम-सम्प्राप्तत्रसत्वस्य बन्धाभावात् [illegible] चिरकालस्थितिक्षयेण वा सत्तायां न लभ्यते, तदन्यस्य सम्भवत्यपि। तथा [illegible] जिननाम कस्यचिद् भवति कस्य-चिद् नेति। तथा देव-नारकायुषी स्थावराणाम्, तिर्यगायुष्कं [illegible] देवानाम्, मनुजा-युष्कं पुनस्तेजो-वायु-सप्तमपृथिवीनारकाणां [illegible] सत्तायां न लभ्यते, अन्येषां तु सम्भवत्यपि। तथा [illegible] आहारकसप्तकं [illegible] सत्तायां स्यात् तदभावे कस्यचित् नेति। तथोच्चैर्गोत्रम[illegible] स्थावरभावं गतस्य स्थितिक्षयेण वा सत्तायां न लभ्यते, तेजो-वायुकायिकजीवमध्यगतस्य उद्वर्तनप्रयोगेण वा सत्तायां न लभ्यते, इतरस्य तु भवतीत्यासामध्रुवसत्ताकता ॥ ८–९ ॥

उक्तं ध्रुवसत्ताका-ऽध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारद्वयम्। सम्प्रति गुणस्थानकेषु कासाञ्चित् प्रकृतीनां ध्रुवा-ऽध्रुवसत्तां गाथात्रयेण निरूपयन्नाह—

पढमतिगुणेसु मिच्छं, नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं ।
सासाणे खलु सम्मं, संतं मिच्छाइदसगे वा ॥ १० ॥

प्रथमाः—आद्यास्त्रयः—त्रिसङ्ख्या गुणाः—गुणस्थानकानि प्रथमत्रिगुणाः तेषु प्रथमत्रिगुणेषु—मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-सम्यग्मिथ्यादृष्टिलक्षणेषु 'मिथ्यात्वं' मिथ्यात्वलक्षणा प्रकृतिः 'नियमात्' निश्चयेन 'सद्'-विद्यमानम्, सत्तायां प्राप्यत इत्यर्थः। 'अयताद्यष्टके' अविरतसम्यग्दृष्टि १ देशविरत २ प्रमत्तसंयत[1] ३ अप्रमत्तसंयत ४ अपूर्वकरण ५ अनिवृत्तिबादर ६ सूक्ष्मसम्पराय ७ उपशान्तमोह ८ लक्षणेष्वष्टसु गुणस्थानकेषु 'भाज्यं' विकल्पनीयम्, कदाचिद् मिथ्यात्वं सत्तायामस्ति कदाचि-न्नास्ति। तथाहि—अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिना क्षपिते नास्ति, उपशमिते त्वस्ति। सास्वादने 'खलु' नियमेन "सम्मं" 'सम्यक्त्वं' सम्यग्दर्शनमोहनीयलक्षणा प्रकृतिः 'सद्' विद्यमानम्, सर्वदैव लभ्यत इत्यर्थः, यत औपशमिकसम्यक्त्वाद्धायां जघन्यतः समयावशेषायामुत्कृष्टतः षडावलिकावशि-ष्टायां सास्वादनो लभ्यते, तत्र च नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैवासाविति भावः। 'मिथ्यात्वादि-दशके' मिथ्यादृष्ट्यादिषु सास्वादनवर्जितोपशान्तमोहपर्यवसानगुणस्थानकेषु दशसङ्ख्येषु 'वा' विकल्पेन-भजनया सम्यक्त्वं सत्तायां स्याद् लभ्यते स्यान्नेति। तथाहि—मिथ्यादृष्टौ जीवेऽनादि-

[1] छा० °त्ता-ऽप्रमत्तसंयता-ऽ° ॥

णमुपलभ्यते तत्र वारिवाहदृष्टान्तो वाच्यः । तथा मिथ्यात्वं तु जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानरूपसम्यक्त्वं सर्वमपि हन्तीति सर्वघाति, यत्तु तस्य प्रबलोदयेऽपि मनुष्य-पश्वादिवस्तुश्रद्धानं तदपि जलधरोदाहरणादवसेयमिति ।

भाविताः सर्वघातिन्यः । सम्प्रति देशघातिन्यो भाव्यन्ते–"चउनाणतिदंसणावरण" त्ति आवरणशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् ज्ञानावरणचतुष्कम्–मतिज्ञानावरण १ श्रुतज्ञानावरण २ अवधिज्ञानावरण ३ मनःपर्यायज्ञानावरण ४ लक्षणम्, दर्शनावरणत्रिकं–चक्षुर्दर्शनावरण १ अचक्षुर्दर्शनावरण २ अवधिदर्शनावरण ३ रूपमिति । सञ्ज्वलनाश्चत्वारः–क्रोध मान माया लोभाः । 'नोकषायाः' हास्य १ रति २ अरति ३ शोक ४ भय ५ जुगुप्सा ६ स्त्रीवेद ७ पुंवेद ८ नपुंसकवेद ९ स्वरूपा नव । 'विघ्नम्' अन्तरायं–दान-लाभ-भोग उपभोग वीर्यान्तरायलक्षणम् । 'इति' अमुना दर्शितप्रकारेण देशघातिन्यः पञ्चविंशतिसङ्ख्याः प्रकृतयो भवन्तीत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—मतिज्ञानावरणादिचतुष्कं केवलज्ञानावरणानावृतं ज्ञानदेशं हन्तीति देशघाती-त्युच्यते, मत्यादिज्ञानचतुष्टयविषयभूतानर्थान् यद् नावबुध्यते स हि मत्यावरणाद्युदय एव, तदविषयभूतांस्त्वनन्तगुणान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणस्यैवोदय इति । चक्षुः-अचक्षुः-अवधिदर्शनावरणान्यपि केवलदर्शनावरणानावृतकेवलदर्शनैकदेशमावृण्वन्तीति देशघातीनि । तथाहि—चक्षुः-अचक्षुः-अवधिदर्शनविषयभूतानेवाऽर्थान् एतदुदयाद् न पश्यति, तदविषयभूतांस्त्वनन्तगुणान् केवलदर्शनावरणोदयादेव न समीक्षते । तथा सञ्ज्वलना नव नोकषायाश्च लब्धस्य चारित्रस्य देशमेव घ्नन्तीति देशघातिनः, तेषां मूल उत्तरगुणानामतीचारजनकत्वात् । यदवादि श्रीमदाराध्यपादैः–

'सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ हुंति ।
मूलच्छिज्जं पुण होइ, बारसण्हं कसायाणं ॥ (आव०नि०गा० ११२) इति ।

दानान्तरायादीनि पञ्च अन्तरायाण्यपि देशघातीन्येव । तथाहि–दान-लाभ-भोग-उपभोगानां तावद् ग्रहण-धारणायोग्यान्येव द्रव्याणि विषयः, तानि च समस्तपुद्गलास्तिकायस्यानन्तभागरूपे देश एव वर्तन्ते, अतो यदुदयात् तानि पुद्गलास्तिकायदेशवर्तीनि द्रव्याणि यद् दातुं लब्धुं भोक्तुमुपभोक्तुं च न शक्नोति तानि दान-लाभ-भोग-उपभोगान्तरायाणि तावद् देशघातीन्येव । यत्तु सर्वलोकवर्तीनि द्रव्याणि न ददाति न लभते न भुङ्क्ते नाप्युपभुङ्क्ते तन्न दानान्तरायाद्युदयात्, किन्तु तेषामेव ग्रहण-धारणाविषयत्वेनाशक्यानुष्ठानत्वादिति मन्तव्यम् । वीर्यान्तरायमपि देशघात्येव, सर्ववीर्यं न घातयतीति कृत्वा । तथाहि–सूक्ष्मनिगोदस्य वीर्यान्तरायकर्मणो–

---

१ सर्वेऽपि चातिचाराः सञ्ज्वलनानां तूदयतो भवन्ति । मूलच्छेद्यं पुनर्भवति द्वादशानां कषायाणाम् ॥

इह केवलज्ञानावरणं [illegible] [illegible]
तथापि सर्वजीवानां [illegible] [illegible]
यदाहुः श्रीदेवर्द्धिवाचकवराः—

'[1]सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ। (नन्दीप॰ १९५)

कथं तर्हि सर्वघातित्वम्? इति चेद्, उच्यते—[illegible] [illegible]
राया आवृतत्वात् [illegible] [illegible], अथ[illegible]
काचित् तत्प्रभा प्रसरति—"[3]सुट्ठु वि मेहसमुदए, होइ पभा चंदसूराणं ॥" (नन्दीपत्र १९५)
इति वचनादनुभवसिद्धत्वात्, [illegible] केवलज्ञानस्यानन्त-
भागोऽनावृत एवास्ते । यदि पुनस्तमप्यावृणुयात् तदा जीवोऽजीवत्वमेव प्राप्नुयात् ।

यदुक्तं नन्द्यध्ययने—

[4]जइ पुण सो वि आवरिज्जा ता णं जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा । (पत्र १९५)

सोऽपि चावशिष्टोऽनन्तभागो जलधरावृतदिनकरकरप्रसर इव कट-कुड्यादिभिर्मति-
श्रुता-ऽवधि-मनःपर्याय ज्ञानावरणैराव्रियते, तथापि काचिद् निगोदावस्थायामपि ज्ञानमात्राऽवति-
अन्यथा अजीवत्वप्रसङ्गात् । मतिज्ञानादिविषयभूतांश्चार्थान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणो-
दयो न भवति, किं तर्हि ? मतिज्ञानावरणाद्युदय एवेति । केवलदर्शनावरणस्य समस्तवस्तु-
स्तोमसामान्यावबोध आवार्यः, तं सर्वं हन्तीति सर्वघाति अभिधीयते, तदनन्तभागं त्विदमपि
सामर्थ्याभावाद् नावृणोति, सोऽपि चानावृतोऽनन्तभागश्चक्षुः-अचक्षुः-अवधिदर्शनावरणैरावि-
यते, शेषो जलधरदृष्टान्तादिचर्चस्तथैव । यच्च चक्षुर्दर्शनादिविषयानर्थान् न पश्यति, स केवल-
दर्शनावरणोदयो न भवति, किं तर्हि ? चक्षुर्दर्शनावरणाद्युदय एवेति । यद्येवं तर्हि केवलज्ञाना-
वरण-केवलदर्शनावरणक्षये सत्यपि मतिज्ञानादिविषयाणामर्थानामवबोधो न प्राप्नोति भिन्नज्ञान-
विषयत्वाद्, इति चेद्[5] उच्यते—केवलालोकलाभे शेषबोधलाभान्तर्भावात्, ग्रामलाभे क्षेत्रला-
भान्तर्भाववदिति । निद्रापञ्चकमपि सर्वं वस्त्ववबोधमावृणोतीति सर्वघाति, यत् पुनः स्वापावस्था-
यामपि किञ्चित्[6] चेतयति तत्र धाराधरनिदर्शनं वाच्यम् । तथाऽनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरण-
प्रत्याख्यानावरणाश्च प्रत्येकं चत्वारो यथाक्रमं सम्यक्त्वं देशविरतिचारित्रं सर्वविरतिचारित्रं
सर्वमेव घ्नन्तीति सर्वघातिनो द्वादशापि कषायाः, यत् पुनस्तेषां प्रबलोदयेऽप्ययोग्याहारादिवि-

१ सर्वजीवानामपि चाक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाटितस्तिष्ठति ॥ २ सं॰ १-२ ०श्च चा॰ ॥ ३ सुष्ठ्व-
मेघसमुदये भवति प्रभा चन्द्रसूर्ययोः ॥ ४ यदि पुनः सोऽपि आवृणीयात्तदा जीवोऽजीवत्वं प्राप्नुया-
५ सं॰ १-२ छा॰ ०यावर० ॥ ६ छा॰ ०द् तदयुक्तम् ॥ ७ सं॰ १ छा॰ ०द् चिकेति ॥

त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुरत्रिकम्–देवगति-देवगति-देवायुर्लक्षणम्, नर-त्रिकम्–नरगति-नरानुपूर्वी-नरायुर्लक्षणम्, "उच्च" त्ति उच्चैर्गोत्रं सातं 'त्रसदशकं' त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्तिलक्षणम्, तनवः–औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणरूपाः पञ्च, उपाङ्गानि–औदारिकाङ्गोपाङ्ग वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकाङ्गो-पाङ्गलक्षणानि त्रीणि, "वइर" त्ति वज्रऋषभनाराचसंहननम् 'चतुरस्र" समचतुरस्र' "परघा-सग" त्ति पराघातसप्तकम्–पराघात उच्छ्वासा-ऽऽतप-उद्योत ऽगुरुलघु-तीर्थकरनाम-निर्माणरूपम्, तिर्यगायुः 'वर्णचतुष्कं' वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्यम्, पञ्चेन्द्रियजातिः 'शुभखगतिः' प्रशस्त-विहायोगतिरिति ॥१५॥

बायाल पुन्नपगई, अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरिदुग असाय नीयोवघाय इग विगल निरयतिगं ॥१६॥
थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई ।
पावपयडि त्ति दोसु वि, वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥

सुरत्रिकप्रभृतयः शुभखगतिपर्यन्ता एता द्विचत्वारिंशत्सङ्ख्याः पुण्याः–शुभाः प्रकृतयः पुण्य-प्रकृतय उच्यन्ते ।

उक्ताः पुण्यप्रकृतयः इदानीं पापप्रकृतीराह–"अपढमसंठाण" इत्यादि । संस्थानानि च खगतिश्च संहननानि च संस्थान-खगति-संहननानि, अप्रथमानि च-प्रथमवर्जानि तानि संस्थान-खगति संहननानि च अप्रथमसंस्थान खगति-संहननानि । तत्राप्रथमसंस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-कुब्ज-वामन हुण्डाख्यानि पञ्च, अप्रथमखगतिः-अप्रशस्तविहायोगतिः, अप्रथमसंहननानि–ऋषभनाराच-नाराच ऽर्धनाराच-कीलिका-च्छेदवृत्तरूपाणि पञ्च, 'तिर्यग्द्विकं' तिर्यग्गति तिर्यगानु-पूर्वीरूपम् असातं नीचैर्गोत्रम् उपघातम् "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः "विगल" त्ति द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातयः 'नरकत्रिकं' नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायुर्लक्षणं 'स्थावरदशकं' स्थावर सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिरूपं, 'वर्ण-चतुष्कं' वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्यं "घाइपणयाल" त्ति सर्वघातिन्यो विंशतिः देशघातिन्यः पञ्च-विंशतिः, उभया अपि मिलिताः सामान्येन घातिन्यः पञ्चचत्वारिंशद् भवन्ति, ताभिः सहिताः-युक्ताः पूर्वोक्ता अप्रथमसंस्थानादिका वर्णचतुष्कपर्यवसानाः सप्तत्रिंशत्सङ्ख्या द्व्यशीतयः पाप-प्रकृतयो भवन्ति । इतिशब्दः परिसमाप्तौ द्व्यशीतय एव पापप्रकृतयो न ऊनाधिका इत्यर्थः ।

ननु द्विचत्वारिंशत्पुण्यप्रकृतयो भवन्ति द्व्यशीतिश्च पापप्रकृतयो मिलिताश्चतुर्विंशत्युत्तरं प्रकृति-शतं प्राप्तं, बन्धे तु विंशत्युत्तरमेव शतमधिक्रियते "बंधे विसुत्तरसयं" (कर्मस्त० भा० गा० १)

ऽभ्युदये वर्तमानस्याप्याहारपरिणमन-कर्मदलिकग्रहण-गत्यन्तरगमनादिविषय एतावान् वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमो विद्यते, तत्क्षयोपशमविशेषतश्च निगोदजीवानादौ कृत्वा यावत् क्षीणमोहस्तावद् वीर्यमल्पं बहु बहुतरं बहुतमं च तारतम्याद् भवतीति, केवलिनश्च तत्कर्मक्षयसम्भूतं सर्ववीर्यं भवतीति देशघातीदम्। यदि पुनः सर्वघाति स्यात् तदा यथैव मिथ्यात्वस्य कषायद्वादशकस्य च उदये तदावार्यं सम्यक्त्वगुणं देश-सर्वसंयमगुणं च जघन्यमपि न लभते, तथैव च तदुदयेऽपि तदावार्यं जघन्यमपि वीर्यगुणं न लभेत, न चैवमस्ति, तस्मादिदमपि देशघातीति स्थितमिति।

उक्ताः सर्व-देशघातिन्यः। सम्प्रति तत्प्रतिपक्षभूता अघातिनीर्व्याचिख्यासुराह—"अघाई" इत्यादि। अघातिन्य एताः पञ्चसप्ततिसङ्ख्याः प्रकृतयोऽभिधीयन्ते। तद्यथा—"पत्तेय" त्ति प्रत्येकप्रकृतयः-पराघात-उच्छ्वासा-ऽऽतप-उद्योता-ऽगुरुलघु-तीर्थकर-निर्माण-उपघातरूपा अष्टौ। "तणुट्ठ" त्ति तन्वा(नु)शब्देनोपलक्षितमष्टकं "तणुवंगागिइसंघयणजाइगइखगइपुव्वि" (गा० ३) इति लक्षणं तन्वष्टकम्, तत्र तनवः—औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणलक्षणाः पञ्च, उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः—संस्थानानि षट्, संहननानि षट्, जातयः पञ्च, गतयश्चतस्रः, खगती द्वे, पूर्व्यः-आनुपूर्व्यश्चतस्रः, एवं तन्वष्टके प्रकृतयः पञ्चत्रिंशत्। आयूंषि चत्वारि। त्रसविंशतिः—त्रसदशक-स्थावरदशकमीलनात्। "गोयदुग" त्ति गोत्रशब्देनोपलक्षितं द्विकम्-' गोयवेयणियं" (गा० ३) इतिगाथांशेन प्रतिपादितम्, गोत्रम्- उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति, साता-ऽसातभेदाद् वेदनीयं द्विधा, तदेवं गोत्रद्विकशब्देन प्रकृतिचतुष्टयमभिधीयते। "वन्न" त्ति वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्याश्चतस्रः प्रकृतयो गृह्यन्ते इति। एताः प्रकृतयोऽघातिन्यः, न कञ्चन ज्ञानादिगुणं घातयन्तीति कृत्वा, केवलं सर्व-देशघातिनीभिः सह वेद्यमानास्तत्सदृश्योऽनुभूयन्ते। अयमर्थः-सर्वघातिनीभिः सह वेद्यमाना एता अघातिन्योऽपि सर्वघातिरसविपाकं दर्शयन्ति, देशघातिनीभिः सह पुनर्वेद्यमाना देशघातिरसम्, यथा स्वयमचौरोऽपि चौरैः सह वर्तमानश्चौर इवाभासते। यदभाणि—

> जा'ण न विसओ घाइत्तणम्मि ताणं पि सव्वघाइरसो।
> जायइ घाइ'सगासेण चोरया वेहऽचोराणं॥ (पञ्चसं० गा० १५९) ॥१४॥

उक्तं सप्रतिपक्षं सर्व-देशघातिद्वारम्। सम्प्रति पुण्य-पापप्रकृतीर्विवरीषुराह—

> **सुरनरतिगुच्च सायं, तसदस तणुवंग वइर चउरंसं।**
> **परघासग तिरिआउं, वन्नचउ पणिंदि सुभखगई ॥१५॥**

---

१ घातीनां न विषयो तासामपि सर्वघातिरसः। जायते घातिसकाशेन चौरता इवेहाचौराणाम्॥
२ पञ्चसङ्ग्रहस्वोपज्ञटीकागतगाथायां तु-०समासेण। बृहट्टीकागतगाथायां पुनः-०समासेन।

(गा० ३) इति वचनाद् उद्योता-ऽऽतपाख्यम्, गोत्रद्विकम्-"गोयवेयणियं" (गा० ३) इति वचनाद् गोत्र-वेदनीयस्वरूपम् । तत्र गोत्रम् उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रभेदाद् द्विधा, साता-ऽसातभेदाद् वेदनीयमपि द्विधा इत्येताश्चतस्रः प्रकृतयो गोत्रद्विकशब्देन गृह्यन्ते, निद्रापञ्चकं त्रसविंशतिः-त्रसदशक-स्थावरदशकरूपा, आयूंषि चत्वारि इति । एता एकनवतिप्रकृतयः "परित्त" त्ति प्राकृतत्वात् 'परिवृत्ताः' परावर्तमाना भवन्तीति शेषः । तत्र षोडश कषाया निद्रापञ्चकं च यद्यप्येता एकविंशतिप्रकृतयो ध्रुवबन्धित्वाद् बन्धं प्रति परोपरोधं न कुर्वन्ति तथापि स्वोदये स्वजातीयप्रकृत्युदयनिरोधात् परावर्तमाना भवन्ति । स्थिर-शुभा-ऽस्थिरा-ऽशुभप्रकृतयश्चतस्रश्च यद्यप्युदयं प्रति न विरुद्धास्तथापि बन्धं प्रति परावर्तमानाः, शेषाश्च गतिचतुष्क-जातिपञ्चक-शरीरत्रिक-अङ्गोपाङ्गत्रिक-संस्थानषट्क-संहननषट्का-ऽऽनुपूर्वीचतुष्का-ऽऽतप-उद्योत-विहायोगतिद्विक-त्रसादिषोडशक-वेदत्रिक-हास्य-रति-अरति-शोकयुगलद्वय-साता-ऽसात-उच्च-नीचा-ऽऽयुश्चतुष्टयलक्षणाः षट्षष्टिः प्रकृतयो बन्धोदयाभ्यामपि परस्परं विरुद्धा अतः[1] परावर्तमाना इति । उक्ताः परावर्तमानप्रकृतयः, तद्भणनेन च समर्थितं परावर्तमाना-ऽपरावर्तमानप्रकृतिद्वारद्वयम् । तदेवं समर्थितं "धुवबंधोदय[2]सत्ताघाइपुन्नपरियत्ता सेयर" (गा० १) इति मूलद्वारगाथोपन्यस्तं द्वारद्वादशकम् । सम्प्रति यदुक्तं "चउह विवागा वुच्छं" (गा० १) इति तद् विभणिषुः प्रथमं क्षेत्रविपाकाः प्रकृतीराह—"खित्तविवागाणुपुव्वीओ" त्ति क्षेत्रम्—आकाशं तत्रैव विपाकः—उदयो यासां ताः क्षेत्रविपाकाः, आनुपूर्व्यश्चतस्रः नरक-तिर्यग्-नरा-ऽमरानुपूर्वीलक्षणाः, यतस्तासां चतसृणामपि विग्रहगतावेवोदयो भवतीति । उक्तं च बृहत्कर्मविपाके—

[3]निरयाउयस्स उदए, नरए वक्केण गच्छमाणस्स ।
निरयाणुपुव्वियाए, तहिँ उदओ अन्नहिं नत्थि ॥
एवं तिरिमणुदेवे, तेसु वि वक्केण गच्छमाणस्स ।
तेसिमणुपुव्वियाणं, तहिँ उदओ अन्नहिं नत्थि ॥ (गा० १२२–१२३)

ननु विग्रहगत्यभावेऽप्यानुपूर्वीणामुदयः सङ्क्रमकरणेन विद्यते, अतः कथं क्षेत्रविपाकिन्यस्ता न गतिवद् जीवविपाकिन्यः ? इति अत्रोच्यते—विद्यमानेऽपि सङ्क्रमे यथा तासां क्षेत्रप्राधान्येन स्वकीयो विपाकोदयो न तथाऽन्यासामतः क्षेत्रविपाकिन्य एवेति ॥ १९ ॥

उक्ताः क्षेत्रविपाकाः प्रकृतयः । साम्प्रतं जीवविपाका भवविपाकाश्च प्रकृतीराह----

१. छा० विना ०तः परावर्तमानप्रकृतयः, तद्भण० ॥ २ सं० १-२ छा० त० म० ०संता० ॥
३ निरयायुष उदये नरके वक्रेण गच्छतः । निरयानुपूर्व्यास्तत्रोदयोऽन्यत्र नास्ति ॥ एवं तिर्यङ्-मनुज-देवेषु तेष्वपि वक्रेण गच्छतः । तासामानुपूर्वीणां तत्रोदयोऽन्यत्र नास्ति ॥

इति वचनात् , तत् कथं न विरोधः ? इत्याह—"दोसु वि वन्नाइगह" त्ति 'द्वयोरपि' पुण्य-पाप-प्रकृतिराश्योः 'वर्णादिग्रहात्' वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शग्रहणान्न कश्चनापि विरोधः । अयमभिप्रायः—वर्णादयो हि पुण्यस्वभावाः पापस्वभावाश्च वर्तन्ते, ततः पुण्यवर्णचतुष्टयं पुण्यप्रकृतिषु मध्ये गृह्यते, पापवर्णचतुष्टयं पुनः पापप्रकृतिषु । ततः पुण्य-पापप्रकृतिराश्योर्वर्णादिचतुष्कं यत् तदेकमेव सत् प्रशस्ता-ऽप्रशस्तभेदेनोभयत्रापि विवक्ष्यत इत्यदोषः । तथा एता एव पुण्यप्रकृतयः शुभकारण-जन्यत्वात् शुभा उच्यन्ते, पापप्रकृतयस्त्वशुभकारणजन्यत्वादशुभा अभिधीयन्त इति ॥१६-१७॥

उक्तं पुण्यप्रकृति-पापप्रकृतिद्वारद्वयम् । सम्प्रति परावर्तमाना-ऽपरावर्तमानप्रकृतिद्वारद्वयं व्याचिख्यासुर्द्वारगाथायां परावर्तमानप्रकृतीनां पूर्वं निर्देशेऽपि इह अल्पसङ्ख्याकत्वेन प्रथम-मपरावर्तमानाः प्रकृतीराह—

नामधुवबंधिनवगं, दंसण पण नाण विग्घ परघायं ।
भय कुच्छ मिछ सासं, जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥१८॥

नाम्नो ध्रुवबन्धिनवकं नामध्रुवबन्धिनवकं-वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उप-घातलक्षणम् , दर्शनचतुष्कं—चक्षुः-अचक्षुः-अवधि-केवलदर्शनरूपम् , 'पञ्च ज्ञानानि' मति-श्रुता-[illegible]-मनःपर्याय-केवलज्ञानाभिधानि, काकाक्षिगोलकन्यायादत्रापि पञ्चशब्दस्य सम्बन्धात् [illegible] अन्तरायाणि—दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायाख्यानि पराघातं भयं 'कुत्सा' [illegible] "सासं" ति उच्छ्वासं जिननाम इत्येता एकोनत्रिंशत्प्रकृतयः 'अपरिवृत्ताः' [illegible] । अयमत्र भावः—या नामध्रुवबन्धिनवकप्रभृतय एकोनत्रिंशत्प्रकृतयः [illegible] नान्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभयं वा निरुध्य प्रवर्तन्तेऽतोऽपरा-[illegible] इति ॥१८॥

[illegible] अपरावर्तमानाः प्रकृतयः । साम्प्रतं परावर्तमानप्रकृतीराह—

[illegible]अट्ठ वेय दुजुयल, कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा ।
तसवीसाउ परित्ता, खित्तविवागाणुपुव्वीओ ॥१९॥

[illegible] "[illegible]" (गा० ३) इति [illegible] । तत्र [illegible]-कार्मणयोरपरावर्तमानासु [illegible] [illegible], उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः षट्, संहननानि [illegible] [illegible], आनुपूर्वी [illegible] [illegible]

" 'नेरइए नेरइएसु उववज्जइ'' (शत० ४ उद्दे० ९) इति ।

तस्मिन् भवे-नारकतिर्यग्नरामररूप एव विपाकः-उदयो विद्यते येषां तानि भवविपाकीनि। तथाहि-पश्चात्सम्भवं पूर्वभवे बद्धानि आगामिनि भवे विपच्यन्त इति भावः। ननु यथाऽऽयुषां देवादिभवेऽवश्यं विपाको भवति एवं गतीनामपि, अतस्ता अपि भवविपाकिन्यः प्राप्नुवन्ति, अत्रोच्यते-आयुर्यद् यस्य भवस्य योग्यं निबद्धं तत् तस्मिन्नेव भवे वेद्यत इत्यायुषो भवविपाकदानाद् भवविपाकित्वम्, गतयस्तु विभिन्नभवयोग्या निबद्धा अप्येकस्मिन्नपि भवे सर्वाः सङ्क्रमेण संवेद्यन्ते। तथाहि-मोक्षगामिनोऽशेषा गतयो मनुष्यभवे क्षयं यान्ति, अतो भवं प्रति गतीनां नैयत्याभावान्न भवविपाकिन्यः, किन्तु जीवविपाकिन्य एवेति ॥२०॥

उक्ता जीवविपाका भवविपाकाश्च प्रकृतयः। इदानीं पुद्गलविपाकिनीः प्रकृतीः प्रचिकटयिषुराह-

नामधुवोदय चउतणुववायसाहारणियर जोयतिगं ।
पुग्गलविवागि बंधो, पयइठिइरसपएस त्ति ॥२१॥

नाम्नः-नामकर्मणो ध्रुवोदयाः-नित्योदया नामध्रुवोदया द्वादश प्रकृतयः, तद्यथा-निर्माण-स्थिरा-ऽस्थिरा-ऽगुरुलघु-शुभा-ऽशुभ-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्कमिति। "चउतणु" त्ति तनुशब्देनोपलक्षितं चतुष्कं "तणुवंगागिइसंघयण" (गा०३) इति गाथावयवेन प्रतिपादितं तनुचतुष्कम्। तत्र तैजस-कार्मणयोर्ध्रुवोदयमध्ये पठितत्वादिह तनवः-औदारिक-वैक्रियाऽऽहारकलक्षणास्तिस्रः परिगृह्यन्ते, उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः-संस्थानानि षट्, संहननानि षट्, तदेवं तनुचतुष्कशब्देन एता अष्टादश प्रकृतयो गृह्यन्ते। उपघातं साधारणम् 'इतरच्च' तत्प्रतिपक्षभूतं प्रत्येकं "जोयतिगं" ति "उज्जोयायवपरघा" (गा०३) इति वचनाद् उद्योता-ऽऽतप-पराघातलक्षणमिति। एताः षट्त्रिंशत् प्रकृतयः "पुग्गलविवागि" त्ति पुद्गलेषु-शरीरतया परिणतेषु परमाणुषु विपाकः-उदयो यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः, शरीरपुद्गलेष्वेवात्मीयां शक्तिं दर्शयन्तीत्यर्थः। तथाहि-निर्माण-स्थिराद्युदयात् शरीरतया परीणतानां पुद्गलानामङ्गप्रत्यङ्गादिनियमनं दन्तास्थ्यादीनां स्थिरत्वं जिह्वादीनामस्थिरत्वं शिरःप्रभृतीनां शुभत्वं पादादीनामशुभत्वमित्यादि, तनूदयात् शरीरतया पुद्गला एव परिणमन्ति, अङ्गोपाङ्गोदयाच्च तेषां शिरः-ग्रीवाद्यवयवविभागो जायते, आकृतिनामोदयात् तेष्वेवाऽऽकारविशेषः सम्पनीपद्यते, संहननोदयात् तेषामेव वज्रर्षभनाराचादितया विशिष्टा परिणतिर्भवति, उपघात-साधारण-प्रत्येक-उद्योता-ऽऽतपादीनामपि सर्वेषां शरीरपुद्गलेष्वेव स्वविपाकस्य दर्शनात् सुप्रतीतमेवासां पुद्गलविपाकित्वमिति।

---

१ नैरयिको नैरयिकेषु उत्पद्यते ॥

प्रथमसमये एकविधादिबन्धको भूत्वा द्वितीयसमयादिष्वपि तावन्मात्रमेव बध्नाति सोऽवस्थितबन्धः ३ । यत्र तु सर्वथाऽबन्धको भूत्वा पुनः प्रतिपत्य बन्धको भवति स आद्यसमयेऽवक्तव्यबन्धः, अयं पुनरुत्तरप्रकृतीनामेव भवति न मूलप्रकृतीनाम्, तासां सर्वथाऽबन्धकस्यायोगिकेवलिनः सिद्धस्य वा प्रतिपाताभावेन पुनर्बन्धाभावात् ।

अथ कथं त्रयो भूयस्कारबन्धाः त्रयोऽल्पतरबन्धाः चत्वारोऽवस्थितबन्धा भवन्ति ? इति चेद् उच्यते—इहैकविधं बद्ध्वा उपशान्तमोहावस्थातः प्रतिपत्य सूक्ष्मसम्पराये पुनः षड्विधं बध्नत आद्यसमये प्रथमो भूयस्कारबन्धः १ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, ततोऽप्यधस्तात् प्रतिपत्य सप्तविधं बध्नत आद्यसमये द्वितीयो भूयस्कारबन्धः २ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, आयुर्बन्धकाले त्वष्टविधबन्धं गतस्य प्रथमसमय एव तृतीयो भूयस्कारबन्धः ३ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्ध इति त्रयो भूयस्काराः । तथाऽऽयुर्बन्धकालेऽष्टविधं बद्ध्वा पुनरप्यायुर्बन्धोपरमे सप्तविधं बध्नत आद्यसमये प्रथमोऽल्पतरबन्धः १ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, सप्तविधादपि सूक्ष्मसम्परायावस्थायां षड्विधबन्धं गतस्य प्रथमसमये द्वितीयोऽल्पतरबन्धः २ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, षड्विधबन्धादप्युपशान्तमोहाद्यवस्थायामेकविधबन्धं गतस्याद्यसमये तृतीयोऽल्पतरबन्धः ३ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्ध इति त्रयोऽल्पतरबन्धाः । तथा मूलप्रकृतिविषयाण्येकविधबन्धादीनि चत्वारि बन्धस्थानानि, तेषु चतुर्ष्वपि बन्धस्थानेष्ववस्थितबन्धोऽस्त्येवेति चत्वारोऽवस्थितबन्धाः । अवक्तव्यबन्धस्तु मूलप्रकृतिषु न सम्भवतीत्युक्तमेवेति ॥२२॥

अथैतदेव भूयस्कारादिस्वरूपं व्याचिख्यासुराह—

एगादहिगे भूओ, एगाईऊणगम्मि अप्पतरो ।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ, पढमे समए अवत्तव्वो ॥२३॥

एकादिभिः—एकद्वित्र्यादिभिः प्रकृतिभिरधिके बन्धे "भूय" त्ति भूयस्कारनाम बन्धो भवति । यथा—एकां बद्ध्वा षड् बध्नाति, षड् बद्ध्वा सप्त बध्नाति, सप्त वा बद्ध्वाऽष्टौ बध्नातीति । तथा एकादिभिः—एक-द्वि-त्र्यादिभिः प्रकृतिभिरूने-हीने बन्धे 'अल्पतरः' अल्पतरनाम बन्धो भवति । यथा—अष्टौ बद्ध्वा सप्त बध्नाति, सप्त वा बद्ध्वा षड् बध्नाति, षड् वा बद्ध्वा एकां बध्नाति । तथा स एव भूयस्कारोऽल्पतरो वा द्वितीयादिसमयेषु 'तन्मात्रः' तावन्मात्रतया प्रवर्तमानोऽवस्थितबन्धो भवति । एते त्रयोऽपि प्रकारा मूलप्रकृतीनां सम्भवन्ति । तथा यः सर्वथाऽबन्धको भूत्वा भूयोऽपि बन्धकः सञ्जायते तदा तस्य प्रथमसमयेऽवक्तव्यः सम्भवतीति । एतदेवाह—"पढमे समए अवत्तव्वो" इति स्पष्टम् । न चायं मूलप्रकृतिषु सम्भवति, न हि मूलप्रकृतीनां सर्वासां बन्ध-

ानि भवन्ति । तद्यथा--"दुइगवीस" त्ति विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् द्वाविंशतिः एकविंशतिः सप्तदश त्रयोदश नव पञ्च चतस्रः तिस्रो द्वे एका च । उक्तं च सप्ततिकायाम्—

> [1]बावीस इक्कवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पंच ।
> चउ तिग दुगं च एगं, बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ (गा० ११)

तत्र सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे बन्धे न भवतः, "[2]न य बंधे सम्ममीसाइं" ([3]पञ्चसं० गा० २८) इति वचनात् । न च त्रयाणां वेदानां युगपद् बन्धः किन्त्वेककालमेकस्यैव । हास्यतियुगला-ऽरति-शोकयुगले अपि न युगपद् बन्धमायातः किन्त्वेकतरमेव युगलम् । ततो मोहयिस्योत्कर्षतः प्रभूतप्रकृतिबन्धो द्वाविंशतिः-मिथ्यात्वं १ षोडश कषायाः १६ एको वेदः १ न्यतरयुगलं २ भयं १ जुगुप्सा १ इति । सा च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके प्राप्यते । ततः ास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके मिथ्यात्वबन्धाभावादेकविंशतिः । यद्यप्यत्र नपुंसकवेदस्यापि न्धो न भवति तथापि तत्स्थाने स्त्रीवेदः पुरुषवेदो वा प्रक्षिप्यत इत्येकविंशतेरेव बन्धः । तो मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकयोरनन्तानुबन्धिनामपि बन्धाभावात् सप्तदश । ततोऽपि शविरतिगुणस्थानकेऽप्रत्याख्यानावरणकषायाणां बन्धाभावात् त्रयोदश । ततोऽपि प्रमत्ता-ऽमत्ता-ऽपूर्वकरणगुणस्थानकेषु प्रत्याख्यानावरणकषायाणां बन्धाभावाद् नव । यद्यप्यरति-शोकर्पं युगलं प्रमत्तगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नं तथापि तत्स्थाने हास्य-रतियुगलं प्रक्षिप्यत इत्यमत्ता-ऽपूर्वकरणयोर्नवकबन्धो न विरुध्यते । ततो हास्य-रति-भय-जुगुप्सा अपूर्वकरणचरमसमये बन्धमाश्रित्य व्यवच्छिद्यन्त इत्यनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके प्रथमभागे पञ्चानां बन्धः । ्तीयभागे पुरुषवेदस्याऽभावात् चतसृणां बन्धः । तृतीयभागे सञ्ज्वलनक्रोधस्य बन्धाभावात् सृणां बन्धः । चतुर्थभागे संज्वलनमानस्य बन्धाभावाद् द्वयोर्बन्धः । पञ्चमभागे संज्वलनयाया अपि बन्धाभावादेकस्याः संज्वलनलोभप्रकृतेर्बन्धः । ततः परं बादरसम्परायाभावात् स्या अपि न बन्धः ।

उक्तानि मोहनीयस्य दश बन्धस्थानानि । अथैतेषु दशसु बन्धस्थानेषु भूयस्कारादीनाह— नव अट्ठ दस दुन्नि" त्ति नव भूयस्कारबन्धाः, अष्टावल्पतरबन्धाः, दशावस्थितबन्धाः, वक्तव्यबन्धौ । इयमत्र भावना—एकविधबन्धात् प्रतिपत्य उक्तस्वरूपं द्विविधं बध्नत द्यसमये प्रथमो भूयस्कारबन्धः । द्विविधात् त्रिविधबन्धं गतस्य द्वितीयो भूयस्कारबन्धः । विधात् चतुर्विधबन्धं गतस्य तृतीयो भूयस्कारबन्धः । चतुर्विधात् पञ्चविधबन्धं गतस्य

ाविंशतिः एकविंशतिः सप्तदश त्रयोदशैव नव पञ्च । चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं बन्धस्थानानि मोहस्य ॥ च बन्धे सम्यक्त्व-मिश्रे ॥ ३ पञ्चसंग्रहे तु-"बंधे नो सम्ममीसाइं" इति पाठः ॥

व्यवच्छेदे सति अयोगिकेवलिनः सिद्धस्य वा भूयोऽपि बन्धः सम्भवतीति एषोऽवक्तव्यबन्ध उत्तरप्रकृतिष्वेव भवति, तं चोत्तरप्रकृतिषु यथास्थानं दर्शयिष्यामः ॥ २३ ॥

उक्ता मूलप्रकृतीरधिकृत्य भूयस्कारादिबन्धाः । अधुनोत्तरप्रकृतीः प्रतीत्य तान् प्रचिकटयिषुराह—

नव छ च्चउ दंसे दु दु, ति दु मोहे दु इगवीस सत्तरस ।
तेरस नव पण चउ ति दु, इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥२४॥

"दंसि" त्ति भामा सत्यभामेति न्यायात् पदैकदेशेऽपि पदसमुदायोपचार इति दर्शनावरणोत्तरप्रकृतीनां त्रीणि बन्धस्थानानि । कथम्? इत्याह—"नव छ चउ" त्ति नवविधं बन्धस्थानं षड्विधं बन्धस्थानं चतुर्विधं बन्धस्थानं चेति । तत्र निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिलक्षणं निद्रापञ्चकम् , चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणचतुष्टयं चेत्येतन्नवविधम् , एतच्च मिथ्यादृष्टि-सास्वादनगुणस्थानकं यावद् बध्यते । ततः परं स्त्यानर्द्धित्रिकं निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिरूपं व्यवच्छिद्यते, अतः सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादिषु षड्विधं बध्नतः प्रथमसमये प्रथमोऽल्पतरबन्धः, एतच्च षड्विधमपूर्वकरणप्रथमसप्तभागं यावद् बध्नाति । ततः परं निद्रा-प्रचलाबन्धव्यवच्छेदे सति शेषं चतुर्विधं बध्नत आद्यसमये द्वितीयोऽल्पतरबन्धः, एतच्चतुर्विधं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावद् बध्यते । ततः कस्यचित् पुनरपि प्रतिपत्य षड्विधं बध्नतः प्रथमसमये प्रथमो भूयस्कारबन्धः । ततोऽपि प्रतिपत्य नवविधं बध्नत आद्यसमये द्वितीयो भूयस्कारबन्धः । अत्र च नवविधादिषु त्रिष्वपि बन्धस्थानेषु द्वितीयादिषु समयेषु तदेव बध्नतोऽवस्थितबन्ध इति त्रयोऽवस्थितबन्धाः । यदा तूपशान्तमोहावस्थायां दर्शनावरणप्रकृतीनां सर्वथाऽबन्धको भूत्वा पुनरद्धाक्षयेणैव प्रतिपत्य चतुर्विधं बध्नाति तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धो भूयस्काराद्युचितलक्षणायोगाद् भूयस्कारादिभिर्विकल्पैर्वक्तुं न शक्यत इत्यवक्तव्यः, द्वितीयादिसमयेषु त्वत्राप्यवस्थितबन्धः । यदा पुनरुपशान्तमोहावस्थायामेवायुःक्षयेणानुत्तरसुरेषूत्पद्यते तदा तत्र प्रथमसमय एव षड्विधं बध्नतो द्वितीयोऽवक्तव्यबन्धः, द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः । तदेवमत्र द्वौ भूयस्कारबन्धौ द्वावल्पतरबन्धौ । अवस्थितबन्धास्तु गणनया षड् भवन्तोऽपि बन्धस्थानानि त्रीण्येवेति तद्भेदास्त्रय एव भवन्ति । अवक्तव्यबन्धौ द्वौ इति । एतदेवाह—"दु दु ति दु" त्ति द्वौ भूयस्कारबन्धौ द्वावल्पतरबन्धौ त्रयोऽवस्थितबन्धाः द्वावक्तव्यबन्धाविति । भावार्थः पूर्वोक्त एवेति ।

उक्ता दर्शनावरणोत्तरप्रकृतिषु भूयस्कारादिबन्धाः । इदानीमेतानेव मोहनीयोत्तरप्रकृतिषु विचिन्तयन्नाह—"मोहे दुइगवीस सत्तरस" इत्यादि । 'मोहे' मोहनीयकर्मणि दश बन्धस्था-

"नामे" त्ति नामकर्मणि बन्धस्थानान्यष्टौ भवन्ति । तद्यथा—विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशद् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका चेति । उक्तं च सप्ततिकायाम्—

तेवीस' पन्नवीसा, छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा ।
तीसेगतीसमेगं, बंधट्ठाणाणि नामस्स ॥ (गा० २५)

तत्र वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातम् इत्येता नव प्रकृतयो ध्रुवबन्धिन्यः, सर्वैरपि चतुर्गतिकजीवैरणाग्निविशिष्टगुणैः प्रतिसमयमवश्यं बध्यमानत्वात्; तथा तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानं स्थावरं बादर-सूक्ष्मयोरन्यतरद् अपर्याप्तकं प्रत्येक-साधारणयोरन्यतरद् अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अयशःकीर्तिनाम इत्येताश्चतुर्दश प्रकृतयो ध्रुवबन्धिनीभिर्नवभिः सह त्रयोविंशतिरिति एतासां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् , एवमुत्तरत्रापि भावनीयम् । एतां च त्रयोविंशतिमेकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणामन्यतरो मिथ्यादृष्टिरेवापर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यां बध्नाति । पञ्चविंशतिं पुनः पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यां तत्रोत्पादयोग्या नानाजीवा बध्नन्ति। तत्र च त्रयोविंशतिः पूर्वोक्तैव पराघात-उच्छ्वासाभ्यां सह पञ्चविंशतिर्भवति, नवरमपर्याप्तकस्थाने पर्याप्तकं, स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तीनां परावृत्तिर्वाच्या, एवमेषा पञ्चविंशतिरन्येषामपि विकलेन्द्रियादिजीवानां प्रायोग्या नानाभङ्गैः सम्भवति, केवलं ग्रन्थविस्तरभयाद् नेहोच्यते, सप्ततिकाटीकायां तद्विस्तरोऽन्वेषणीयः । एवमुत्तरेष्वपि बन्धस्थानेषु गमनिकामात्रमेवाभिधास्यत इति । एषैव पञ्चविंशतिरातप-उद्योतयोरेकतरप्रक्षेपे षड्विंशतिर्भवति, सा च पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यैव बध्यते नान्यप्रायोग्या, बन्धकाश्च तत्रोत्पादयोग्या जीवा द्रष्टव्याः । अष्टाविंशतिं तु देवगतिप्रायोग्यां तिर्यङ्-मनुष्यास्तत्प्रायोग्यविशुद्धा बध्नन्ति । तद्यथा—देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तविहायोगतिनाम त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोः शुभा-ऽशुभयोर्यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योः पृथगेकैकमन्यतरद्वाच्यं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातमित्यष्टाविंशतिर्भवति। एषा च मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-मिश्रा-ऽविरतानां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामवसेया । एषैवाष्टाविंशतिस्तीर्थकरनामकर्मणो बन्धे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, तां च सम्यग्दर्शनिनो मनुष्या एव बद्धतीर्थकरनामानो देवगतिप्रायोग्यां बध्नन्ति । यदि वा पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याऽपीयमेकोनत्रिंशद्

त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशदेकं बन्धस्थानानि नाम्नः॥

बन्धः। अष्टाविंशतिबन्धाद् एकोनत्रिंशद्बन्धं गतस्य प्रथमसमये चतुर्थो भूयस्कारबन्धः। एकोनत्रिंशतं बद्ध्वा त्रिंशतं बध्नत आद्यसमये पञ्चमो भूयस्कारबन्धः। आहारकद्विकसहितां त्रिंशतं बद्ध्वा एकत्रिंशद्बन्धं गतस्याद्यसमये षष्ठो भूयस्कारबन्धः, अथवा यशःकीर्तिलक्षणमेकविधं बद्ध्वा श्रेणेर्निपततः पुनरपूर्वकरणे एकत्रिंशदादि बध्नत आद्यसमये षष्ठ एव भूयस्कारबन्धः, न सप्तमः, एकत्रिंशल्लक्षणस्थानकस्योभयथाऽप्येकत्वादिति। अल्पतरबन्धाः सप्त पुनरेवम्—अपूर्वकरणे देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेकोनत्रिंशतं वा त्रिंशतं वा एकत्रिंशतं वा बद्ध्वा तद्बन्धव्यवच्छेदे एकविधबन्धं गतस्याद्यसमये प्रथमोऽल्पतरबन्धः। एकत्रिंशद्बन्धाच्च त्रिंशद्बन्धं गतस्याद्यसमये द्वितीयोऽल्पतरबन्धः। एतच्च कथं सम्भवति ? इत्युच्यते-इह कश्चिदाहारकद्विक-तीर्थकर-नामसहितां पूर्वाभिहितामेकत्रिंशतं बद्ध्वा दिवि समुत्पन्नः, तस्य प्रथमसमय एव मनुष्यगतिप्रायोग्यां पूर्वोक्तामेव त्रिंशतं बध्नत एकत्रिंशतस्त्रिंशति गमनं सम्भवति। ततस्तस्यैव दिवश्च्युत्वा मनुष्येषु समुत्पन्नस्य पुनरपि देवप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां पूर्वाभिहितामेवैकोनत्रिंशतं बध्नतः प्रथमसमये तृतीयोऽल्पतरबन्धः। यदा तु तिर्यग्-मनुष्याणामन्यतरस्तिर्यग्प्रायोग्यां पूर्वोक्तामेकोनत्रिंशतं बद्ध्वा तथाविधशुद्धिवशाद् देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तदा प्रथमसमये चतुर्थोऽल्पतरबन्धः। अष्टाविंशतेश्च तथाविधसंक्लेशवशादेकेन्द्रियप्रायोग्यषड्विंशतिबन्धं गतस्याद्यसमये पञ्चमोऽल्पतरबन्धः। षड्विंशतिबन्धात् पञ्चविंशतिबन्धं गतस्याद्यसमये षष्ठोऽल्पतरबन्धः। पञ्चविंशतिबन्धादपि त्रयोविंशतिबन्धं गतस्याद्यसमये सप्तमोऽल्पतरबन्धः। एतेष्वष्टस्वपि बन्धस्थानेषु द्वितीयादिसमयेषु सर्वत्रावस्थितबन्धो लभ्यत इत्यवस्थितबन्धा अष्टौ। अथावक्तव्यकबन्धास्त्रयः पुनरेवम्—उपशान्तमोहावस्थायां नामकर्मणः सर्वथा अबन्धको भूत्वा इहैवोपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपत्य यदा पुनरप्येकविधं बध्नाति तदाद्यसमये प्रथमोऽवक्तव्यबन्धः। अथवोपशान्तमोहावस्थायामेवायुःक्षयेणानुत्तरसुरेषु समुत्पद्यते उपात्ततीर्थकरनामा च भवति तदा तस्य प्रथमसमय एव मनुष्यगतिप्रायोग्यां पूर्वोक्तरूपां तीर्थकरसहितां त्रिंशतं बध्नतो द्वितीयोऽवक्तव्यबन्ध। अथवाऽनुपात्ततीर्थकरनामा यदा भवति तदा तस्य तीर्थकरनामरहितां तत्रैव मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः प्रथमसमये तृतीयोऽवक्तव्यबन्धः। तदेवं भाविता नामकर्मणि षड् भूयस्कारबन्धाः सप्ताल्पतरबन्धा अष्टाववस्थितबन्धाः त्रयोऽवक्तव्यबन्धाः। उक्तं च—

[1]छ ब्भूयगारबंधा, सत्तेव हवंति अप्पतरबंधा।
तिण्णऽव्वत्तगबंधा, अवट्ठिया अट्ठ नामम्मि ॥ (श० बृ० भा० गा० २९५)

---

१ षड् भूयस्कारबन्धाः सप्तैव भवन्त्यल्पतरबन्धाः। त्रयोऽवक्तव्यबन्धा अवस्थिता अष्टौ नाम्नि ॥

स्यादित्युत्कृष्टा स्थितिर्लभ्यते । तथोऽयमर्थः--नाम[1]कर्मणि गोत्रे च उत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिकोटी-कोटयः सागरोपमाणाम् । सप्ततिकोटीकोटयः सागरोपमाणां 'मोहे' मोहनीये । 'इतरेषु' आयुषो भणि-ष्यमाणत्वेन भणितोद्धरितेषु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायलक्षणेषु चतुर्षु कर्मसु त्रिंश-त्कोटीकोटयः सागरोपमाणां प्रत्येकमुत्कृष्टा स्थितिर्भवति । आयुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'निरय' त्ति निरया[2]युषि सुरायुषि चोत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत् 'उदधयः' सागरोपमाणि भवन्तीति ॥२६॥

मुत्तुं अकसायठिइं, बार मुहुत्ता जहण्ण वेयणिए ।
अट्ठऽट्ठ नामगोएसु सेसएसुं मुहुत्तंतो ॥२७॥

इह वेदनीयकर्मणो हि स्थितिर्द्विधा सम्भवति—अकषायिणः प्रतीत्य सकषायिणश्च । तत्राकषायिणो वेदनीयस्य स्थितिर्द्विसमयस्थितिका, यतस्तत्कर्म प्रथमसमये बद्धं द्वितीयसमये वेदितं तृतीयसमयेऽकर्मतामनुभवति सा चेह नाधिक्रियते, सकषायिस्थितिबन्धस्यैवेहाधिकृत-त्वात् । अत उक्तम्—'मुक्त्वा' त्यक्त्वा अकषायिणाम् उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिनां जघन्यां वेदनीयस्थितिम् । तर्हि सकषायिणां जघन्या किंप्रमाणा ? इत्याह—'द्वादश मुहूर्ताः' चतुर्विंशतिघटिकाः 'जघन्या' लघीयसी 'वेदनीये' तृतीये कर्मणि स्थितिर्भवतीति । "अट्ठऽट्ठ नामगोएसु" त्ति मुहूर्तशब्दस्यात्रापि सम्बन्धात् प्रत्येकमष्टावष्टौ मुहूर्ता नाम-गोत्रयोर्जघन्या स्थिति-र्भवति । 'शेषेषु' भणितोद्धरितेषु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽऽयुः-अन्तरायलक्षणेषु पञ्चसु कर्मसु "मुहुत्तंतो" त्ति मीयत इति मुहूर्तः मुहुरियर्तीति वा मुहूर्तः, पृषोदरादित्वादिष्टरूपसिद्धिः, घटिकाद्वयप्रमाणः कालः, मुहूर्तस्यान्तर्-मध्यं मुहूर्तान्तः, अन्तर्मुहूर्तप्रमाणा जघन्या स्थिति-र्भवति । इह च "सेसएसु" इत्यत्र ककारः स्वार्थिक इति । तथेहाबाधाकालः कर्मणोऽनुदयलक्षणो य उत्तराः प्रकृतीरुद्दिश्य "एवइयाबाह वाससया" (गा० ३२) इति गाथावयवेन वक्ष्यते स एव तदनुसारतो मूलप्रकृतिष्वपि द्रष्टव्यः । तत्र ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां त्रीणि वर्षसहस्राणि अबाधा द्रष्टव्या, बद्धमपीत्यमेतत् कर्म वर्षसहस्रत्रयं यावद् विपाकोदयलक्षणां बाधां न करोतीत्यर्थः । तया च वर्षसहस्रत्रयलक्षणयाऽबाधया ऊना-हीना कर्मस्थितिः कर्मनिषेको द्रष्टव्यः । निषेको नाम—प्रथमसमये बहु द्वितीयसमये हीनं तृतीयसमये हीनतरं ततो हीनतमं कर्मदलिकं रच्यते [3]यत्र स एवम्भूतः कर्मदलिकरचनाविशेष उच्यते । अबाधां विहाय तत ऊर्ध्वं वेदनार्थं

---

१ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु समग्रेषु पुस्तकादर्शेषु "०कर्मणि उत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिकोटिकोटयः सागरोपमाणाम्, तथा गोत्रेऽपि उत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिकोटीकोटयः सागरोपमाणाम्" इत्येवंरूपः पाठः ॥ २ अस्मत्पार्श्ववर्तिनीषु समस्वपि प्रतिषु "०युषि उत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशद् 'उदधयः' सागरोपमाणि सुरायुषि चोत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशद् 'उदधयः' सागरोपमाणि भवन्तीति" इत्येवंरूपः पाठः ॥ ३ सं० १-२ छा० त० म० ०त्र एव० ॥

मृदु-लघु-स्निग्ध-उष्ण-सुरभिगन्ध-श्वेतवर्ण-मधुररसलक्षणानां सप्तानां प्रकृतीनां वर्षसहस्रमेकमबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । हारिद्रवर्णा-ऽम्लरसयोः सार्धद्वादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । लोहितवर्ण-कषायरसयोः पञ्चदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । नीलवर्ण-कटुकरसयोः सार्धसप्तदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । कृष्णवर्ण-तिक्तरसयोर्वर्षसहस्रद्वयमबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । तथा प्रशस्तविहायोगति-उच्चैर्गोत्र-सुरगति-सुरानुपूर्वी-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशः-कीर्ति-पुरुषवेद-हास्य-रतिलक्षणानां त्रयोदशप्रकृतीनामेकं वर्षसहस्रमबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । मिथ्यात्वस्य सप्त वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वी-स्त्रीवेद-सातवेदनीयलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनां पञ्चदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । तथा भय-जुगुप्सा-ऽरति-शोक-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-नरकगति-नरकानुपूर्वी-नीचैर्गोत्र-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघाता-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थावर-एकेन्द्रियजाति-पञ्चेन्द्रियजाति-नपुंसकवेदा-ऽप्रशस्तविहायोगति-उच्छ्वास-उद्योता-ऽऽतप-पराघात-गुरु-कर्कश-रूक्ष-शीत-दुरभिगन्धलक्षणानां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां द्वे वर्षसहस्रे अबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक इति ॥३२॥

> गुरु कोडिकोडिअंतो, तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
> लहुठिइ संखगुणूणा, नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥३३॥

स्थितिशब्दस्योत्तरपदस्थस्येहापि सम्बन्धाद् 'गुरुः' गरीयसी—उत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमाणां कोटीकोटया अन्तर्-मध्ये "तित्थाहाराण" त्ति तीर्थकरनामा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहाराकाङ्गोपाङ्गलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां भवतीति शेषः । किमुक्तं भवति ?—तीर्थकरनाम्न आहारकद्विकस्य च सागरोपमाणामन्तःकोटीकोटीप्रमाण एवोत्कृष्टः स्थितिबन्धकालो भवति नोपरिष्टादिति । "भिन्नमुहु बाह" त्ति प्राकृतत्वादकारलोपे भिन्नमुहूर्तम्—अन्तर्मुहूर्तमात्रमेव कालम् 'अबाधा' अनुदयावस्था उत्कृष्टा, जघन्याऽप्यन्तर्मुहूर्तमात्रैव, ततः परं दलिकरचनायाः सद्भावेनावश्यं प्रदेशोदयस्य सम्भवादिति । केचित् "तीर्थकरनामकर्म अन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं कस्यचित् प्रदेशत उदेति, तदुदये चाइैश्वर्यादय ऋद्धिविशेषा अन्यजीवेभ्यो विशिष्टतरास्तस्य सम्भवन्तीति सम्भावयामः" इति व्याचक्षते । उत्कृष्टा तीर्थकरा-ऽऽहारकयोः स्थितिरुक्ता । अथैतयोरेव जघन्यां स्थितिमाह—"लहुठिइ संखगुणूण" त्ति लघुस्थितिस्तीर्थकरा-ऽऽहारकयोः सङ्ख्येन-सङ्ख्यातकाललक्षणेन गुणेन-गुणकारेण ऊना—हीना सङ्ख्यगुणोना, उत्कृष्टस्थितिबन्धकाल एव सागरोपमान्तःकोटीकोटीरूपः

आदितो द्वीन्द्रियादीनामसंज्ञिपर्यन्तानां प्रायोग्यस्थितितया भवति तान् गुणकारानुत्तरार्धेनाह–"कमसो पणवीसाए" इत्यादि । 'क्रमशः' क्रमेण यथासङ्ख्यमित्यर्थः पञ्चविंशत्या सङ्गुणितः, प्राकृतत्वाद् विभक्तिलोपे पञ्चाशता सङ्गुणितः, शतेन सङ्गुणितः, सहस्रेण सङ्गुणितः ॥३७॥

ततः किम् ? इत्याह–

> विगलि असन्निसु जिट्ठो, कणिट्ठओ पल्लसंखभागूणो ।
> सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभवं ॥ ३८ ॥

'विकलेषु' विकलेन्द्रियेषु-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियेषु 'असंज्ञिषु' सम्मूर्च्छजपञ्चेन्द्रिय-तिर्यङ्-मनुष्येषु 'ज्येष्ठः' उत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति । इयमत्र भावना–एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः सागरोपमसप्तभागत्रयादिकः पञ्चविंशत्या संगुणितो द्वीन्द्रियाणां ज्येष्ठः संभवत्सर्व-प्रकृतीरुद्दिश्य स्थितिबन्धो भवति, स एवैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः पञ्चाशता सङ्गुणित-त्रीन्द्रियाणां ज्येष्ठः स्थितिबन्धो भवति, स एवैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः शतेन सङ्गुणित-चतुरिन्द्रियाणां ज्येष्ठः स्थितिबन्धः, सहस्रेण गुणितोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां स्वप्रायोग्यसर्वप्रकृती-रधिकृत्य ज्येष्ठः स्थितिबन्धो भवतीति । द्वीन्द्रियादीनामेव जघन्यस्थितिबन्धमानमाह–"कणि-ट्ठओ पल्लसंखभागूणु" त्ति पल्यस्य–पल्योपमस्य सङ्ख्यभागेन–सङ्ख्याततमभागेन ऊनः–न्यूनः उत्कृष्ट एव स्थितिबन्धः 'कनिष्ठकः' जघन्यस्थितिबन्धो भवति । एतदुक्तं भवति–द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामात्मीय आत्मीय उत्कृष्ट स्थितिबन्ध पल्योपम-सङ्ख्येयभागहीनः कनिष्ठबन्धो भवति । आयुश्चतुष्टयस्य जघन्यस्थितिमानमाह–'सुरनारकायुषोः' सुर-नारकायुष्कयोः समाः–वर्षाणि तासां दश सहस्राणि समादशसहस्राणि दशवर्षसहस्राणीत्यर्थः जघन्या स्थितिर्भवतीति प्रक्रमः । "सेसाउ खुड्डभवं" ति 'शेषायुषोः' तिर्यङ्-मनुष्यायुष्कयोः 'खुड्डभवं" ति क्षुल्लकः--सर्वभवापेक्षया लघीयान् लिङ्गव्यत्ययाद् भवः–जन्म क्षुल्लकभवः स जघन्या स्थितिर्भवतीति ॥ ३८ ॥

प्ररूपिता जघन्यस्थितिः । इदानीं सर्वोत्तरप्रकृतीः प्रतीत्य जघन्याबाधामाह—

> सव्वाण वि लहुबंधे, भिन्नमुहु अबाह आउजिट्ठे वि ।
> केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू बिंति आहारं ॥३९॥

'सर्वासामपि' सर्वप्रकृतीनां--विंशत्युत्तरशतसङ्ख्यानामपि 'लघुबन्धे' जघन्यस्थितिबन्धे 'भिन्न-मुहूर्तम्, अन्तर्मुहूर्तम् 'अबाधा' अनुदयकालः । किं सर्वप्रकृतीनां जघन्यबन्ध एवेयं जघन्याऽ-बाधा ? आहोश्विदस्ति कासाञ्चिदियमुत्कृष्टेऽपि ? इत्याह—"आउजिट्ठे वि" आयुषां--ज्येष्ठेऽपि

संज्वलनरहितकषायद्वादशकस्य जघन्यस्थितितया बोद्धव्याः । नोकषायमोहनीयस्य तु वर्गोत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः, तस्याश्च मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धौ द्वौ सागरोपमसप्तभागौ $\frac{2}{7}$ तौ च पल्योपमासङ्ख्येयभागोनौ पुरुषवेदवर्जानामष्टानां नोकषायाणां जघन्यस्थितितयाऽवसेयौ । नाम-गोत्रयोश्च प्रत्येकं विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यो वर्गोत्कृष्टा स्थितिः तस्याश्च मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धौ द्वौ सागरोपमसप्तभागौ $\frac{2}{7}$, तौ च पल्योपमासङ्ख्येयभागोनौ देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-तीर्थकर-यशःकीर्तिवर्जानां नाम्नः शेषसप्तपञ्चाशत्प्रकृतीनां नीचैर्गोत्रस्य च जघन्यस्थितितया बोद्धव्याविति ॥ ॥३६॥

उक्ता सर्वप्रकृतीनां जघन्या स्थितिः । इदानीमेकेन्द्रियाणां सर्वस्वप्रायोग्योत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टां जघन्यां च स्थितिमाह—

अयमुक्कोसो गिंदिसु, पलियासंखंसहीण लहुबंधो ।
कमसो पणवीसाए, पन्ना-सय-सहससंगुणिओ ॥ ३७ ॥

'अयम्' इत्यनन्तरोद्दिष्टो वर्गोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धसप्तभागरूप उत्कृष्टस्थितिबन्ध एकेन्द्रियेषु ज्ञातव्यः । तथाहि—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-वेदनीयद्विका-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामेकविंशतिप्रकृतीनां त्रयः सागरोपमसप्तभागाः $\frac{3}{7}$, यत एतासां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते त्रयः सागरोपमसप्तभागा लभ्यन्ते इति । एवमन्यत्रापि भागभावना कार्या । ततश्च मिथ्यात्वस्य [illegible] सागरोपमसप्तभागाः $\frac{7}{7}$, कषायषोडशकस्य चत्वारः सागरोपमसप्तभागाः $\frac{4}{7}$, नोकषायनवकस्य द्वौ सागरोपमसप्तभागौ $\frac{2}{7}$, एकेन्द्रियबन्धयोग्यदेवगति-देवानुपूर्वी नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-[illegible]-ऽऽहारकद्विक-तीर्थकरवर्जानां शेषाणां नाम्नोऽष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां गोत्रद्वयस्य च [illegible] द्वौ द्वौ सागरोपमसप्तभागाविति । उक्त एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टस्थितिबन्धः । इदानीं [illegible] [illegible] बन्धमाह—

[illegible] इत्यादि । पल्यस्य—पल्योपमस्यासङ्ख्यांशेन—असङ्ख्येयभागेन हीनः [illegible] [illegible] उत्कृष्टस्थितिबन्धः सप्तभागत्रयादिकः, किम् ? इत्याह—[illegible] [illegible] भवति । अयमभिप्रायः—यासां प्रकृतीनां [illegible] [illegible] स्थितिबन्ध [illegible] [illegible] सप्तभागरूप [illegible] [illegible] [illegible] इति । [illegible] एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टा [illegible] [illegible] [illegible] एकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धो [illegible]

उक्तो भागहारको राशिः । अधुना भाज्यस्य मुहूर्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशेः प्रमाणमाह—

"पणसट्ठि" इत्यादि । विभक्तिलोपात् पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्चशतानि 'षट्त्रिंशानि' षट्त्रिंशदधिकानि, अङ्कतोऽपि ६५५३६, एकमुहूर्ते क्षुल्लकभवाः, एकमुहूर्तक्षुल्लकभवग्रहणानि भवन्तीत्यर्थः । पञ्चषष्टिसहस्रपञ्चशतषट्त्रिंशदधिकलक्षणस्य मुहूर्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशेर्भाज्यस्य मुहूर्तगतप्राणापानराशिना त्रिसप्तत्यधिकसप्तत्रिंशच्छतप्रमाणेन भागे हृते सति यद् लभ्यते तद् एकत्र प्राणापाने क्षुल्लकभवग्रहणप्रमाणं भवतीति । तानि तु सप्तदश १७ । तथा यैर्भागहाराङ्कमानैरंशैः क्षुल्लकभवग्रहणं भवति ते त्वत्रैकत्र प्राणापानेऽष्टादशस्यापि क्षुल्लकभवग्रहणस्यांशाः पञ्चनवत्यधिकत्रयोदशशतप्रमाणा अवशिष्यन्ते, अष्टसप्तत्यधिकत्रयोविंशतिशतानि चांशानां न पूर्यन्ते इति । स्थापना— । १७, अंशाः-१३९५, शेषांशाः-२३७८ । अतो यदुक्तम्—"सत्तरस समहिया किर, इगाणुपाणुम्मि हुंति खुड्डभवा" इति तत् युक्तमिति । क्षुल्लकभवग्रहणं च सर्वेषामप्यौदारिकशरीरिणां भवतीत्यवसेयम्, भगवत्यामेवमेवोक्तत्वात्, कर्मप्रकृत्यादिषु औदारिकशरीरिणां तिर्यङ्-मनुष्याणामायुषो जघन्यस्थितेः क्षुल्लकभवग्रहणरूपायाः प्रतिपादनाच्च । यत् पुनरावश्यकटीकायां क्षुल्लकभवग्रहणं वनस्पतिष्वेव प्राप्यत इत्युक्तं तन्मतान्तरमित्यवसीयत इति । साम्प्रतमेकस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणे आवलिकाद्वारेण कालमानं निरूपयितुकामो यावत्य आवलिका एकस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणे भवन्त्येतदेवाह—"आवलियाणं दो सय" इत्यादि । 'आवलिकानां' [1]असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमिइसमागमेण सा एगा आवलिय त्ति वुच्चइ । (अनुयो० पत्र-१७८-२) इत्यागमप्रतिपादितस्वरूपाणां द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके भवतः 'एकक्षुल्लकभवे' एकक्षुल्लकभवग्रहण इति ॥ ४१ ॥

प्रतिपादितं स्थितिबन्धप्रसङ्गागतं क्षुल्लकभवग्रहणप्रमाणम् । उक्त उत्कृष्टस्थितिबन्धो वैक्रियषट्कवर्जो जघन्यस्थितिबन्धश्च सर्वाः प्रकृतीराश्रित्य । सम्प्रत्येता एव प्रकृतीः प्रतीत्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो निरूपयन्नाह—

अविरयसम्मो तित्थं, आहारदुगामराउ य पमत्तो ।
मिच्छद्दिट्ठी बंधइ, जिट्ठठिइं, सेसपयडीणं ॥४२॥

'अविरतसम्यक्त्वः' अविरतसम्यग्दृष्टिः "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायाद् मनुष्यः पूर्वं नरकबद्धायुष्को नरकं जिगमिषुरवश्यं मिथ्यात्वं यत्र समये प्रतिपद्यते ततोऽनन्तरेऽर्वाक्स्थितिबन्धे "तित्थं" ति तीर्थकरनाम उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति, " [2]तित्थयरं पि मणूसो,

---

१ असंख्येयानां समयानां समुदयसमितिसमागमेन सा एका आवलिकेत्युच्यते ॥ २ तीर्थकरमपि मनुष्योऽविरतसम्यक्त्वः समर्जयति ॥

प्रस्तुतप्रकृतिषट्कस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टां स्थितिं रचयन्ति । अत्र च सामान्योक्तावपि सेवार्तसंहनन-औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धका देवा ईशानादुपरितनसनत्कुमारादय एव द्रष्टव्या नेशानान्ता देवाः, ते हि तत्प्रायोग्यसंक्लेशे वर्तमानाः प्रकृतप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटीलक्षणां मध्यमामेव स्थितिं रचयन्ति । अथ सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा गृह्यन्ते तर्ह्येकेन्द्रियप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयुः, न चैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धे एते प्रकृती बध्येते, तेषां संहननोपाङ्गाभावात् , "[1]सुरनेरइया एगिंदिया य सव्वे असंघयणी" (जिनभ० सं० गा० १६४) इति वचनात् । सनत्कुमारादिदेवाः पुनः सर्वसंक्लिष्टा अपि पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यमेव बध्नन्ति नैकेन्द्रियप्रायोग्यम् , तेषामेकेन्द्रियेषूत्पत्त्यभावात् । तस्मात् प्रस्तुतप्रकृतिद्विकस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं सर्वसंक्लिष्टाः सनत्कुमारादय एव बध्नन्ति नाधस्तना देवा इति ।

तदेवं जिननामा-ऽऽहारकद्विक--देवायुः--विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकाऽऽयुष्कत्रिक--देवद्विक-वैक्रियद्विक-नरकद्विक-एकेन्द्रियजाति-स्थावरनामा-ऽऽतपनाम-तिर्यग्द्विकऔदारिकद्विक-उद्योतनाम-सेवार्तसंहननलक्षणानामष्टाविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन उक्ताः ।

शेषप्रकृतीनां तु का वार्ता ? इत्याशङ्क्याह-"सेस चउगइय" त्ति भणिताष्टाविंशतिप्रकृतिभ्यः 'शेषाणां' द्विनवतिसङ्ख्यप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टयश्चतुर्गतिका अप्युत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति । तत्रैतासु मध्ये वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघात-भय-जुगुप्सा-मिथ्यात्व-कषायषोडशक-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवका ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पूर्वव्यावर्णितस्वरूपाणां तथाऽध्रुवबन्धिनीनामपि मध्येऽसाता-ऽरति-शोक-नपुंसकवेद-पञ्चेन्द्रियजाति-हुण्डसंस्थान-पराघात-उच्छ्वासा-ऽशुभविहायोगति-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येका-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुःस्वर-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति-नीचैर्गोत्रलक्षणानां च विंशतेः प्रकृतीनां सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टां स्थितिं चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति । शेषाणां त्वध्रुवबन्धिनीनां सात-हास्य-रति-स्त्री-पुंवेद-मनुष्यद्विक-सेवार्तवर्जसंहननपञ्चक-हुण्डवर्जसंस्थान-पञ्चक-प्रशस्तविहायोगति-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा ऽऽदेय-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां तद्बन्धकेषु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टाश्चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टय उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्तीति । उक्ता उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः ।

अथ जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन आह-"आहारजिणमपुव्वो" इत्यादि । आहारकद्विकं जिननाम "लहुं" ति 'लघुस्थितिकं' जघन्यस्थितिकं करोतीति शेषः । कः ? इत्याह-"अपुव्वु"

१ सुरनैरयिका एकेन्द्रियाश्च सर्वेऽसंहननाः ॥

बध्नन्ति; तिर्यङ्-मनुष्यायुषोरपि देवकुर्वादिप्रायोग्य उत्कृष्टस्त्रिपल्योपमलक्षणः स्थितिबन्धः प्रकृतः, तत्र च देव-नारका भवप्रत्ययादेव नोत्पद्यन्ते इत्येतद्बन्धोऽप्यमीषां न सम्भवति; तस्मादेते तिर्यङ्-मनुष्यायुषी उत्कृष्टस्थितिके पूर्वकोट्यायुषस्तिर्यङ्-मनुष्या मिथ्यादृष्टयस्तत्प्रायोग्यविशुद्धाः स्वायुस्त्रिभागाद्यसमये वर्तमाना बध्नन्ति; सम्यग्दृष्टेरतिविशुद्धमिथ्यादृष्टेश्च देवायुर्बन्धः स्यादिति मिथ्यादृष्टित्व-तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वविशेषणद्वयम् । नारकायुषः पुनरेत एव तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा वाच्याः, अत्यन्तशुद्धस्यात्यन्तसंक्लिष्टस्य चायुर्बन्धस्य सर्वथा निषेधादिति । नरकद्विक-वैक्रियद्विकयोस्त्वेत एव सर्वसंक्लिष्टाः पूर्वोक्तोत्कृष्टस्थितेर्बन्धका वाच्याः । विकलजातित्रिक-सूक्ष्मत्रिकयोस्तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा द्रष्टव्याः, अतिसंक्लिष्टा हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमुल्लङ्घ्य नरकप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयुः; विशुद्धास्तु विशुद्धितारतम्यात् पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं वा मनुष्यप्रायोग्यं वा देवप्रायोग्यं वा रचयेयुरिति तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणम् । देवद्विकस्यापि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा द्रष्टव्याः, अतिसंक्लिष्टानामधोवर्तिमनुष्यादिप्रायोग्यबन्धप्रसङ्गात् , विशुद्धौ पुनरुत्कृष्टबन्धाभावादिति भाविताः पञ्चदशापि प्रकृतयः । तथा एकेन्द्रियजाति-स्थावरनामा-ऽऽतपनामलक्षणस्य प्रकृतित्रिकस्य 'आ ईशानाद् ' ईशानदेवलोकमभिव्याप्य 'सुराः' देवाः, कोऽर्थः ? भवनपतयो व्यन्तरा ज्योतिष्काः सौधर्मेशानदेवाः "उक्कोसं" ति उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति । तथाहि— ईशानादुपरितनदेवा नारकाश्च एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यन्त इत्येकेन्द्रियप्रायोग्याण्येतानि न बध्नन्त्येवेति तन्निषेधः, तिर्यङ्-मनुष्यास्त्वेतावति संक्लेशे वर्तमाना एतद्बन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमेव बध्नन्तीति तेषामपि निषेधः, ईशानान्तास्तु देवाः सर्वसंक्लिष्टा अप्येकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, अतस्त एव स्थावर-एकेन्द्रिया-ऽऽतपलक्षणप्रकृतित्रयस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तीति ॥ ४३ ॥

तिरिउरलदुगुज्जोयं, छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया ।
आहारजिणमपुव्वोऽनियट्टि संजलण पुरिस लहुं ॥४४॥

द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् तिर्यग्द्विकं—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूपम् , औदारिकद्विकम्—औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम् , उद्योतनाम सेवार्तसंहनननाम इत्येतासां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिं सुर-नारका बध्नन्ति, सर्वत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् , न मनुष्य-तिर्यञ्चः, ते हि तद्बन्धार्हसंक्लेशे वर्तमाना एतासां षट्प्रकृतीनामुत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटिलक्षणामेव मध्यमां स्थितिमुपरचयन्ति, अथाऽभ्यधिकसंक्लेशे वर्तमाना गृह्णन्ते तर्हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमुपरचयेयुः, देव-नारकास्तु सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा अपि तिर्यग्गतिप्रायोग्यमेव बध्नन्ति न नरकगतिप्रायोग्यम् , तत्र तेषामुत्पत्त्यभावात्; तस्माद् देव-नारका एव सर्वसंक्लिष्टाः

कृष्टां वा कुर्वन्तीति तेऽपीहोपेक्षिताः । "सन्नी वि आउ" त्ति संज्ञी अपिशब्दाद् असंज्ञी गृह्यते, ः संज्ञी असंज्ञी वा आयुश्चतुःप्रकारमपि जघन्यस्थितिकं करोति । तत्र देव-नारकायुषोः पञ्चेन्द्रि- तेर्यङ् मनुष्याः, मनुष्य-तिर्यगायुषोः पुनरेकेन्द्रियादयो जघन्यस्थितिकर्तारो द्रष्टव्याः । उक्ताः ात्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः ।

शेषाणामाह—"बायरपज्जेगिंदी उ सेसाणं" ति 'शेषाणां' भणितोद्धरितानां-निद्रापञ्चका- ातवेदनीया-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्काऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क--नपुं-- कवेद-स्त्रीवेद-हास्यादिषट्क-मिथ्यात्व-मनुष्यगति-तिर्यग्गति-जातिपञ्चक-औदारिकशरीर-औदा- रिकाङ्गोपाङ्ग-तैजस कार्मण-संहननषट्क-संस्थानषट्क-वर्णचतुष्क-मनुजानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी-प्रश- ाऽप्रशस्तविहायोगति-पराघात-उच्छ्वासा-ऽऽतप उद्योताऽगुरुलघु- निर्माण--उपघात-त्रसनवक- ावरदशक-नीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चाशीतेः प्रकृतीनां बादरः पर्याप्तस्तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्ध एके- द्रियः पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनसागरोपमद्विसप्तभागादिकां जघन्यां स्थितिं करोति । अन्ये केन्द्रियास्तथाविधविशुद्ध्यभावात् बृहत्तरां स्थितिमुपकल्पयन्ति । विकलेन्द्रिय पञ्चेन्द्रियेषु द्धिरधिकाऽपि लभ्यते केवलं तेऽपि स्वभावादेव प्रस्तुतप्रकृतीनां महतीं स्थितिमुपरचयन्तीति पपरिहारेण यथोक्तैकेन्द्रियस्यैव ग्रहणमिति ॥४५॥

प्रतिपादितं जघन्यस्थितिबन्धमाश्रित्य स्वामित्वम् । अथ स्थितिबन्ध एवोत्कृष्टानुत्कृष्टादि- ङ्गकान् विचारयितुमाह—

उक्कोसजहन्नेयर, भंगा साई अणाइ धुव अधुवा ।
चउहा सग अजहन्नो, सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥४६॥

बन्धशब्दः प्रक्रमाद् लभ्यते, तत उत्कृष्टबन्धः १ जघन्यबन्धः २ "इयर" त्ति उत्कृष्टबन्ध- तिपक्षोऽनुत्कृष्टबन्धः ३ जघन्यबन्धप्रतिपक्षोऽजघन्यबन्धः ४ इति चत्वारो भङ्गाः । तत्र तोऽन्यो बृहत्तरबन्धो नास्ति स उत्कृष्टबन्धः, ततोऽधस्तात् समयहानिमादौ कृत्वा यावद् जघन्य- न्धस्तावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्टबन्ध इत्युत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टप्रकाराभ्यां सर्वे स्थितिविशेषाः सङ्गृहीताः । स्मादन्यो हीनतरबन्धो नास्ति स जघन्यबन्धः, ततः परं समयवृद्धिमादौ कृत्वा यावद् उत्कृष्ट- तावत् सर्वोऽप्यजघन्यबन्ध इति जघन्या-ऽजघन्यप्रकाराभ्यां वा सर्वेऽपि स्थितिविशेषाः सङ्गृ- ताः । अथवाऽन्यथा बन्धस्य चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा—सादिबन्धः १ अनादिबन्धः २ ध्रुव- न्धः ३ अध्रुवबन्धः ४ चेति । तत्र यः पूर्वं व्यवच्छिन्नः पश्चात् पुनरपि भवति स सादिर्बन्धः । स्त्वनादिकालात् सन्तानभावेन प्रवृत्तो न कदाचिद् व्यवच्छिन्नः सोऽनादिबन्धः । यः पुनरग्रेऽपि कदाचिद् व्यवच्छेदं प्राप्स्यति सोऽभव्यसम्बन्धी बन्धो ध्रुवः । यः पुनरायत्यां कदाचिद् व्यवच्छेदं ाप्स्यति स भव्यसम्बन्धी बन्धोऽध्रुवबन्धः ।

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] स्थितिमेवं

[illegible] ते चासंज्ञिपञ्चे-

न्द्रिया जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनामपि, यदुक्तम्—

वेउव्विछक्कि तं सहसताडियं जं असण्णिणो तेसिं ।
पलियासंखंसूणं, ठिई अबाहूणिय निसेगो ॥ (पञ्चसं० गा० २५६)

अस्या अक्षरगमनिका—"वग्गुक्कोसठिईणं मिच्छत्तुक्कोसियाइ" (कर्मप्रकृ० गा० ७९) इत्यनेन करणेन यद् लब्धं तत् 'सहस्रताडितं' सहस्रगुणितं ततः पल्योपमासंख्येयांश-भागेन न्यूनं सद् 'वैक्रियषट्के' देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणे जघन्यस्थितेः परिमाणमवसेयम् । कुतः ? इत्याह—'यद्' यस्मात् कारणात् 'तेषां' वैक्रियषट्कलक्षणानां कर्मणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव जघन्यस्थितिबन्धकाः, ते च जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नति न न्यूनाम् । अन्तर्मुहूर्तमबाधा, अबाधाहीना च कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेक इति ॥

किञ्च एताः षट् प्रकृतयो यथासम्भवं नरक-देवलोकप्रायोग्या बध्यन्ते । तत्र च देव-नारका-ऽसंज्ञिमनुष्य-एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिया नरकेषु देवलोकेषु [च] नोत्पद्यन्त एवेति तेषा-मेतद्बन्धासम्भवः । तिर्यङ्-मनुष्यास्तु संज्ञिनः स्वभावादेव प्रकृतप्रकृतिषट्कस्य स्थितिं मध्यमा-

त्कृष्टां वा कुर्वन्तीति तेऽपीहोपेक्षिताः । "सन्नी वि आउ" त्ति संज्ञी अपिशब्दाद् असंज्ञी गृह्यते, ततः संज्ञी असंज्ञी वा आयुश्चतुःप्रकारमपि जघन्यस्थितिकं करोति । तत्र देव-नारकायुषोः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् मनुष्याः, मनुष्य-तिर्यगायुषोः पुनरेकेन्द्रियादयो जघन्यस्थितिकर्तारो द्रष्टव्याः । उक्ताः त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः ।

शेषाणामाह—"बायरपज्जेगिंदी उ सेसाणं" ति 'शेषाणां' भणितोद्धरितानां-निद्रापञ्चका-ऽसातवेदनीया-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क-नपुंसकवेद-स्त्रीवेद-हास्यादिषट्क-मिथ्यात्व-मनुष्यगति-तिर्यग्गति-जातिपञ्चक-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-तैजस कार्मण-संहननषट्क-संस्थानषट्क-वर्णचतुष्क-मनुजानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी-प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगति-पराघात-उच्छ्वासा-ऽऽतप उद्योता-ऽगुरुलघु- निर्माण--उपघात-त्रसनवक-स्थावरदशक-नीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चाशीतेः प्रकृतीनां बादरः पर्याप्तस्तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्ध एकेन्द्रियः पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनसागरोपमद्विसप्तभागादिकां जघन्यां स्थितिं करोति । अन्ये त्वेकेन्द्रियास्तथाविधविशुद्ध्यभावात् बृहत्तरां स्थितिमुपकल्पयन्ति । विकलेन्द्रिय पञ्चेन्द्रियेषु शुद्धिरधिकाऽपि लभ्यते केवलं तेऽपि स्वभावादेव प्रस्तुतप्रकृतीनां महतीं स्थितिमुपरचयन्तीति शेषपरिहारेण यथोक्तैकेन्द्रियस्यैव ग्रहणमिति ॥४५॥

प्रतिपादितं जघन्यस्थितिबन्धमाश्रित्य स्वामित्वम् । अथ स्थितिबन्ध एवोत्कृष्टानुत्कृष्टादिभङ्गकान् विचारयितुमाह—

उक्कोसजहन्नेयर, भंगा साई अणाइ धुव अधुवा ।
चउहा सग अजहन्नो, सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥४६॥

बन्धशब्दः प्रक्रमाद् लभ्यते, तत उत्कृष्टबन्धः १ जघन्यबन्धः २ "इयर" त्ति उत्कृष्टबन्धप्रतिपक्षोऽनुत्कृष्टबन्धः ३ जघन्यबन्धप्रतिपक्षोऽजघन्यबन्धः ४ इति चत्वारो भङ्गाः । तत्र यतोऽन्यो बृहत्तरबन्धो नास्ति स उत्कृष्टबन्धः, ततोऽधस्तात् समयहानिमादौ कृत्वा यावद् जघन्यबन्धस्तावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्टबन्ध इत्युत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टप्रकाराभ्यां सर्वे स्थितिविशेषाः सङ्गृहीताः । यस्मादन्यो हीनतरबन्धो नास्ति स जघन्यबन्धः, ततः परं समयवृद्धिमादौ कृत्वा यावद् उत्कृष्टस्तावत् सर्वोऽप्यजघन्यबन्ध इति जघन्या-ऽजघन्यप्रकाराभ्यां वा सर्वेऽपि स्थितिविशेषाः सङ्गृहीताः । अथवाऽन्यथा बन्धस्य चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा—सादिबन्धः १ अनादिबन्धः २ ध्रुवबन्धः ३ अध्रुवबन्धः ४ चेति । तत्र यः पूर्वं व्यवच्छिन्नः पश्चात् पुनरपि भवति स सादिर्बन्धः । यस्त्वनादिकालात् सन्तानभावेन प्रवृत्तो न कदाचिद् व्यवच्छिन्नः सोऽनादिबन्धः । यः पुनरग्रेऽपि न कदाचिद् व्यवच्छेदं प्राप्स्यति सोऽभव्यसम्बन्धी बन्धो ध्रुवः । यः पुनरायत्यां कदाचिद् व्यवच्छेदं प्राप्स्यति स भव्यसम्बन्धी बन्धोऽध्रुवबन्धः ।

एवं "चउहा सग अजहन्नु" त्ति "सग" त्ति सप्तानां मूलप्रकृतीनां ज्ञानावरण दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणानां सम्बन्धिन्यः याः स्थितयस्तासां यः 'अजघन्यः' अजघन्यबन्धः सः 'चतुर्धा' चतुर्विकल्पः सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्चेति । तथाहि-एतासां प्रकृतीनां मध्ये मोहनीयस्य क्षपकानिवृत्तिबादरचरमस्थितिबन्धे जघन्यः स्थितिबन्धः प्राप्यते, शेषप्रकृतिषट्कस्य तु क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धेऽसौ लभ्यते, ततोऽन्यः सर्वोऽप्युपशमश्रेणावप्यजघन्यो भवति, उपशमकस्यापि क्षपकाद् द्विगुणबन्धकत्वादजघन्य एव भवतीति भावः। ततश्चोपशान्तमोहावस्थायामजघन्यबन्धस्याबन्धको भूत्वा यदा प्रतिपत्य पुनरपि प्रस्तुतप्रकृतिसप्तकस्याजघन्यं बध्नाति तदाऽजघन्यबन्धः सादिर्भवति, बन्धव्यवच्छेदानन्तरं तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् । उपशान्तमोहाद्यवस्थां चाऽप्राप्तपूर्वाणां बन्धव्यवच्छेदाभावेनाऽनादिकालान्निरन्तरं बध्यमानत्वादनादिः । अभव्यानां ध्रुवोऽभाविपर्यन्तत्वात् । भव्यानामध्रुवो भाविपर्यन्तत्वात्।

"सेसतिगे आउचउसु दुह" त्ति 'शेषत्रिके' जघन्यउत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टलक्षणे एतासां मूलप्रकृतीनां बन्धः "दुह" त्ति सादिरध्रुवश्च भवति । तथाहि-एतासां प्रकृतीनां मध्ये मोहनीयस्य क्षपकानिवृत्तिबादरचरमस्थितिबन्धे, शेषाणां तु क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे जघन्यो बन्धोऽनन्तरमेवोक्तः, स चाऽबद्धपूर्वोऽजघन्यबन्धादवतीर्य तत्प्रथमतया तस्मिन्नेव समये बध्यत इति सादिः, ततः परं क्षीणमोहाद्यवस्थायां सर्वथा न भवतीत्यध्रुव इति द्वावेव विकल्पौ सम्भवतो न शेषौ । उत्कृष्टन्तु त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिकः सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टिपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिये लभ्यते, स चानुत्कृष्टबन्धादवतीर्य कदाचिदेव बध्यते न सर्वदेति सादिः, अन्तर्मुहूर्तानन्तरं नियमादनुत्कृष्टं बध्नतोऽसौ निवर्तत इत्यध्रुवः, उत्कृष्टाच्च प्रतिपत्य अनुत्कृष्टं बध्नातीत्यनुत्कृष्टोऽपि सादिः, ततः परं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेन उत्कृष्टतस्त्वनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपर्यन्ते पुनरुत्कृष्टं बध्नतोऽनुत्कृष्टो निवर्तत इत्यध्रुव इति । एवमुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टेषु जीवाः परिभ्रमन्तीति [illegible] [illegible]सादिरध्रुवश्चावगन्तव्यः । "आउचउसु दुह" त्ति आयुश्चतुष्टये 'द्विप्रकारः' द्विविकल्पः सादिरध्रुवश्च बन्धो मन्तव्यः । आयुषो हि उत्कृष्टादिबन्धो वेद्यमानायुषस्त्रिभागादौ प्रतिनियतकाले [illegible] बध्यमानत्वात् सादिः, अन्तर्मुहूर्तोच्च परमवश्यमुपरमत इत्यध्रुव इति ॥४६॥

चउभेओ अजहन्नो, संजलणावरणनवगविग्घाणं ।
सेसतिगि साइअधुवो, तह चउहा सेसपयडीणं ॥४७॥

[illegible] दर्शनावरण-[illegible]-नाम-माया-लोभलक्षणानां चतुर्णाम् आवरणनवकस्य-ज्ञानावरण[illegible] [illegible] विघ्नानां पञ्चानां-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तराय[illegible] [illegible] सादि-अनादि-ध्रुवा-ऽध्रुवलक्षणचतुर्विकल्पो भवति [illegible] [illegible] उपशमश्रेणौ बन्धव्यवच्छेदं कृत्वा प्रतिपत्य [illegible]

बध्नतः सादिस्तद्बन्धः, तत्स्थानमप्राप्तपूर्वस्यानादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम् , अध्रुवो भव्यानामिति सर्वमिह पूर्ववदेव भावनीयम् । एतासामेव प्रकृतीनां "सेसतिगि साइअधुवु" त्ति 'शेषत्रिके' जघन्योत्कृष्टाऽनुत्कृष्टलक्षणे सादिरध्रुवश्च द्विविधो भवति । तथाहि–संज्वलनचतुष्टयस्य क्षपकानिवृत्तिबादरगुणस्थाने आत्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्यो बन्धो ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे जघन्यः । स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, तत ऊर्ध्वं न भवतीत्यध्रुवः । उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टेष्वप्यारोहणावतरणे कुर्वतां जन्तूनां साद्यध्रुवत्वं तथैव भावनीयमिति ।

"तह चउहा सेसपयडीणं" ति 'शेषप्रकृतीनां' भणिताष्टादशप्रकृतिभ्य उद्वरितानां द्व्युत्तरशतसङ्ख्यानां प्रकृतीनां चतुर्धा उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यलक्षणश्चतुर्विकल्पः "तह" त्ति सादिरध्रुवश्च भवति । तथाहि—निद्रापञ्चक–मिथ्यात्व–प्रथमद्वादशकषाय-भय-जुगुप्सा–तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का-ऽगुरुलघुउपघात-निर्माणलक्षणानामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां सर्वविशुद्धबादरपर्याप्तैकेन्द्रियो जघन्यस्थितिबन्धं विदधाति, ततोऽन्तर्मुहूर्तं संक्लिष्टो भूत्वा अजघन्यबन्धं करोति, ततस्तत्रैव भवे भवान्तरे वा विशुद्धिमासाद्य पुनरपि स एव जघन्यबन्धं निर्मापयतीत्येवं जघन्याऽजघन्ययोः परावृत्तिर्भवतीति द्वावप्येतौ जघन्याऽजघन्यौ सादि-अध्रुवौ भवतः । उत्कृष्टं बन्धं पुनरेतासां सर्वसंक्लिष्टपञ्चेन्द्रियो विदधाति, अन्तर्मुहूर्ताच्च पुनरपि अनुत्कृष्टबन्धं विरचयति, ततः पुनरपि कदाचिदुत्कृष्टमित्येवं परावृत्तिवशत एतावपि सादि-अध्रुवौ भवतः । शेषाणामध्रुवबन्धिनीनामौदारिकद्विक-वैक्रियद्विका--ऽऽहारकद्विक-संस्थानषट्क-संहननषट्क-जातिपञ्चक-गतिचतुष्क-विहायोगतिद्विका-ऽऽनुपूर्वीचतुष्टय-जिननाम-उच्छ्वासनाम-उद्योतनामा-ऽऽतपनाम-पराघात-त्रसदशक -स्थावर-दशक-उच्चैर्गोत्र-नीच्चैर्गोत्र-साता–ऽसातवेदनीय–हास्य--रति-अरति-शोक-वेदत्रिका ऽऽयुश्चतुष्टयलक्षणानां त्रिसप्ततिप्रकृतीनां जघन्यादिस्थितिबन्धः सर्वोऽप्यध्रुवबन्धित्वादेव सादिरध्रुवश्चेति ॥४७॥

निरूपिताः स्थितिबन्धे साद्यादिभङ्गाः । अधुना स्थितिमेव सामान्यतो गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

साणाइअपुव्वंते, अयरंतोकोडिकोडिओ नऽहिगो ।
बंधो न हु हीणो न य, मिच्छे भव्वियरसन्निम्मि ॥ ४८ ॥

प्राकृतत्वान्निर्देशस्य सास्वादनमादौ यस्य तत् सास्वादनादि, अपूर्वकरणमन्ते यस्य गुणस्थानककदम्बकस्य तद् अपूर्वान्तम् , सास्वादनादि च तद् अपूर्वान्तं च सास्वादनाद्यपूर्वान्तं तस्मिन् सास्वादनाद्यपूर्वान्ते गुणस्थानककदम्बकेऽतराणां–सागरोपमाणाम् अन्तर्-मध्ये कोटीकोटी अतरान्तःकोटीकोटी तस्या अतरान्तःकोटीकोटीतः, आद्यादेराकृतिगणत्वात् तसूप्रत्ययः, 'न'

[illegible]

सास्वादनादीनामित्यन्तः[illegible] । ननु [illegible]

“बंधेन न वोलइ कयाई” [illegible] भव्यादे-

रप्युत्कृष्टः स्थितिबन्धः [illegible] । [illegible] मिथ्या-

ग्रन्थिभिन्नस्य [illegible], [illegible] न भवति।

ननु सागरोपमान्तःकोटीकोटीतः [illegible] सास्वादनादीनां [illegible] अथ-

स्तात् ततो भवति वा न वा ? इत्याह—‘न हु’ नैव ‘हीनः’ न्यूनः सागरोपमान्तःकोटी-

कोटीतः सकाशात् स्थितिबन्धो भवति । [illegible] सास्वादनादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु

गुणस्थानकेषु सागरोपमान्तःकोटीकोटीप्रमाण[illegible], [illegible]त्यर्थः ।

ननु यदा एकेन्द्रियादिः सास्वादनगुणस्थानी भवति तदा सागरोपमस्यादिसप्तभागरूपमेव

स्थितिबन्धं विधत्ते, अतः सास्वादनाद्यपूर्वान्तेषु न हु हीनो बन्ध इति कथं घटाकोटीमाटीकते ?

सत्यमेतत् , केवलं कादाचित्कोऽसौ न सार्वदिक इति न तस्य विवक्षा कृतेति सम्भावयामि।

अपूर्वकरणात् परतोऽनिवृत्तिकरणादौ सागरोपमान्तःकोटीकोटीतोऽपि हीनः स्थिति-

बन्धो भवतीति सामर्थ्याद् गम्यते ।

अथ किं सास्वादनादिष्वेवान्तःसागरोपमकोटीकोटीतो हीनः स्थितिबन्धो न लभ्यते ?

आहोश्विन्मिथ्यादृष्टेरपि प्रतिविशिष्टस्य कस्यचिज्जन्तोः ? इत्याह—“न य मिच्छे भव्वियरसन्नि-

म्मि” त्ति ‘न च’ नैव “मिच्छे” त्ति मिथ्यादृष्टौ, संज्ञिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् भव्यश्चासौ संज्ञी

च भव्यसंज्ञी तस्मिन् भव्यसंज्ञिनि, इतरश्च—अभव्यः स चासौ संज्ञी चेतरसंज्ञी तस्मिन्नितरसंज्ञिनि

अभव्यसंज्ञिनीत्यर्थः, आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मप्रकृतीनां सागरोपमान्तःकोटीकोटीतो हीनो भवति।

भव्यसंज्ञी मिथ्यादृष्टिरिति ग्रहणाद् भव्यसंज्ञिनः कस्मिंश्चिद् गुणस्थानकेऽनिवृत्तिबादरादौ हीनोऽपि

बन्धो भवतीत्याचष्टे । संज्ञिग्रहणा[2]च्चाऽभव्येऽप्यसंज्ञिनि हीन एव, प्रतिनियतसप्तभागरूपाया एव,

प्रागसंज्ञिनः प्रतीत्य स्थितेर्भणनात् । अभव्यसंज्ञिनि तु सागरोपमान्तःकोटीकोटीतो हीनो बन्धो

---

१ बन्धेन न अतिक्रामति कदाचित् ।। २ त० च्चं भव्येऽप्य० ।।

न भवत्येव, यतो भिन्नग्रन्थिकस्यैव हीनो बन्धः स्यात्, अभव्यसंज्ञी चोत्कृष्टतोऽपि ग्रन्थि-प्रदेशमेवाभ्येति, तदनन्तरं ग्रन्थिं प्राप्य भूयोऽपि निवर्तते, निवर्त्य च प्रभूतं स्थितिबन्धं करोतीति ॥४८॥

निरूपितः सर्वगुणस्थानकेषु स्थितिबन्धः। साम्प्रतमेकेन्द्रियादिजीवानाश्रित्य स्थितिबन्धानामेवाल्पबहुत्वं गाथात्रयेणाह—

जइलहुबंधो बायर, पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जऽहिगो।
एसिं अपज्जाण लहू, सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू ॥४९॥

सर्वस्तोको यतिलघुबन्धो जघन्यस्थितिबन्ध इत्यर्थः, सूक्ष्मसम्पराये आन्तर्मौहूर्तिक एव भवतीति कृत्वा १। ततो यतिलघुस्थितिबन्धाद् बादरपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धोऽसङ्ख्यातगुणः २। ततः सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धः "अहिगु" त्ति विशेषाधिकः ३। ततः "एसिं" ति अनयोर्बादर-सूक्ष्मयोरपर्याप्तयोः "लघु" त्ति जघन्यस्थितिबन्धोऽधिको वाच्यः। अयमर्थः—ततः सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धाद् बादरापर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्य-स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ४, ततः सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः ५। "सुहुमेयरअपजपज्ज गुरु" त्ति ततः सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियस्य "गुरु" त्ति उत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ६, ततः "इयर" त्ति बादरापर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ७, ततः सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ८, ततो बादरपर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः ९ ॥४९॥

लहु बिय पज्जअपज्जे, अपजेयर बिय गुरू हिगो एवं।
ति चउ असन्निसु नवरं, संखगुणो बियअमणपज्जे ॥५०॥

ततः "लहु" त्ति 'लघुः' जघन्यः स्थितिबन्धः "बिय" त्ति द्वीन्द्रिये "पज्ज" त्ति पर्याप्ते वाच्यः। कियत्प्रमाणः? इत्याह—"संखगुणो बियअमणपज्जे" इति वचनात् सङ्ख्यातगुण इत्यर्थः। ततस्तस्मिन्नेवापर्याप्तेऽधिको लघुः स्थितिबन्धः, ततोऽपर्याप्तेतरद्वीन्द्रिये गुरुः स्थिति-बन्धोऽधिको वाच्यः। एवं द्वीन्द्रियोक्तप्रकारेण "ति" त्ति त्रीन्द्रिये पर्याप्ता-पर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ द्वौ, त्रीन्द्रिये एवापर्याप्त-पर्याप्ते द्वौ गुरुस्थितिबन्धौ वाच्यौ। "चउ" त्ति चतुरिन्द्रिये पर्याप्ता-पर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ द्वौ, चतुरिन्द्रिये एवापर्याप्त-पर्याप्ते गुरुस्थितिबन्धौ द्वौ वाच्यौ। "असन्निसु" त्ति असंज्ञिनि पर्याप्ता-ऽपर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ द्वौ, असंज्ञिनि एवापर्याप्त-पर्याप्ते गुरुस्थितिबन्धौ द्वौ वाच्यौ। किंप्रमाणाः पुनरेते स्थितिबन्धा वाच्याः? इत्याह—"अहिगु" त्ति 'अधिकाः' विशेषाधिका वाच्याः। किं सर्वेऽपि स्थितिबन्धा विशेषाधिका एव वाच्याः?

स्थितिस्तावत्समया भवन्ति तावत्प्रमाणा असङ्ख्येया द्रष्टव्याः, असत्कल्पनया च पञ्च दर्शिताः ।

तदेतत् स्यात्—इहैकस्थितिजनकान्यध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयानि परस्परं विचित्राण्यभ्युपगम्यन्ते, तद्वैचित्र्याभ्युपगमे च स्थितेरपि वैचित्र्यं प्राप्नोतीति, तदयुक्तम्, तानि एकस्थितिजनकान्यपि सन्ति क्षेत्र-काला-ऽनुभाग-योगादिवैचित्र्याद् विचित्राण्युच्यन्ते, न स्थितिमाश्रित्य, तेषामेकस्थितिजनकत्वाविशेषेण वैचित्र्यासिद्धेरित्यलमप्रस्तुतेन । प्रस्तुतमुच्यते—इह सर्वोत्कृष्टस्थितिजनकानि चरमपङ्क्तिनिदर्शितानि यानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि तेषां मध्ये यच्चरममध्यवसायस्थानं तदुत्कृष्टसंक्लेश उच्यते, तेषामेवाद्यमीषदुच्यते, उभयान्तरालवर्तीनि तु मध्यमानि, ततश्चैतैरीषन्मध्यमोत्कृष्टैः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरुत्कृष्टा स्थितिर्बध्यते । अथवा चरमस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानमुत्कृष्टसंक्लेश उच्यते, शेषाणि तु चरमपङ्क्तिनिदर्शितानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि ईषन्मध्यमान्युच्यन्ते, तैश्चरमपङ्क्तिनिदर्शितैः सर्वोत्कृष्टस्थितिजनकैः सर्वैरपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरुत्कृष्टा स्थितिर्जन्यत इति भावः । यदुक्तं बृहच्छतके ज्येष्ठस्थितिबन्धप्रस्तावे—

[1]उक्कोससंकिलेसेण ईसिमह मज्झिमेणावि ॥ (गा० ६२)

तत्रायं प्रस्तुतार्थः-सर्वासामपि प्रकृतीनां ज्येष्ठा स्थितिरशुभा, यस्मात् साऽतिसंक्लेशेनात्यन्ततीव्रकषायोदयेन बध्यते । एतदुक्तं भवति-सर्वासां शुभानामशुभानां च प्रकृतीनां स्थितयः संक्लेशवृद्धौ वर्धन्ते तदपचये तु हीयन्त इत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां संक्लेशमेव स्थितयोऽनुवर्तन्ते इत्यशुभाः, अशुभकारणनिष्पन्नत्वात्, अशुभवृक्षाशुभफलवत् । नन्वेवं तर्हि "ठिइ अणुभागं कसायओ कुणइ" (शत० गा० ११) इति वचनाद् अनुभागोऽपि कषायप्रत्यय एव, ततोऽयमप्यशुभकारणत्वाद् अशुभ एव प्राप्नोति, अथ च शुभप्रकृतीनामसौ शुभ एवेष्यत इति, नैवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, यतः सत्यपि हि कषायजन्यत्वे कषायवृद्धावनुभागोऽशुभप्रकृतीनामेव वर्धते शुभानां तु परिहीयत एव, कषायमन्दतया तु शुभप्रकृतीनामेवानुभागो वर्धतेऽशुभप्रकृतीनां तु हीयत इति न कषायमनुवर्तते ।

स्थितयस्तु शुभानामशुभानां च प्रकृतीनां कषायवृद्धौ नियमाद् वर्धन्ते तदपचये त्वपचीयन्त इत्येकान्तेन कषायान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वाद् अशुभा एवेति । यद्वा यथा यथा शुभप्रकृतीनां स्थितिर्वर्द्धते तथा तथा शुभानुभागस्तत्सम्बन्धी हीयते, परिगालितरसेक्षुयष्टिकल्पानि शुभकर्माणि भवन्तीत्यर्थः, अशुभप्रकृतीनां तु स्थितिवृद्धावशुभरसोऽपि तत्सम्बन्धी वर्धत एवेत्यतोऽपि कारणात् स्थितीनामेवाशुभत्वम्, तद्वृद्धेः शुभानुभागक्षयहेतुत्वाद् अशुभानुभागवृद्धिहेतुत्वाच्चेति ।

---

१ उत्कृष्टसंक्लेशेन ईषदथ मध्यमेनापि ॥

सर्वविरतिं परिपाल्य तथैव गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वयं विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि पूरयित्वा मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरितं द्वितीयषट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यग्दर्शनकालं वारत्रयमच्युतगमनेन पूरयति । इह च सम्यक्त्वात् प्रच्युतस्य मिश्रगमनं यद् उच्यते तत् कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण सम्मतमेवेति, सैद्धान्तिकानां तु न सम्मतमिति । उक्तं च—

'मिच्छत्ता संकंती, अविरुद्धा होइ सम्ममीसेसु ।
मिसाओ वा दोसु', सम्मा मिच्छं न उण मीसं ॥ (बृहत्क० भा० गा० ११४) इति ।

सर्वत्र च सम्यग्दर्शन-मिश्रयोर्वर्तमान एताः प्रकृतीर्न बध्नातीत्यनेन क्रमेणासां तिर्यक्त्रिक-नरकत्रिक-उद्योतलक्षणसप्तप्रकृतीनां नरभवयुतं चतुःपल्योपमाधिकं त्रिषष्ट्यधिकसागरोपमशतं परमा-प्रकृष्टा पञ्चेन्द्रियेष्वबन्धस्थितिः—अबन्धकाल इति । उक्तं च

'पलियाइं तिन्नि भोगावणिम्मि भवपच्चयं पलियमेगं ।
सोहम्मे सम्मत्तेण नरभवे सव्वविरईण ॥
मिच्छी भवपच्चयओ, गेविज्जे सागराइँ इगतीसं ।
अंतमुहुत्तूणाइं, सम्मत्तं तम्मि लहिऊणं ॥
विरयनरभवंतरिओ, अणुत्तरसुरो उ अयर छावट्ठी ।
मिस्सं मुहुत्तमेगं, फासिय मणुओ पुणो विरओ ॥
छावट्ठी अयराणं, अच्चुयए विरयनरभवंतरिओ ।
तिरिनरयतिगुज्जोयाण एस कालो अबंधम्मि' ॥

स्थावरचतुष्कं—स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त साधारणलक्षणम्, "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः, विकलाः—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातयः, आतपम् एतेषां द्वन्द्वः, तेषु, एतासु नवसु प्रकृतिषु पञ्चाशीत्यधिकं शतं पञ्चाशीतिशतम् "अतर" त्ति न तीर्यन्ते बहुकालतरणीयत्वाद् 'अतराणि' सागरोपमाणि, षष्ठ्यर्थे चात्र प्रथमा, यतः प्राकृते हि विभक्तीनां व्यत्ययोऽपि भवति, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे—"व्यत्ययोऽप्यासाम्" इति, तेषामतराणां "नरभवयुतं सचतुःपल्यम्" इत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्, ततश्चतुःपल्योपमाधिकं पञ्चाशीत्यधिकं सागरोपमशतं नरभवयुतमासामबन्धस्थितिः परमा । अयमर्थः—यथा किल कश्चिद् जन्तुस्तमो-

---

१ मिथ्यात्वात् सङ्क्रान्तिरविरुद्धा भवति सम्यक्त्वमिश्रयोः । मिश्राद्वा द्वयोः सम्यक्त्वाद् मिथ्यात्वं न पुनर्मिश्रम् ॥ २ पल्यानि त्रीणि भोगावनौ भवप्रत्ययं पल्यमेकम् । सौधर्मे सम्यक्त्वेन नरभवे सर्वविरत्या ॥ मिथ्यात्वी भवप्रत्ययाद् ग्रैवेयके सागराणि एकत्रिंशत् । अन्तर्मुहूर्त्तोनानि सम्यक्त्वं तस्मिंल्लब्ध्वा ॥ विरतिमन्नरभवान्तरितोऽनुत्तरसुरस्त्वतराणि षट्षष्टिम् । मिश्रं मुहूर्त्तमेकं स्पृष्ट्वा मनुष्यः पुनर्विरतः ॥ षट्षष्टिः अतराणां अच्युते विरतिमन्नरभावान्तरितः । तिर्यङ्-नरत्रिक-उद्योतानां एष कालोऽबन्धे ॥

द्वितीयादिस्थितिबन्धादारभ्य विशेषाधिकत्वमध्यवसायस्थानानां तावद् नेयं यावदुत्कृष्टः स्वकीयः स्वकीयः स्थितिबन्ध इति। तत्रायुष्केषु स्थितिबन्धे स्थितिबन्धेऽध्यवसायाः कियद्वृद्ध्या भवन्ति? इत्याह–"आउसु असंखगुण" त्ति आयुःषु चतुर्ष्वप्यसङ्ख्यातगुणिता अध्यवसाया भवन्ति। तद्यथा–आयुष्काणां चतुर्णामपि जघन्यस्थितावसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा अध्यवसायाः सर्वस्तोकाः, तेषामेव द्वितीयस्थितौ अध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, तेषामेव तृतीयस्थितावध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, तेषामेव चतुर्थस्थितावध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, एवमसङ्ख्यातगुणत्वं तावद् नेयं यावदायुषश्चरमस्थितिरिति ॥ ५५ ॥

प्ररूपिताः स्थितिबन्धमाश्रित्य सर्वकर्मणामध्यवसायाः। सम्प्रति यासां प्रकृतीनामेकचत्वारिंशत्सङ्ख्यानां पञ्चेन्द्रियेषु यावन्तं कालमुत्कृष्टतो बन्धो न भवति तास्तत्कालमानप्रदर्शनद्वारेण गाथाद्वयेन प्रतिपादयन्नाह—

> तिरिनरयतिजोयाणं, नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं ।
> थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥५६॥

सम्यग्दर्शनकालं वारत्रयमच्युतगमनेन पूरयति । तदेवमेतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां सम्यक्त्वान्वितस्य विजयादिगमनक्रमेण द्वात्रिंशं शतं ज्ञेयम् । तदुक्तम्—

[1]पणवीसाइ अबन्धो, उक्कोसो होइ सम्मगुणजुत्ते ।
बत्तीसं सयमयराण हुंति अहिया मणुस्सभवा ॥

एषामेकचत्वारिंशतः प्रकृतीनां यो योऽबन्धकालः प्रतिपादितः सम्भवति स एव यथाभूतो येषु जीवेषु भवतीत्येतदाह—"पणिंदिसु" इत्यादि । 'पञ्चेन्द्रियेषु' प्रदर्शितेष्वेव नर-नारकादिषु अबन्धस्थितिः' अबन्धनाद्धा 'परमा' प्रकृष्टोत्कृष्टा, न तु सर्वजीवेषु । उक्तं च—

[2]एयासिं पयडीणं, अबन्धकालो उ होइ सन्निस्स ।
उक्कोसो विन्नेओ, न उ सव्वजियाण एस विही ॥ इति ॥५७॥

साम्प्रतं पूर्वोदितद्वात्रिंशदधिक-त्रिषष्ट्यधिक-पञ्चाशीत्यधिकाऽतरशतसङ्ख्यापूरणोपायमाह—

विजयाइसु गेविज्जे, तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठं ।
पणसीइ सययबंधो, पल्लतिगं सुरविउव्विदुगे ॥५८॥

"दहिसय" त्ति उकारलोपात् उदधिशतं-सागरोपमशतम्, ततः प्रत्येकमुदधिशतशब्दस्य सम्बन्धः कार्यः । ततोऽयमर्थः—विजयादिषु गतस्य जीवस्येति शेषः, द्वात्रिंशमुदधिशतं भवति । तथा ग्रैवेयके विजयादिषु च गतस्य जीवस्य त्रिषष्ट्यधिकमुदधिशतं भवति । तथा "तमाइ" त्ति तमःप्रभायां षष्ठपृथिव्यां ग्रैवेयके विजयादिषु च गतस्य जीवस्य पञ्चाशीत्यधिकमुदधिशतं भवतीत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजितसंज्ञितेषु चतुर्ष्वपि विमानेषु मध्येऽन्यतरस्मिन् कस्मिंश्चिद् विमाने वारद्वयगमनेन एका षट्षष्टिः, ततः सम्यग्मिथ्यात्वान्तर्मुहूर्तेनान्तरिता पुनरच्युतदेवलोके वारत्रयगमनेनान्या षट्षष्टिः,

यदाह भाष्यसुधाम्भोधिः—

[3]दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिन्नऽच्चुए अहव ताइं ।
अइरेगं नरभवियं, नाणाजीवाण [4]सव्वद्धा ॥ (विशेषा० भा० गा० ४३६)

एवं च षट्षष्टिद्वयमीलने द्वात्रिंशं शतं सागरोपमाणां विजयादिषु पर्यटतो जन्तोः सम्पद्यत इति । तथा लोकपुरुषस्य ग्रीवायां भवानि विमानानि ग्रैवेयकाणि तेषु ग्रैवेयकेषु, जातावे-

१ पञ्चविंशत्या अबन्ध उत्कृष्टो भवति सम्यक्त्वगुणयुक्ते । द्वात्रिंशं शतमतराणां भवन्त्यधिका मनुष्यभवाः ॥ २ एतासां प्रकृतीनामबन्धकालस्तु भवति संज्ञिनः । उत्कृष्टो विज्ञेयो न तु सर्वजीवानामेष विधिः॥ ३ द्वौ वारौ विजयादिषु गतस्य त्रयोऽच्युतेऽथवा तानि । अतिरिक्तं नरभविकं नानाजीवानां सर्वाद्धा ॥ ४ भाष्ये तु—"सव्वद्धं" ॥

मुहूर्तमेव कालं यावत् परमः सततबन्धकालः, जघन्योऽपि चैतावानेवेति वक्ष्याम इति।

तथैकदेशे समुदायोपचाराद् 'औदारिके' औदारिकशरीरविषयेऽसङ्ख्याः-सङ्ख्यातिक्रान्ताः "परट्ट" त्ति परावर्ताः-पुद्गलपरावर्ता वक्ष्यमाणस्वरूपाः परमः सततबन्धकाल इति। इहापि जघन्यतः समयेकं सततबन्धः सविपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्त्वसङ्ख्येयपुद्गलपरावर्ताः। कथम्? यतो व्यावहारिकसत्त्वा अपि स्थावरकायमुपगताः कायस्थित्या इयन्तं कालं तिष्ठन्ति, न च तत्र वैक्रिया-ऽऽहारकयोस्तद्विपक्षयोर्बन्धोऽस्तीति तात्पर्यम्। तथा "सायठिई पुव्वकोडूण" त्ति सातस्य-सातवेदनीयस्य स्थितिः-स्थितिबन्धः सततबन्धकालः परमः पूर्वकोटिरूना-न्यूना भवति। इहापि जघन्यतः सातस्य समयमेकं बन्धः सविपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्तु देशोना पूर्वकोटिः सततबन्धः, यतो यः कश्चिन्मानवः पूर्वकोट्यायुरष्टवार्षिकः सर्वविरतिमादाय नवमवर्षे केवलज्ञानमासादयेत् सोऽष्टाभिर्वर्षैरूनां पूर्वकोटिं सातवेदनीयं सततं बध्नाति, केवलिनः सातस्यैव बन्धात्। उक्तं च–

[1]'उवसंतखीणमोहा, केवलिणो एगविहबन्धा॥ (पञ्चाश० १६ गा० ४१) इति॥५९॥

जलहिसयं पणसीयं, परघुस्सासे पणिंदि तसचउगे।
बत्तीसं सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरंसे ॥६०॥

पराघातं चोच्छ्वासं च पराघातोच्छ्वासं तस्मिन् पराघातोच्छ्वासे, "पणिंदि" त्ति सूचनात् सूत्रम्, इति कृत्वा पञ्चेन्द्रियजातौ, त्रसेनोपलक्षितं चतुष्कं त्रसचतुष्कं तस्मिन् त्रसचतुष्के-त्रसबादर-पर्याप्तप्रत्येक-लक्षणे प्रभूतकालनिस्तरणीयत्वाद् जलधय इव जलधयः-सागरोपमाणि, तेषां शतं जलधिशतं "पणसीयं" ति पञ्चाशीत्यधिकं परमः सततबन्धकालो भवति। इह च सचतुःपल्यमित्यनिर्देशेऽपि सचतुःपल्यमिति व्याख्यानं कार्यम्, यतो यावानेतद्विपक्षस्याबन्धकालस्तावानेवासां बन्धकाल इति। पञ्चसङ्ग्रहादौ चोपलक्षणादिना केनचित्कारणेन यन्नोक्तं तदभिप्रायं न विद्म इति। तथा जघन्यत एता अपि समयमेकं बध्यन्ते, सविपक्षत्वादध्रुवबन्धित्वाच्च। उत्कृष्टतस्तु सचतुःपल्यं पञ्चाशीत्यधिकं जलधिशतं बन्धकालः। कथम्? षष्ठपृथिव्यामुत्कृष्टस्थितिको द्वाविंशतिसागरोपमाण्यनुभवन्नासां विपक्षबन्धासम्भवादेता एव प्रस्तुतसप्तप्रकृतीर्बद्धवान्, ततः पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमासाद्य मनुष्यजन्म सम्प्राप्य देशविरतिरत्नं लब्ध्वा चतुःपल्योपमस्थितिकेषु देवेषु सुपर्वत्वमनुभूय अप्रतिपतितसम्यक्त्व एव मनुष्येषु समुत्पद्य सम्पूर्णसंयमं च परिपाल्य नवमग्रैवेयकविमाने एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिको महर्द्धिरमरो भूत्वा उत्पादोत्तरकालं मिथ्यात्वोदयवान् भवति, च्यवनकाले च सम्यक्त्वं प्रतिपद्य षट्षष्टिसागरोपमाण्यच्युतदेवलोके वारत्रयेणानुभवति, पुनरन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय भूयोऽपि सम्यग्दर्शनमवाप्य विजयादिषु

१ उपशान्तक्षीणमोहाः केवलिन एकविधबन्धाः॥

कवचनम् । कोऽर्थः ? यदा नवमग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमरूपां स्थितिमनुभूय ततश्च्युतः ...
मनुष्येपूत्पद्य इत्यादिप्रागुक्तन्यायेन पुनर्विजयादिगमनेन पट्षष्टिद्वयं पूरयति तदा त्रिषष्ठ्य-
कमुदधिशतं भवतीति । तथा तमःप्रभायां द्वाविंशतिसागरोपमाणि स्थितिमनुभूय ततो न-
मग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमाणि तदनु विजयादिपु पट्षष्टिद्वयमिति मिलितं पञ्चाशीत्यधिक-
मुदधिशतमिति । सर्वत्र चान्तरालभाविनरभवाधिकत्वं स्वत एव वाच्यमिति । एवं यासां प्र-
नीनां येपु जन्तुपु सर्वथैव बन्धो न भवति तास्तद्वारेण प्रदर्शिताः । सम्प्रति त्रिसप्ततिप्रकृ-
नामप्यध्रुवबन्धिनीनां जघन्यमुत्कृष्टं च सततबन्धकालप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—"सुरदुग-
इत्यादि । द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् सुरद्विके-सुरगति-सुरानुपूर्वीलक्षणे वैक्रियद्विके-वै-
यशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्वरूपे-'पल्यत्रिकं' पल्योपमत्रयं सततं बन्धः सततबन्धः "नाम नाम्ना
कार्ये समासो बहुलम्" (सिद्ध० ३-१-१८) इति समासः, यथा विस्पष्टं पटुः विस्पष्टपटु-
न्यादौ इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—सुरद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्टयस्य पल्योप-
त्रिकं सततबन्धकालः "तित्तीसयरा परमो" (गा० ६२) इति पदात् परमशब्दस्येहा-
त्वात् 'परमः' उत्कृष्टो भवति, यतो युगलधार्मिकेषु वर्तमानो जन्मत आरभ्य देवप्रायोग्यानां
प्रकृतिचतुष्टयं पल्योपमत्रयं यावत् सततमेव-निरन्तरमेव बध्नातीति भावः, जघन्यतस्तु सम-
यमात्रमन्तर्मुहूर्तमपीति ॥ ५८ ॥

रिकाङ्गोपाङ्गम्, ततो मनुजद्विकादीनां उत्कृष्टेषु, एतासु प्रकृतिषु विषये त्रयस्त्रिंशदतराणि प्रकृष्टः सततबन्धो निरन्तरं बन्धकाल इति योगः । अत्रापि जिननामवर्जानां चतसृणां प्रकृ- जघन्यतः समयमेकं बन्धः सप्रतिपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशदतराणि, यतो बद्धजिननाम- अनुत्तरेषु स्थित एतावन्तं कालमेतदेव प्रस्तुतप्रकृतित्रिकं सततं बध्नातीति । ननु किम- ... नीनां प्रकृतीनां सर्वासामपि जघन्यबन्धकालः समयमात्र एव ? किमुत कासाञ्चिदन्य- पि ? अत आह—"अंतमुहु लहू वि आउजिणे" त्ति 'लघुरपि' जघन्यबन्धोऽपि ह्रस्वबन्ध- ... ऽपि न केवलमनुक्तप्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तलक्षणो बन्धकाल इत्यपिशब्दार्थः, आयुःषु ... षु जिननामकर्मणि चेत्यर्थः, "अंतमुहु" त्ति एकदेशे समुदायोपचारात् अन्तर्मुहूर्तलक्षणो न तु ... मात्र इति ।

अत्रायं भावार्थः—इह कश्चिज्जन्तुस्तीर्थकरनामबन्धक उपशमश्रेणिमारूढः, तत्र चानि- वृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहलक्षणगुणस्थानकत्रये वर्तमानोऽबन्धकः सम्पेदे, ततः श्रेणि ... प्रतिपतितः पुनरप्यन्तर्मुहूर्तं यावत् तदेव बद्ध्वा तदूर्ध्वं द्वितीयवारं श्रेण्यारोहणेऽबन्धको ... भवति तदाऽसौ कालो लभ्यते । न च वाच्यं कथमेकस्मिन्नेव भवे वार[2]द्वयश्रेणिकरणम् ? ... शास्त्रे तस्याभिहितत्वात् । उक्तं च—

[1]एगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोहं उव[3]समिज्जा ॥ (कर्मप्र० ३७६) इति ।

आयूंषि चत्वार्यपि यावदन्तर्मुहूर्तं तावद् जघन्यतोऽपि बध्यन्ते, ततस्तत्प्रति सुप्रतीत एव ... बन्धस्तत्काल इति ॥ ६२ ॥

प्ररूपितः प्रसक्तानुप्रसक्तसहितः स्थितिबन्धः । इदानीमनुभागबन्धस्यावसरः—अनुभागो ... ऽनुभाव इति पर्यायाः । तत्रानुभागस्य किञ्चित् तावत् स्वरूपमुच्यते—इह गम्भीरापारसंसार- स्थितिमध्यविपरिवर्ती रागादिसचिवो जन्तुः पृथक् सिद्धानामनन्तभागवर्तिभिरभव्येभ्योऽनन्त- ...ः परमाणुभिर्निष्पन्नान् कर्मस्कन्धान् प्रतिसमयं गृह्णाति, तत्र च प्रतिपरमाणु कषायविशेषात् ... संख्येयानन्तगुणाननुभागस्याविभागपलिच्छेदान् करोति । केवलिप्रज्ञया छिद्यमानो यः परम- निकृष्टोऽनुभागांऽशोऽतिसूक्ष्मतयाऽर्धं न ददाति सोऽविभागपलिच्छेद उच्यते । उक्तं च—

[4]बुद्धीइ छिज्जमाणो, अणुभागंसो न देइ जो अद्धं ।
अविभागपलिच्छेओ, सो इह अणुभागबंधम्मि ॥ (शत० बृ० भा० गा०४५९)

---

१ मुद्रितशतके तु–"ग्गं शेणिक" इत्येवंरूपः पाठः ॥ २ एकस्मिन् भवे द्विकृत्वः चारित्रमोहमुपश- ... ॥ ३ कर्मप्रकृतौ तु–"समेइ ॥ इत्येवंरूपः पाठः ॥ ४ बुद्ध्या छिद्यमानोऽनुभागांशो न ददाति योऽर्धम् । ... अविभागपरिच्छेदः सोऽत्रानुभागबन्धे ॥

वारद्वयेन पुनः षट्षष्टिसागरोपमाणि समनुभवति । तस्मादेतेषु तमःप्रभापृथिवीप्रभृतिस्थानेषु पर्यटन् जीवः कश्चिद् भवप्रत्ययात् कश्चित् सम्यक्त्वप्रत्ययादेतावन्तं कालमेताः सप्तापि प्रकृतीः सततं बध्नातीति। "बत्तीसं" ति द्वात्रिंशदधिकं जलधिशतानां शतं गम्यते, परमः सततबन्धकाल इति सम्बन्धः । क ? इत्याह—"सुहविहगइ" त्ति शुभविहायोगतिः "पुम" त्ति पुंवेदः 'सुभगत्रिकं' सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयलक्षणम् उच्चैर्गोत्रं "चउरंस" त्ति 'चतुरस्र' समचतुरस्रं प्रथमसंस्थानम्, तत एतेषां समाहारद्वन्द्वः, तत्र इहापि जघन्यतः समयमेकमासां सप्तानां प्रकृतीनां बन्धः सविपक्षत्वात् , उत्कृष्टतस्तु द्वात्रिंशं जलधिशतं सततबन्धकालो भवति । तथाहि—किल यदा कश्चिद् जन्तुः सर्वविरतिमनुपाल्य गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वयं विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यक्त्वकालं प्रपूर्य मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरितं द्वितीयं षट्षष्टिप्रमाणं सम्यग्दर्शनकालं वारत्रयमच्युतदेवलोकगमनेन परिपूरयति तदा सम्यग्दृष्टिर्जन्तुरेता एव बध्नाति, न पुनरेतत्प्रतिपक्षाः, तासां मिथ्यादृष्टि-सास्वादनगुणस्थानकयोर्बन्धव्यवच्छेदादिति ॥६०॥

असुखगइजाइआगिइसंघयणाहारनरयजोयदुगं ।
थिरसुभजसथावरदसनपुइत्थीदुजुयलमसायं ॥६१॥

सुशब्दः प्रशंसायाम् , न सुः असुः—अप्रशस्त इत्यर्थः । ततोऽसुशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, ततश्चासुखगतिः-अप्रशस्तविहायोगतिः, असुजातयः,-एक--द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियजातिलक्षणाश्चतस्रः, असुसंहननानि--ऋषभनाराचादीनि पञ्च, अस्वाकृतयः--आकाराः संस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डलादयः पञ्च, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् आहारकद्विकम्--आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं नरकद्विकं--नरकगति-नरकानुपूर्वीलक्षणं-"जोयदुगं" ति उद्योतद्विकम्--उद्योता-ऽऽतपलक्षणम् "उज्जोयायवपरघा" (गा० ३) इति संज्ञागाथायां पठनात् , स्थिरनाम, शुभनाम, "जस" त्ति यशःकीर्तिनाम, स्थावरदशकं प्रतीतमेव "नपु" त्ति नपुंसकवेदः, स्त्रीवेदः, द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगलं--हास्य-रति-अरति-शोकलक्षणम् 'असातम्' असातवेदनीयमिति ॥६१॥

समयादंतमुहुत्तं, मणुदुगजिणवइरउरलवंगेसु ।
तित्तीसयरा परमो, अंतमुहु लहू वि आउजिणे ॥६२॥

एतासां पूर्वोक्तानामसुखगतिप्रभृत्येकचत्वारिंशत्प्रकृतीनां किम् ? इत्याह--'समयात्' सूक्ष्मकालांशादारभ्य अन्तर्मुहूर्तं यावदुत्कृष्टतोऽपि सततबन्धो न परतोऽपि । किमुक्तं भवति ?—समयप्रमाणो जघन्यो बन्धकाल उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, यतः समयादन्तर्मुहूर्ताद् वा उत्तरकालमासामध्रुवबन्धित्वेनावश्यं परावृत्तेः सद्भावात् सङ्गच्छत एव यथोक्तकाल इति । तथा "मणुदुगं" ति मनुजद्विकं--मनुजगति-मनुजानुपूर्वीरूपं, जिननाम "वइर" त्ति वज्रऋषभनाराचसंहननम्

शुभानां शुभाशुभानुभागानामशुभानाम्, अशुभप्रकृतीनां शुभप्रकृतीनां चेत्यर्थः । तथा चाह—"संकेसविसोहिओ" त्ति संक्लेशश्च विशुद्धिश्च संक्लेश-विशुद्धी ताभ्यां संक्लेशविशुद्धिभ्याम्, अत्रापि यथासङ्ख्यं सम्बन्धः; यथाऽशुभानामशुभप्रकृतीनां संक्लेशेन शुभप्रकृतीनां विशुद्ध्येति । इदमत्र हृदयम्—अशुभप्रकृतीनां उत्कर्षतिरकृष्यमाणः संक्लेशेन—तीव्रकषायोदयेन तीव्र—उत्कटो रसो भवति, मन्दोऽशुभप्रकृतीनां तत्प्रत्यनीकाभिर्वा शुद्ध्या मध्ये यो न उत्कृष्टसंक्लेशो जघन्यः स न गृह्यते इत्यर्थः; शुभप्रकृतीनां तु विशुद्ध्या कषायविशुद्ध्या तीव्रोऽनुभागो भवति, शुभप्रकृतीनां तु मध्ये यो यो विशुद्ध्यमानपरिणामः स स तासां तीव्रानुभागो बन्धहेतुरित्यर्थः । उक्तार्थाभिमतस्य दृष्टान्तमाह । भवति च एव मन्दतरस्यापि गिरिमहिरेखयाओ मन्दरसो" त्ति 'विपरीत' विपर्ययेन उत्कृष्टसंक्लेशेन मन्दः-अनुकृष्टरसो भवति । इत्यर्थः—शुभप्रकृतीनामशुभानां विशुद्ध्या मन्दो रसो जायते, शुभानां तु मन्दः संक्लेशेनेति । उक्तः संक्लेशविशुद्धिभ्यां शुभाशुभप्रकृतीनां तीव्रो मन्दश्चानुभागः, अयं चैकद्वित्रिचतुःस्थानिकभेदाच्चतुर्धा भवति, तत्र चतुःस्थानिकादिरसो यैः कषायैरशुभप्रकृतीनां भवति तदाह—"गिरिमहिरय" इत्यादि । गिरिश्च पर्वतः मही च पृथिवी रजश्च वालुका जलं च तेषां गिरि-मही-रजः-जलानि तेषु रेखाः—राजयस्ताभिः सदृशास्तुल्या गिरि मही रजः जलरेखासदृशाश्च ते कषायास्तत्र चतुःस्थानिकादीन् भवन्ति क्रमशः ॥६३॥

यदेव तु इत्याह—

> चउठाणाई असुहा, सुहऽन्नहा विग्घदेसआवरणा ।
> पुमसंजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥६४॥

चतुःस्थान आदिर्येषां ते चतुःस्थानादयः त्रिस्थानिक-द्विस्थानिक-एकस्थानिकरसविशेषाः न चतुःस्थानादिः, तदाह तु इत्याह—"असुह" त्ति इह षष्ठ्यर्थे प्रथमा ततः 'अशुभानाम्' अशुभप्रकृतीनाम् । इदमत्र भावना—इह रेखाशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् गिरिरेखाशब्देन प्रभूतकालव्यपदेशाच्चिरस्थानं कषायाणां प्रतिपाद्यते, ततश्च गिरिरेखासदृशैः कषायैरनन्तानुबन्धिभिरित्यर्थः, सर्वासामशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसबन्धो भवति । आतपशोषितजलाशयमहीरेखासदृशैः कषायैरप्रत्याख्यानावरणाख्यैरशुभप्रकृतीनां त्रिस्थानिकरसबन्धो भवति । वालुकारेखासदृशैः कषायैः प्रत्याख्यानावरणैरशुभप्रकृतीनां द्विस्थानिकरसबन्धः । जलरेखासदृशैः कषायैरतिमन्दैः संज्वलनाभिधैर्विघ्नपञ्चकादिवक्ष्यमाणसप्तदशाऽशुभप्रकृतीनामेवैकस्थानिकरसबन्धो भवति, न शेषाणां शुभप्रकृतीनामशुभप्रकृतीनामिति हि वक्ष्यामः । इत्थमशुभानां रसस्य बन्धप्रत्ययः,

---

१ केषुचिदादर्शेषु "देसआवरणा" इत्यपि पाठः ॥

इदानीं शुभानां रसप्रत्ययविभागमाह—"सुहऽन्नह" त्ति शुभप्रकृतीनाम् 'अन्यथा' अ
हेतुविपर्ययाच्चतुःस्थानिकादिरसस्य बन्धो भवति । तत्र वालुका-जलरेखासदृशैः क
निको रसबन्धो भवति । महीरेखासदृशैः कषायैस्त्रिस्थानिको रसबन्धो भवति । गिरि
कषायैर्द्विस्थानिको रसबन्धः शुभप्रकृतीनां भवति । शुभप्रकृतीनां त्वेकस्थानिको रस एव
पूर्वमेवोक्तम् । अथ यासां प्रकृतीनामेक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकभेदाच्चतुर्विधोऽपि रसबन्धः
यासां चैकस्थानिकवर्जस्त्रिविध एवेत्येतच्चिन्तयन्नाह—"विग्घदेस(घाइ)आवरणा" इ
विघ्नानि-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायभेदादन्तरायाणि पञ्च, 'देशघात्यावरणाः'
त्यावारिकाः सप्त प्रकृतयः, तद्यथा—मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-मनःपर्यायज्ञानावरणा
चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनावरणास्तिस्र इत्येताः, "पुम" त्ति पुंवेदः, संज्वलनाः
क्रोध-मान-माया-लोभा इत्येताः सप्तदशप्रकृतयः । किम् ? इत्याह—"इगदुतिचउठाण
स्थानशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् एकस्थान-द्विस्थान-त्रिस्थान-चतुःस्थाना रसा यासां ता
द्वि-त्रि-चतुःस्थानरसाः, एताः सप्तदशापि प्रकृतय एक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरूपेण चतुर्वि
रसेन संयुक्ता बध्यन्त इति तात्पर्यम् । तत्रानिवृत्तिबादरे गुणस्थाने सङ्ख्येयेषु भागेषु गते
सप्तदशानामपि प्रकृतीनामेकस्थानिको रसः प्राप्यते, शेषस्थानिकास्तु रसास्त्रयोऽप्यारा
स्थान् जीवानाश्रित्य प्राप्यन्त इति । शेषाः प्रकृतयस्तर्हि किंरूपा भवन्ति ? इत्याह—
दुगमाई" इति । 'शेषाः' भणितसप्तदशप्रकृतिभ्य उद्धरिताः सर्वाः शुभा अशुभाश्च प्र
बध्यन्ते "दुगमाइ" त्ति "सूचनात् सूत्रम्" इति न्यायाद् द्विस्थानादिरसाः, आदिशब्दात् त्रि
रसाश्चतुःस्थानरसाश्च, शेषाः प्रकृतयो द्विस्थानिक-त्रिस्थानिक-चतुःस्थानिकरसयुक्ता भवन्ति
त्वेकस्थानिकरसयुक्ता इति भावः । अयमत्राशयः—सप्तदशप्रकृतिष्वेवैकस्थानिको रसो
न तु शेषासु, यतोऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानिको रसो यदि लभ्यते तदाऽनिवृत्तिबादरसं
भागेभ्यः परत एव, तत्र च सप्तदशप्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणामशुभप्रकृतीनां बन्ध एव ना
अतः शेषाणामशुभानामेकस्थानिको रसो न भवति । ये अपि केवलज्ञान-केवलदर्शना
लक्षणे द्वे अपि प्रकृती तत्र बध्येते, तयोरपि सर्वघातित्वाद् द्विस्थानिक एव रसो नि
नैकस्थानिक इति । शुभानां तु सर्वासामप्येकस्थानिको रसो न भवति, यत इहासङ्ख्येयलोका
प्रदेशप्रमाणानि संक्लेशस्थानानि भवन्ति, विशुद्धिस्थानान्यपि तावन्त्येव, यथा यान्
श्यमानः संक्लेशस्थानान्यारोहति तान्येव विशुध्यमानोऽवतरति, ततश्च यथा प्रासादमा
[illegible] सोपानस्थानानि अवतरतामपि तावन्त्येव, तथाऽत्रापीति भावः, केवलं विशुद्धि
[illegible] इति । कथम् ? इति चेद् उच्यते—क्षपको येषु स्थानेषु [illegible]
[illegible] न तेषु पुनरपि निवर्तते, तस्य संक्लेशाभावात्, अनन्तानि विशुद्धिस्थानानि [illegible]

न संक्लेशस्थानानीति तैरध्यवसायस्थानैर्विशुद्धिस्थानान्यधिकानि । एवं च स्थितेऽत्यन्तविशुद्धौ वर्तमानः शुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकं रसमभिनिर्वर्तयति, अत्यन्तसंक्लेशे तु वर्तमानस्य शुभप्रकृतयो बन्ध एव नागच्छन्ति । या अपि वैक्रिय-तैजस-कार्मणाद्याः शुभा नरकप्रायोग्याः संक्लिष्टोऽपि बध्नाति तासामपि स्वभावात् सर्वसंक्लिष्टोऽपि द्विस्थानिकमेव रसं विदधाति । येषु तु मध्यमाध्यवसायस्थानेषु शुभप्रकृतयो बध्यन्ते तेषु तासां द्विस्थानिकपर्यन्त एव रसो बध्यते नैकस्थानिकः, मध्यमपरिणामत्वादेवेति न क्वापि शुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरससम्भव इति ॥६४॥

कृता चतुर्विधस्यापि रसस्य प्रत्ययप्ररूपणा । सम्प्रति शुभा-ऽशुभरसस्यैव विशेषतः किञ्चित् स्वरूपमाह—

निंबुच्छुरसो सहजो, दुतिचउभागकढिइक्कभागंतो ।
इगठाणाई असुहो, असुहाण सुहो सुहाणं तु ॥६५॥

इहैवमक्षरघटना—'अशुभानाम्' अशुभप्रकृतीनां रसोऽशुभः, अशुभाध्यवसायनिष्पन्नत्वात् । क इव ? इत्याह—'निम्बवत्' पिचुमन्दवद्, वत्शब्दस्य लुप्तस्येह प्रयोगो द्रष्टव्यः । तथा 'शुभानां' शुभप्रकृतीनां रसः शुभः, शुभाध्यवसायनिष्पन्नत्वात् । क इव ? इत्याह—'इक्षुवत्' इक्षुयष्टिवत् । तथा डमरुकमणिन्यायाद् निम्बेक्षुरसशब्द एवमप्यावर्त्यते--यथा निम्बरस एव इक्षुरस एव 'सहजः' स्वभावस्थ एकस्थानिकरस उच्यते, स एवैकस्थानिकरसो द्वि-त्रि-चतुर्भागक्वथितैकभागान्तो द्विस्थानिकादिर्भवति । कोऽर्थः ? द्वौ च त्रयश्च चत्वारश्च द्वि-त्रि-चत्वारः, ते च ते भागाश्च द्वित्रिचतुर्भागाः, द्वित्रिचतुर्भागाश्च ते पृथग् विभिन्न-विभिन्नेष्वाश्रयेषु क्वथिताश्च द्वि-त्रि-चतुर्भागक्वथितास्तेषाम् एकः-एकसङ्ख्यो भागोऽन्ते—अवसाने यस्य सहजरसस्य स द्वि-त्रि-चतुर्भागक्वथितैकभागान्तः । स किम् ? इत्याह—एकस्थानिकादिः, आदिशब्दाद् द्विस्थानिक-त्रिस्थानिक-चतुःस्थानिकरसपरिग्रह इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—इह यथा निम्ब-घोषातकी-प्रभृतीनां कटुकद्रव्याणां सहजः—अक्वथितः कटुको रस एकस्थानिक उच्यते, स एव भागद्वय-प्रमाणः स्थाल्यां क्वथितोऽर्द्धावर्तितः कटुकतरो द्विस्थानिकः, स एव भागत्रयप्रमाणः स्थाल्यां क्वथितस्त्रिभागान्तः कटुकतमस्त्रिस्थानिकः, स एव भागचतुष्टयप्रमाणो विभिन्नस्थाने क्वथितश्चतुर्थ-भागान्तोऽतिकटुकतमश्चतुःस्थानिकः । तथा इक्षु-क्षीरादीनां सहजो मधुररस एकस्थानिक उच्यते, स एव सहजो भागद्वयप्रमाणः पृथग्भाजने क्वथितोऽर्धावर्तितो मधुरतरो द्विस्थानिकः, स एव भागत्रयप्रमाणः पृथक्स्थाल्यां क्वथितस्त्रिभागान्तो मधुरतमस्त्रिस्थानिकः, स एव भागचतुष्क-प्रमाणो विभिन्नस्थाने क्वथितश्चतुर्थभागान्तोऽतिमधुरतमश्चतुःस्थानिकः । एवमशुभानां प्रकृतीनां तादृशतादृशकषायनिष्पाद्यः कटुकः कटुकतरः कटुकतमोऽतिकटुकतमश्च, शुभप्रकृतीनां तु मधुरो

विप्रूक्ष्मविवरनिकरसङ्कुलानि यथा वासांसि, तथा तानि देशघातीनि रसस्पर्धकानि स्तोकस्नेहानि भवन्ति वैमल्यरहितानि च। उक्तं च—

[1]देसविघाइत्तणओ, इयरो कडकंबलंसुसंकासो।
विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अविमलो य॥ (पञ्चसं० गा० १५१) इति ॥६५॥

प्ररूपितः सप्रपञ्चमनुभागबन्धः। इदानीमुत्कृष्टानुभागबन्धस्य स्वामिनो निरूपयन्नाह—

तिव्वमिगथावरायव, सुरमिच्छा विगलसुहुमनरयतिगं।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा, तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरया ॥६६॥

"इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम आतपनाम इत्येतस्य प्रकृतित्रयस्य "सुरमिच्छ" त्ति सुराः–देवाः मिथ्यादृष्टयः तीव्रमनुभागमुत्कृष्टानुभागं कुर्वन्तीति शेषः। अत्र चाविशेषोक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् सुरा ईशानान्ता एव द्रष्टव्याः नोपरितनाः, तेषामेकेन्द्रियेषूत्पत्त्यभावाद् एकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतित्रयबन्धासम्भवात्। अयमपि चेशानान्तो देव एकेन्द्रियजाति-स्थावरयोरुत्कृष्टानुभागं सर्वसंक्लिष्टो बध्नाति, आतपस्य तु तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति द्रष्टव्यम्। इदं हि शुभप्रकृतित्वाद् विशुद्ध्या उत्कृष्टरसं जन्यते। साऽपि विशुद्धिर्यद्यधिकतरा गृह्यते तदा पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं मनुष्यप्रायोग्यं वा बध्नीयात्, न चातपं तत्प्रायोग्यबन्धे बध्यते, एकेन्द्रियप्रायोग्यत्वादेवेत्यालोच्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वविशेषणोपादानम्।

आह परः–ननु भवत्वेवं, किन्तु मिथ्यादृष्टिदेव एवैतास्तिस्र उत्कृष्टरसाः करोति नान्य इत्यत्र किं निबन्धनम्? अत्रोच्यते–नारकाणां तावदेता एकेन्द्रियप्रायोग्यत्वात् तत्रोत्पत्त्यभावाद् बन्ध एव नागच्छन्ति, तिर्यङ्-मनुष्यास्तु यावत्यां विशुद्धौ वर्तमानः अयमातपमुत्कृष्टरसं करोति तावत्यां विशुद्धौ वर्तमानाः पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिप्रायोग्यमन्यत् किञ्चित् शुभतरमुपरचयेयुः, यावति च संक्लेशे वर्तमानोऽसावेकेन्द्रियजाति-स्थावरयोरुत्कृष्टानुभागं बध्नाति तावति संक्लेशे स्थिता अमी नरकगतिप्रायोग्यं निर्वर्तयेयुः, देवास्तूत्कृष्टसंक्लेशेऽपि भवप्रत्ययाद् एकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, न तु नरकयोग्यमिति तिर्यङ्-मनुष्याणामपि प्रकृतकर्मत्रयोत्कृष्टानुभागबन्धकत्वासम्भवः, सुरा अपि सम्यग्दृष्टयो मनुष्ययोग्यमेव बध्नन्तीति मिथ्यादृष्टिग्रहणम्। तस्मादीशानान्ता मिथ्यादृष्टिदेवा यदा आतपस्य सर्वलघ्वीं स्थितिमुपकल्पयन्ति तदा तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धा अस्योत्कृष्टानुभागं विदधति, यदा तूत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमाना एकेन्द्रियजाति-स्थावरयोः सर्वोत्कृष्टां स्थितिमुपरचयन्ति [2]तदा तयोरुत्कृष्टानुभागं कुर्वत इति स्थितम्। तथा त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् विकल-

---

१ देशविघातित्वादितरः कटकम्बलांशुकसङ्काशः। विविधबहुच्छिद्रभृतोऽल्पस्नेहोऽविमलश्च॥
२ सं० १–२ छा० °दानयोरु°॥

"अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः—क्रोध-मान-माया-लोभाख्याश्चत्वारः मिथ्यात्वम् इत्येतासां प्रकृतीनां स्वगुणस्थान-चरमसमये वर्तमानो मिथ्यादृष्टिः "संजमुमुहु" त्ति संयमोन्मुखः—सम्यक्त्वसामायिकं प्रतिपित्सुः 'मन्दरसं' जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेष्वयमेव सर्वविशुद्ध इति । तथा कषायशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वितीयकषायचतुष्कस्य—अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य "अविरय" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिः स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमानः संयमोन्मुख इत्यत्रापि योज्यम्, संयमाभिमुखः देशविरतिसामायिकं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेष्वयमेव विशुद्धत्वात् । तथा तृतीयकषायचतुष्कस्य—प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य "देस" त्ति देशविरतः स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमानः संयमोन्मुखः—सर्वविरतिसामायिकं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं करोति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेष्वयमेव विशुद्धतरत्वात् । तथा 'प्रमत्तः' प्रमत्तयतिः संयमोन्मुखः—अप्रमत्तसंयमं प्रतिपित्सुः, अरतिश्च शोकश्चारति-शोकं तस्मि-न्नरति-शोके अरति-शोकयोर्मन्दरसं निबध्नाति, इदं हि प्रकृतिद्वयमशुभत्वात् सर्वविशुद्ध एव जघन्यरसं करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति ॥६९॥

अपमाइ हारगदुगं, दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा ।
भयमुवघायमपुव्वो, अनियट्टी पुरिससंजलणे ॥७०॥

'आहारकद्विकं' आहारकशरीर-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं न प्रमाद्यति इत्येवंशीलोऽप्रमादी—अप्रमत्तयतिः अनन्तरमेव प्रमत्तभावं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं-जघन्यरसं करोतीति यावत् । इदं हि प्रकृतिद्वयं शुभत्वात् संक्लिष्ट एव जघन्यरसं करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेवातिसंक्लिष्ट इति भावः । तथा 'दुनिद्द' त्ति द्वयोर्निद्रयोः समाहारो द्विनिद्रं-निद्रा-प्रचलालक्षणं "सु" शोभनं "वन्न" त्ति वर्णचतुष्कं न सुवर्णम् असुवर्णम् अप्रशस्तवर्णचतुष्कम् अप्रशस्तवर्णगन्ध-रस-स्पर्शा इत्यर्थः, हास्यं रतिः "कुच्छ" त्ति जुगुप्सा भयम् उपघातम् इत्येतासामेकादशप्रकृतीनां "अपुव्व" त्ति सामान्योक्तावपि क्षपकोऽपूर्वकरणः एकैकस्मिन्नात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्यानुभागं बध्नाति । एता अशुभप्रकृतयः, अशुभप्रकृतीनां च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति । तथा "पुरिस" त्ति पुरुषवेदः संज्वलनाः—क्रोध-मान-माया-लोभाश्चत्वार इत्येतासां प्रकृतीनामेकैकस्मिन्नात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेद-समये "अनियट्टि" त्ति सामान्योक्तावपि क्षपकोऽनिवृत्तिबादरो जघन्यानुभागं निर्वर्तयति । एता अशुभप्रकृतयः, अशुभप्रकृतीनां च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभागं बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृति-बन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति ॥७०॥

विग्घावरणे सुहुमो, मणुतिरिया सुहुमविगलतिगआऊ ।
वेउव्विछक्कममरा, निरया उज्जोयउरलदुगं ॥७१॥

तथा "निरय विणिगथावरयं" ति 'निरयान्' नारकान् 'विना' वर्जयित्वा शेषगतित्रयवर्तिनो जीवाः "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम इत्येतत्प्रकृतिद्वयस्य सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् परावर्तमानमध्यमपरिणामा जघन्यानुभागं बध्नन्ति। इदं हि प्रकृतिद्वयमशुभम्, तत्रातिसंक्लिष्टो जन्तुरनयोरुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, अतिविशुद्धस्त्वदः प्रकृत्युत्कृष्टानुभागे पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसनाम्नी बध्नातीत्यालोच्य मध्यमपरिणामग्रहणम्। अयं च मध्यमपरिणामो यदैकस्मिन्नन्तर्मुहूर्ते एकेन्द्रियजाति-स्थावरनाम्नी बद्ध्वा पुनर्द्वितीयेऽप्यन्तर्मुहूर्ते ते एव बध्नाति तदापि भवति, केवलं तदाऽवस्थितपरिणामे तथाविधा विशुद्धिर्न लभ्यते इति मध्यमपरिणामस्यापि परावर्तमानताविशेषणम्। इदमुक्तं भवति—यदैकेन्द्रियजाति-स्थावरे बद्ध्वा पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नी बध्नाति, ते अपि बद्ध्वा पुनरेकेन्द्रियजाति-स्थावरे बध्नाति, तदैवं परावृत्य परावृत्य बध्नन् परावर्तमानमध्यमपरिणामः तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रस्तुतप्रकृतिद्वयस्य जघन्यानुभागं बध्नाति। भवत्वेवम्, तत्रापि नारकवर्जनं किमर्थम्? इति चेद् उच्यते—नारकाणां स्वभावादेव प्रस्तुत प्रकृतिद्वयबन्धकत्वासम्भवादिति।

तथा "आसुहमायव" त्ति सुधर्मा नाम सभा विद्यते यत्र स सौधर्मः, "ज्योत्स्नादिभ्योऽण्" (सिद्ध० ७-२-३४) इत्यण्प्रत्ययः, इह च सौधर्मग्रहणेन समश्रेणिव्यवस्थितत्वाद् ईशानोऽपि गृह्यते, ततश्च भवनपत्यादय ईशानपर्यन्ता देवास्तद्बन्धकेषु सर्वसंक्लिष्टा एकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नन्त आतपनाम जघन्यानुभागं बध्नन्ति। अस्य हि शुभप्रकृतित्वात् सर्वसंक्लिष्ट एव जघन्यानुभागं बध्नाति, तद्बन्धकेषु चैत एव सर्वसंक्लिष्टा लभ्यन्ते, तिर्यङ्-मनुष्या ह्येतावति संक्लेशे वर्तमाना नारकादिप्रायोग्यं रचयेयुः, नारकाः सनत्कुमारादिदेवाश्च भवप्रत्ययादेव तद् न बध्नन्तीति शेषपरिहारेण यथोक्तदेवानामेव ग्रहणम्।

तथा सातवेदनीयं स्थिरनाम शुभनाम यशःकीर्तिनामेत्येताश्चतस्रः प्रकृतीः 'सेतराः' सप्रतिपक्षा असातवेदनीया-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामसहिताः सर्वा अष्टौ प्रकृतीः "सम्मो व" त्ति सम्यग्दृष्टिः, वाशब्दान् मिथ्यादृष्टिर्वा, सामान्योक्तावपि परावर्तमानमध्यमपरिणामो जघन्यानुभागाः करोति। कथम्? इति चेद् उच्यते—इह पूर्वं सातस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिरभिहिता, असातस्य तु त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः, तत्र प्रमत्तसंयतः तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽसातस्य सम्यग्दृष्टियोग्यस्थितिषु सर्वजघन्यामन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां स्थितिं बध्नाति, ततोऽन्तर्मुहूर्तात् परावृत्य सातं बध्नाति, पुनरप्यसातमिति। एवं देशविरता-ऽविरतसम्य-

[illegible]

दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-मिथ्यादृष्टयोऽपि परावृत्य परावृत्य साता-ऽसाते बध्नन्ति । तत्र च मिथ्यादृष्टिः साता-ऽसाते परावृत्य तावद् बध्नाति यावत् सातस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटी-लक्षणा ज्येष्ठा स्थितिः, ततः परतोऽपि संक्लिष्टः संक्लिष्टतरः संक्लिष्टतमोऽसातमेव केवलं तावद् बध्नाति यावत् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः; प्रमत्तादपि परतोऽप्रमत्तादयो विशुद्धा विशुद्ध-तराः सातमेव केवलं बध्नन्ति यावत् सूक्ष्मसम्पराये द्वादशमुहूर्ताः । तदेवं व्यवस्थिते सातस्य समयोनपञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीलक्षणायाः स्थितेरारभ्य असातेन सह परावृत्य परावृत्य बध्नतो जघन्यानुभागबन्धोचितः परावर्तमानमध्यमपरिणामस्तावद् लभ्यते यावत् प्रमत्तगुणस्था-नकेऽन्तःसागरोपमकोटाकोटीलक्षणा सर्वजघन्याऽसातस्थितिः । एतेषु हि सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि-योग्येषु स्थितिस्थानेषु प्रकृतेः प्रकृत्यन्तरसङ्क्रमे मन्दः परिणामो जघन्यानुभागबन्धयोग्यो लभ्यते, नान्यत्र । तथाहि—येऽप्रमत्तादयः सातमेव केवलं बध्नन्ति ते विशुद्धत्वात् तस्य प्रभूत-मनुभागमुपकल्पयन्ति, योऽपि मिथ्यादृष्टिः सातस्योत्कृष्टां स्थितिमतिक्रान्तोऽसातमेव केवलमुप-चयति सोऽप्यतिसंक्लिष्टत्वात् तस्य प्रभूतरसमभिनिर्वर्तयति, सागरोपमसप्तभागत्रयादिरूपवेद-नीयस्थितिबन्धकेष्वेकेन्द्रियादिष्वपि जघन्यानुभागबन्धो न सम्भवति, तथाविधाध्यवसायाभा-वात् , तस्माद् यथोक्तस्थितिबन्ध एव जघन्यानुभागबन्धसम्भवः, तथाविधपरिणामसद्भावादिति । अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तीनां विंशतिसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिरुक्ता । स्थिर-शुभ-यशःकीर्तीनां तु दशसागरोपमकोटीकोटयः । तत्र प्रमत्तसंयतस्तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तीनां सम्यग्दृष्टियोग्यस्थितिषु सर्वजघन्यामन्तःसागरोपमकोटीकोटीलक्षणां स्थितिं बध्नाति । ततोऽन्तर्मुहूर्ताद् विशुद्धः पुनरपि स्थिरादिकाः प्रतिपक्षभूता बध्नाति, ततः पुनरप्यस्थिरा-दिका इति । एवं देशविरता-ऽविरत-मिश्र-सास्वादन-मिथ्यादृष्टयोऽपि परावृत्य परावृत्याऽस्थिरा-शुभा-ऽयशःकीर्ति-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तीर्बध्नन्ति । तत्र च मिथ्यादृष्टिः स्थिर-शुभ-यशःकीर्तीरस्थि-राऽशुभा-ऽयशःकीर्तीश्च परावृत्य तावद् बध्नाति यावद् मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने स्थिरादीनामुत्कृष्टा स्थितिः एतेषु च सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टियोग्येषु स्थितिस्थानेषु जघन्यानुभागबन्धो लभ्यते, नान्यत्र । दशसागरोपमकोटीकोटीपरतो ह्यस्थिरादय एवाशुभाः प्रकृतयो बहुरसा बध्यन्ते । अप्रमत्तादयस्तु विशुद्धाः स्थिरादिकाः शुभप्रकृतीरेव बहुरसा निर्वर्तयन्तीति नान्यत्र जघन्यानुभाग आसां लभ्यत इति शेषः । भावना तु सातवद् बोद्धव्येति ॥७२॥

तसवन्नतेयचउमणुखगइदुगपणिंदिसासपरघुच्चं ।
संघयणागिइनपुथीसुभगियरत्ति मिच्छ चउगइगा ॥७३॥

चतुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्रसचतुष्कं—त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकाख्यं, वर्णचतुष्कं—वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाभिधं तैजसचतुष्कं—तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माणलक्षणं, द्विकशब्दस्य

प्रत्येकं सम्बन्धात्। मनुजद्विकं—मनुजगति-मनुजानुपूर्वीलक्षणं, खगतिद्विकं—प्रशस्तविहायो-अशुभविहायोगतिरूपं, पञ्चेन्द्रिय [illegible]—उच्चैर्गोत्रं संह० वज्रर्षभनाराच-ऋषभनाराच-नाराच-अर्धनाराच-कीलिका-सेवार्तलक्षणानि षट्, आकृतयः आकाराः संस्थानानि समचतुरस्र-न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-वामन-कुब्ज-हुण्डलक्षणानि षट्, "नपु" त्ति नपुंसकवेदः "थी" त्ति स्त्रीवेदः, [illegible] प्रत्येकं सम्बन्धात् सुभगत्रिकं सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयलक्षणम्, 'इतरत्रिकं' दुर्भगत्रिकं—दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेयलक्षणम्, इति तासां चत्वारिंशत्प्रकृतीनां "मिच्छ" त्ति मिथ्यादृष्टयश्चतुर्गतिका जघन्यानुभागं कुर्वन्ति।

इह सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् पञ्चेन्द्रियजाति-तैजस-कार्मण-प्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शा-ऽगुरुलघु-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-निर्माणलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनां चतुर्गतिका अपि जीवा मिथ्यादृष्टयः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे जघन्यानुभागं कुर्वन्ति। एता हि शुभप्रकृतित्वात् सर्वोत्कृष्टसंक्लेशैर्जघन्यरसाः क्रियन्ते। तत्र च तिर्यङ्-मनुष्याः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमाना नरकगतिसहचरिता एता बध्नन्तो जघन्यरसाः कुर्वन्ति। नारका देवाश्चेशानादुपरिवर्तिनः सनत्कुमारादयः सर्वसंक्लिष्टाः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्या एता बध्नन्तो जघन्यरसाः कुर्वन्ति, ईशानान्तास्तु देवाः सर्वसंक्लिष्टाः पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसवर्जाः शेषास्त्रयोदश प्रकृतीरेकेन्द्रियप्रायोग्या बध्नन्तो जघन्यरसा विदधतीति। पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसनाम्नी तु विशुद्धा अमी बध्नन्तीति जघन्यरसो न लभ्यत इति तद्वर्जनम्। स्त्रीवेदनपुंसकवेदलक्षणप्रकृतिद्वयस्य चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो जीवा अशुभत्वाद् एतत्प्रकृतिद्विकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धा जघन्यानुभागं रचयन्ति। अतिविशुद्धः पुरुषवेदबन्धकः स्यादिति तत्प्रायोग्यविशुद्धग्रहणमिति।

मनुष्यद्विक-संहननषट्क-संस्थानषट्क-विहायोगतिद्विक-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेय-उच्चैर्गोत्रलक्षणानां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो मध्यमपरिणामा जघन्यानुभागं कुर्वन्ति; सम्यग्दृष्टीनां ह्येतासां परावृत्तिर्नास्ति, तथाहि—तिर्यङ्-मनुष्याः सम्यग्दृष्टयो देवद्विकमेव बध्नन्ति, न मनुष्यादिद्विकानि, संस्थानेषु तु समचतुरस्रमेव रचयन्ति, संहननं तु किञ्चिदपि न बध्नन्ति, तथा शुभविहायोगति-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-उच्चैर्गोत्राण्येव बध्नन्ति न प्रतिपक्षाः। देवा नारका अपि सम्यग्दृष्टयो मनुष्यद्विकमेव बध्नन्ति, न तिर्यग्द्विकादिकम्, संस्थानेषु तु समचतुरस्रसंस्थानमेव, संहननेषु पुनर्वज्रर्षभनाराचसंहननमेव, विहायोगत्यादिका अपि शुभा एव बध्नन्ति न प्रतिपक्षा इति, तेषां परावृत्त्यभावाद् मिथ्यादृष्टिग्रहणम्। तत्र मनुष्यगतिद्विकस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, प्रशस्तविहायोगति-सुभग-सुस्वराऽऽदेय-उच्चैर्गोत्र-वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थानानां तु दशसा-

पमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः । एताः शुभप्रकृतय आत्मीयाऽऽत्मीयोत्कृष्टस्थितेरारभ्य पक्षप्रकृतिभिः सह तावत् परावृत्य परावृत्य बध्यन्ते, यावत् तासामेव प्रतिपक्षप्रकृतीनां सर्व- न्याऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीलक्षणा स्थितिः । एतेषु स्थितिस्थानेषु परावर्तमानमध्यमपरिणाम सां जघन्यानुभागं बध्नाति । हुण्ड-सेवार्तयोरपि वामन-कीलिकयोरुत्कृष्टस्थितेरारभ्य तावत् वृत्तिर्लभ्यते यावदात्मीयाऽऽत्मीयजघन्यस्थितिः । शेषसंस्थान-संहननानामप्यात्मीयात्मीयोत्कृ- स्थितेरारभ्य सम्भवदितरसंस्थान-संहननैः सह परावृत्तिस्तावद् लभ्यते यावदात्मीयाऽऽत्मीय- घन्यस्थितिः । एतेषु स्थितिस्थानेषु मिथ्यादृष्टिः परावर्तमानमध्यमपरिणामो जघन्यानुभागं ध्नातीति ॥७३॥

प्ररूपिताः सप्रपञ्चं जघन्यानुभागबन्धस्वामिनः । साम्प्रतमनुभागबन्धमेव मूलोत्तरप्रकृती- दिश्य भङ्गकैर्विचारयन्नाह—

> चउतेयवन्न वेयणियनामणुक्कोसु सेसधुवबंधी ।
> घाईणं अजहन्नो, गोए दुविहो इमो चउहा ॥७४॥

इह ग्रन्थलाघवार्थं यथातथा प्रकृतयो भङ्गकैर्विचार्यन्ते । तत्र चतुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्ब- ात् तैजसचतुष्कं–तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माणलक्षणं, वर्णचतुष्कम्–अग्रेऽप्रशस्तस्य वक्ष्य- णत्वादिह प्रशस्तं वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्यं गृह्यते इति, एतासामुत्तरप्रकृतीनामष्टानामनुत्कृष्टः, मो चउह" त्ति पदं सर्वत्र योजनीयम् , अयमनुत्कृष्टो बन्धश्चतुर्धा–सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च ाति । तथा वेदनीय-नाम्नोर्मूलप्रकृत्योरनुत्कृष्टो बन्धश्चतुर्धा–सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति । ा "सेसधुवबंधि" त्ति षष्ठ्यर्थे प्रथमा, ततो भणितशेषाणां ध्रुवबन्धिनीनां ज्ञानावरणपञ्चक- नावरणनवक-मिथ्यात्व-कषायषोडशक-भय-जुगुप्सा-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्क-उपघाता-ऽन्तरा- ञ्चकलक्षणानां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च ाति । तथा ज्ञान-दर्शन चारित्रलाभादिगुणान् घ्नन्तीत्येवंशीलानि घातीनि–ज्ञानावरण-दर्शनाव- -मोहनीया-ऽन्तरायाणि तेषामजघन्यानुभागबन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति । ा 'गोत्रे' गोत्रकर्मणि द्विविधोऽनुत्कृष्टा-ऽजघन्यलक्षणो बन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च तीत्यक्षरार्थः ।

भावार्थस्त्वयम्– तत्र तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-प्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणा- मष्टानामुत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टाऽनुभागबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि भवति । तथाहि— णां हि रसो यस्मादन्यो हीनो नास्ति स सर्वजघन्यः, तत ऊर्ध्वमेकं रसांशमादौ कृत्वा यावत् त्कृष्टस्तावदजघन्य इत्यनन्तभेदभिन्नोऽप्यसौ जघन्याऽजघन्यप्रकारद्वयेन क्रोडीकृतः; तथा

यस्माद् अन्योऽधिको रसो न बध्यते स उत्कृष्टः, तत एकरसांशहानिमादौ कृत्वा सर्वजघन्यस्तावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्ट इति; अनेन वा प्रकारद्वयेनानन्ता अपि रसविशेषाः संगृहीताः तत एतासां प्रस्तुताष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टमनुभागबन्धं क्षपकापूर्वकरणो देवगतिप्रायोग्याणां त्रिंश प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदसमये करोति। एता हि शुभप्रकृतयः, अत एतदुत्कृष्टानुभागं सर्वविशु एव रचयति, तद्बन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्धः। एतस्मात् पुनरन्यत्रोपशमश्रेणावप्यनुत्कृष्टे ऽनुभागबन्धो लभ्यते, स चोपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वथा न भवतीति ततः प्रतिपतितैर्जन्तु भिर्बध्यमानः सादिः, तच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणां सदाबध्यमानत्वाद् अनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम् अध्रुवो भव्यानामिति। प्रतिपादितस्तैजसचतुष्क-वर्णचतुष्कलक्षणप्रकृत्यष्टकस्यानुत्कृष्टो बन्धः। शेषबन्धत्रिकस्य तु का वार्ता? इत्याह-"सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते उत्कृष्ट जघन्या-ऽजघन्यानुभागत्रिके द्विप्रकारः-सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो भवतीत्यर्थः। तथाहि-अस्य प्रकृत्यष्टकस्योत्कृष्टानुभागबन्धोऽनन्तरमेव क्षपकापूर्वकरणे प्रोक्तः, स च तत्प्रथमतया बध्यमान त्वात् सादिः, एकं च समयं भूत्वाऽग्रेऽवश्यं न भवतीत्यध्रुवः। जघन्यानुभागं त्वेतासां शुभप्रकृति त्वात् सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमानो मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तः संज्ञिपञ्चेन्द्रियो बध्नाति। पुनरपि जघन्यतः समयादुत्कृष्टतः समयद्वयादवश्यं स एवाजघन्यं बध्नाति, पुनः कालान्तरे [१]स एवोत्कृष्टसंक्लेशं प्राप्य जघन्यं बध्नातीत्येवं जघन्या-ऽजघन्येषु परावर्तमानानां जन्तूनामुभयत्र साद्यध्रुवतैवेति।

तथा "वेयणियनामणुक्कोसु" त्ति वेदनीय-नाम्नोरनुत्कृष्टोऽनुभागबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पो ऽपि भवति। तथाहि-अनयोः कर्मणोः सात-यशःकीर्तिलक्षणं तदन्तर्गतं प्रकृतिद्वयमाश्रित्य सर्वोत्कृष्टो रसः क्षपक-सूक्ष्मसम्परायचरमसमये प्राप्यते, ततोऽन्यः सर्वोऽप्युपशमश्रेणावपि अनु त्कृष्टोऽनुभागबन्धो लभ्यते, ततश्चोपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वथा न भवतीति, ततः प्रतिपाति तैर्जन्तुभिर्बध्यमानोऽनुभागः सादिः, उपशान्तमोहाद्यवस्थायां त्वप्राप्तपूर्वस्यानादिः, अनादिकालाद् बध्यमानत्वाद्, ध्रुवोऽभव्यानामपर्यन्तत्वात्, अध्रुवो भव्यानां सपर्यन्तत्वादिति। भावितो वेद नीयनाम्नोरनुत्कृष्टो बन्धः। शेषे तु का वार्ता? इत्याह-"सेसम्मि दुह" त्ति एतत् पदं पू सम्बन्धितमप्यावृत्त्याऽत्रापि सम्बध्यते। ततः शेषे-भणितोद्धरिते उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यलक्ष णानुभागत्रिके द्विप्रकारः साद्यध्रुवलक्षणो बन्धो भवति। तथाहि-उत्कृष्टमनुभागबन्धं वेदनीय नाम्नोरनन्तरमेव प्रस्तुतकर्मबन्धकेष्वतिविशुद्धत्वात् क्षपकसूक्ष्मसम्परायो बध्नातीत्युक्तम्। स तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, क्षीणमोहावस्थायां तु नियमाद् न भविष्यतीत्यध्रुवः। जघन्यानुभागं त्वनयोः कर्मणोः सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा मध्यमपरिणामो बध्नाति, मध्यमपु

१ छा० सर्वोत्कृष्टसं० ॥

तत्कर्मदयग्रहणगृहीतानां सात-यशःकीर्त्यादिलक्षणशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टस्वरूपं शुभरसं कुर्यात्,
ांक्लिष्टस्त्वसात-नरकगत्यादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्वरूपमशुभरसं कुर्यादिति मध्यमपरिणामग्रहणम्।
पं च जघन्यानुभागोऽजघन्याद् अवतीर्य बध्यत इति सादिः, पुनर्जघन्यतः समयादुत्कृष्टतस्तु
यचतुष्टयादजघन्यानुभागं बध्नतो जघन्योऽध्रुवोऽजघन्यस्तु सादिः, पुनस्तत्रैव भवे भवान्तरे
जघन्यं बध्नतोऽजघन्योऽध्रुव इत्येवं जघन्या-ऽजघन्यानुभागबन्धयोः परिभ्रमतामसुमतामु-
त्र साद्यध्रुवतैव भवतीति।

तथा "सेसधुवबंधि" त्ति शेषध्रुवबन्धिनीनां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मिथ्या-
-कषायषोडशक-भय जुगुप्सा-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक-उपघातलक्षणानां त्रिच-
ारिंशतः प्रकृतीनामजघन्योऽनुभागः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति। तथाहि—मति-श्रुता-ऽ
मनःपर्याय-केवलावरणपञ्चक—चक्षुः-अचक्षुः—अवधि-केवलदर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्च
क्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनां तावद् अशुभत्वात् क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये जघन्यानुभागं बध्ना
न्धकेष्वयमेव सर्वोत्कृष्टविशुद्धिमानिति कृत्वा। ततोऽन्यः सर्वोऽपि उपशमश्रेणावप्यजघन्य
ध्यते, स चोपशान्तावस्थायां सर्वथा न भवति, तस्मादितः प्रतिपत्य बध्यमानः सादितां भजते
शान्तावस्थां चाप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। संज्वलनचतु
स्य त्वशुभत्वात्, क्षपकानिवृत्तिबादरो यथास्वबन्धव्यवच्छेदसमये एकैकं समयं जघन्यानुभा
नाति। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः, तस्य चोपशमश्रेणौ बन्धव्यवच्छेदे कृते प्रतिपत्य पुनस्तमे
नतः सादित्वम्, उपशान्तावस्थां चाप्राप्तपूर्वस्यानादित्वम्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्याना
ति। निद्रा-प्रचला-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्क-उपघात-भय-जुगुप्सालक्षणानां नवप्रकृतीनां क्षपका
करणो यथास्वबन्धव्यवच्छेदकाले एकैकं समयं जघन्यमनुभागं बध्नाति। ततोऽन्यः सर्वोऽ
जघन्यः, तस्य चोपशमश्रेणौ बन्धव्यवच्छेदं कृत्वा प्रतिपत्य पुनस्तमेव बध्नतः सादित्वम्
थाभावस्थानं चाप्राप्तपूर्वस्यानादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम् अध्रुवो भव्यानामिति। चतुर्ण
याख्यानावरणानां देशविरतः संयमप्रतिपत्त्यभिमुखोऽत्यन्तविशुद्धः स्वगुणस्थानस्य चरमसम
मानो जघन्यमनुभागं बध्नाति। तस्मात् पुनः स्थानात् पूर्वं सर्वोऽप्यजघन्यः। चतुर्णामप्रत्या
यानावरणानामविरतसम्यग्दृष्टिः क्षायिकसम्यक्त्वं संयमं च युगपत् प्रतिपित्सुरत्यन्तविशुद्ध
गुणस्थानचरमसमये वर्तमानो जघन्यमनुभागं बध्नातीति। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः। स्त्यान
त्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयलक्षणानामष्टानां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वं संयम
युगपत् प्रतिपित्सुः सर्वविशुद्धो मिथ्यात्ववेदनस्य चरमसमये वर्तमानो जघन्यमनुभागं बध्नाति
तस्माच्चान्यत्र सर्वोऽप्यजघन्यः। एते हि देशविरतादयस्तत्तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धत्वाद् यथानि
ष्टकर्मणां जघन्यमनु(ग्रन्थाग्रम्—२५००)भागं बध्नन्ति। ततश्च संयमादीन् गुणान् प्राप्य

पुनरपि प्रतिपत्य यदाऽजघन्यानुभागं बध्नन्ति तदाऽयमजघन्यानुभागः सादिः, [illegible] स्थानान्यप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानामपर्यन्तत्वात्, अध्रुवो भव्यानां [illegible]

तदेवं त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यानुभागो भावितः। शेषत्रिके तु किम्? [illegible] "सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते जघन्य-उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टानुभागत्रिके [illegible] कारः सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो भवति। तत्राजघन्यानुभागभणनप्रसङ्गेन [illegible] नुभागोऽपि सूक्ष्मसम्परायादिगुणस्थानकेषु स्थानतो निर्दिष्टः। स च तत्र [illegible] बध्यमानत्वात् सादिः, क्षीणमोहाद्युपरितनावस्थासु चावश्यं न भवतीत्यध्रुवः। [illegible] न्यनुभागमेतासां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशः [illegible] बध्नाति एकं द्वौ वा समयौ यावत्, ततः परं पुनरनुत्कृष्टं बध्नाति, कालान्तरे [illegible] [illegible] उत्कृष्टानुभागं रचयतीत्येवमुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टानुभागेषु संसरतां [illegible] [illegible] बध्नाति, नेतरद् विकल्पद्वितयमपि।

[illegible] चतुर्ष्वपि भेदेषु साद्यादिभङ्गकाश्चिन्तिताः। [illegible] [illegible] "सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरितोत्तरप्रकृति [illegible]

[illegible]

तद्वत् घातिकर्मणामजघन्योऽनुभागो भावितः । शेषत्रिके तु किम् ? इत्याह—"सेसम्मि दुहा" त्ति 'शेषे' जघन्य-उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टलक्षणेऽनुभागत्रिके 'द्विधा' द्विविकल्पः सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो भवति । तथाहि—प्रकृतकर्मचतुष्टयमध्ये मोहनीयस्य तावद् जघन्यानुभागः क्षपकानिवृत्तिबादरचरमसमयेऽनन्तरमेवोक्तः, शेषकर्मत्रयस्य तु क्षपकसूक्ष्मसंपरायचरमसमयेऽनन्तरोक्तः । स चानादिकालेऽपि पर्यटता जीवेन पूर्वं न बद्ध इति तत्प्रथमतया तत्रैव बध्यमानत्वात् सादिः, क्षीणमोहाद्यवस्थायां च प्राप्तस्य नियमान्न भविष्यतीति अध्रुवः । अनादिस्तु न भवति, पूर्वं कदाचिदपि तद्बन्धासम्भवात् । ध्रुवोऽप्यसौ न भवति, अभव्यानां तद्बन्धस्य दूरोत्सारितत्वादिति । उत्कृष्टानुभागं तु प्रस्तुतकर्मणामशुभत्वात् सर्वसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय एकं द्वौ वा समयौ यावद् बध्नाति, न परतः । स चानुत्कृष्टादवतीर्य बध्यत इति सादिः । जघन्यतः समयादुत्कृष्टतस्तु समयद्वयात् पुनरप्यनुत्कृष्टानुभागबन्धं गतस्योत्कृष्टोऽध्रुवो भवति, अनुत्कृष्टस्तु सादिः । पुनरपि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेनोत्कृष्टतस्त्वनन्तानन्ताभिरुत्सर्पिणी-अवसर्पिणीभिरुत्कृष्टसंक्लेशं प्राप्य उत्कृष्टानुभागं बध्नतोऽनुत्कृष्टोऽध्रुवतां व्रजतीत्येवमुत्कृष्टानुत्कृष्टेषु जन्तवो भ्राम्यन्तीत्युभयत्र साद्यध्रुवतैव सम्भवति, नेतरविकल्पद्वयमिति ।

तथा 'गोत्रे' गोत्रकर्मणि 'द्विविधः' अजघन्योऽनुत्कृष्टश्च तद्बन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति । तथा "सेसम्मि दुहा" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते जघन्योत्कृष्टभेदद्वये 'द्विधा' द्विविकल्पः साद्यध्रुवरूपो भवति । तत्रोत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टावनुभागबन्धौ यथाक्रमं द्वि-चतुर्विकल्पौ यथा वेदनीय-नाम्नोस्तथा निर्विशेषं भावनीयौ । इदानीं जघन्या-ऽजघन्यौ भाव्येते-तत्र कश्चित् सप्तमनरकपृथिवीनारकः सम्यक्त्वाभिमुखो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कृत्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति, तस्मिंश्च कृते मिथ्यात्वस्य स्थितिद्वयं भवति—अन्तर्मुहूर्तप्रमाणाऽधस्तनी शेषा तूपरितनी, स्थापना [ ] तत्र चाधस्तनीं स्थितिं प्रतिसमयं वेदयन् यस्मादनन्तरसमये सम्यक्त्वं प्राप्स्यति, तत्र चरमसमये वर्तमानो नीचैर्गोत्रमाश्रित्य गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागं बध्नाति । अन्यस्थानवर्ती तावत्यां विशुद्धौ वर्तमान उच्चैर्गोत्रमजघन्यानुभागान्वितं बध्नीयादिति शेषपरिहारेण सप्तमपृथिवीनारकस्य ग्रहणम् । अयं हि यावत् किञ्चिदपि मिथ्यात्वमस्ति तावद् भवप्रत्ययेनैव तिर्यग्द्वयायोग्यं नीचैर्गोत्रं च बध्नाति । तथान्यदा बहुमिथ्यात्वावस्थायामजघन्यरसं निर्वर्तयति, प्राप्तसम्यक्त्वोऽप्युच्चैर्गोत्रस्याजघन्यानुभागं बध्नातीति तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धत्वाद् यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य सम्यक्त्वाभिमुखस्य ग्रहणम् । अयं च जघन्यानुभागस्तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, लब्धसम्यक्त्वस्तु स एवोच्चैर्गोत्रमाश्रित्य अजघन्यानुभागं रचयतीति जघन्योऽध्रुवः, अजघन्यानुभागस्तु सादिः, तच्च स्थानमप्राप्तपूर्वस्यानादिः, अभव्यानां ध्रुवः, भव्यानामध्रुव इति जघन्या ऽजघन्यानुभागौ गोत्रकर्मणो यथोक्तद्वि-चतुर्विकल्पाविति ।

"सेसम्मि दुह" त्ति शेषे भणितमूलप्रकृत्युत्तरप्रकृतिभ्योऽवशिष्टे आयुषि नारक-तिर्यङ्मनुष्य-देवायुर्भेदाच्चतुर्विधे जघन्या-ऽजघन्य-उत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टानुभागबन्धचतुष्केऽपि 'द्विधा' द्विप्रकारः सादि-अध्रुवबन्धलक्षणो बन्धो भवति । तथाहि—अनुभूयमानायुस्त्रिभागादौ प्रतिनियतकाल एवायुषो बध्यमानत्वात् सादित्वात् तदनुभागस्यापि जघन्यादिरूपस्य सादित्वम्, अन्तर्मुहूर्ताच्च परत आयुर्बन्धोऽवश्यमुपरमत इति तस्याध्रुवत्वात् तदनुभागबन्धस्याप्यध्रुवत्वमिति। भाविता अनुभागबन्धमाश्रित्य मूलोत्तरप्रकृतीराश्रित्य भङ्गका इति । अनुभागबन्धः समाप्तः॥७४॥

सम्प्रति प्रदेशबन्धस्यावसरः, ते च प्रदेशाः कर्मवर्गणास्कन्धानां सम्बन्धिनो जीवेन आत्मसात् क्रियन्ते, अतः कर्मवर्गणास्वरूपं वक्तव्यम् । तच्च प्राचीनवर्गणास्वरूपे निगदिते सति ज्ञातुं शक्यम्, अतः प्रसङ्गतः शेषवर्गणास्वरूपमपि निगदनीयम् । शेषाः पुनरौदारिकाद्याः, ताश्च ग्रहणप्रायोग्या-ऽग्रहणप्रायोग्यभेदाद् द्विधा, अत एकाणुक-द्व्यणुकादिस्कन्धनिष्पन्ना अग्रहणवर्गणाद्याः कर्मवर्गणावसाना वर्गणाः सजातीयद्रव्यसमुदायरूपा निरूपयन्नाह—

सेसम्मि दुहा (अनुभागबन्धः) इगदुगणुगाइ जा अभवणंतगुणियाणू ।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया ॥ ७५ ॥

"सेसम्मि दुह" त्ति पदं अनुभागबन्धाधिकारे बहुभिः प्रकारैर्व्याख्यातमित्यनुभागबन्धः समर्थितः । अणुकशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, ततः केवलोऽणुरेवाणुकः परमाणुरित्यर्थः, एकोऽणुको यत्र स एकाणुकः, द्वौ अणुकौ यत्र स द्व्यणुकः, एकाणुकद्व्यणुकस्कन्धा आदिर्येषां त्र्यणुकादीनां त एकाणुकद्व्यणुकादयः "मयूरव्यंसकेत्यादयः" (सिद्ध० ३-१-११६) इति मध्यमपदलोपी समासः, विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात् । किमवसानाः ? इत्याह—"जा अभवणंत" इत्यादि । यावद् इत्यव्ययं पर्यवसानार्थे, अभव्येभ्योऽनन्तगुणिताः, उपलक्षणत्वात् सिद्धानामनन्तभागेऽणवो येषां तेऽभव्यानन्तगुणिताणवः । गमकत्वात् समासः । 'स्कन्धाः' द्विपरमाण्वादिरूपाः । अयमर्थः—एकाणुक-द्व्यणुकादयः स्कन्धा एकैकपरमाणुवृद्ध्या तावन्नेया यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नास्ते स्कन्धा एवम्भूताः । किम् ? इत्याह—औदारिकोचितवर्गणा भवन्ति । तत्रोदाराः—स्फारतामात्रसारा वैक्रियादिशरीरपुद्गलापेक्षया स्थूला इत्यर्थः, तैरित्थम्भूतैः पुद्गलैर्निष्पन्नमौदारिकशरीरम्, तस्यौदारिकस्य निष्पन्नौ कर्तव्यायामुचिताः—योग्या औदारिकोचिताः, ताश्च ता वर्गणाश्च समानजातीयपुद्गलसमूहात्मिका औदारिकोचितवर्गणा भवन्तीत्यक्षरार्थः ।

भावार्थस्त्वयम्—इह समस्तलोकाकाशप्रदेशेषु ये केचन एकाकिनः परमाणवो विद्यन्ते तत्समुदायः सजातीयत्वाद् एका वर्गणा, एवं द्विप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयत्वाद् द्वितीया वर्गणा, त्रिप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धानां सजातीयत्वात् तृतीया वर्गणा,

ऽधिकः-भागो यावन्तः सिद्धानन्तांशाः-सिद्धानन्तभागवर्तिनः, उपलक्षणत्वाद् अभव्यानन्त-
गुणाः । आसामग्रहणवर्गणानामाह—'अन्तरेषु' अन्तरालेष्वौदारिकवैक्रियादिवर्गणानामन्तरेष्वित्यर्थः,
'अग्रहणाः' अग्रहणवर्गणाः । एतदुक्तं भवति-निजनिजजघन्याग्रहणवर्गणैकस्कन्धे ये परमा-
णवस्तेऽभव्यराशिप्रमाणेनानन्तेन गुणिता यावन्तो भवन्ति तावत्योऽग्रहणवर्गणा एकैकपरमा-
णुवृद्धा अन्तरेषु मन्तव्याः । अधुना ग्रहणयोग्यवर्गणानां निजनिजजघन्यवर्गणायाः सकाशाद्
उत्कृष्टवर्गणायां यावन्मात्राऽधिकत्वं तदाह—"एगपएस अहम्मुणिया नियणंतंसाहिया जिट्ठा"
सर्वासां औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-भाषा-ऽऽनापान-मनः-कार्मणवर्गणानां जघन्या
याः प्रागुक्ता ग्रहणयोग्या च जघन्योक्ता योग्यजघन्येत्यर्थः, तस्याः सकाशात्, प्राकृतत्वात् पञ्च-
म्येकवचनस्य लुक्, निजेन-[1] स्वकीयेनानन्ततमेन-अनन्तभागेनाधिका-समधिका भवति । काऽसौ ?
इत्याह—'जेट्ठा' उत्कृष्टा । किमुक्तं भवति ?—औदारिकजघन्यग्रहणवर्गणारम्भकस्कन्धस्या-
नन्तभागे यावन्तोऽणवस्तावन्मात्रेण विशेषेणोत्कृष्टवर्गणारम्भक एकस्कन्धोऽधिको मन्तव्यः ।
अत एवानन्तभागलक्षणेऽस्मिन्नन्तरालेऽनन्तैरेकैकपरमाणुवृद्ध्या जायमाना जघन्योत्कृष्टान्तराल-
वर्तिन्य औदारिकवर्गणा अप्यनन्ताः सिद्धा भवन्ति । एवं वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-भाषा-ऽऽना-
पान-मनः-कार्मणवर्गणास्वपि ग्रहणप्रायोग्यासु निजनिजजघन्यवर्गणारम्भकस्कन्धस्यानन्तभागे
येऽनन्ताः परमाणवस्तावन्मात्रेणानन्तभागेन स्वस्वोत्कृष्टवर्गणारम्भक एकैकः स्कन्धोऽधिको वाच्यः,
तस्य चानन्तभागस्यानन्तपरमाणुमयत्वेनैकैकपरमाणुवृद्धाः सर्वग्रहणवर्गणा अप्यनन्ता अवसेयाः,
इत्यनुत्तरोत्तरवर्गणास्कन्धानामनन्तगुणपरमाणूपचितत्वेनानन्तभागोऽप्युत्तरोत्त[2]रानुप्रवृद्ध-प्रवृद्ध-
प्रप्रवृद्धतमादिभेदेन नानाविधो ज्ञेय इति ॥७७॥

अथ यादृशं कर्मस्कन्धदलिकं जीवो गृह्णाति तदाह—

अंतिमचउफासदुगंधपंचवन्नरसकम्मखंधदलं ।
सव्वजियणंतगुणरसमणुजुत्तमणंतयपएसं ॥ ७८ ॥

जीवः कर्मस्कन्धदलं गृह्णातीत्युत्तरगाथायां सम्बन्धः । तत्र "अंतिम" त्ति अन्ते भवा
अन्तिमाः "पश्चादाद्यन्ताग्रादिमः" (सिद्ध० ६-३-७५) इतीमप्रत्ययः, अन्त्याः-पर्यन्तवर्तिनः,
अन्तिमत्वं च "[3]फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्हसिणिद्धरुक्खऽट्ठ" (गा० ४०) इति कर्म-
विपाकसूत्रप्रतिपादितक्रममाश्रित्य ज्ञेयम् । चत्वारः-चतुःसङ्ख्याः स्पर्शाः-शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-
लक्षणा यस्य कर्मस्कन्धदलस्य-कर्मस्कन्धद्रव्यस्येत्यर्थः, तदन्तिमचतुःस्पर्शम् । अयमत्राशयः—

---

१ सं० २ त० छा० "न्यधिकेना" ॥ २ सं० १-२ "रानु" प्र० ॥ ३ स्पर्शा गुरुर्लघुर्मृदुः खरः शीत उष्णः स्निग्धो रूक्ष इत्यष्टौ ॥

एवमेता औदारिकाद्याः कार्मणवर्गणावसाना वर्गणाः प्ररूपिताः । इत ऊर्ध्वमन्यत्र कर्मप्रकृत्यादिष्वन्या अपि ध्रुवा-ऽचित्ताद्या वर्गणा निरूपिताः, ताश्चेहानुपयोगित्वेन नोक्ताः, तत एवावसेयाः, संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात् प्रस्तुतप्रारम्भस्येति ।

उक्ता वर्गणाः, एताश्च बहुतरपरमाणुनिचयरूपा अभिहिताः, अतः कियन्मात्रं क्षेत्रं ता व्याप्नुवन्ति ? इत्याह-"सुहुमा कमा" इत्यादि । एता औदारिकाद्या वर्गणाः 'क्रमात्' क्रमेण उत्तरोत्तरपरिपाट्या सूक्ष्मा ज्ञातव्याः । अयमर्थः--प्रथममग्रहणवर्गणा औदारिकस्य सूक्ष्माः, ततस्तस्यैव ग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तस्यैवाग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः । ततो वैक्रियस्य ग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तस्यैवाग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः । तत आहारकग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः । ततस्तैजसग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः । ततो भाषाग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः । तत आनापानग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः । ततो मनोग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः, ततस्तदग्रहणवर्गणाः सूक्ष्माः । ततः कार्मणग्रहणवर्गणाः सूक्ष्मा इति । "अवगाहो ऊणूणंगुलअसंखंसु" त्ति अवगाहन्ते-अवस्थानं कुर्वन्ति वर्गणा यस्मिन् असावगाहः-अवस्थानक्षेत्रम् , स च कियन्मात्रः ? इत्याह-'ऊनोनाङ्गुलासङ्ख्येयांशः' न्यूनः न्यूनतरोऽङ्गुलस्यासङ्ख्येयांशः-अङ्गुलासङ्ख्येयभागो यत्र स तथा । एतदुक्तं भवति-पुद्गलद्रव्याणां हि यथा यथा प्रभूतपरमाणुनिचयः सम्पद्यते तथा तथा सूक्ष्मः सूक्ष्मतरः परिणामः सञ्जायते, तत औदारिकवर्गणास्कन्धानामवगाहनाऽङ्गुलासङ्ख्यभागः स एव तदग्रहणवर्गणानां न्यूनः; स एव वैक्रियग्रहणवर्गणानां न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, आहारकग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः; तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तैजसग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः; भाषाग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, आनापानग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः; मनोग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः, तदग्रहणवर्गणानां स एव न्यूनः; कार्मणग्रहणवर्गणानां स एवाङ्गुलासङ्ख्येयभागो न्यूनतर इति ॥ ७६ ॥

उक्तं वर्गणानां स्वरूपमवगाहक्षेत्रमानं च । अधुनैकादिवृद्ध्या वर्धमानानामग्रहणवर्गणानां परिमाणनिरूपणायाह—

इक्किक्कहिया सिद्धाणंतंसा अंतरेसु अग्गहणा ।
सव्वत्थ जहन्नुचिया, नियणंतंसाहिया जिट्ठा ॥ ७७ ॥

एकैकः परमाणुः प्रतिस्कन्धमधिकः-उत्तरवृद्धो यासु ता एकैकाधिका एकैकपरमाणुवृद्धा इत्यर्थः, अग्रहणवर्गणा भवन्तीति योगः । कियत्यः ? इत्याह-'सिद्धानन्तांशाः' सिद्धानामन-

रसः केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः सर्वजीवानन्तगुणान् भागान् प्रयच्छति । ते च भागा अति-
गाऽपरभागाभावान्निरंशा अंशा रसाणव इत्युच्यन्ते । रसाणवो रसविभागा रसपलिच्छेदा
रमाणव इति पर्यायाः । ते च रसाणवः प्रतिस्कन्धं सर्वकर्मपरमाणुषु सर्वजीवानन्तगुणा
ा, तैश्चैवंविधै रसाणुभिर्युक्तं परिगतं कर्मस्कन्धदलिकं जीवो गृह्णातीति । एतदुक्तं भवति—
तुरक्षाद्यधिश्रयणेस्तण्डुलेषु प्रत्येकं यथा रसविशेषं तत्तद्रूपं पक्ता जनयति, तथा अनुभाग-
यवसायैः सर्वस्कन्धेष्वभव्यानन्तगुणकर्मप्रदेशनिष्पन्नेषु प्रतिपरमाणु सर्वजीवेभ्योऽनन्त-
् रसविभागपलिच्छेदान् जीवो जनयतीति । तथा "अणंतयपएसं" ति अनन्ता अभव्या-
णाः सिद्धेभ्योऽनन्तगुणहीनाः प्रदेशाः पुद्गला यत्र तदनन्तप्रदेशम् । इदमुक्तं भवति—
भ्योऽनन्तगुणैः सिद्धेभ्योऽनन्तगुणहीनैः परमाणुभिर्निष्पन्नमेकैकं कर्मस्कन्धं गृह्णाति, तानपि
ान् प्रतिसमयमभव्येभ्योऽनन्तगुणान् सिद्धानामनन्तभागवर्तिन एव गृह्णातीति ॥ ७८॥

एगपएसोगाढं, नियसव्वपएसओ गहेइ जिओ ।
थेवो आउ तदंसो, नामे गोए समो अहिओ ॥ ७९॥

एकस्मिन् प्रदेशेऽवगाढमेकप्रदेशावगाढं—येष्वाकाशप्रदेशेषु जीवोऽवगाढस्तेष्वेव यत् क
द्र्व्यं तद् रागादिस्नेहगुणयोगाद् आत्मनि लगति । यदाह वाचकमुख्यः—

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य, रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम् ॥ (प्रशम० का० ५५)

नन्तरपरम्परप्रदेशावगाढम् , भिन्नदेशस्थस्य कर्मपुद्गलद्रव्यस्य ग्राह्यत्वपरिणामाभावात
हि दहनः स्वप्रदेशस्थितान् योग्यपुद्गलानात्मभावेन परिणमयति इत्येवं जीवोऽपि स्वक्षे
ा द्रव्यमादत्ते न त्वनन्तरपरम्परप्रदेशस्थम् । एतच्च द्रव्यं गृह्यमाणं जीवेन नैकेन प्रदेशे
ादिभिर्वा प्रदेशैः किन्तु सर्वैरप्यात्मीयप्रदेशैरित्येतदेवाह—निजाः--आत्मीयाः सर्वे–स
प्रदेशा निजसर्वप्रदेशास्तैर्निजसर्वप्रदेशतः, आद्यादेराकृतिगणत्वात् तस्प्रत्ययः, निजस
ः कर्मस्कन्धदलिकं गृह्णातीत्यर्थः, जीवप्रदेशानां सर्वेषामपि शृङ्खलावयवानामिव परस
ाविशेषभावात् । तथाहि—एकस्य जीवस्य समस्तलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः प्रदे
ा, मिथ्यात्वादिबन्धकारणोदये च सति एकस्मिन् जीवप्रदेशे स्वक्षेत्रावगाढग्रहणप्रायोग
ग्रहणाय व्याप्रियमाणे सर्वेऽप्यात्मप्रदेशा अनन्तरपरम्परतया तद्द्रव्यग्रहणाय व्याप्रियन्त
हस्ताग्रेण कस्मिंश्चिद् वाह्ये घटादिके गृह्यमाणे मणिबन्ध-कूर्परांऽसादयोऽपि तद्ग्रहणायाऽनन
परतया व्याप्रियन्त इति । अथैवमेकाध्यवसायगृहीतकर्मपुद्गलद्रव्यस्य यस्मिन् कर्मा
मात्रो भागो भवति इत्येतदभिधित्सुराह—"थेवो आउ तदंसो" त्ति इहाष्टविधबन्धके

चतुःस्पर्शोऽन्तिमकस्ता। तथा द्वौ सुरभि-दुरभिलक्षणौ गन्धौ यस्य तद् द्विगन्धम्। पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् पञ्चेति-पञ्चसंख्याका वर्णाः कृष्ण-नील-लोहित-हारिद्र-शुक्ललक्षणा यस्य तत् पञ्चवर्णम्। पञ्च रसाः-तिक्त-कटुक-कषाया-ऽम्ल-मधुरलक्षणा यस्य तत् पञ्चरसम्। कार्मणवर्गणाप्रधानाः स्कन्धाः कर्मस्कन्धाः, त एव तथाविधकाले दलनात् विपाकदर्शनात् "दल त्रिफला विशरणे" (सिद्धहेमधा० गा० २२२) इति वचनात्, दलं-दलकं कर्मस्कन्धदलम्। ततोऽन्तिमचतुःस्पर्शं च तद् द्विगन्धं चान्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धम्, अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धं च तत् पञ्चवर्णं चान्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णम्, अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णं च तत् पञ्चरसं चान्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसम्, अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसं च तत् कर्मस्कन्धदलं चान्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसकर्मस्कन्धदलम्। इह स्कन्धग्रहणेनैतत् सूचयति—ये कर्मस्कन्धास्त एव चतुःस्पर्शवन्तो जीवेन गृह्यन्ते, औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरयोग्यास्तु स्कन्धा अष्टस्पर्शा एव गृह्यन्ते इति, तैजसाद्याश्च ये ग्रहणप्रायोग्यास्तेऽपि सर्वे चतुःस्पर्शवन्त एव जीवेन गृह्यन्त इति मन्तव्यम्। वर्ण-गन्ध-रसाः पुनरौदारिकादीनां सर्वेषामपि स्कन्धानां यथोक्तप्रमाणा एव भवन्ति। उक्तं च—

[1]पंचरसपंचवन्नेहिं परिणया अट्ठ फास दो गंधा।
जावाहारगजोगा, चउफासविसेसिया उवरिं॥ (पञ्चसं० गा० ४१०)

आहारकस्कन्धेभ्य उपरितनास्तैजसाद्याः स्कन्धा ग्रहणप्रायोग्याः सर्वे चतुःस्पर्शा भवन्तीत्यर्थः।

तथा सर्वजीवेभ्योऽनन्तो गुणो येषां ते सर्वजीवानन्तगुणाः, रस्यते—विपाकानुभवनेन आस्वाद्यत इति रसः—अनुभागस्तस्याणवः अंशा रसाणवः, सर्वजीवानन्तगुणाश्च ते रसाणवश्च सर्वजीवानन्तगुणरसाणवस्तैर्युक्तं—समन्वितम्। इदमत्र हृदयम्—इह सर्वजघन्यस्यापि पुद्-

---

१ पञ्चरसपञ्चवर्णैः परिणता अष्ट स्पर्शा द्वौ गन्धौ। यावदाहारकयोग्याश्चतुःस्पर्शविशेषिता उपरि॥

[illegible] नाम-गोत्रयोर्भागः [illegible] प्राप्नोति ननु [illegible] इति ? [illegible] किन्तु [illegible] आयुष्कं [illegible] भवति । [illegible] नाम-गोत्रयोः [illegible] किन्तु नाम-गोत्रे [illegible] भवति [illegible] इत्युक्तं भवति—[illegible] नाम-गोत्रयोर्भागः [illegible] नाम-गोत्रे [illegible] ज्ञाना-[illegible] भवति । ननु तथापि ज्ञानावरणा-[illegible] प्रकृत्या [illegible] उच्यते ? [illegible] एव [illegible] एव [illegible] मोहनीयस्य तु [illegible] इति [illegible] भवति [illegible] ॥ ८० ॥

इत्थं मूलप्रकृतीनां भागप्ररूपणा । साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनां भागप्ररूपणां चिकीर्षुराह—

> णियजाइलद्धदलियाणंतंसो होइ सव्वघाईणं ।
> बज्झंतीण विभज्जइ, सेसं सेसाण पइसमयं ॥ ८१ ॥

[illegible] मूलप्रकृतेः पतिता विद्यन्ते [illegible] प्रकृतिनिज-जातिरिति । तथा तथा निजनिजमूलप्रकृतिरूपया निजजात्या यद् लब्धं प्राप्तं दलिकाग्रं, तस्य योऽनन्ततमो भागः सर्वघातिरसयुक्तः, स एव 'सर्वघातिनीनां' प्रकृतीनां केवलज्ञाना-वरण-केवलदर्शनावरण-निद्रापञ्चक-मिथ्यात्व-संज्वलनवर्जद्वादशकषायलक्षणानां विंशतिसङ्ख्याना-मपि 'भवति' भागो । कथम् पुनरेतत् ? इति चेद् उच्यते—इहाद्यानामपि मूलप्रकृतीनां प्र-[illegible] विभागतः [illegible], ते च [illegible] भागः, स च सर्वघातिप्रकृतीनाम् । [illegible] भागे सर्वघातिरसयुक्तेऽपहारिते शेषस्य [illegible]

जन्तुना यदेकेनाध्यवसायेन[1] निमित्तानाभोगेन गृहीतं दलिकं तस्याष्टौ भागा भवन्ति, सप्तवि बन्धकस्य सप्त भागाः, षड्विधबन्धकस्य षड् भागाः, एकविधबन्धकस्यैको भागः । तत्र यदाऽष्ट बन्धकालेऽष्टविधबन्धको जन्तुर्भवति तदा शेषकर्मस्थित्यपेक्षयाऽऽयुषोऽल्पस्थितित्वेन गृहीत तस्यानन्तस्कन्धात्मककर्मद्रव्यस्यांशः-भागः सर्वस्तोकः आयुष्करूपतया परिणमति, ततो ना गोत्रे च तुल्यस्थितित्वेन स्वस्थाने द्वयोरपि भागः समः, तत आयुष्कभागात्तु 'अधिक' विशेषाधिक इति ॥ ७९ ॥

विग्घावरणे मोहे, सव्वोवरि [2]वेयणीये जेणप्पे ।
तस्स फुडत्तं न हवइ, ठिईविसेसेण सेसाणं ॥ ८० ॥

विघ्नस्य—अन्तरायस्य आवरणयोः—ज्ञानावरण-दर्शनावरणयोर्भागः समः, स्वस्थाने त्वन्त णामपि तुल्यस्थितिकत्वात्, नाम-गोत्रापेक्षया त्वधिकः, विशेषाधिक इत्यर्थः । ततोऽन्तरा ज्ञानावरण-दर्शनावरणभागाद् 'मोहे' मोहनीये भागः 'अधिकः' विशेषाधिकः । ननु तर्हि वेदनी यस्य किंरूपो भागो भवति ? इत्याह—'सर्वोपरि' वेदनीये सर्वकर्मभागोपरिष्टाद् विशेषाधिको भागो भवति । इदमुक्तं भवति—शेषकर्मापेक्षया तावद् मोहनीयस्योपरि भाग उक्तः, वेदनीयस्य पुनर्मोहनीयभागादपि सकाशाद् उपर्येव भागः । अत्र विनेयः पृच्छति—किं पुनरिह कारणं येनो क्तक्रमेण कर्मणां भागाधिक्यं भवति ? इति, अत्र वेदनीयस्य तावत् भागाधिक्ये कारणमाह "तस्स फुडत्तं न हवइ" त्ति 'येन' कारणेन 'अल्पे' स्तोके दलिके सति 'तस्य' वेदनीयस्य कर्मणः 'स्फुटत्वं' सुख-दुःखानुभवनव्यक्तिरिति यावत् 'न' नैव 'भवति' जायते । एतदुक्तं भवति सुख-दुःखजननस्वभावं वेदनीयं कर्म, तद्भावपरिणताश्च पुद्गलाः स्वभावात् प्रचुरा एव सन्तः स्वकार्यं सुख-दुःखरूपं व्यक्तीकर्तुं समर्थाः, शेषकर्मपुद्गलाः पुनः स्वल्पा अपि स्वकार्यं निष्पा दयन्ति । दृश्यते च पुद्गलानां स्वकार्यजननेऽल्पबहुत्वकृतं सामर्थ्यवैचित्र्यम् । यथा हि घृतपूर्णादि कदशनं बहुतरमुपभुक्तं तृप्तिलक्षणं स्वकार्यमातनोति, मृद्वीकादिकं स्वल्पमपि भुक्तं तृप्तिमुत्प कल्पयति; यथा विषं स्वल्पमपि मारणादिकार्यं साधयति, लेष्टुकादिकं तु प्रचुरमिति, एवमिहापि उपनयः कार्यः । तस्मात् प्रभूता वेदनीयपुद्गलाः सुख-दुःखे साधयन्तीति सुख-दुःखस्फुटत्व कारणाद् वेदनीयस्य महान् भाग इति स्थितम् । शेषकर्मणां भागस्य हीनाधिकत्वे कारणमाह "ठिईविसेसेण सेसाणं" ति वेदनीयात् शेषकर्मणामायुष्कादीनां भागस्य हीनत्वमाधिक्यं वा विज्ञेयम् । केन ? इत्याह—स्थितिविशेषेण हेतुभूतेन, यस्य नाम-गोत्रादेरायुष्काद्यपेक्षया महती स्थितिस्तस्य तदपेक्षया भागोऽपि महान्, यस्य त्वसौ हीना तस्य सोऽपि हीन इति भावः ।

---

१ सं० १-२-त० म० छा० ०न चित्रा० ॥ २ सं १-२ त० म० छा० ०यणीइ ते० ॥

पिंडपयडीसु बज्झंतिगाण वन्नरसगंधफासाणं ।

सव्वासिं संघाए, तणुम्मि य तिगे चउक्के वा ॥ (कर्मप्र० गा० २७)

अथवा अवान्तरभेदवत्यः पिण्डप्रकृतयो नामप्रकृतयः । यदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

पिंडपगईओ नामपगईओ त्ति ।

तु नाम्नो बध्यमानानामेतासां गति-जाति-शरीर-बन्धन-संघात[1]न-संहनन-संस्थाना-ऽङ्गोपाङ्गाऽऽनुपूर्वी-वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शा-ऽगुरुलघु-पराघात-उपघात-उच्छ्वास-निर्माण-तीर्थकराणां आतपोद्योत-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगति-त्रस-स्थावर-बादर-सूक्ष्म-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-प्रत्येक-साधारण-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-सुभग-दुर्भग-सुस्वर-दुःस्वरा-ऽऽदेया-ऽनादेय-यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति-लक्षणानां च मूलभागो विभज्य समर्पणीयः । अत्रैव विशेषमाह—वर्णेत्यादि । वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शानां प्रत्येकं यद् भागलब्धं दलिकमायाति तद् सर्वेष्वपि स्वावान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य दीयते । तथाहि—वर्णनाम्नो यद् भागलब्धं दलिकं तत् पञ्चधा कृत्वा शुक्लादिभ्योऽवान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य प्रदीयते, एवं गन्ध-रस-स्पर्शानामपि यस्य यावन्तो भेदास्तस्य तत्सम्बन्धिनो तावन्ति भागाः कृत्वा तावद्भ्योऽवान्तरभेदेभ्यो दातव्याः । तथा सङ्घाते तनौ च प्रत्येकं यद् भागलब्धं दलिकमायाति तत् त्रिधा चतुर्धा वा कृत्वा त्रिभ्यश्चतुर्भ्यो वा दीयते । तत्रौदारिक-तैजस-कार्मणानि वैक्रिय-तैजस-कार्मणानि वा त्रीणि शरीराणि सङ्घातान् वा युगपद्बध्नता त्रिधा क्रियते, वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणरूपाणि चत्वारि शरीराणि सङ्घातान् वा बध्नता चतुर्धा क्रियते । "सत्तेक्कार विगप्पा बंधणनामाण" (कर्मप्र० गा० २८) बन्धननाम्नो भागलब्धं यद् दलिकमायाति तस्य सप्त विकल्पाः-सप्त भेदाः शरीरत्रये, एकादश वा विकल्पाः शरीरचतुष्टये भवन्ति । तत्रौदारिकौदारिक १ औदारिकतैजस २ औदारिककार्मण ३ औदारिकतैजसकार्मण-तैजसतैजस ५ तैजसकार्मण ६ कार्मण[2]कार्मण ७ लक्षणबन्धनानि बध्नता सप्त, वैक्रियचतुष्का-ऽऽहारकचतुष्क-तैजसत्रिकलक्षणान्येकादश बन्धनानि बध्नता एकादश, अवशेषाणां च प्रकृतीनां यद् भागलब्धं दलिकमायाति तद् न भूयो विभज्यते, तासां युगपदवान्तरद्वित्र्यादिभेदबन्धाभावात्, तेन तासां तदेव परिपूर्णं दलिकं भवतीति । गोत्रस्य तु यद् भागागतं द्रव्यं तद् एकस्या एव बध्यमानप्रकृतेः सर्वं भवति, यद् गोत्रस्यैकदा उच्चैर्गोत्रलक्षणा नीचैर्गोत्रलक्षणा वैकैव प्रकृतिर्बध्यते । अन्तरायभागलब्धं तु द्रव्यं दानान्तरायादिप्रकृतिपञ्चकतया परिणमति, यत एताः पञ्चापि ध्रुवबन्धित्वात् सर्वदैव बध्यन्त इति ।

---

१ सं० १-२ छा० त० म० ०त-संहन० ॥ २ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु समेष्वप्यादर्शेषु एतादृश एव पाठः, परं कर्मप्रकृतिटीकायां तु-०कार्मण ७-रूपाणि वैक्रियचतुष्क-तैजसत्रिकरूपाणि वा सप्त बन्धनानि बध्नता सप्त । वैक्रिय० इत्येवंरूपः पाठो दृश्यते ॥

देशघातिरसोपेतस्य का वार्त्ता ? इत्याह–"वज्झंतीण विभज्जइ" इत्यादि । बध्यमाना
त्वबध्यमानानां 'विभज्यते' विभागीक्रियते, विभज्य विभज्य दीयत इत्यर्थः । 'शेषं' ता
प्रकृत्यनन्तभागावशिष्टं प्रदेशाग्रं, कासां बध्यमानानां विभज्यते ? इत्याह–'शेषाणां' ता
प्रकृत्यवशिष्टानां स्वजातिप्रकृतीनाम्, कथम् ? इत्याह–'प्रतिसमयं' प्रतिक्षणम्, बन्धनवि
क्रिययोरुभयोरपि क्रियाविशेषणमिदं योजनीयम् ।

अयमत्र तात्पर्यार्थः–इह ज्ञानावरणस्य पञ्च तावदुत्तरप्रकृतयः, तासु चैका केवल
वरणलक्षणा सर्वघातिनी, शेषाश्चतस्रो देशघातिन्यः । तत्र ज्ञानावरणस्य भागे यद् दलि
याति तस्य यद् अनन्तभागवर्ति सर्वघातिरसोपेतं द्रव्यं तत् केवलज्ञानावरणस्यैव भाग
परिणमति । शेषं तु देशघातिरसोपेतं द्रव्यं चतुर्धा विभज्यते, तच्च मतिज्ञानावरण-श्रुता
वरणा-ऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्यायज्ञानावरणेभ्यो दीयते । दर्शनावरणस्य च नव उत्तरप्र
तासु च केवलदर्शनावरणं निद्रापञ्चकं चेति षट् सर्वघातिन्यः, शेषास्तिस्रो देशघाति
तत्र दर्शनावरणस्य भागे यद् द्रव्यमागच्छति तस्य मध्ये यत् सर्वघातिरसोपेतमनन्तभाग
वर्ति द्रव्यं तत् षड्भिर्भागैर्भूत्वा सर्वघातिप्रकृतिषट्करूपतयैव परिणमति, शेषं तु देशघाति
रसं द्रव्यं शेषप्रकृतित्रयभागरूपतयेति । वेदनीयस्य पुनः सातरूपाऽसातरूपा चैका [illegible]
[illegible] अपि, साता-ऽसातयोः परस्परं विरोधात्, अतो वेदनीय
[illegible]

ाख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततः प्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिकं, ततः प्रत्या-
ानावरणलोभस्य विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धि-
धस्य विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिमायाया विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिलोभस्य विशेषा-
कम् । ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम् । ततो जुगुप्साया अनन्तगुणम्, ततो भयस्य विशे-
धिकम् । ततो हास्य-शोकयोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततो रति-
त्योर्विशेषाधिकं, तयोः पुनः स्वस्थाने तुल्यम् । ततः स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने
द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततः संज्वलनमानस्य विशे-
धिकम् । ततः पुरुषवेदस्य विशेषाधिकम् । ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकं, ततः संज्व-
लोभस्यासङ्ख्येयगुणम् । तथा चतुर्णामप्यायुषामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं परस्परं तुल्यम् । नाम-
ण्युत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं गतौ देवगति-नरकगत्योः सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि तुल्यम् ।
ो मनुजगतौ विशेषाधिकं, ततस्तिर्यग्गतौ विशेषाधिकम् । तथा जातौ चतुर्णां द्वीन्द्रियादि-
तिनाम्नामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम्, तत एकेन्द्रियजाते·
ोषाधिकम् । तथा शरीरनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकशरीरस्य, ततो वैक्रिय-
ीरस्य विशेषाधिकं, तत औदारिकशरीरस्य विशेषाधिकं, ततस्तैजसशरीरस्य विशेषाधिकं,
ः कार्मणशरीरस्य विशेषाधिकम् । एवं सङ्घातनाम्नोऽपि द्रष्टव्यम् । तथा बन्धननाम्नि सर्वस्तो-
त्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाहारकबन्धननाम्नः, तत आहारकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं,
आहारककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत आहारकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषा-
कं, ततो वैक्रियवैक्रियबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं,
ो वैक्रियकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं,
औदारिकौदारिकबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत
दारिककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं,
स्तैजसतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततस्तैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततः कार्मण-
र्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संस्थाननाम्नि संस्थानानामाद्यन्तवर्जानां चतुर्णामुत्कृष्ट-
प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यं, ततः समचतुरस्रसंस्थानस्य विशेषाधिकं,
ो हुण्डसंस्थानस्य विशेषाधिकम् । तथाऽङ्गोपाङ्गनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाङ्गो-
ङ्गनाम्नः, ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकं, ततोऽप्यौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकम् ।
ा संहनननाम्नि सर्वस्तोकमाद्यानां पञ्चानां संहनननामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं, स्वस्थाने तु तेषां
स्परं तुल्यम्, ततः सेवार्तसंहननस्य विशेषाधिकम् । तथा वर्णनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदे-
ग्रं कृष्णवर्णनाम्नः, ततो नीलवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततो लोहितवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततो

ननु "बज्झंतीण विभज्जइ" इति वचनेन बध्यमानानामेवायं भागविधिरुक्तः, यदा यस्वगुणस्थाने बन्धव्यवच्छेदः सम्पद्यते तदा तासां भागलभ्यं द्रव्यं कस्या भागतया भवति? इति अत्रोच्यते–यस्याः प्रकृतेर्बन्धो व्यवच्छिद्यते तद्भागलभ्यं द्रव्यं यावदेकाऽपि सजातीयप्रकृतिर्बध्यते तावत् तस्या एव तद् भवति । यदा पुनः सर्वासामपि सजातीयप्रकृतीनां बन्धो व्यवच्छिन्नो भवति न च मिथ्यात्वस्येवापरा सजातीया प्रकृतिरस्ति तदा तद्भागलभ्यं द्रव्यं स्वमूलप्रकृत्यन्तर्गतानां विजातीयप्रकृतीनामपि भवति । यदा ता अपि व्यवच्छिन्ना भवन्ति तदा तद्दलिकं सर्वमप्यन्यस्या मूलप्रकृतेः सम्पद्यते ।

निदर्शनं चात्र यथा–स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धव्यवच्छेदे तद्भागलभ्यं द्रव्यं सर्वमपि सजातीययोर्निद्रा-प्रचलयोर्भवति, तयोरपि बन्ध[1]विच्छेदे सति स्वमूलप्रकृत्यन्तर्गतानां चक्षुर्दर्शनावरणादीनां विजातीयानामपि भवति, तेषामपि च बन्धे विच्छिन्ने उपशान्तमोहाद्यवस्थायां निःशेषं सातवेदनीयस्यैव भवति। मिथ्यात्वस्य तु बन्धविच्छेदे सति सजातीयाभावात् तद्भागलभ्यं दलिकं सर्वं विजातीयानामेव क्रोधादीनामाद्यद्वादशकषायाणां भवतीत्यनया दिशा तावद् नेयं यावत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने मोहनीयस्य भागलभ्यं द्रव्यं षड्भागतया भवति । तत ऊर्ध्वमुपशान्ताद्यवस्थायां सर्वथा शेषमूलप्रकृतीनां बन्ध[2]विच्छेदे तद्भागलभ्यं द्रव्यं सर्वं सातवेदनीयस्यैव भागतया भवतीति ।

अत्रैव कर्मप्रकृतिटीकाकारोपदर्शितं स्वस्वोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे जघन्यपदे चाल्पबहुत्वं विनेयजनानुग्रहाय प्रदर्श्यते–तत्रोत्कृष्टपदे सर्वस्तोकं प्रदेशाग्रं केवलज्ञानावरणस्य, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणस्यानन्तगुणम्, ततोऽवधिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम्, ततः श्रुतज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम्, ततो मतिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा दर्शनावरणे उत्कृष्टपदे सर्वस्तोकं प्रचलायाः प्रदेशाग्रम्, ततो निद्राया विशेषाधिकम्, ततः प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिकम्, ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिकम्, ततः स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिकम्, ततः केवलदर्शनावरणस्य विशेषाधिकम्, ततोऽवधिदर्शनावरणस्या[3]नन्तगुणम्, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम्, ततः चक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमसातवेदनीयस्य, ततः सातवेदनीयस्य विशेषाधिकम् । तथा मोहनीये सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकं, ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषाधिकं, ततः

---

१ सं० १ त० ध्रा० बन्धव्यवच्छेद० । २ सं० २ बन्धव्यवच्छेदो ॥ ३ यद्यपि [illegible] [illegible] पाठः नास्ति' तथापि अस्मत्पार्श्वस्थेषु [illegible] [illegible] पाठः समस्तीति ॥

अत्र सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं केवलज्ञानावरणस्य, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणस्यानन्तगुणं, ततोऽवधिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकं, ततः श्रुतज्ञानावरणस्य विशेषाधिकं, ततो मतिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा दर्शनावरणस्य सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं निद्रायाः, ततः प्रचलाया विशेषाधिकं, ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिकं, ततः प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिकं, ततः स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिकं, ततः केवलदर्शनावरणस्य विशेषाधिकं, ततोऽवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुणं, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकं, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा मोहनीये सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकम् । तत एवमेव प्रत्याख्यानावरणमान-क्रोध-माया-लोभा-ऽनन्तानुबन्धिमान-क्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकत्वं वक्तव्यम् । ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम् । ततो जुगुप्साया अनन्तगुणम् । ततो भयस्य विशेषाधिकम् । ततो हास्य-शोकयोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततो रति-अरत्योर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततोऽन्यतरवेदस्य विशेषाधिकम् । ततः संज्वलनमान-क्रोध-माया-लोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकम् । तथाऽऽयुषि सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं तिर्यङ्-मनुष्यायुषोः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम् । ततो देव-नारकायुषोरसङ्ख्येयगुणं, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम् । तथा नामकर्मणि गतौ सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं तिर्यग्गतेः, ततो मनुजगतेर्विशेषाधिकं, ततो देवगतेरसङ्ख्येयगुणं, ततो नरकगतेरसङ्ख्येयगुणम् । तथा जातौ सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं चतुर्णां द्वीन्द्रियादिजातिनाम्नां, तत एकेन्द्रियजातेर्विशेषाधिकम् । तथा शरीरनाम्नि, सर्वस्तोकमौदारिकशरीरनाम्नः, ततस्तैजसशरीरनाम्नो विशेषाधिकं, ततः कार्मणशरीरनाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽसङ्ख्येयगुणं, ततोऽप्याहारकशरीरनाम्नोऽसङ्ख्येयगुणम् । एवं [1]सङ्घातनाम्नोऽपि वाच्यम् । अङ्गोपाङ्गनाम्नि सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नः, ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽसङ्ख्येयगुणं, ततोऽप्याहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽसङ्ख्येयगुणम् । तथा सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं नरकगति-देवगत्यानुपूर्व्योः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्, ततो मनुजानुपूर्व्या विशेषाधिकं, ततस्तिर्यग्गत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोकं त्रसनाम्नः, ततः स्थावरनाम्नो विशेषाधिकम् । एवं बादर-सूक्ष्मयोः पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोः प्रत्येक-साधारणयोश्च । शेषाणां तु नामप्रकृतीनामल्पबहुत्वं न विद्यते, तथा साता-ऽसातवेदनीययोरुच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रयोरपि । अन्तराये पुनर्यथोत्कृष्टपदे तथैवावगन्तव्यमिति ॥ ८१ ॥

---

[1] कर्मप्रकृतिटीकायां तु-"सङ्घातननाम्नोऽ०" इत्येवंरूपः पाठः ॥

हारिद्रवर्णनाम्नो विशेपाधिकं, ततः शुक्लवर्णनाम्नो विशेपाधिकम् । तथा गन्धनाम्नि [illegible] सुरभिगन्धनाम्नः, ततो दुरभिगन्धनाम्नो विशेपाधिकम् । तथा रसनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे [illegible] शाग्रं कटुरसनाम्नः, ततस्तिक्तरसनाम्नो विशेपाधिकं, ततः कपायरसनाम्नो विशेपाधिकं, ततो [illegible] रसनाम्नो विशेपाधिकं, ततो मधुररसनाम्नो विशेपाधिकम् । तथा स्पर्शनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कर्कश-गुरुस्पर्शनाम्नोः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततो मृदु-लघुस्पर्शनाम्नो विशेपाधिकम् , स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततो रूक्ष-शीतस्पर्शनाम्नोर्विशेपाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततः स्निग्ध-उष्णस्पर्शनाम्नोर्विशेपाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । तथाऽऽनुपूर्वीनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं देवगति-नरकगत्यानुपूर्व्योः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततो मनुजगत्यानुपूर्व्या विशेपाधिकं, ततस्तिर्यग्गत्यानुपूर्व्या विशेपाधिकम् । ❀ तथा विहायोगतिनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं प्रशस्तविहायोगतिनाम्नः, ततोऽप्रशस्तविहायोगतिनाम्नो विशेपाधिकम् । तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे [illegible] [illegible]नाम्नः, ततो विशेपाधिकं स्थावरनाम्नः । एवं बादर-सूक्ष्मयोः पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोः [illegible] [illegible]योः स्थिरा-ऽस्थिरयोः शुभा-ऽशुभयोः सुभग-दुर्भगयोः सुस्वर-दुःस्वरयोरादेया[illegible]

[illegible]

...द्धिपरिकलितः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां परिकल्पयति । तदेवं ...। यथाऽतिविशुद्धिस्तथा तथा ह्रस्वकाल-बहुप्रदेशाग्रत्वं च गुणश्रेणेर्भवतीति ॥ ८२ ॥

निरूपिता गुणश्रेणिरेकादशधा । सम्प्रत्यस्या एव स्वरूपं पूर्वप्रदर्शितसम्यक्त्वादिगुणारूढ-...तूनां मध्ये यस्य जन्तोर्यावद्गुणा दलिकनिर्जरा तां च प्ररूपयन्नाह—

[1]गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसंखगुणणाए ।
एयगुणा पुण कमसो, असंखगुणनिज्जरा जीवा ॥ ८३ ॥

गुणेन-गुणकारेण श्रेणिर्गुणश्रेणिः । श्रेणिशब्दवाच्यमाह—"दलरयण" त्ति दलस्य-उपरि-...नस्थितेरवतारितप्रदेशाग्रस्य रचना-सन्न्यासो दलरचना । कथं पुनर्दलिकरचना ? कस्माच्चारभ्य ...न च गुणकारेण विधीयते जन्तुना ? इत्याह—'अनुसमयं' ति समयं समयमनु-लक्षी-...त्य प्रतिसमयमित्यर्थः, 'उदयाद्' उदयक्षणादारभ्य 'असङ्ख्यगुणनया' असङ्ख्यातगुणकारेण । ...मुक्तं भवति—उपरितनस्थितेरवतारितं दलिकमुदयक्षणे स्तोकं जन्तुर्निरचयति, द्वितीयक्षणे-...सङ्ख्यातगुणम्, तृतीयक्षणेऽसङ्ख्यातगुणम् इत्येवं प्रतिसमयमसङ्ख्यातगुणकारेण दलरचना तावद् ...या यावद् गुणश्रेणिमस्तकमिति । तथोपरितनस्थितेर्दलिकावतारणस्याप्ययमेव न्यायो वाच्यः । ...था—गुणश्रेणिन्यसनयोग्यमुपरितनस्थितेः प्रथमसमये स्तोकं गृह्णाति, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्यात-...णम्, एवं प्रतिसमयमसङ्ख्यातगुणकारेण तावद् नेयं यावत् चरमसमय इति । उक्तं च—

[2]उवरिल्लठिईहिंतो, घित्तूणं पुग्गले उ सो खिवइ ।
उदयसमयम्मि थोवे, तत्तो य असंखगुणिए उ ॥
बीयम्मि खिवइ समए, तइए तत्तो असंखगुणिए उ ।
एवं समए समए, अंतमुहुत्तं तु जा पुन्नं ॥
दलियं तु गिण्हमाणो, पढमे समयम्मि थोवयं गिण्हे ।
उवरिल्लठिईहिंतो, बीयम्मि असंखगुणियं तु ॥
गिण्हइ समए दलियं, तइए समए असंखगुणियं तु ।
एवं समए समए, जा चरिमो अंतसमओ त्ति ॥

...सटीकेयं गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य १०४ गाथा-तट्टीकासमाना ॥
...उपरितनस्थितेर्गृहीत्वा पुद्गलांस्तु स क्षिपति । उदयसमये स्तोकांस्ततश्चासङ्ख्यगुणितांस्तु ॥
...तीये क्षिपति समये तृतीयस्मिंस्ततोऽसङ्ख्यगुणितांस्तु । एवं समये समये अन्तर्मुहूर्त्तं तु यावत् पूर्णम् ॥
...लिकं तु गृह्णन् प्रथमे समये स्तोककं गृह्णीयात् । उपरितनस्थितेर्द्वितीये असङ्ख्यगुणितं तु ॥
...ह्णाति समये दलिकं तृतीये समयेऽसङ्ख्यगुणितं तु । एवं समये समये यावच्चरमोऽन्तसमय इति ॥

प्रतिपादितं मूलोत्तरप्रकृतीनां भागस्वरूपम् । सम्प्रति भागलब्धदलिकं प्रततरं गुणश्रे[illegible] रचनयैव जन्तुः क्षपयति अतो गुणश्रेणिस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मदरसव्वविरई उ अणविसंजोयदंसखवगे य ।
मोहसमसंतखवगे, खीणसजोगियर गुणसेढी ॥ ८२ ॥

गुणश्रेणय एकादश भवन्तीति सम्बन्धः । कुत्र कुत्र ? इत्याह—" सम्मदरस[illegible] उ " इत्यादि । तत्र ""सम्म" त्ति सम्यक्त्वं-सम्यग्दर्शनं तल्लाभे एका गुणश्रेणिः । [illegible] विरतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् दरविरतिः–देशविरतिस्तल्लाभे द्वितीया गुणश्रेणिः । सर्वविरतिः-सम्पूर्णविरतिस्तल्लाभे तृतीया गुणश्रेणिः । "अणविसंजोय" त्ति अनन्तानुबन्धिविसंयोजनायां चतुर्थी गुणश्रेणिः । "दंसखवगे" त्ति पदैकदेशे पदप्रयोगदर्शनाद् दर्शनस्य-दर्शनमोहनीयस्य क्षपको दर्शनक्षपकस्तत्र तद्विषया पञ्चमी गुणश्रेणिः । चशब्दः समुच्चये । "मोहसम" त्ति मोहस्य-मोहनीयस्य शमः-शमक उपशमकः स चोपशमश्रेण्यारूढोऽनिवृत्तिबादरः सूक्ष्मसं[illegible], तत्र मोहशमे षष्ठी गुणश्रेणिः । "संत" त्ति शान्तः-उपशान्तमोहगुणस्था[illegible] तत्र सप्तमी गुणश्रेणिः । "खवगि" त्ति क्षपकः-क्षपकश्रेण्यारूढोऽनिवृत्तिबादर[illegible], तत्र क्षपकेऽष्टमी गुणश्रेणिः । "खीण" त्ति क्षीणः-क्षीणमोह[illegible] । "सजोगि" त्ति सयोगिकेवलिनो दशमी गुणश्रेणिः । "इयर" त्ति [illegible] गुणश्रेणिरिति गाथाक्षरार्थः ।

स्तत्प्राप्तेर्व्यवधानम् अन्तरालमिति यावत्, 'हस्वं' जघन्यम् । तत्र सास्वादनगुणस्थानकस्य जघन्यमन्तरं पल्योपमासंख्येयभागः, इतरगुणस्थानकानां तु जघन्य'मन्तर्मुहूर्तमित्यक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरयम्-योऽनादिमिथ्यादृष्टिरुद्वलितसम्यक्त्व-मिश्रपुञ्जो वा मिथ्यादृष्टिः षड्विंशतिसत्कर्मा सन् अन्तरकरणादिना प्रकारेणोपलब्धौपशमिकसम्यक्त्वोऽनन्तानुबन्ध्युदयात् सास्वादनभावमनुभूय मिथ्यात्वं गतः सन् यदि तदेव सास्वादनत्वं पुनर्लभतेऽन्तरकरणप्रकारेणैव तदा जघन्यतोऽपि पल्योपमासंख्येयभागोर्ध्वं लभते, नार्वाक् । किं कारणम् ? इति चेद् उच्यते-ततः सास्वादनाद् मिथ्यात्वे गतस्य प्रथमसमये सम्यक्त्व-मिश्रपुञ्जौ सत्तायामवश्यं तिष्ठत एव । न च तयोः सत्तायां वर्तमानयोः पुनरौपशमिकसम्यक्त्वं लभते, तदभावात् सास्वादनत्वं दूरापास्तमेव । यदि पुञ्जद्वयसद्भावे औपशमिकसम्यक्त्वस्य न लाभस्तर्हि पल्योपमासंख्येयभागेऽप्यतिक्रान्ते कथं सास्वादनलाभः ? इति चेद् उच्यते-इह सम्यक्त्व-मिश्रपुञ्जौ मिथ्यात्वं गतः प्रतिसमयमुद्वर्तयति, तद्दलिकं प्रतिसमयं मिथ्यात्वे प्रक्षिपतीत्यर्थः । अनेन च क्रमेणैतावुद्वर्त्यमानौ पल्योपमासंख्येयभागेन सर्वथोद्वर्तितौ निःसत्ताकं नीतौ भवतः, इत्थमेव कर्मप्रकृत्यादिष्वभिहितत्वात् । ततः पल्योपमासंख्येयभागेन मिश्र-सम्यक्त्वपुञ्जयोरुद्वर्तितयोस्तदन्ते कश्चिद् जन्तुः पुनरप्यौपशमिकसम्यक्त्वमासाद्य सास्वादनत्वं गच्छतीत्येवं सास्वादनस्य पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तरं भवतीति ।

नन्वेकदोपशमश्रेणेः प्रतिपतितः सास्वादनभावमनुभूय यदा पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेन एतामेवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्य ततः प्रतिपतितः सास्वादनभावं लभते तदा जघन्यतोऽल्पमेवान्तरं लभ्यते, तत्किमिति पल्योपमासंख्येयभागो जघन्यमन्तरमित्युक्तम् ? सत्यम्, उपशमश्रेणेः प्रतिपतितो यः सास्वादनत्वं गच्छति स केवलं मनुजगतिभावित्वेनाल्पत्वाद् नेह विवक्षित इतीतरस्यैव प्रभूतस्य चतुर्गतिवर्तित्वादन्तरालचिन्तेति । इतरगुणस्थानकेभ्यश्च मिथ्यादृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अविरत-सम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तोपशमश्रेणिगतापूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहलक्षणेभ्यः परिभ्रष्टः पुनर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते तान्येव गुणस्थानकानि लभते इति तेषां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमेवान्तरालं भवति । तथाहि-कश्चिद् जीव उपशमश्रेण्यारूढः सन् उपशान्तत्वमपि सम्प्राप्य प्रतिपतितो मिथ्यादृष्टित्वं या[2]वदवाप्नोति, ततो भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्तेन तान्येवोपशान्तगुणस्थानान्तानि यदाऽऽरोहति त[3]दा शेषाणां सास्वादन-मिश्रगुणस्थानकवर्जितानां गुणस्थानकानां प्रत्येकं जघन्यत आन्तर्मौहूर्तिकमन्तरं भवति, एकस्मिंश्च भवे वारद्वयमुपशमश्रेणिकरणं समनुज्ञातमेव । उक्तं च--

१ सार्द्धशतकप्रकरणटीकायां °म्यगन्तरमन्तर्मु° । २ छा० म० °वदाप्नोति ॥ ३ सं० १ म० दावशेषा° ॥

तथेहापूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिकरणाद्धाद्वयाद् विशेषाधिकोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो गुणश्रेणेः कालो भवति; तावन्तं च कालं दलिकविरचनं करोति । तथाऽधस्तनाधस्तनोदयक्षणे वेदनतः क्षीणे सति शेषक्षणेषु दलिकं विरचयति, न पुनरुपरि गुणश्रेणिं वर्धयति । उक्तं च—

[1]सेढीएँ कालमाणं, दुण्ह य करणाण समहियं जाण ।
खिज्जइ सा उदएणं, जं सेसं तम्मि निक्खेवो ॥

सम्यक्त्वश्रेणेरयं क्रमः । शेषाणामपि श्रेणीनां दलरचनायां प्राय एष एव विधिः किञ्चिद्विशेषोऽपि चास्ति, केवलं स कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थान्तरादवसेयो नेह प्रतन्यते, ग्रन्थगौरवभयात्। अधुना यद्गुणवशाद् जीवानां यावती निर्जरा तामाह—एते—प्रागुपदर्शिताः सम्यक्त्व-देशविरति-सर्वविरत्यादयो गुणाः धर्मा येषां ते एतद्गुणा जीवा इत्युत्तरेण सम्बन्धः । कथम् ? इत्याह 'पुनः' इति पुनःशब्दो गुणश्रेणिस्वरूपापेक्षया व्यतिरेकार्थः । 'क्रमशः' यथोत्तरं क्रमेणासङ्ख्यगुणिता निर्जरा-कर्मपुद्गलपरिशाटरूपा येषां तेऽसङ्ख्यगुणनिर्जराः 'जीवाः' सत्त्वा भवन्तीति शेषः। तत्र सम्यक्त्वगुणा जीवाः स्तोकपुद्गलनिर्जरकाः, ततो देशविरता असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः सर्वविरता असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततोऽनन्तानुबन्धिविसंयोजका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततो दर्शनक्षपका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततो मोहशमका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, तत उपशान्तमोहा असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः क्षपका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः क्षीणमोहा असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः सयोगिकेवलिनोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततोऽप्ययोगिकेवलिनोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः ॥८३॥

इहोत्तरोत्तरगुणारूढानां जन्तूनामसङ्ख्येयगुणनिर्जराभाक्त्वमुक्तम्, उत्तरोत्तरगुणाश्च यथाक्रमविशुद्धतरकर्मविशुद्धिप्रकर्षस्वरूपाः सन्तो गुणस्थानकान्युच्यन्ते, अतस्तेषां गुणस्थानकानां जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरालं प्रतिपादयन्नाह—

[2]पलियासंखंसमुहू, सासणइयरगुण अंतरं हस्सं ।
गुरु मिच्छि बे छसट्ठी, इयरगुणे पुग्गलद्धंतो ॥८४॥

इह 'भामा सत्यभामा' इति न्यायात् पल्योपमासङ्ख्यांशोऽन्तर्मुहूर्तं च जघन्यमन्तरं [illegible]सेयः । केषाम् ? इत्याह—सास्वादनश्च इतरगुणाश्च—अवशिष्टगुणस्थानकानि सास्वादनेतरगुणाः तेषाम्, यथाक्रमं [illegible] । 'अन्तरं' विवक्षितगुणस्थानावस्थितेः प्रच्युतस्य

[illegible]

णमुद्धारस्तद्विषयं-तत्प्रधानं वा पल्योपममुद्धारपल्योपमम् १ । अद्धा-कालः, स च प्रस्तावाद् ाग्राणां तत्खण्डानां वाऽपहारे प्रत्येकं वर्षशतलक्षणस्तत्प्रधानं पल्योपममद्धापल्योपमम् २ । त्रम्-आकाशप्रदेशरूपं तत्प्रधानं पल्योपमं क्षेत्रपल्योपमं च ३ इह । "समयवाससयसमए तवहारो" त्ति तत्रोद्धारपल्योपमे केशानां-वालाग्राणां समये समयेऽपहारः-उद्धरणं क्रियते, द्धापल्योपमे वर्षशते केशापहारः क्रियते, क्षेत्रपल्योपमे समये समये केशापहारः-केशस्पृष्टा-स्पृष्टाकाशप्रदेशापहारः क्रियते । तत्र "दीवोदहिआउतसाइपरिमाणं" ति तत्रोद्धारपल्योपमेन योजनं द्वीपोदधिपरिमाणं-द्वीपा उदधयश्चानेन प्रमीयन्ते, तथाऽद्धापल्योपमेन प्रयोजनम् ायुःपरिमाणं-[1]देव-नारक-तिर्यङ्-मनुष्याणामायूंष्यनेन मीयन्त इत्यर्थः, क्षेत्रपल्योपमेन प्रयोजनं सादिपरिमाणम्, आदिशब्दात् पृथिवीकायिका-ऽप्कायिक-तेजस्कायिक-वायुकायिक-वनस्पति-ायिकानां परिमाणं ग्राह्यम् । उक्तं च—

[2]एएण खित्तसागरउवमाणेणं हविज्ज नायव्वं ।
पुढविदगअगणिमारुयहरियतसाणं परीमाणं ॥ (जीवसमा० गा० १३३)

ते गाथाक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—इह त्रिविधं पल्योपमम् । तद्यथा—उद्धारपल्योपमम् द्धापल्योपमम् क्षेत्रपल्योपमम् । पुनरेकैकं द्विधा—बादरं सूक्ष्मं च । तत्रायाम-विस्तराभ्याम-ाहेन चोत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नैकयोजनप्रमाणो वृत्तत्वाच्च परिधिना किञ्चिदूनषड्भागाधिकयोजन-यमानः पल्यो मुण्डिते शिरसि एकेनाह्ना द्वाभ्यामहोभ्यां यावदुत्कर्षतः सप्तभिरहोभिः प्ररूढानि ानि वालाग्राणि तैः प्रचयविशेषाद् निविडतरमाकर्णं तथा भ्रियते यथा तानि वालाग्राणि वह्निर्न इति वायुर्नापहरति जलं नोत्क्लोथयति, ततः समये समये एकैकवालाग्रापहारेण यावता कालेन पल्यः सकलोऽपि सर्वात्मना निर्लेपो भवति तावान् कालः सङ्ख्येयसमयमानो बादरमुद्धार-ल्योपमम् । एतेषां च दशकोटिकोट्यो बादरमुद्धारसागरोपमम्, महत्त्वात् सागरेण—समुद्रेणो-मा यस्येति कृत्वा । बादरे च प्ररूपिते सूक्ष्मं सुखावसेयं स्यादिति बादरोद्धारपल्योपम-सागरो-मयोः प्ररूपणम्, न पुनरेतत्प्ररूपणेऽन्यद् विशिष्टं फलमस्तीति । एवं बादरेष्वद्धाक्षेत्रपल्योपम-ागरोपमेष्वपि वक्तव्यम् । यदुक्तमनुयोगद्वारेषु—

[3]तत्थ णं जे से वावहारिए उद्धारपलिओवमे से णं इमे, से जहानामए पल्ले सिया जोयणं ायामविक्खंभेणं जोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं तिगुणसविसेसं परिरएणं, से णं [illegible]

१ त० म० देवानां नारका० । छा० सं १-२ देवानां नरक० ॥
२ एतेन क्षेत्रसागरोपमानेन भवेज्ज्ञातव्यम् । पृथ्वीदकाग्निमारुतहरितत्रसानां च [illegible]
३ तत्र यत् तद् व्यावहारिकं उद्धारपल्योपमं तद् इदम् असौ यथानामकः पल्यः ायामविष्कम्भाभ्यां योजनञ्चोर्ध्वमुच्चैस्त्वेन सविशेषत्रिगुणः परिरयेण, स एका[illegible]

ʼएगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोहं उवसमिज्जा ॥ (कर्मप्र० ३७६)

तत्र सास्वादनं प्रति जघन्यान्तरस्योक्तत्वात् श्रेणिप्रतिपतितस्य च मिश्रगमनाभाव[illegible] जनमुक्तम् । श्रेणिगमनाभावे तु मिश्रस्य सास्वादनवर्जशेषगुणस्थानकानां च मिथ्या[illegible] प्रमत्तान्तानां परावृत्य परावृत्य गमनत आन्तर्मौहूर्तिकमन्तरं प्राप्यते । क्षपक-क्षीण[illegible] केवलि-अयोगिकेवलिनां त्वन्तरचिन्ता नास्ति, तेषां प्रतिपातस्यैवाभावादिति ॥

उक्तं जघन्यमन्तरं सर्वगुणस्थानकानाम् । इदानीमुत्कृष्टमन्तरमाह—"गुरु [illegible] छसट्ठी" इत्यादि । 'गुरु' उत्कृष्टमन्तरं "मिच्छि" त्ति 'मिथ्यात्वे' मिथ्यादृष्टिगुण[illegible] [illegible] षट्षष्टिद्वयम् । अयमत्र भावार्थः—यः कश्चिद् जन्तुर्विशुद्धिवशाद् मिथ्या[illegible] [illegible] सम्यक्त्वं प्रतिपन्नः, ततः सागरोपमषट्षष्टिप्रमाणमुत्कृष्टं सम्यक्त्वकालं [illegible] [illegible] सम्यग्मिथ्यात्वं गच्छति, ततो भूयोऽपि सम्यक्त्वमासाद्य सागरोपम[illegible] [illegible] तत ऊर्ध्वं यो न सिध्यति सोऽवश्यं [illegible]

'उद्धारसागराणं, अड्ढाइज्जाण जत्तिया समया ।
दुगुणादुगुणपवित्थर, दीवोदहि हुंति एवइया ॥ (जिनभ० सङ्ग्र० गा० ८०)

इत्युक्तं बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमप्युद्धारपल्योपमम् १ । सम्प्रति द्विविधमेवाद्धापल्योपमं
ते—तत्र पूर्वोक्तपल्याद् वर्षशतेऽतिक्रान्ते एकैकवालाग्रापहारेण निर्लेपनाकालः सङ्ख्येयवर्ष-
नो बादरमद्धापल्योपमम्, तद्दशकोटीकोट्यो बादरमद्धासागरोपमम् । तथैव पूर्वोक्तपल्याद्-
वर्षशतेऽतिक्रान्ते एकैकवालाग्रासङ्ख्येयतमखण्डापहारेण निर्लेपनाकालोऽसङ्ख्यातवर्ष-
नः सूक्ष्ममद्धापल्योपमम्, तद्दशकोटीकोट्यः सूक्ष्ममद्धासागरोपमम्, तद्दशसागरोपम-
टीप्रमाणाऽवसर्पिणी, तावत्प्रमाणैवोत्सर्पिण्यपि, अवसर्पिणी-उत्सर्पिण्योऽनन्ताः पुद्गलपरा-
अनन्ताः पुद्गलपरावर्ताः अतीताद्धा, अनन्ताः पुद्गलपरावर्ता अनागताद्धा चेति ।
उक्तं च श्रीभगवतीटीकायाम्—

'अद्दया पडुच्च कालं, न सव्वभव्वाण होइ वुच्छित्ती ।
जं तीयऽणागयाओ, अद्धाओ दो वि तुल्लाओ ॥ (शत० १२ उ० २)

अयमत्राभिप्रायः—यथाऽनागताद्धाया अन्तो नास्ति, एवमतीताद्धाया आदिरिति व्यक्तं
मेति । अन्ये त्वाहुः—

'उस्सप्पिणी अणंता, पुग्गलपरियट्टओ मुणेयव्वो ।
तेऽणन्ता तीयऽद्धा, अणागयद्धा अणंतगुणा ॥ (जीवस० गा० १२१)

अत्रेयं भावना—अतीताद्धातोऽनागताद्धाया अनन्तगुणत्वम्, समयावलिकादिभिरनवरतं
णाया अप्यनागताद्धाया अक्षयात् ।

आभ्यां च सूक्ष्माद्धापल्योपम-सागरोपमाभ्यां सुर-नरक-नर-तिरश्चां कर्मस्थितिः काय-
: भवस्थितिश्च मीयते । उक्तं चानुयोगद्वारेषु—

एएहिं सुहुमअद्धापलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं ? गोयमा ! एएहिं नेरइयतिरिक्ख-
मणुस्सदेवाण य आउयाइं मविज्जंति (पत्र १८३–२) इति ।

अभिहितं बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमप्यद्धापल्योपमम् २ । साम्प्रतं द्विविधमेव क्षेत्रपल्योपमं
ते—तत्र पूर्वोक्तपल्याद् वालाग्रस्पृष्टनभःप्रदेशानां प्रतिसमयं एकैकापहारेण निर्लेपना-

---

उद्धारसागराणां अर्धतृतीयानां यावन्तः समयाः । द्विगुणद्विगुणप्रविस्तरा द्वीपोदधयो भवन्त्येतावन्तः ॥
सं० १-२ तु० ल० छा० ईप्सं, द्वासागरैः ॥
अथवा प्रतीत्य कालं न सर्वभव्यानां भवति व्युच्छित्तिः । यदतीतानागते अद्धे द्वे अपि तुल्ये ॥
उत्सर्पिण्योऽनन्ताः पुद्गलपरावर्तो ज्ञातव्यः । तेऽनन्ता अतीताद्धाऽनागताद्धा चानन्तगुणा ॥
एताभ्यां सूक्ष्माद्धापल्योपम-सागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? गौतम ! एताभ्यां नैरयिकतिर्यग्यो-
ष्य-देवानां चायूंषि मीयन्ते ।

[1]उक्कोससत्तरत्ताणं संसट्ठे संनिचिए भरिए वालग्गकोडीणं, ते णं वालग्गा नो अग्गी [illegible] नो वाऊ हरेज्जा नो कुच्छिज्जा नो [illegible] नो पूइत्ताए [illegible]मागच्छिज्जा, तओ णं समए समए एगमेगं वालग्गमवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए नीट्ठिए निल्लेवे भ[वइ] तं वावहारिए उद्धारपलिओवमे ।

[3]एएसिं पल्लाणं, कोडाकोडी हविज्ज दसगुणिया ।
उद्धारसागरस्स उ, एगस्स भवे परीमाणं ॥

[4]एएहिं वावहारिएहिं उद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं ? नत्थि किंचि प[ओ]यणं, केवलं पन्नवइ[5]ज्जइ (अनुयो० पत्र १८०-१-२) इति ।

उक्तं बादरमुद्धारपल्योपमम् । अथ सूक्ष्मं तद् उच्यते—तत्रैकैकं वालाग्रमसङ्ख्येयानि खण्डानि कृत्वा पूर्ववत् पल्यो भ्रियते, तानि च खण्डानि द्रव्यतः प्रत्येकमत्यन्तशुद्धलोचनछद्मस्थो यदतीवसूक्ष्मं पुद्गलद्रव्यं चक्षुपा न पश्यति तदसङ्ख्येयभागमात्राणि । क्षेत्रतस्तु सूक्ष्मपनक[जीव]शरीरं यावति क्षेत्रेऽवगाहते ततोऽसङ्ख्येयगुणानि, बादरपर्याप्तपृथ्वीकायिकशरीरतुल्यानीति वृद्धाः । एषां च वालाग्राणामसङ्ख्येयत्वात् प्रतिसमयमुद्धारे किल सङ्ख्येया वर्षकोटयोऽतिक्रामन्ति, अतः सङ्ख्येयवर्षकोटिमानमिदं सूक्ष्ममुद्धारपल्योपममवसेयम् । तद्दशकोटिकोटयः सूक्ष्मोद्धारसा[ग]रोपमम् । आभ्यां पल्योपम-सागरोपमाभ्यां द्वीपाः समुद्राश्च मीयन्ते । उक्तं चानुयोगद्वारेषु—

[6]एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं ? एएहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारो घिप्पइ । केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा उद्धारेणं पन्नत्ता ? गोयमा ! जावइया णं अड्ढाइज्जाणं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया एवइया णं दीवसमुद्दा उद्धारेणं पन्नत्ता ॥ (पत्र १८१-१)

भाष्यसुधाम्भोनिधिरप्याह—

१ यावदुत्कृष्टसप्तरात्रैः संसृष्टः संनिचितो भृतः वालाग्रकोटिभिः, तानि च वालाग्राणि नाग्निर्दहेद् न वायुर्हरेद् नोत्कोथयेयुः न विध्वस्येयुः न पूतित्वेन शीघ्रमागच्छेयुः, ततश्च खलु समये समये एकैकं वालाग्रमपहरता यावता कालेनासौ पल्यः क्षीणो नीरजा निष्ठितो निर्लेपश्च भवति तदिदं व्यावहारिकं उद्धारपल्योपमम् ॥ २ स० १-२ छा० त० म० ०६ से त्तं वा० एवमग्रेऽपि ॥ ३ एतेषां पल्यानां कोटाकोटीर्भवेद्दशगुणिता । उद्धारसागरस्य त्वेकस्य भवेत परिमाणम् ॥ ४ एताभ्यां व्यावहारिकाभ्यामुद्धारपल्योपमसागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? नास्ति किञ्चित प्रयोजनं केवलं प्रज्ञाप्यते ॥ ५ सं० १-२ छा० त० म० इज्जा ॥
६ एताभ्यां सूक्ष्मोद्धारपल्योपमसागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? एताभ्यां द्वीपसमुद्राणामुद्धारो गृह्यते । कियन्तो भदन्त ! द्वीप-समुद्रा उद्धारेण प्रज्ञप्ताः ? गौतम ! यावतामर्धतृतीयानामुद्धारसागरोपमाणां उद्धारसमया एतावन्तो द्वीपसमुद्रा उद्धारेण प्रज्ञप्ताः ॥

[1]एएहिं सुहुमखेत्तपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं ? गोयमा ! एएहिं सुहुमखेत्तपलिओवमसागरोवमेहिं दिट्ठिवाए दव्वाइं मविज्जंति (अनुयो० पत्र १९३-१) इति ।

आह-यदि स्पृष्टा अस्पृष्टाश्चेह सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमे नभःप्रदेशा गृह्यन्ते तर्हि वालाग्रैः किं प्रयोजनम् ? यथोक्तपल्यान्तर्गतनभःप्रदेशापहारमात्रतः सामान्येनैव वक्तुमुचितं स्यात्, सत्यम्, किन्तु सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमेन दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते, तानि च कानिचिद् यथोक्तवालाग्रस्पृष्टैरेव नभःप्रदेशैर्मीयन्ते कानिचिदस्पृष्टैरिति, अतो दृष्टिवादोक्तद्रव्यमानोपयोगित्वाद् वालाग्रप्ररूपणाऽत्र प्रयोजनवतीति ॥८५॥

व्याख्यातं बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमपि क्षेत्रपल्योपमम् । तद्व्याख्याने च समर्थितं सप्रपञ्चं पल्योपम-सागरोपमस्वरूपम् । इदानीं किञ्चिदूनं पुद्गलपरावर्तार्धं सास्वादनादीनामुत्कृष्टमन्तरमुक्तम् अतस्तमेव सप्रपञ्चं पुद्गलपरावर्तं गाथात्रयेण निरूपयितुकामः प्रथमं तावत् तस्यैव भेदान् परिमाणं चाह-

[2]दव्वे खित्ते काले, भावे चउह दुह बायरो सुहुमो ।
होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥ ८६ ॥

'द्रव्ये' द्रव्यविषयः 'क्षेत्रे' क्षेत्रविषयः 'काले' कालविषयः 'भावे' भावविषयः, इत्थं 'चतुर्धा' चतूरूपः पुद्गलपरावर्तो भवतीत्युत्तरेण सण्टङ्कः । पुनरेकैको द्रव्यादिकः 'द्विविधः' द्विप्रकारो भवति । द्वैविध्यमेवाह—"बायरो सुहुमो" त्ति बादर-सूक्ष्मभेदभिन्नः । अयमर्थः—द्रव्यपुद्गलपरावर्तो द्वेधा-बादरः सूक्ष्मश्च, क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो द्वेधा-बादरः सूक्ष्मश्च, कालपुद्गलपरावर्तो द्वेधा-बादरः सूक्ष्मश्च, भावपुद्गलपरावर्तो द्वेधा--बादरः सूक्ष्मश्च । कियत्कालप्रमाणः पुनरयमेकैकः ? इत्याह--"होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो" त्ति 'भवति' जायते उत्सर्पन्ति--प्रतिसमयं कालप्रमाणं जन्तूनां वा शरीरा-ऽऽयुःप्रमाणादिकमपेक्ष्य वृद्धिमनुभवन्तीत्युत्सर्पिण्यः, ततोऽनन्ता उत्सर्पिण्यः, उपलक्षणत्वादवसर्पन्ति--प्रतिसमयं कालप्रमाणं जन्तूनां वा शरीरा-ऽऽयुःप्रमाणादिकमपेक्ष्य हानिमनुभवन्तीत्यवसर्पिण्यः, ताश्च परिमाणं यस्य सोऽनन्तोत्सर्पिणी-अवसर्पिणीपरिमाणः । पूरण-गलनधर्माणः पुद्गलाः, तेषां पुद्गलानां-चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकवर्तिसमस्तपरमाणूनां परावर्तः-औदारिकादिशरीरतया गृहीत्वा मोचनं यस्मिन् कालविशेषे स पुद्गलपरावर्तः । यद्यपि

---

१ एताभ्यां सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? गौतम ! एताभ्यां सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमाभ्यां दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते ॥

२ सटीकेयं गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य १०९तमी गाथा-तट्टीकासमा ॥

कालोऽसङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानो बादरं क्षेत्रपल्योपमम्, तद्दशकोटीकोटयः [illegible] सागरोपमम्। तथैवैकैकवालाग्रासङ्ख्येयतमखण्डैः स्पृष्टानामस्पृष्टानां च नभःप्रदे[illegible] यमेकैकापहारेण निर्लेपनाकालो बादरासङ्ख्येयगुणकालमानः सूक्ष्मं क्षेत्रपल्योपमम्, [illegible] कोटयः सूक्ष्मं क्षेत्रसागरोपमम्। उक्तं चानुयोगद्वारे —

दा पुनरौदारिकादिचतुष्टयमध्यादेकेन केनचित् शरीरेण सर्वपुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति शेष-शरीरपरिणामितास्तु पुद्गला न गृह्यन्त एव तदा सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति ॥८७॥

उक्तो द्वेधाऽपि द्रव्यपुद्गलपरावर्तः । सम्प्रति क्षेत्र-काल-भावपुद्गलपरावर्तान् बादर-सूक्ष्म-विभेदान् निरूपयन्नाह–

लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंधठाणा य ।
जहतहकममरणेणं, पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥ ८८ ॥

लोकस्य–चतुर्दशरज्ज्वात्मकक्षेत्रखण्डस्य प्रदेशाः–निर्विभागा भागा लोकप्रदेशाः, तथो-त्सर्पिणीग्रहणादवसर्पिण्यप्युपलक्ष्यते दिनग्रहणे रात्र्युपलक्षणवत्, तयोः समयाः–परमनिकृष्टाः कालविशेषा उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीसमयाः, समयस्वरूपं च पट्टशाटिकापाटनदृष्टान्ताद् उत्पलपत्र-शतवेधोदाहरणाद्वाऽवसेयम्, ततो लोकप्रदेशाश्चोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयाश्चेति द्वन्द्वः । तथाऽनु-भागस्य–रसस्य बन्धः–बन्धनं तस्य निमित्तभूतानि स्थानानि–कषायोदयविशेषलक्षणान्यनुभाग-बन्धस्थानानि, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानीत्यर्थः । चः समुच्चये, तदनन्तरं प्रत्येकं त्रयोऽपि पदार्था यदा 'मरणशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद्' यथातथामरणेन क्रमोत्क्रमाभ्यां प्राणपरित्यागलक्षणेन स्पृष्टाः-व्याप्ता भवन्ति तदा "खित्ताइ थूल" त्ति 'क्षेत्रादयः' क्षेत्रपुद्गलपरावर्त-कालपुद्गलपरावर्त-भावपुद्गलपरावर्ताः 'स्थूलाः' बादरा भवन्ति । यदा पुनस्त एव लोकाकाशप्रदेशा उत्सर्पिण्यव-सर्पिणीसमया अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि चेति प्रत्येकं त्रयोऽपि पदार्थाः क्रममरणेन–पूर्व-स्पृष्टाकाशप्रदेशादिभ्योऽव्यवधानतः प्राणपरित्यागलक्षणेन स्पृष्टा भवन्ति तदा क्षेत्रपुद्गलपरा-वर्त-कालपुद्गलपरावर्त-भावपुद्गलपरावर्ताः "इयर" त्ति इतरे सूक्ष्मा भवन्तीति गाथाक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरयम्–यदाऽनन्तभवभ्रमणशीलो जन्तुरनन्तरेषु व्यवहितेषु वा अपरापरा-काशप्रदेशेषु म्रियमाणः सर्वानपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकाकाशप्रदेशान् मरणेन स्पृशति तदा बादरः क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो भवति । नवरं येष्वपरप्रदेशवृद्धिरहितेषु पूर्वावगाढेष्वेव नभःप्रदेशेषु म्रियते ते न गण्यन्ते, अपूर्वास्तु दूरव्यवहिता अपि स्पृष्टा गण्यन्त एवेति १ । कालतस्तु यदो-त्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेषु सर्वेष्वपि क्रमेणोत्क्रमेण वा अनन्तानन्तैर्भवैरेको जन्तुर्मृतो भवति तदा बादरः कालपुद्गलपरावर्तो भवति । केवलं येषु समयेष्वेकदा मृतोऽन्यदाऽपि यदि तेष्वेव समयेषु म्रियते तदा ते न गण्यन्ते, यदा पुनरेक-द्वितीयादिसमयक्रममुल्लङ्घ्यापि अपूर्वेषु समयेषु म्रियते तदा ते व्यवहिता अपि समया गण्यन्त इति २ । भावतः पुद्गलपरावर्त उच्यते–अनु-

१ सं० १-२ त० छा० ॰कादिशरीरादिचतु० ॥ २ सं० १-२ त० म० छा० ॰त्सर्पिण्युपल० ॥

क्षेत्रादिविषयस्य पुद्गलपरावर्तरूपोऽन्वर्थो न घटां प्राञ्चति तथाप्यन्यथाव्युत्पादितस्यापि [illegible] स्यान्यथा गोशब्दवत् प्रवृत्तिदर्शनात् समयप्रसिद्धमर्थं विषयीकरोतीति न कश्चिद्दोष इति ॥ [illegible]

द्रव्यपुद्गलपरावर्तो बादरः सूक्ष्मश्च भवतीत्युक्तम् । अतः क्रमप्राप्तं बादर-सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

> उरलाइसत्तगेणं, एगजिओ मुयइ फुसिय सव्वअणू ।
> जत्तियकालि स थूलो, दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥

सूचकत्वात् सूत्रस्य 'औदारिकादिसप्तकत्वेन' औदारिकपरमाणून् औदारिकशरीरतया [illegible] शब्दाद् वैक्रियपरमाणून् वैक्रिय[illegible]शरीरतया, तैजसपरमाणून् तैजसशरीरतया, कार्मणपरमाणून् कार्मणशरीरतया, भाषापरमाणून् भाषात्वेन, प्राणापानपरमाणून् प्राणापानतया, मनोवर्गणा[illegible] मनस्त्वेन, न पुनराहारकशरीरमप्यत्र ग्राह्यम् कादाचित्कत्वात् तल्लाभस्येति, 'स्पृष्ट्वा' परिण[illegible] तथापरिणामं नीत्वा, 'एकजीवः' विवक्षितैकसत्त्वः 'मुञ्चति' त्यजति, 'सर्वाणून्' चतुर्दशरज्ज्वात्मक लोकवर्तिसमस्तपरमाणून् , "जत्तियकालि" त्ति यावता कालेन, विभक्तिव्यत्ययश्च प्राकृत[illegible] यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-"व्यत्ययोऽप्यासाम्" इति । स इत्थं पुद्गलपरावर्त[illegible] पन्नः कालविशेषः 'स्थूलः' बादरः "दव्वि" त्ति द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति प्रकृतः । [illegible] [illegible]संसारकान्तारे पर्यटन्नेकजीवोऽनेकैर्भवग्रहणैः सकललोकवर्तिनः सर्वानपि पुद्गलान् [illegible] [illegible]औदारिकशरीर--वैक्रियशरीर-तैजसशरीर-भाषा-प्राणापान--मनः-कार्मणशरीर[illegible] [illegible] परिणमय्य मुञ्चति स तावत्प्रमाणः कालो द्रव्यतो बादरः पुद्गल[illegible]

द्धयादिनिवृत्तो वर्तन्ते, तत्र च सर्वस्तोकानुभागपलिच्छेदजनके कषायोदये वर्तमानः कश्चिद् जन्तुर्मृतः, ततः कदाचित् पुनरपि तस्मादनन्तरव्यवस्थिते द्वितीयेऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थाने विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनके वर्तमानो मृतः, पुनरपि तस्मात् कदाचिद् विशेषाधिकानुभाग-पलिच्छेदजनके तृतीये, एवं क्रमेण क्रमेण विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनकाध्यवसायस्थानेषु म्रियमाणस्य मरणं तावद् वाच्यं यावत् सर्वोत्कृष्टानुभागबन्धाध्यवसायस्थाने म्रियमाणेन जन्तुनाऽनन्तैर्मरणैः सर्वाण्यपि स्पृष्टानि भवन्तीति, व्यवहितानि पूर्वस्पृष्टानि च न गण्यन्त इति ॥८८॥

व्याख्यातं सप्रपञ्चं पुद्गलपरावर्तस्वरूपम् । सम्प्रति यो जन्तुर्यथाविधः सन् उत्कृष्टं यथा-वेदयथ जघन्यं प्रदेशबन्धं विधत्ते इत्येतत् स्वामित्वद्वारेण निरूपयन्नाह—

[1]अप्पयरपयडिबंधी, उक्कडजोगी य सन्नि पज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोसं, जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥८९॥

अल्पतराश्च ताः प्रकृतयश्चाल्पतरप्रकृतयस्तासां बन्धः स विद्यते यस्यासावल्पतरप्रकृति-बन्धी, यो यो मोहायुर्वर्जाणां चाल्पप्रकृतिभेदानां बन्धकः स स उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, भागानामल्पत्वसद्भावात् । 'उक्कडजोगी' उत्कटवीर्यवान्, सर्वोत्कृष्टयोगव्यापारे वर्तमान इत्यर्थः । 'चः' समुच्चये, स च भिन्नक्रमे, पर्याप्तश्चेति योक्ष्यते । संज्ञा--मनोविकल्पनलब्धिः सा विद्यते यस्यासौ संज्ञी, 'पर्याप्तश्च' समाप्तपर्याप्तिकः, 'करोति' विदधाति प्रदेशानामुत्कर्षः--उत्कृ-ष्टत्वं प्रदेशोत्कर्षस्तमुत्कृष्टप्रदेशमिति यावत् । इह संज्ञीति विशेष्यम्, शेषाणि तु विशेषणानि । अत्र च यो मनःपूर्विकां क्रियां विदधाति तस्य सर्वजीवेभ्य उत्कृष्टा चेष्टा भवति, तथैव चोत्कृ-ष्टप्रदेशबन्धो भवतीति संज्ञिग्रहणम् । संज्ञ्यपि जघन्ययोग्युत्कृष्टयोगी च भवत्यतो जघन्ययोगि-व्युदासार्थमुत्कृष्टयोगिग्रहणम्, तस्यैवोत्कृष्टप्रदेशबन्धात् । संज्ञ्यप्यपर्याप्तको नोत्कृष्टप्रदेशबन्धं वि-धातुमलमल्पवीर्यत्वात् तस्येति पर्याप्तग्रहणम् । एवंविधस्यापि बहुतरप्रकृतिबन्धकस्य भागबाहु-ल्यात् स्तोकप्रदेशबन्धो लभ्यते इत्यल्पतरप्रकृतिबन्धीत्युक्तम् । तस्मादेवंविधविशेषणविशिष्टो जन्तुरुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं विधत्ते इति । तर्हि जघन्यं प्रदेशबन्धं कथं करोति ? इत्याह—"जह-न्नयं तस्स वच्चासे" त्ति जघन्य एव जघन्यकः, "यावादिभ्यः" (सिद्ध० ७-३-१५) इति स्वार्थे कः प्रत्ययः, तं जघन्यकं प्रदेशबन्धमिति प्रक्रमः । 'तस्य' पूर्वप्रदर्शितस्य विशेष्यस्य विशेषणकलापस्य च 'व्यत्यासे' विपर्यये सति जन्तुः करोतीति योगः । अयमर्थः—बहु-तरप्रकृतिबन्धको मन्दयोगोऽपर्याप्तकोऽसंज्ञी जीवो जघन्यं प्रदेशबन्धं विदधातीति ॥ ८

अभिहितः सामान्येनोत्कृष्ट-जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी । सम्प्रति मूलप्रकृती

१ सटीकेयं गाथा सार्धशतकप्रकरणस्य ९८तमी गाथा–तट्टीकासदृशी ॥

भागबन्धाध्यवसायस्थानानि मन्द-प्रवृद्ध-प्रवृद्धतरादिभेदतोऽसङ्ख्येयानि वर्तन्ते, एतेषां सङ्ख्येयत्वप्रमाणमुत्तरत्र वक्ष्यामः । ततो यदैकैकस्मिन्ननुभागबन्धाध्यवसायस्थाने क्रमेण च म्रियमाणेन जन्तुनाऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि सर्वाण्यपि तानि स्पृष्टानि भवन्ति बादरो भावपुद्गलपरावर्तो भवति, अत्रापि यदध्यवसायस्थानमेकदा मरणेन स्पृष्टं तदेवान्यदा यदि स्पृशति तदा तन्न गण्यते, अपूर्वं तु दूरव्यवहितमपि स्पृष्टं गण्यत एवेति ३ ।

भाविता बादराः क्षेत्रपुद्गलपरावर्त-कालपुद्गलपरावर्त-भावपुद्गलपरावर्ताः । साम्प्रतमेत सूक्ष्मा भाव्यन्ते--इह येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढो जन्तुरेकदा मृतस्तेभ्योऽनन्तरव्यवस्थितेषु नभःप्रदेशेष्वन्यदाऽपि यदि म्रियते, अपरस्यां वेलायां तेषामप्यनन्तरव्यवस्थितेष्वाकाशप्रदेशेषु अन्यस्यां वेलायां तेषामप्यनन्तरव्यवस्थितेष्वाकाशप्रदेशेषु, अन्यस्यां तु वेलायां तेषामप्यनन्तरेष्वन्येषु, एवं तावद् नेयं यावदित्थमपरापरेषु नैरन्तर्यव्यवस्थितेषु नभःप्रदेशेषु क्रमेण म्रियमाणो जन्तुः सर्वानपि लोकाकाशप्रदेशान् स्पृशति, ये चापरप्रदेशवृद्धिरहिताः पूर्वावगाढा एव दूरव्यवहिता वाऽऽकाशप्रदेशा मरणेन स्पृष्टास्ते च न गण्यन्ते तदा सूक्ष्मः क्षेत्रपुद्गलपरावर्त इति १ ।

पञ्चसङ्ग्रहशास्त्रे तु सूक्ष्म-बादरभेदतो द्विविधोऽपि क्षेत्रपुद्गलपरावर्त इत्थं व्याख्यातः, यथा- चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकस्य सर्वप्रदेशेषु प्रत्येकं यावता कालेनैकजीवो मृतो भवति । कोऽर्थः ? यावन्तो लोकाकाशप्रदेशास्ते प्रदेशे प्रदेशे क्रमोत्क्रमाभ्यां मरणं कुर्वाणेन यदा सर्वे व्याप्ता भवन्ति तदा बादरः क्षेत्रपुद्गलपरावर्तः । सूक्ष्मस्तु यावता कालेन प्रथमप्रदेशानुवृद्धप्रदेशक्रमेण मृतो भवति, कोऽर्थः ? यत्राकाशप्रदेशे मृतस्तदनन्तरप्रदेशक्रमेण यदा सर्वेऽपि लोकाकाश प्रदेशा मरणेन व्याप्ता भवन्ति तदाऽसौ भवति, व्यवहितेषु च मरणं न गण्यते । यद्यपि [illegible] एकप्रदेशेऽवस्थानमेव नास्ति, तथापि जीवावस्थानप्रदेशानां प्राधान्येनैकः परिकल्प्यते, [illegible] गमनाप्रवृत्तिः, अमुना च प्रकारेण [illegible]

ते । तथाहि—द्वितीयकषायाणामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनमविरतमेव निर्देक्ष्यति "अजया वितिकसाए" इति वचनात् । यदि तु मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगो लभ्यते तदा सोऽपि तत्स्वामित्वेन निर्दिश्येत । न च वक्तव्यम्—मिश्रादल्पतरप्रकृतिबन्धकोऽविरत इत्ययमेव गृहीतः, यतोऽविरतोऽपि मूलप्रकृतीनां सप्तविधबन्धकस्तत्र ग्रहीष्यते, मिश्रोऽपि सप्तविधबन्धक एव, उत्तरप्रकृतीनां मोहनीयस्य सप्तदशाविरतो बध्नाति, मिश्रोऽप्येतावतीरेव, तस्मादुत्कृष्टयोगाभावं विहाय नान्यत् तत्परित्यागे कारणं समीक्षामहे इति । मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगाभावात् सप्तैव मोहोत्कृष्टप्रदेशबन्धका इति स्थितम् । "छण्हं सतरस सुहुमु" त्ति मूलप्रकृतीनां 'षण्णां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणानां सूचकत्वात् सूत्रस्य 'सूक्ष्मः' सूक्ष्मसम्पराय उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधाति । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहा-ऽऽयुषी न बध्नाति, अतस्तद्भागाधिको लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणमिति । तथा 'सप्तदशानां' ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टय-वेदनीय-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामुत्तरप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्पराय उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधाति, मोहा-ऽऽयुषी असौ न बध्नातीत्यत्र तद्भागोऽधिको लभ्यते[1] । च दर्शनावरणभागो नामभागश्च सर्वोऽपीह यथासङ्ख्यं दर्शनावरणचतुष्कस्य यशःकीर्तेश्च भवतीति सूक्ष्मसम्परायस्यैव ग्रहणम् । "अजया देसा वितिकसाए" त्ति 'अयताः' अविरतसम्यग्दृष्टयः सप्तविधबन्धका उत्कृष्टयोगे वर्तमानाः 'द्वितीयकषायान्' अप्रत्याख्यानावरणानुत्कृष्टप्रदेशबन्धान् विदधति, मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्चैते न बध्नन्त्यतस्तद्भागद्रव्यमधिकं लभ्यत इत्यमीषामेव ग्रहणम् । तथा 'देशाः' देशविरताः सप्तविधबन्धका उत्कृष्टयोगे वर्तमानाः 'तृतीयकषायान्' प्रत्याख्यानावरणाख्यानुत्कृष्टप्रदेशबन्धान् कुर्वते, अप्रत्याख्यानावरणानप्यमी अबन्धका अतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इति कृत्वा ॥९०॥

पण अनियट्टी सुखगइनराउसुरसुभगतिगविउव्विदुगं ।
समचउरंसमसायं, वइरं मिच्छो व सम्मो वा ॥ ९१ ॥

"पण" त्ति पञ्च प्रकृतीः—पुरुषवेद-संज्वलनचतुष्टयलक्षणाः अनिवृत्तिबादरः सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धाः करोति । तत्र पुरुषवेदस्य पुंवेद-संज्वलनचतुष्टयात्मकं पञ्चविधं बध्नन् तदुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, हास्य-रति-भय-जुगुप्साभागो लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणम् । संज्वलनक्रोधस्यानिवृत्तिबादरः पुंवेदबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनक्रोधादिचतुष्टयं बध्नन् उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं विदधाति, मिथ्यात्वा-ऽऽद्यकषायद्वादशकभागः सर्वनोकषायभागश्च लभ्यत इति कृत्वा । संज्वलनमानस्य स एव क्रोधबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनमानादित्रयं बध्नन्

१ सं० १-२ म० छा० तद्भागो लभ्य० ॥

प्रतीत्य उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनं निरूपयन्नाह—

मिच्छ अजयचउ आऊ, बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई।
छण्हं सतरस सुहुमो, अजया देसा बितिकसाए ॥ ९० ॥

"आऊ" त्ति आयुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनः पञ्च, तद्यथा—"मिच्छ" त्ति मिथ्यादृष्टिः "अजयचउ" त्ति अयतेन—अविरतसम्यग्दृष्टिना उपलक्षिताश्चत्वारः—अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तलक्षणाः पञ्चैव जनाः "अप्पयरपयडिबंधी" (गा० ८९) इत्यादिभिर्गाथासक्तभवद्विशेषणविशिष्टा आयुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति। सम्यग्मिथ्यादृष्टिरपूर्वकरणादयश्चायुर्न बध्नन्तीति नेह गृहीताः। सास्वादनस्तर्ह्यायुर्बध्नात्येव स किमिति न गृहीतः? इति चेद् उच्यते—तत्रोत्कृष्टप्रदेशनिबन्धनोत्कृष्टयोगाभावात्। तथाहि—अनन्तानुबन्धिनामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टश्च प्रदेशबन्धो मिथ्यादृष्टौ साद्यध्रुव एव भणिष्यते, यदि तु सास्वादनेऽप्युत्कृष्टयोगो लभ्यते तदाऽसावप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नात्येव, अतो यथाऽविरतादिष्वप्रत्याख्यानावरणादिप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धसद्भावतोऽनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽप्यभिधास्यते तथाऽनन्तानुबन्धिनां मिथ्यात्वभागलाभात् सास्वादने उत्कृष्टप्रदेशबन्धसद्भावतोऽनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि स्यात्, न चैवं निर्दि(र्दे)क्ष्यते, तस्माद् ज्ञायतेऽल्पकालभावित्वेन [illegible]प्रयत्नाभावादन्यतो वा कुतश्चित्कारणात् सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो नास्ति। किञ्च अनन्तरोत्तरप्रकृतिस्वामित्वे मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां प्रत्येकं सूक्ष्मसम्परायादिषूत्कृष्टं प्रदेशबन्धमभिधाय भणितशेषप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिमेवोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनं निर्देक्ष्यति, न सास्वादनम्, [illegible]—"सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो" (गा० ९२)। बृहच्छतकेऽप्युक्तं—

सेसपएसुक्कडं मिच्छो ॥ (गा० ९६) इति।

[illegible] आगमे 'नास्ति सास्वादनस्योत्कृष्टयोगसम्भवः'। अतो ये सास्वादन[illegible] उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनमिच्छन्ति तन्मतमुपेक्षणीयमिति स्थितम्।

"बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई" त्ति 'मोहे' मोहनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्ध[illegible] [illegible] सास्वादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके न [illegible] [illegible] अनिवृत्तिबादरान्तानि सप्त गुणस्थानकान्यधिक्रियन्ते।

[illegible]—मिथ्यादृष्टि-अविरत-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणा-[illegible] [illegible] सप्त जना उत्कृष्टयोगे वर्तमानाः सप्तविधबन्धका मोहस्योत्कृष्टं [illegible] [illegible] तु सास्वादन-मिश्रावपि [illegible] "मोहस्स नव उ ठाणाणि" [illegible] [illegible], [illegible] सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यते [illegible], मिश्र[illegible] [illegible]

र्माणमितिलक्षणां, मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गो-
पाङ्गं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं वर्णचतुष्कम् अगुरुलघु पराघातम्
उपघातनाम उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम
स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्ति-
अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमितिलक्षणां वा निर्वर्तयन् उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धं
करोति । एकोनत्रिंशतोऽधस्तनबन्धेष्विदं न बध्यते, त्रिंशद्बन्धे तु बध्यते, केवलं भागबाहुल्यात्
उत्कृष्टप्रदेशबन्धो न लभ्यत इत्येकोनत्रिंशद्बन्धगतस्यैव ग्रहणमिति सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टयोर-
विशेषेण भावितत्रयोदशानामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टः प्रदेशबन्ध इति ॥ ९१ ॥

निद्दापयलादुजुयलभयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजई ।
आहारदुगं सेसा, उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥

निद्रा प्रचला द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगलं-हास्य-रति-अरति-शोकाख्यं, भयं "कुच्छ"
जुगुप्सा "तित्थ" त्ति तीर्थकरनामेत्येतत् प्रकृतिनवकं सम्यग् गच्छति ज्ञानादिमोक्ष-
मार्गमिति सम्यग्गः-सम्यग्दृष्टिः उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशं बध्नाति । तत्र निद्रा-प्रचल-
योरविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ताः सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानाः सप्तविधबन्धकाले एकं द्वौ वा
समयावुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं कुर्वन्ति, आयुर्द्रव्यभागोऽधिको लभ्यत इति सप्तविधबन्धकग्रहणम् ।
स्त्यानर्द्धित्रिकं सम्यग्दृष्टयो न बध्नन्त्यतस्तद्भागलाभोऽपि भवतीति सम्यग्दृष्टीनामेव ग्रहणम् ।
मिथ्यादृष्टि-सास्वादनौ स्त्यानर्द्धित्रिकं बध्नीत इति नेह गृहीतौ । मिश्रस्त्वेतद् न बध्नाति, केवल-
मुक्तनीत्या तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति सोऽपि नेहाधिकृतः । हास्य-रति-अरति-शोक-भय-
जुगुप्सानां तु ये ये सम्यग्दृष्टयोऽविरताद्यपूर्वकरणान्तानां मध्ये तद्बन्धकास्ते ते उत्कृष्टयोगे वर्त-
माना उत्कृष्टं प्रदेशबन्धमभिनिर्वर्तयन्ति, मिथ्यात्वभागो लभ्यत इति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । तीर्थ-
करनाम्नोऽप्यविरताद्यपूर्वकरणान्तः सम्यग्दृष्टिर्मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको देवगतिः देवानुपूर्वी
पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासनाम पराघातनाम
प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोः शुभा-ऽशुभयो-
र्यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योः पृथगन्यतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्कं तैजस-
कार्मणे अगुरुलघु उपघातनाम निर्माणमित्येता[illegible]करनामसहितामेकोनत्रिंशतं देव-
गतिप्रायोग्यामुत्तरप्रकृतीर्बध्नन् उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यादृष्टे-
रिदं न बध्नातीति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । तीर्थकरनामसहिताश्च त्रयोविंशत्यादिकाः पूर्वोक्तरूपा
बन्धे न उत्तरप्रकृतयो न बध्यन्ते । त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धौ तु पूर्वोक्तनीत्या त[illegible]न-
बध्येते, केवलं तत्र भागबाहुल्यादुत्कृष्टप्रदेशबन्धो न लभ्यत इति शेषपरिहारेणैकोन

…ज्ञानी द्व्यशुद्धकौ यथासन्नं पर्याप्तैकेन्द्रियादिसंज्ञिपर्यन्तपर्याप्तकापर्याप्तकोऽतिविशुद्धिरपि सह
समानतामात्रं द्वाविंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, सोऽपि तदीयोत्कृष्टादिवत्, नात्यवस्थाद् । नाप्य-
न्येन पर्याप्तविशुद्धिविशेषेण, तीव्रतरो बन्धकालादेव । सो च पर्याप्तविशुद्धिमविशुद्धिरन्यो
अप्रवृत्तेर्भवतः, द्वितीयादौ तत्कृत्वपर्याप्तरत्नाकरानन्तर, अतः प्रत्यापत्ति प्रविशुद्धि-
कैलो पर्याप्तकल्लोल अविशुद्धिका पर्याप्तकस्य च सह बध्यमानानां सर्वासामपि
प्रकृतीनां जिनाद्युत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति ॥ ९२ ॥

निर्दिष्टमुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वम् । सम्प्रति जघन्यप्रदेशबन्ध-
स्वामित्वमभिधित्सुराह—

सुमुणी दुन्नि असन्नी, नरयतिग सुराउ सुरविउव्विदुगं ।
सम्मो जिणं जहन्नं, सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥

'सुमुणिः' अप्रमत्तयतिः प्रमत्तगुणस्थानाभिमुखः "दुन्नि" ति द्वे प्रकृती आहारक-
शरीर-आहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणे जघन्यप्रदेशे बध्नाति । अयमर्थः—परावर्तमानयोगी घोलनयोगी-
त्यर्थः अप्रमत्तयतिः देवगतियोग्यबन्धकाले जघन्यस्तोको नाम देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चे-
न्द्रियजातिः वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रश-
स्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम यशःकीर्तिनाम
सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातं निर्माणं तीर्थ-
करनाम आहारकद्विकम् आहारकाङ्गोपाङ्गमित्येकत्रिंशतं प्रकृतीर्बध्नन् अप्रमत्तयतिराहारक-
शरीर-आहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणे द्वे प्रकृती जघन्यप्रदेशे बध्नाति । त्रिंशदन्योऽन्येन बध्यते परं
नान्या योगा इत्येकत्रिंशद्ग्रहणम् । एतस्य प्रकृतिद्वयमन्यथ न बध्यत इत्यप्रमत्तयति-
ग्रहणम् । तथा असंज्ञी सामान्येनोक्तावपि घोलमानयोगः परावर्तमानयोग इत्यर्थः, नरकत्रिकं—
नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायुर्लक्षणं सुरायुः इत्येतास्तिस्रः प्रकृतीर्जघन्यप्रदेशबन्धाः करोति ।
यदि—पृथिवी-अप्-तेजो-वायु-वनस्पतिकायिक-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया देव-नारकेषूत्प-
त्ताभावेनैताः प्रकृतीर्न बध्नन्तीति नेह विवक्ष्यन्ते । असंज्ञ्यपर्याप्तकस्तथाविधसंक्लेश-
विशुद्ध्यभावात्नैता बध्नाति, अतः सूत्रे सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति
न्यायात् पर्याप्तकोऽसौ द्रष्टव्यः । सोऽपि यद्येकस्मिन्नेव वाग्योगे काययोगे वा चिरमवतिष्ठ-
ते तदा पूर्वोक्त तदा तीव्रसंक्लेशो भवेत् । योगात्तु योगान्तरं पुनः सङ्क्रामतः स्वभावादल्पक्लेशो भव-
ति परावर्तमानयोगग्रहणम् । ततश्च परावर्तमानयोगोऽष्टविधं बध्नन् पर्याप्तोऽसंज्ञी स्वप्रायोग्य-

१ सं. १-२ म० ४० छा० . व्याप्तं० ।

बन्धग्रहणम् । तथा 'सुयतिः' शोभनसाधुः प्रस्तावादप्रमत्तयतिरपूर्वकरणश्च गृह्यते, द्वयो[illegible] प्रमादरहितत्वेन सुयतित्वात् ततश्चैतौ द्वावपि देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रि[illegible] शरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानं पराघातनाम उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्र[illegible] नाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्तिनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघुनाम उपघातनाम निर्माणनाम आहारक शरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गमित्येतद् देवगतिप्रायोग्यं त्रिंशन्नामोत्तरप्रकृतिकदम्बकं बध्नन्तौ उत्कृष्ट योगे वर्तमानौ आहारकद्विकम्—आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमुत्कृष्टप्रदेशं बध्नीतः । तीर्थकरनामसहिते एकत्रिंशद्बन्धेऽप्येतद् बध्यते, किन्तु तत्र भागबाहुल्याद् न गृह्यते । तथा 'शेषाः' भणितचतुःपञ्चाशत्प्रकृतिभ्य उद्धरिताः स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद नारकायुष्क-तिर्यगायुष्क-नरकगति-नरकानुपूर्वी-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वी-एकेन्द्रियजाति-द्वीन्द्रियजाति-त्रीन्द्रियजाति-चतुरिन्द्रियजाति-पञ्चेन्द्रियजाति-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग--तैजस-कार्मण--प्रथमवर्जसंहनन--प्रथमवर्जसंस्थान-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात उच्छ्वासा-ऽऽतप-उद्योता-ऽप्रशस्तविहायोगति-त्रस-स्थावर-बादर-सूक्ष्म-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-प्रत्येक-साधारण-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशः-कीर्ति-निर्माण-नीचैर्गोत्राणि चेत्येताः षट्षष्टिप्रकृतयः 'उत्कृष्टप्रदेशकाः' उत्कृष्टप्रदेशबन्धाः "मिच्छो"! त्ति मिथ्यादृष्टिरेव करोति । तथाहि—मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-औदारिकद्विक-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभा -ऽयशःकीर्ति-निर्माणलक्षणाः पञ्चविंशतिप्रकृतीमुक्त्वा शेषा एकचत्वारिंशत् सम्यग्दृष्टेर्बन्ध एव नागच्छन्ति । सास्वादनस्तु काश्चिद् बध्नाति परं तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यते । एता एकचत्वारिंशत् प्रकृतीर्मिथ्यादृष्टिरेवोत्कृष्टयोगे वर्तमानो मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च [illegible] [illegible]बन्धक उत्कृष्टप्रदेशाः करोति । या अपि चोक्तस्वरूपाः पञ्चविंशति[illegible] सम्यग्दृष्टेर्बन्धे समागच्छन्ति तास्वपि मध्ये औदारिक-तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात बादर-पर्याप्ता-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्ति-निर्माणलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनाम[illegible] न्द्रियप्रायो[illegible] नाम्नस्त्रयोविंशतिप्रकृतिनिष्पन्नः तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-[illegible] [illegible]-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-एकेन्द्रियजाति-औदारिकशरीर-हुण्डसंस्थान-स्थावर-बादर-[illegible] [illegible]-प्रत्येक-साधारणान्यतरा-ऽस्थिर--ऽशुभ--दुर्भगाऽनादेया-ऽयशःकीर्तिलक्षणो [illegible] [illegible] [illegible]मुत्कृष्टप्रदेशबन्धो लभ्यते, नोत्तरैः पञ्चविंशत्यादिबन्धैः, [illegible] [illegible] [illegible]-पञ्चेन्द्रियजाति-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-[illegible]-उच्छ्वास-[illegible]

[illegible]

त्वात् ; अतस्तेषु भागा अल्पा लभ्यन्ते इति तेऽपीह नाधिक्रियन्ते । मनुष्यस्याप्यष्टाविंशति-
बन्धकस्य भागा बहवो न लभ्यन्ते । त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धौ तु देवगतिप्रायोग्यौ संयतस्य भवतः,
न च वीर्यमल्पं लभ्यते । अन्ये तु देवगतिप्रायोग्यबन्धा एव न सन्तीत्यालोच्य एकोनत्रिं-
शद्बन्धकस्य मनुष्यस्यैव ग्रहणम् । ननु तिर्यक्षु पर्याप्तासंज्ञी देवगतिप्रायोग्यमेतत् प्रकृतिचतुष्टयं
बध्नाति स कस्मादिह नाङ्गीकृतः ? उच्यते—प्रभूतयोगत्वात्; अपर्याप्तसंज्ञियोगाद्धि पर्याप्ता-
संज्ञियोगो जघन्योऽप्यसङ्ख्येयगुण इति । "सुहुमनिगोयाइखणि सेस" त्ति सूक्ष्मनिगोदजी-
वोऽपर्याप्तक आदिक्षणे—भवाद्यसमये 'शेषाः' भणितैकादशप्रकृतिभ्योऽवशिष्टा नवोत्तरशतसङ्ख्याः
प्रकृतीराश्रित्य सर्वजघन्यवीर्यलब्धियुक्तो यथासम्भवं च बह्वीः प्रकृतीर्बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धाः
करोति, सर्वासामप्यत्र बन्धसद्भावात् , सर्वजघन्यवीर्यस्य चात्रैव सम्भवादिति ॥९३॥

निरूपितं जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वम् । अधुना प्रदेशबन्धमेव साद्यादिभङ्गकैर्निरूपयन्नाह—

दंसणछग भयकुच्छाबितितुरियकसायविग्घनाणाणं ।
मूलछगेऽणुक्कोसो, चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥९४॥

दर्शनषट्कं—चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन--केवलदर्शनावरण-निद्रा प्रचलालक्षणं, भय-
जुगुप्से "बितितुरियकसाय" त्ति कषायशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वितीयकषायाः—अप्रत्याख्या-
नावरणाः, तृतीयकषायाः—प्रत्याख्यानावरणाः, तुर्याः—चतुर्थाः कषायाः संज्वलनकषायाः, वि-
घ्नानि पञ्चदान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायाख्यानि, ज्ञानानि—ज्ञानावरणानि मतिज्ञानावरण-
श्रुतज्ञानावरणा--ऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्यायज्ञानावरण--केवलज्ञानावरणलक्षणानि पञ्च इत्येतासा-
मुत्तरप्रकृतिषु मध्ये त्रिंशतः प्रकृतीनां तथा "मूलछगे" त्ति मूलप्रकृतिषट्के—ज्ञानावरण-दर्श-
नावरण-वेदनीय-नाम गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणेऽनुत्कृष्ट एव प्रदेशबन्धः "चउह" त्ति चतुर्धा सादि-
अनादि-ध्रुवा ऽध्रुवरूपचतुर्विकल्पोऽपि भवतीत्यर्थः । इह तावद् यत्र सर्वबहवः कर्मस्कन्धा गृह्यन्ते
स उत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, ततः स्कन्धहानिमाश्रित्य यावत् सर्वस्तोककर्मस्कन्धग्रहणं तावत् सर्वो-
ऽप्यनुत्कृष्ट इत्युत्कृष्टाऽनुत्कृष्टप्रकारद्वयेन सर्वोऽपि प्रदेशबन्धः सङ्गृहीतः । यत्र सर्वस्तोककर्मस्क-
न्धग्रहणं स जघन्यः प्रदेशबन्धः, ततः स्कन्धवृद्धिमाश्रित्य यावत् सर्वबहुस्कन्धग्रहणं तावत्
सर्वोऽप्यजघन्य इति जघन्या-ऽजघन्यप्रकारद्वयेन सर्वोऽपि प्रदेशबन्धः सङ्गृहीत इति । अनया
परिभाषया दर्शनावरणषट्कादीनामुत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति ।

तथाहि—चक्षुर्दर्शनावरणा--ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण--केवलदर्शनावरणलक्षण-
प्रकृतिचतुष्कविषयः क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसम्परायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानस्यैकं
द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीया-ऽऽयुःकर्मद्वयं

सर्वजघन्यवीर्ये वर्तमानः प्रस्तुतप्रकृतिचतुष्टयस्यैकं, चतुरो वा समयान् यावद् जघन्यप्रदेशं करोतीति परमार्थः। पर्याप्तजघन्ययोगस्योत्कृष्टतोऽपि चतुःसमयावसानत्वादुत्तरत्राप्येष एव नियमो द्रष्टव्यः। ननु पर्याप्तसंज्ञी किमिति प्रकृतप्रकृतिचतुष्टयं न बध्नाति ? इति चेद् उच्यते—प्रभूतयोगत्वात्; जघन्योऽपि हि पर्याप्तसंज्ञियोगः पर्याप्तासंज्ञ्युत्कृष्टयोगादप्यसङ्ख्येयगुण इति। तथा "सुरविउव्विदुगं" ति द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुरद्विकं-सुरगति-सुरानुपूर्वीरूपं वैक्रियद्विकं–वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं 'जिननाम' तीर्थकरनामेत्येतत् प्रकृतिपञ्चकं "सम्मो" त्ति सम्यग्दृष्टिः "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायाद् भवाद्यसमये वर्तमानः "जहन्नं" ति जघन्यं-जघन्यप्रदेशं करोति।

तथाहि–कश्चिद् मनुष्यस्तीर्थकरनाम बद्ध्वा देवेषु समुत्पन्नः प्रथमसमय एव मनुष्यगति-प्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां नामप्रकृतित्रिंशतं मनुष्यगतिर्मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिक-शरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं पराघातमुच्छ्वासं प्रशस्तविहायो-गतिस्त्रसं बादरं पर्याप्तं प्रत्येकं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-शुभयोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकी-र्त्योरेकतरं सुभगं सुस्वरमादेयं तीर्थकरनाम वर्णचतुष्कं तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातं निर्माण-मितिलक्षणां बध्नन् मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धकोऽविरतसम्यग्दृष्टिः स्वप्रायोग्यजघन्यवीर्ये वर्तमानस्ती-र्थकरनाम जघन्यप्रदेशबन्धं करोति। नारकोऽपि श्रेणिकादिवदेवं तद्बन्धकः सम्भवति, परन्तु देवोऽल्पयोगत्वादनुत्तरवासी गृह्यते, नारकेषु त्वेवम्भूतो जघन्ययोगो न लभ्यतेऽतस्तेषु समुत्पन्नो नेह गृहीतः। तिर्यञ्चस्तु तीर्थकरनाम न बध्नन्तीत्युपेक्षिताः। मनुष्यास्तु भवाद्यसमये तीर्थकर-नामसहितां नाम्न एकोनत्रिंशतमेव बध्नन्त्यतस्तत्राल्पा भागा भवन्ति। एकत्रिंशद्बन्धस्तु तीर्थकर-नामसहितः संयतस्यैव भवति, तत्र च वीर्यमल्पं न लभ्यते। अन्येषु तु नामबन्धेषु तीर्थकर-नामैव न बध्यतेऽतः शेषपरिहारेण त्रिंशद्बन्धकस्य देवस्यैव ग्रहणम्। देवद्विक-वैक्रियद्विकयोस्तु बद्धतीर्थकरनामा देव-नारकेभ्यश्च्युत्वा समुत्पन्नो मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासं पराघातं प्रशस्तविहा-योगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्टयं तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातं निर्माणं तीर्थकरनामेतिलक्षणां देवगतिप्रायोग्यां नामैकोनत्रिंशतं निर्वर्तयन् स्व-प्रायोग्यसर्वजघन्यवीर्ये व्यवस्थितो भवाद्यसमये वर्तमानो मनुष्यो जघन्यप्रदेशबन्धं करोति। देव-नारका हि तावद् भवप्रत्ययादेवैतत् प्रकृतिचतुष्टयं न बध्नन्तीति नेहाधिकृताः। तिर्यञ्चः पुनर्भोग-भूमिजा भवाद्यसमयेऽपि बध्नन्त्येतत्, केवलं ते देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेव पूर्वप्रदर्शितस्वरूपां रचयन्ति, नैकोनत्रिंशदादिबन्धान्, तेषां तीर्थकरा-ऽऽहारकसहितत्वात्, तिरश्चां तु तदबन्-

देशविरतः सप्तविधबन्धक उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, अप्रत्याख्यानावरणाना-
मुत्कृष्टभागोऽधिको लभ्यत इति । एष च देशविरतो यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृ-
ष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः,
अध्रुवो भव्यानामिति । तथा संज्वलनक्रोधस्यानिवृत्तिबादरः पुंवेदबन्धे व्यवच्छिन्ने
चतुर्विधं बध्नन् उत्कृष्टयोगे स्थित उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यात्वा-ऽऽय-
गः सर्वनोकषायभागश्च लभ्यत इति कृत्वा । संज्वलनमानस्य स एव क्रोधबन्धे
व्यवच्छिन्ने संज्वलनमानादित्रयं बध्नन् उत्कृष्टप्रदेशं करोति, क्रोधभागो लभ्यत इति कृत्वा । स
मानबन्धे व्यवच्छिन्ने माया-लोभौ बध्नन् मायाया उत्कृष्टप्रदेशं करोति, मानभागोऽपि लभ्यत
स एव मायाबन्धे व्यवच्छिन्ने लोभमेकं बध्नन् तस्योत्कृष्टप्रदेशं करोति एवं द्वौ
तच्च विशेषणं प्रागपि द्रष्टव्यम् , सकलमोहनीयभागस्तत्र लभ्यत इति लोभबन्धक-
। एष चानिवृत्तिबादरो यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्ट-
करोति तदाऽसौ सादिः, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्या-
नाम् । तथा ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चकविषयः क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसम्परायस्य
योगे वर्तमानस्यैकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते । सूक्ष्मसम्परायो
मोहनीया-ऽऽयुःकर्मद्वयं न बध्नाति, एतयोर्भागयोरप्यत्र ज्ञानावरणपञ्चकेऽन्तरायपञ्चके च
प्रवेशात् बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम् । इह चोत्कृष्टप्रदेशबन्धं कृत्वोप-
शान्ताद्धावस्थां चाक्रम्य पुनः प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य यदा पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं
तदाऽसौ सादिः, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः सदा--निरन्तरं बध्यमानत्वात् , ध्रुवो-
ऽभव्यानाम् , अध्रुवो भव्यानामिति ।

तदेवं त्रिंशत उत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि भावितः ।
शेषस्य का वार्ता ? इत्याह—"दुहा सेसि सव्वहिं" ति 'शेषे' भणितोद्धरिते उत्कृष्ट-
जघन्या-ऽजघन्यप्रदेशबन्धलक्षणे सर्वत्र त्रिविधेऽपि 'द्विधा' द्विविकल्पः सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो
भवतीत्यर्थः । तत्रानुत्कृष्टभणनक्रमेणोत्कृष्टस्त्रिंशतोऽपि प्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायादिषु दर्शितः,
स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, सर्वथा बन्धाभावेऽनुत्कृष्टबन्धसम्भवे वाऽवश्यं न
भवतीत्यध्रुवः । जघन्यः पुनरेतासां त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रदेशबन्धोऽपर्याप्तस्य सर्वमन्दवीर्यलब्धिक-
स्य सप्तविधबन्धकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये लभ्यते । जघन्यप्रदेशबन्धो हि जघन्य-
योगेन भवतीत्युक्तम् , स चास्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यते । द्वितीयादिसमयेषु पुनर-

१ सं० १-२ त० म० ०दा अनु० ॥

कारणभूतानि अध्यवसायस्थानानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि । तानि स्थितिभेदेभ्योऽसङ्ख्येयगुणानि, यतः सर्वजघन्योऽपि स्थितिविशेषोऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायस्थानैर्जन्यते, उत्तरेषु तु स्थितिविशेषास्तैरेव यथोत्तरं विशेषवृद्धैर्जन्यन्ते, अतः स्थितिभेदेभ्यः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्यातगुणानि सिद्धानि भवन्ति ।

तथा "अणुभागट्ठाण" त्ति "पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्" 'अनुभागस्थानानि' अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि । तत्रानु-पश्चाद् बन्धोत्तरकालं भज्यते-सेव्यतेऽनुभूयते इत्यनुभागः -रसस्तस्य बन्धोऽनुभागबन्धः, अध्यवसानानि अध्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः, तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानानि अध्यवसायस्थानानि, अनुभागबन्धस्य कारणभूतानि अध्यवसायस्थानानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि । स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यस्तान्यसङ्ख्येयगुणानि भवन्ति । स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानं ह्येकैकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुक्तम् , अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानं त्वेकैकं जघन्यतः सामयिकम् उत्कृष्टतस्त्वष्टसामयिकान्तमेवोक्तम् , अत एकस्मिन्नपि नगरकल्पे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थाने तदन्तर्गतानि नगरान्तर्गतोच्चैर्नीचैर्गृहकल्पानि नानाजीवान् कालभेदेनैकं जीवं वा समाश्रित्य असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । तथाहि-जघन्यस्थितिजनकानामपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानां मध्ये यदाद्यं सर्वलघुस्थितिकं बन्धाध्यवसायस्थानं तस्मिन्नपि देश-क्षेत्र-काल-भाव--जीवभेदेनासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते, द्वितीयादिषु तु तान्यप्यधिकान्यधिकतराणि च प्राप्यन्त इति सर्वेष्वपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेषु भावना कार्या, अतः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानीति ॥ ८५ ॥

तत्तो कम्मपएसा, अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।
जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायाओ ॥ ८६ ॥

'ततः' तेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः 'कर्मप्रदेशाः' कर्मस्कन्धा अनन्तगुणिता भवन्ति । अयमत्र तात्पर्यार्थः-प्रत्येकमभव्यानन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नानभव्यानन्तगुणानेव स्कन्धान् मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिः प्रतिसमयं जीवो गृह्णातीत्युक्तम् । अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तु सर्वाण्यप्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्येवाभिहितानि, अतोऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः कर्मप्रदेशा अनन्तगुणाः सिद्धा भवन्ति ।

---

१ सं० १-२ त० म० छा० ०त्तरे तु स्थिति० ॥

अत्र "रसो णंतगुणो" त्ति 'रसः' स्नेहः कर्मप्रदेशेभ्यो [illegible] अनन्तगुणा भवन्ति [illegible]—इह [illegible] कर्मपुद्गल[illegible] [illegible] सर्वजीवानन्तगुणान् [illegible] उत्पादयति, यस्मात् [illegible] [illegible] सर्वजीवानन्तगुणाः [illegible] । उक्तं च—

'गहणसमयम्मि जीवो, उप्पाएइ उ गुणे सपच्चयओ ।
सव्वजियाणंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसु ॥ (कर्मप्र० गा० २९)

[illegible] इत्यर्थः, शेषं सुगमम् ।

कर्मप्रदेशाः पुनः प्रत्येकं सर्वेऽपि सिद्धानामनन्तभागे [illegible] सर्वजीवेभ्यः [illegible] अनन्तगुणाः [illegible] भवन्ति ।

[illegible]—[illegible] बन्धं [illegible], एनं कस्मात् हेतोः जीवः करोति ? [illegible] [illegible] प्रकृति-स्थिति-अनुभागबन्धानां [illegible] [illegible]—"जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायाउ" त्ति योगो वीर्यं [illegible] [illegible] इति पर्यायाः, तस्मात् योगात् प्रकृतिं प्रकृतिः कर्मणां ज्ञानावरणादिस्वभावः, प्रकृत्य [illegible] [illegible] प्रदेशाः [illegible], प्रकृतयश्च प्रदेशाश्च प्रकृति[illegible] [illegible] समाहारो द्वन्द्वः, तद् जीवः करोतीति शेषः, प्रकृति-प्रदेशबन्धयोर्योगो हेतुरित्यर्थः [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रकृति-प्रदेशाश्च बध्यन्ते, अयोग्यवस्थायां तु योगाभावे न बध्यन्ते इत्यन्वय[illegible] [illegible] प्रकृति-प्रदेशबन्धयोर्योग एव प्रधानं कारणम् । तथा "ठिइअणुभा[illegible] कसायाउ" त्ति स्थानं—स्थितिः, [illegible] [illegible] [illegible] अनु—पश्चाद् [illegible] भजनं—स्थितेः [illegible] यस्यासावनुभागो [illegible] [illegible], स्थितिश्चानुभागश्च स्थित्यनुभागम्, समाहारो द्वन्द्वः, तद् जीवः करोतीति शेषः । कस्मात् [illegible] इत्याह—'कषायात्' कषायवशात् । इयमत्र भावना—कषायाः—क्रोध-मान-माया-लोभाः, [illegible] [illegible] [illegible] कषायोदये [illegible], कषाया [illegible] नानाजीवानां कालभेद[illegible] [illegible] ज्ञानावरणादिकर्मस्थिति[illegible] [illegible] [illegible]

१ ग्रहणसमये जीव उत्पादयति तु गुणान् स्वप्रत्ययतः । सर्वजीवानन्तगुणान् कर्मप्रदेशेषु सर्वेषु[illegible]

ति, अपरेषु स्थितिकरणेषु स्कन्धेषु तेनैव क्रमेण [illegible]
[illegible]नायकर्मस्कन्धेष्वनन्तगुणे यत्लोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागस्थानानि [illegible]
[illegible]कर्मस्कन्धेष्वप्येतान्येवामूनि भवन्ति, परं [illegible]
[illegible]क्रान्ताः, तत्र च जघन्यान्यनुभागस्थानान्युत्कृष्टान्यपि [illegible]
मध्यमानि तु कानिचिद् द्वौ समयौ कानिचित् त्रीन् समयान् [illegible]
पञ्च समयान् अन्यानि षट् समयान् अपराणि सप्त समयान् [illegible]
उद्धे समागच्छन्ति. उत्कृष्टानुभागस्थानान्युत्कृष्टतो द्वौ समयौ [illegible]
एवं सर्वत्राप्यत्र प्रवर्तते । जघन्यतस्तु सर्वाण्यपि समयमेकं [illegible]
जघन्य-मध्यम-उत्कृष्टभेदभिन्नोऽध्यवसायोऽप्येतावत्कालभावि एव भवति. [illegible]
भेदेनाध्यवसायवैचित्र्येण बध्यमानकर्मानुभागो जघन्यादिभेदभिन्नो भवति, [illegible]
भागजनिताध्यवसायवैचित्र्यनिर्वर्त्यत्वात् कर्मणामनुभागः कषायप्रत्ययः सिद्धः । [illegible]
कारणद्वयाभावेऽपि कषायसद्भावेऽपि प्रमत्तादिषु स्थित्यनुभागबन्धौ भवतः, [illegible]
न्तमोहादिषु न भवत इत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां ज्ञायते कषाया एव स्थिति-अनुभागबन्धयोः
प्रधानं कारणमिति ॥९६॥

'योगस्थानानि श्रेण्यसङ्ख्येयभागे भवन्ति' इति यदुक्तं तत्र श्रेणिस्वरूपं [illegible],
सा च घनीकृतलोकस्वरूपप्ररूपणापूर्विका च भवतु इत्यतः [illegible]
स्थानोपयोगित्वात् प्रतरस्वरूपं च प्रचिकटयिषुराह—

'चउदसरज्जू लोओ, बुद्धिकओ होइ सत्तरज्जुघणो ।
तद्दीहेगपएसा, सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥ ९७ ॥

चतुर्दश रज्जवो यस्य स चतुर्दशरज्जुः, रज्जुप्रमाणं तु [illegible]
पाश्चात्यवेदिकान्तं यावद् दक्षिणोत्तरवेदिकान्तं वा यावदवसेयम् , [illegible]
देशोनसप्तरज्जुविस्तरः, तिर्यग्लोकमध्ये एकरज्जुविस्तरः, ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुविस्तरः
उपरि तु लोकान्ते एकरज्जुविस्तृतः, शेषस्थानेषु पुनः कोऽपि [illegible] विस्तर इति । [illegible]
रूपो लोकः 'बुद्धिकृतः' मतिपरिकल्पनया विहितः 'भवति' सम्पद्यते । [illegible] भवति ?
इत्याह–सप्त रज्जवः प्रमाणतया यस्य स सप्तरज्जुः, स चासौ घनश्च–समचतुरस्र-आयामविष्क-
म्भबाहल्यैस्तुल्यत्वात् सप्तरज्जुघनः । स चेत्थं बुद्ध्या विधीयते–इह रज्जुविस्तीर्णायाम [illegible]
ऽधो दक्षिणदिग्वर्त्यधोलोकखण्डमधो देशोनरज्जुत्रयविस्तृतं क्रमेण हीयमानविस्तरं तावद् [illegible]

१ सटीकेयं गाथा सार्धशतकप्रकरणस्य ११४ तमी गाथा-सटीका समाना ।

दुपरिष्टाद् रज्जु(ज्ज्व)सङ्ख्येयभागविस्तरं सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रयं गृहीत्वा त्रसनाडिकाया एवो-
रदिग्भागे विपरीतं योज्यते, उपरितनं भागमधः कृत्वाऽधस्तनं चोपरि विधाय सङ्घात्यते इत्य-
एवं च कृतेऽधस्तनं लोकस्यार्धं सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रितं किञ्चिदूनरज्जुचतुष्टयविस्तीर्णं बाह-
तोऽप्यधः क्वचिद् देशोनसप्तरज्जुमानमन्यत्र पुनरनियतबाहल्यं जायते ।

इदानीमुपरितनलोकार्धं संवर्त्यते—तत्रापि रज्जुविस्तरायास्त्रसनाडिकाया दक्षिणदिग्व-
ब्रह्मलोकमध्यादधस्तनमुपरितनं च द्वे अपि खण्डे ब्रह्मलोकमध्ये प्रत्येकं द्विरज्जुविस्तरे उप-
कसमीपेऽधस्तु रत्नप्रभाक्षुल्लकप्रतरसमीपेऽङ्गुलसहस्रभागविस्तरवती देशोनसार्धत्रयरज्जू-
बुद्ध्या गृहीत्वा त्रसनाडिकाया एवोत्तरपार्श्वे पूर्वोदितस्वरूपेणैव वैपरीत्येन सङ्घात्येते, एवं
कृते उपरितनं लोकस्यार्धं द्वाभ्यामङ्गुलसहस्रभागाभ्यामधिकरज्जुत्रयविष्कम्भम्, इह न
खण्डानां पर्यन्तेषु चत्वारोऽङ्गुलसहस्रभागा भवन्ति, केवलमेकस्यां दिशि यौ ताभ्यां द्वाभ्याम
एवाङ्गुलसहस्रभाग एकदिग्वर्तित्वादेवापराभ्यामपि द्वाभ्यामित्थमेवेत्यतस्तद्द्वयाधिकत्वमु-
देशोनसप्तरज्जूच्छ्रितम्, बाहल्यतस्तु ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुबाहल्यमन्यत्र त्वनियतबाहल्य-
इदं च सर्वं गृहीत्वा आधस्त्यसंवर्तितलोकार्धस्योत्तरपार्श्वे सङ्घात्यते । एवं च योजिते आध-
खण्डस्योच्छ्रये यद् इतरोच्छ्रयाधिकं तत् खण्डयित्वोपरितनसङ्घातितखण्डस्य बाहल्ये उप-
संयोज्यते, एवं च सातिरेकाः पञ्च रज्जवः क्वचिद् बाहल्यं सिध्यति । तथा आधस्त्यखण्ड-
स्ताद् यथासम्भवं देशोनसप्तरज्जुबाहल्यं प्रागुक्तम्, अत उपरितनखण्डबाहल्याद् देशोन-
द्वयमत्राधस्त्यखण्डेऽतिरिच्यते इत्यस्मादतिरिच्यमानबाहल्यार्धं देशोनरज्जुरूपं गृहीत्वोप-
खण्डबाहल्ये सङ्घात्यते, एवं च कृते बाहल्यतस्तावत् सर्वमप्येतत् चतुरस्रीकृतनभःखण्डं
स्यपि प्रदेशे रज्ज्वसङ्ख्येयभागाधिकाः षड् रज्जवो भवन्ति, व्यवहारतस्तु सर्वं सप्तरज्जुमा-
मिदमुच्यते । व्यवहारनयो हि किञ्चिदूनसप्तहस्तादिप्रमाणमपि पटादिवस्तु परिपूर्णसप्तहस्त-
मानं व्यपदिशति, देशतोऽपि च दृष्टं बाहल्यादिधर्मं परिपूर्णेऽपि वस्तुन्यध्यवस्यति, प्रभू-
तत्वादिति भावः । अत एतन्मतेनैवात्र सप्तरज्जुबाहल्यता सर्वगता द्रष्टव्या । आयाम-
विष्कम्भयोस्तु प्रत्येकं देशोनसप्तरज्जुप्रमाणमिदं जातम्, व्यवहारतस्तु तत्रापि सप्तरज्जुप्रमा-
द्रष्टव्या । तदेवं लोको व्यवहारनयमतेन आयाम-विष्कम्भ-बाहल्यैः प्रत्येकं सप्तरज्जुप्रमाणो
भवतीति समुदायार्थः । एतच्च वैशाखसंस्थानस्थितपुरुषाकारं सर्वत्र वृत्तस्वरूपं लोकं संस्था-
नायतीति ।

प्रतरो घनः । सम्प्रति श्रेणिनिरूपणायाह—"तईदिसिणाणएसा केडि" ति गाथा ।

१ [illegible] ॥

लोकः सप्तरज्जुप्रमाणो दीर्घे दैर्घ्यं यस्याः सा तद्दीर्घा, एकप्रदेशेति वीप्साप्रधानत्वाद् शिस्यैकैकाकाशप्रदेशा शूचिः श्रेणिरित्युच्यते । एतेन च यत्र कुत्राप्यविशेषितायाः श्रेणेः मान्येन ग्रहणं तत्र सर्वत्रास्य घनीकृतलोकस्य सम्बन्धिनी इयमेव सप्तरज्जुप्रमाणा एक-देशिकीश्रेणिर्ग्राह्या ।

अधुना प्रतरं प्ररूपयितुमाह—'प्रतरश्च' प्रतरः पुनः कः ? इत्याह—'तद्वर्गः' तस्याः-चस्वरूपायाः श्रेणेर्वर्गः-शूच्या शूचिगुणनलक्षणस्तद्वर्गः । कोऽर्थः ? शूच्या शूचेर्गुणनं प्रतर यते। तद्यथा—इहासत्कल्पनया योजनकोटीकोटीदीर्घाऽपि श्रेणिरसत्कल्पनया त्रिप्रदेशप्रमाणा द्रष्ट-

| ० | ० | ० | तस्याश्च तथैव गुणने प्रतरो नवप्रदेशात्मको भवति । स्थापना—

०००
०००
०००

इति ॥९७॥

निरूपितः सप्रपञ्च' प्रदेशबन्धस्तत्स्वामी च । तन्निरूपणे च समर्थिता "नमिय जिणं धंबोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता । सेयर चउह विवागा, वुच्छं बंधविह सामी य ॥" इति आद्य-गाथा । अधुना च-शब्दसूचितामुपशमश्रेणिं क्षपकश्रेणिं च व्याचिख्यासुः प्रथमं तावदुप-श्रेणिं प्रकटयन्नाह—

[1]अण दंस नपुंसित्थी, वेय च्छक्कं च पुरिसवेयं च ।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ९८ ॥

तत्र प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिधीयते—अविरतसम्यग्दृष्टि -देशविरत—प्रमत्ता-मत्तानामन्यतमोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानस्तेजः-पद्म-शुक्ललेश्यानामन्यतमलेश्यायुक्तः साका-रयोगोपयुक्तोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा करणकालात् पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्तं कालं याव-दायमानचित्तसन्ततिरवतिष्ठते । तथाऽवतिष्ठमानश्च परावर्तमानाः प्रकृतीः शुभा एव बध्नाति, शुभाः; अशुभानां च प्रकृतीनामनुभागं चतुःस्थानकं सन्तं द्विस्थानकं करोति, शुभानां च स्थानकं सन्तं चतुःस्थान-(ग्रन्थाग्रम्-४०००)कम्; स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे पूर्णे सति अन्यं थतिबन्धं पूर्वपूर्वस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनं करोति । इत्थं करणकालात् पूर्व-न्तर्मुहूर्तं कालं यावदवस्थाय ततो यथाक्रमं त्रीणि करणानि प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकानि करोति । यथा—यथाप्रवृत्तकरणम् अपूर्वकरणम् अनिवृत्तिकरणं चतुर्थी तूपशान्ताद्धा । तत्र यथाप्रवृ-त्तकरणे प्रविशन् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रविशति, पूर्वोक्तं च शुभप्रकृतिबन्धा-

१ गाथेयं आवश्यकनिर्युक्तौ ११६ तमा । अस्या गाथायाष्टीका तु सप्ततिकाप्रकरणस्य "पढ-मकसायचउक्कं" इत्यस्या गाथायाष्टीकासमा ॥

॥द् उत्कृष्टतः प्रभूतसागरोपमशतपृथक्त्वमात्रं जघन्यतः पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डं
डयति, तद्दलिकं चाधस्ताद् याः स्थितीर्न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति, अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन
स्थितिखण्डमुत्कीर्यते खण्डयत इत्यर्थः; ततः पुनरप्यधस्तात् पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थिति-
डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति, एवमपूर्वकरणाद्धायां प्रभूतानि
यतिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति, तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यत् स्थितिसत्कर्म
सीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम् ।

रसघातो नाम–अशुभप्रकृतीनां यदनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभाग-
ागानन्तर्मुहूर्तेन कालेनाशेषानपि विनाशयति, ततः पुनरपि तस्य प्राङ्मुक्तस्यानन्ततमभाग-
यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति, एवमनेकान्यनु-
ागखण्डसहस्राण्येकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति, तेषां च स्थितिखण्डानां सहस्रैरपूर्वकरणं
रिसमाप्यते ।

गुणश्रेणिर्नाम–अन्तर्मुहूर्तप्रमाणानां स्थितीनामुपरि याः स्थितयो वर्तन्ते तन्मध्याद् दलिकं
हीत्वा उदयावलिकाया उपरितनीषु स्थितिषु प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणतया निक्षिपति, तद्यथा–
थमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् नेयं
ावदन्तर्मुहूर्तचरमसमयः; तच्चान्तर्मुहूर्तमपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिकरणकालाभ्यां मनागतिरिक्तं वेदि-
व्यम् । एष प्रथमसमयगृहीतदलिकस्य निक्षेपविधिः । एवं द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलि-
ानां निक्षेपो वक्तव्यः । अन्यच्च–गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमये यद् दलिकं गृह्यते तत्
तोकम्, ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद्
यं यावद् गुणश्रेणिकरणचरमसमयः । अपूर्वकरणसमयेषु अनिवृत्तिकरणसमयेषु चानुभवतः
मशः क्षीयमाणेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षेपः ... शेषे ... न ... नर्धत इति ।

दिकं तथैव तत्र कुरुते, न च स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसङ्क्रमं वा करोति, तद्योग्य[illegible]
शुद्ध्यभावात् । प्रतिसमयं च नानाजीवापेक्षया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसाय[illegible]
नानि भवन्ति षट्स्थानपतितानि च । अन्यच्च प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमयेऽध्यवसायस्थान[illegible]
विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरण[illegible]
मसमयः । एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यम् । अत एवैतानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृण[illegible]
स्थापना चेयम्—

१२०००००००००००१६
१००००००००००००१५
८००००००००००१४
६०००००००००१३
४००००००००११
३०००००००९
२००००००७
१०००००५

इह कल्पनया द्वौ पुरुषौ युगपत् करणप्रति[illegible] विवक्ष्येते, तत्रैकः सर्वोत्कृष्टया विशो- सर्वजघन्यया विशोधिश्रेण्या प्रतिपन्नः, अन्य[illegible] धिश्रेण्या । तत्र प्रथमजीवस्य प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, ततो द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या
विशोधिरनन्तगुणा, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणाद्धायाः सङ्ख्येयो भागो गतो भाति ।
ततः सङ्ख्येये भागे गते सति चरमसमयजघन्यविशुद्धेः सकाशात् प्रथमसमये द्वितीय[illegible]
जीवस्योत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि यतो जघन्यविशुद्धिस्थानाद् निवृत्तस्तत उपरि[illegible]
जघन्यविशोधिस्थानमनन्तगुणम्, ततो द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा, तत उपरि[illegible]
जघन्यं विशोधिस्थानमनन्तगुणम्, ततस्तृतीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा, एवमुपरि[illegible]
[illegible] विशोधिस्थानमनन्तगुणतया द्वयोर्जीवयोस्तावद् नेयं यावद् यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये
जघन्यं विशुद्धिस्थानम् । ततः शेषाणि उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानान्यनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि
[illegible]मनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेतव्यानि यावच्चरमसमये उत्कृष्टं विशोधिस्थानम् ।

[illegible] यथाप्रवृत्तिकरणम् । साम्प्रतमपूर्वकरणमुच्यते—तत्रापूर्वकरणे प्रतिसमय[illegible]
[illegible]प्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति, प्रतिसमयं च षट्स्थानपतितानि [illegible]
[illegible] जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, सा च यथाप्रवृत्तकरण[illegible]चरमसमय[illegible]
[illegible]नन्तगुणा । ततः प्रथमसमये सर्वोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये [illegible]
[illegible]रनन्तगुणा, ततोऽपि [illegible] द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, [illegible]
[illegible] जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवं जघन्यमुत्कृष्टं च विशोधिस्थानमनन्तगुणं [illegible]
[illegible] चरमसमये जघन्यत उत्कृष्टविशुद्धिरनन्तगुणा । [illegible]

[illegible]

[illegible] स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं [illegible]
[illegible] । तत्र स्थितिघातो नाम [illegible]

ा स्तु उत्कृष्टतः प्रभूतसागरोपमशतपृथक्त्वमात्रं जघन्यतः पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डं ड्यति, तद्दलिकं चाधस्ताद् याः स्थितीर्न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति, अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन स्थितिखण्डमुत्कीर्यते खण्ड्यत इत्यर्थः; ततः पुनरप्यधस्तात् पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थिति-ण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति, एवमपूर्वकरणाद्धायां प्रभूतानि ितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति, तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यत् स्थितिसत्कर्म सीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम् ।

रसघातो नाम—अशुभप्रकृतीनां यदनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभाग-गानन्तर्मुहूर्तेन कालेनाशेषानपि विनाशयति, ततः पुनरपि तस्य प्राङ्मुक्तस्यानन्ततमभाग-ानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति, एवमनेकान्यनु-गखण्डसहस्राण्येकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति, तेषां च स्थितिखण्डानां सहस्रैरपूर्वकरणं समाप्यते ।

दिकं तथैव तत्र कुरुते, न च स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसङ्क्रमं वा करोति, तद्योग्य-शुद्ध्यभावात्। प्रतिसमयं च नानाजीवापेक्षया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसाय-नानि भवन्ति षट्स्थानपतितानि च। अन्यच्च प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमयेऽध्यवसायस्थाना-विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरण-मसमयः। एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यम्। अत एवैतानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति।

स्थापना चेयम्—

१२००००००००००००१६
१००००००००००००१५
८०००००००००००१४
६०००१००००१३
४०००००००११
३००००००९
२००००००७
१००००५

इह कल्पनया द्वौ पुरुषौ युगपत् करणप्रतिपन्नौ विवक्ष्येते, तत्रैकः सर्वजघन्यया विशोधिश्रेण्या प्रतिपन्नः, अन्यः सर्वोत्कृष्टया विशोधिश्रेण्या। तत्र प्रथमजीवस्य प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, ततो द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणाद्धायाः सङ्ख्येये भागे गते सति चरमसमयजघन्यविशुद्धेः सकाशात् प्रथमसमये द्वितीयस्य जीवस्योत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि यतो जघन्यविशुद्धिस्थानाद् निवृत्तस्तत उपरितनं जघन्यविशोधिस्थानमनन्तगुणम्, ततो द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा, तत उपरितनं जघन्यं विशोधिस्थानमनन्तगुणम्, ततस्तृतीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा, एवमुपर्युपर्येकैकं विशोधिस्थानमनन्तगुणतया द्वयोर्जीवयोस्तावद् नेयं यावद् यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये जघन्यं विशुद्धिस्थानम्। ततः शेषाणि उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानान्यनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि निरन्तरमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेतव्यानि यावच्चरमसमये उत्कृष्टं विशोधिस्थानम्।

भणितं यथाप्रवृत्तिकरणम्। सम्प्रत्यपूर्वकरणमुच्यते—तत्रापूर्वकरणे प्रतिसमयमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति, प्रतिसमयं च षट्स्थानपतितानि। तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, सा च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयसत्कोत्कृष्टविशोधिस्थानादनन्तगुणा। ततः प्रथमसमय एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवं जघन्यमुत्कृष्टं च विशोधिस्थानमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेयं यावदपूर्वकरणस्य चरमसमये जघन्यत उत्कृष्टविशुद्धिरनन्तगुणा। स्थापना चेयम्—

[illegible]

अपूर्वकरणे प्रविशन् स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं स्थितिबन्धं च युगपदारभते। तत्र स्थितिघातो नाम

ाद् उत्कृष्टतः प्रभूतसागरोपमशतपृथक्त्वमात्रं जघन्यतः पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डं
डयति, तद्दलिकं चाधस्ताद् याः स्थितीर्न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति, अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन
स्थितिखण्डमुत्कीर्यते खण्डयत इत्यर्थः; ततः पुनरप्यधस्तात् पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थिति-
डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति, एवमपूर्वकरणाद्धायां प्रभूतानि
थतिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति, तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यत् स्थितिसत्कर्म
सीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम् ।

दिकं तथैव तत्र कुरुते, न च स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसङ्क्रमं वा करोति, तथाविध-
शुद्ध्यभावात्। प्रतिसमयं च नानाजीवापेक्षया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्था-
नानि भवन्ति षट्स्थानपतितानि च। अन्यच्च प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमयेऽध्यवसायस्थानानि
विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणच-
मसमयः। एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यम्। अत एवैतानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति।

स्थापना चेयम्—

१२०००००००००००१६
१००००००००००००१५
८००००००००००१४
६००००००००१३
४०००००००११
३०००००००९
२०००००७
१०००००५

इह कल्पनया द्वौ पुरुषौ युगपत् करणप्रतिपन्नौ विवक्ष्येते, तत्रैकः सर्वोत्कृष्टया विशोधिश्रेण्या प्रतिपन्नः, अपरस्तु सर्वजघन्यया विशोधिश्रेण्या। तत्र प्रथमजीवस्य प्रथमसमये जघन्या
विशोधिः सर्वस्तोका, ततो द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या
विशोधिरनन्तगुणा, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणाद्धायाः सङ्ख्येयो भागो गतो भवति।
ततः सङ्ख्येये भागे गते सति चरमसमयजघन्यविशुद्धेः सकाशात् प्रथमसमये द्वितीयस्य
जीवस्योत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि यतो जघन्यविशुद्धिस्थानाद् निवृत्तस्ततः उपरितनं
जघन्यविशोधिस्थानमनन्तगुणम्, ततो द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा, ततः उपरितनं
जघन्यं विशोधिस्थानमनन्तगुणम्, ततस्तृतीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा, एवमुपर्यध-
श्चैकैकं विशोधिस्थानमनन्तगुणतया द्वयोर्जीवयोस्तावद् नेयं यावद् यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये
जघन्यं विशुद्धिस्थानम्। ततः शेषाणि उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानान्यनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि
निरन्तरमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेतव्यानि यावच्चरमसमये उत्कृष्टं विशोधिस्थानम्।

भणितं यथाप्रवृत्तिकरणम्। सम्प्रत्यपूर्वकरणमुच्यते—तत्रापूर्वकरणे प्रतिसमयमसङ्ख्येय-
लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति, प्रतिसमयं च षट्स्थानपतितानि। तत्र
प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, सा च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयसत्कोत्कृष्टविशोधिस्था-
नादनन्तगुणा। ततः प्रथमसमय एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या
विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीय-
समये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवं जघन्यमुत्कृष्टं च विशोधिस्थानमनन्तगुणया वृद्ध्या ताव-
न्नेयं यावदपूर्वकरणस्य चरमसमये जघन्यत उत्कृष्टविशुद्धिरनन्तगुणा। स्थापना चेयम्—

२५००००००००००२६
२३००००००००००२४
२१००००००००२२
१९००००००२०
...०००१८

अस्मिंश्चापूर्वकरणे प्रविशन् स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसङ्क्रमम-
स्थितिबन्धं च युगपदारभते। तत्र स्थितिघातो नाम स्थितिसत्कर्मणोऽग्र-

ाद् उत्कृष्टतः प्रभूतसागरोपमशतपृथक्त्वमात्रं जघन्यतः पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिखण्
डयति, तद्दलिकं चाधस्ताद् याः स्थितीर्न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति, अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन
स्थितिखण्डमुत्कीर्यते खण्डयत इत्यर्थः; ततः पुनरप्यधस्तात् पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थिति
ण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति, एवमपूर्वकरणाद्धायां प्रभूतानि
थतिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति, तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यत् स्थितिसत्कर्म
ासीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम् ।

रसघातो नाम—अशुभप्रकृतीनां यदनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभाग-
ागानन्तर्मुहूर्तेन कालेनाशेषानपि विनाशयति, ततः पुनरपि तस्य प्राङ्मुक्तस्यानन्ततमभाग-
ानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति, एवमनेकान्यनु-
ागखण्डसहस्राण्येकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति, तेषां च स्थितिखण्डानां सहस्रैरपूर्वकरणं
रिसमाप्यते ।

गुणश्रेणिर्नाम—अन्तर्मुहूर्तप्रमाणानां स्थितीनामुपरि याः स्थितयो वर्तन्ते तन्मध्याद् दलिकं
ीत्वा उदयावलिकाया उपरितनीषु स्थितिषु प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणतया निक्षिपति, तद्यथा—
ामसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् नेयं
यदन्तर्मुहूर्तचरमसमयः; तच्चान्तर्मुहूर्तमपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिकरणकालाभ्यां मनागतिरिक्तं वेदि-
यम् । एष प्रथमसमयगृहीतदलिकस्य निक्षेपविधिः । एवं द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलि-
नां निक्षेपो वक्तव्यः । अन्यच्च—गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमये यद् दलिकं गृह्यते तत्
ाकम्, ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद्
ं यावद् गुणश्रेणिकरणचरमसमयः । अपूर्वकरणसमयेषु अनिवृत्तिकरणसमयेषु चानुभवतः
यः क्षीयमाणेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षेपः शेषे शेषे भवति उपरि च न वर्धत इति ।

तथा गुणसङ्क्रमो नाम—अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनन्तानुबन्ध्यादीनामशुभप्रकृतीनां यद्
ठकं परप्रकृतिषु सङ्क्रमयति तत् स्तोकम्, ततो द्वितीयसमये परप्रकृतिषु सङ्क्रम्यमाणम-
ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् वक्तव्यं यावच्चरमसमयः ।

तथाऽन्यः स्थितिबन्धो नाम—अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽन्य एवापूर्वः स्तोकः स्थितिबन्ध
रभ्यते । स्थितिबन्ध-स्थितिघातौ युगपदारभ्येते युगपदेव च निष्ठां यातः । एवमेते पञ्च
ार्था अपूर्वकरणे प्रवर्तन्ते ।

व्याख्यातमपूर्वकरणम्, इदानीमनिवृत्तिकरणमुच्यते--अनिवृत्तिकरणं नाम—यत्र प्रविष्टानां
णामपि तुल्यकालानामेकमेवाध्यवसायस्थानम् । तथाहि—अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये

ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामप्येकरूपमेवाध्यवसायस्थानं, द्वितीयसमयेऽपि ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामेकरूपमध्यवसायस्थानं, नवरं प्रथमसमयभाविविशोधिस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणम्, एवं तावद् वाच्यं यावदनिवृत्तिकरणचरमसमयः। अत एवास्मिन् करणे प्रविष्टानां तुल्यकालानामसुमतां सम्बन्धिनामध्यवसायस्थानानां परस्परं निवृत्तिः व्यावृत्तिर्न विद्यत इत्यनिवृत्तिकरणमिति नाम। अस्मिंश्चानिवृत्तिकरणे यावन्तः समयास्तावन्त्यध्यवसायस्थानानि पूर्वस्मात् पूर्वस्मादनन्तगुणवृद्धानि। एतानि च मुक्तावलीसंस्थानेन स्थापयितव्यानि–।ooooo। अत्रापि च प्रथमसमयादेवारभ्य पूर्वोक्ताः पञ्च पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते। अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् भागेऽवतिष्ठमानेऽनन्तानुबन्धिनामधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वाऽन्तमुहूर्तप्रमाणमन्तरकरणमभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तमुहूर्तप्रमाणेन कालेन करोति, अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्यमाणं परप्रकृतिषु बध्यमानासु प्रक्षिपति, प्रथमस्थितिगतं च दलिकमावलिकामात्रं वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति। अन्तरकरणे कृते सति द्वितीयसमयेऽनन्तानुबन्धिनामुपरितनस्थितिगतं दलिकमुपशमयितुमारभते। तद्यथा–प्रथमसमये स्तोकमुपशमयति, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं यावदन्तमुहूर्तं कालम्। एतावता च कालेन साकल्यतोऽनन्तानुबन्धिन उपशमिता भवन्ति। उपशमिता नाम–यथा रेणुनिकरः सलिलबिन्दुनिवहैरभिषिच्य अभिषिच्य द्रुघणादिभिर्निष्कुट्टितो निःस्पन्दो भवति, तथा कर्मरेणुनिकरोऽपि विशोधिसलिलप्रवाहेण परिषिच्य परिषिच्य अनिवृत्तिकरणरूपद्रुघणनिष्कुट्टितः सङ्क्रमण-उदय-उदीरणा-निधत्ति-निकाचनाकरणानामयोग्यो भवति। तदेवमेकेषामाचार्याणां मतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिहिता।

अन्ये त्वाचक्षते—अनन्तानुबन्धिनामुपशमना न भवति, किन्तु विसंयोजनैव। विसंयोजना–क्षपणा। सा चैवम्–इह श्रेणिमप्रतिपद्यमाना अपि अविरता विरताश्चतुर्गतिका अपि। तद्यथा—नारका देवा अविरतसम्यग्दृष्टयः, तिर्यञ्चोऽविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरता वा, मनुष्या अविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरताः सर्वविरता वा अनन्तानुबन्धिनां विसंयोजनार्थं यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कुर्वन्ति। करणवक्तव्यता सर्वाऽपि प्राग्वत्। नवरमिहानिवृत्तिकरणे प्रविष्टः सन् अन्तरकरणं न करोति। उक्तं च कर्मप्रकृतौ—

> चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विजोयंति।
> करणेहिं तीहिं सहिया, नंतरकरणं उवसमो वा ॥ (गा० ३४१)

[illegible] चतुर्गतिका–चातुर्गतिकाः, नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवाः [illegible] 'तिन्नि वि' अविरत-देशविरत-सर्वविरताः। तत्राविरतसम्यग्दृष्टयश्चातुर्गतिकाः, देश[illegible]

स्तिर्यञ्चो मनुष्या वा, सर्वविरता मनुष्या एव । 'संयोजनान्' अनन्तानुबन्धिनः 'विसंयोजयन्ति' विनाशयन्ति । किंविशिष्टाः सन्तः ? इत्याह–'करणैस्त्रिभिः' यथाप्रवृत्ता-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्ति-बादरैः सहिताः । नवरमिहान्तरकरणं न वक्तव्यम्, उपशमो वा, उपशमश्चानन्तानुबन्धिनां न भवतीत्यर्थः ॥

किन्तु कर्मप्रकृत्यभिहितस्वरूपेणोद्वलनासङ्क्रमेणाधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वा उपरि निरवशेषाननन्तानुबन्धिनो विनाशयति, आवलिकामात्रं तु स्तिबुकसङ्क्रमेण वेद्यमानासु प्रकृतिषु सङ्क्रमयति ।

तदेवमुक्ताऽनन्तानुबन्धिनां विसंयोजना । सम्प्रति दर्शनत्रिकस्योपशमना भण्यते–तत्र मिथ्यात्वस्योपशमना मिथ्यादृष्टेर्वेदकसम्यग्दृष्टेश्च, सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु वेदकसम्यग्दृष्टेरेव । तत्र मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वोपशमना प्रथमं सम्यक्त्वमुत्पादयतः, सा चैवम्–पञ्चेन्द्रियः संज्ञी सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः करणकालात् पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्तं कालं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रवर्धमानोऽभव्यसिद्धिकविशुद्ध्यपेक्षयाऽनन्तगुणविशुद्धिको मति-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानानामन्यतमस्मिन् साकारोपयोगे उपयुक्तोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानो जघन्यपरिणामेन तेजोलेश्यायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायामुत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायां वर्तमानो मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा इत्यादि पूर्वोक्तं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तिकरणमपूर्वकरणं च परिपूर्णं भवति । नवरमिहापूर्वकरणे गुणसङ्क्रमो न वक्तव्यः, किन्तु स्थितिघात-रसघात-स्थितिबन्ध-गुणश्रेणय एव वक्तव्याः । गुणश्रेणिदलिकरचनाऽप्युदयसमयादारभ्य वेदितव्या । ततोऽनिवृत्तिकरणेऽप्येवं वक्तव्यम् । अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तर्मुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किञ्चित् समधिकं न्यूनं वाऽभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तर्मुहूर्तेन कालेन करोति । अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति । प्रथमस्थितौ च वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितिगतं दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणा, यत् पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशाद् उदीरणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते । उदय-उदीरणाभ्यां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद् गतो यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति, तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते । तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते, साऽपि तावद् यावदावलिकाशेषो न भवति । आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते, ततः केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति । आवलिकामात्रचरमसमये च द्वितीयस्थितिगतं दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति । तद्यथा–सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं चेति । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ–

[1]चरमसमयमिच्छादिट्ठी सेकाले उवसमसम्मदिट्ठी होहिइ ताहे बिइयठिइं तिहाणुभागं करेइ । तं जहा—सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं मिच्छत्तं च । इति ।

स्थापना-[ ] । ततोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वस्योदयाभावाद् औपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्नोति । उक्तं च कर्मप्रकृतौ—

[2]मिच्छत्तुदए खीणे, लहए सम्मत्तमोवसमियं सो ।
लंभेण जस्स लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्वं जं ॥ (गा० ३३०)

अन्यत्राप्युक्तम्—

जात्यन्धस्य यथा पुंसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये ।
सद्दर्शनं तथैवास्य, सम्यक्त्वे सति जायते ॥
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं, सात्त्विकोऽस्य महात्मनः ।
सद्व्याध्यपगमे यद्वद्व्याधितस्य सदौषधात् ॥

एष च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनाद् भवति । उक्तं च—

[3]सम्मत्तपढमलंभो, सव्वोवसमा—(कर्मप्र० गा० ३३५) इति ।

सम्यक्त्वं चेदं प्रतिपद्यमानः कश्चिद् देशविरतिसहितं प्रतिपद्यते, कश्चित् सर्वविरतिसहितम् । उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहे—

[4]सम्मत्तेणं समगं, सव्वं देसं च को वि पडिवज्जे । (गा० ७६०)

बृहच्छतकबृहच्चूर्णावप्युक्तम्—

[5]उवसमसम्मदिट्ठी, अंतरकरणे ठिओ कोइ ॥
देसविरइं पि लहेइ, कोइ पमत्तापमत्तभावं पि ।
सासायणो पुण न किं पि लहेइ । इति ।

ततो देशविरत प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतेष्वपि मिथ्यात्वमुपशान्तं लभ्यते ।

---

१ चरमसमयमिथ्यादृष्टिरेष्यत्काले औपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भविष्यति तदा द्वितीयस्थितिं त्रिधानुभागं करोति । तद्यथा-सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं च ॥ २ मिथ्यात्वोदये क्षीणे लभते सम्यक्त्वमौपशमिकं सः । लाभेन यस्य लभ्यत आत्महितमलब्धपूर्वं यत् ॥ ३ सम्यक्त्वप्रथमलाभः सर्वोपशमात् ॥ ४ सम्यक्त्वेन समकं सर्वं देशं च कोऽपि प्रतिपद्यते ॥

५ औपशमिकसम्यग्दृष्टिरन्तरकरणे स्थितः कोऽपि ॥ देशविरतिमपि लभते कोऽपि प्रमत्ताप्रमत्तभावमपि । सास्वादनः पुनर्न किमपि लभते ॥

सम्प्रति वेदकसम्यग्दृष्टेस्त्रयाणामपि दर्शनमोहनीयानामुपशमनाविधिरुच्यते—इह वेदकसम्यग्दृष्टिः संयमे वर्तमानः सन् अन्तर्मुहूर्तमात्रेण कालेन दर्शनत्रितयमुपशमयति, उपशमयतश्च करणत्रिकादिविधिर्यथा कर्मप्रकृतिटीकायां तथा वेदितव्यः ।

एवमुपशान्तदर्शनमोहनीयत्रिकश्चारित्रमोहनीयमुपशमयितुकामः पुनरपि यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति । करणानां च स्वरूपं प्राग्वत् । केवलमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके । अत्रापि स्थितिघातादयः पूर्ववदेव प्रवर्तन्ते । नवरमिह सर्वासामशुभप्रकृतीनामबध्यमानानां गुणसङ्क्रमः प्रवर्तते इति वक्तव्यम् । अपूर्वकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्रा-प्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदः । ततः प्रभृतेषु स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेषु सत्सु अपूर्वकरणाद्धायाः सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति एकोऽवशिष्यते । अत्र चान्तरे देवगति-देवानुपूर्वी-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकशरीरा--ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-तैजस-कार्मण-समचतुरस्र-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु--उपघात- पराघात--उच्छ्वास-त्रस बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-प्रशस्तविहायोगति-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-निर्माण-तीर्थकरसंज्ञितानां त्रिंशतः प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदः । ततः स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति अपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमये हास्य-रति-भय-जुगुप्सानां बन्धव्यवच्छेदः, हास्य-रति-अरति शोक-भय-जुगुप्सानामुदयव्यवच्छेदः, सर्वकर्मणां देशोपशमना-निधत्ति-निकाचनाकरणव्यवच्छेदश्च । ततोऽनन्तरसमयेऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति, तत्रापि स्थितिघातादीनि पूर्ववत् करोति । ततोऽनिवृत्तिकरणाद्धायाः सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु दर्शनसप्तकशेषाणामेकविंशतिमोहनीयप्रकृतीनामन्तरकरणं करोति । तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य संज्वलनस्य त्रयाणां च वेदानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य वेदस्य प्रथमा स्थितिः स्वोदयकालप्रमाणा, शेषाणां त्वेकादशकषायाणामष्टानां च नोकषायाणामावलिकामात्रम् । स्वोदयकालप्रमाणं च चतुर्णां संज्वलनानां त्रयाणां च वेदानामिदम्—स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोरुदयकालः सर्वस्तोकः, स्वस्थाने च परस्परं तुल्यः, ततः पुरुषवेदस्य सङ्ख्येयगुणः, ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकः, ततः संज्वलनमानस्य विशेषाधिकः, ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकः, ततः संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकः । इहानिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्यं, तत्तु ग्रन्थगौरवभयाद् नोच्यते, केवलं विशेषार्थिना कर्मप्रकृतिटीका निरीक्षितव्या । अन्तरकरणं च कृत्वा ततो नपुंसकवेदमन्तर्मुहूर्तमात्रेणोपशमयति, ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण स्त्रीवेदम्, ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण हास्यादिषट्कम्, तस्मिंश्चोपशान्ते तस्मिन्नेव समये पुरुषवेदस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः, ततः समयोनावलिकाद्विकेन पुरुषवेदमुपशमयति । ततो युगपदन्तर्मुहूर्तमात्रेणाप्रत्याख्यानावरण-प्रत्या-

. . . . |

प्र[illegible] ॥ मोहनीयकर्मणो[illegible]पशमना । एतस्मिन् गाथार्थो निवेद्यते- इहोपशमश्रेणिप्रारम्भको भवत्यप्रमत्तसंयत एव । अन्ये तु प्रतिपादयन्ति—अविरत-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतानामन्यतम इति । श्रेणिपरिसमाप्तौ चाविरत-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतानामन्यतमो भवति । स च प्रथमं युगपत् "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः क्रोध मान-माया-लोभानुपशमयति । ततो दर्शनं दर्शनं दर्श–मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यग्दर्शनं युगपदुपशमयति । ततोऽनुदीर्णमपि नपुंसकवेदम् । यदि पुरुषः प्रारम्भकस्ततः प्रथमं नपुंसकवेदम्, ततः पश्चात् स्त्रीवेदम्, ततः 'षट्कं' हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सालक्षणम्, ततः पुरुषवेदम्, अथ स्त्री प्रारम्भिका ततः प्रथमं नपुंसकवेदम्, ततः पुरुषवेदम्, ततः षट्कम्, ततः स्त्रीवेदमिति; अथ नपुंसक एव प्रारम्भकस्ततोऽसावनुदीर्णमपि प्रथमं स्त्रीवेदमुपशमयति, ततः पुरुषवेदम्, ततः षट्कम्, ततो नपुंसकवेदमिति । पुनश्च द्वौ द्वौ क्रोधाद्यौ 'एकान्तरितौ' संज्वलनविशेषक्रोधाद्यन्तरितौ 'सदृशौ, तुल्यावुपशमयति । अयमर्थः—अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणक्रोधौ सदृशौ क्रोधत्वेन युगपद् उपशमयति, ततः संज्वलनक्रोधमेकाकिनम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणमानौ युगपदुपशमयति, ततः संज्वलनमानम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणमाये युगपदुपशमयति, ततः संज्वलनमायाम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यावरणलोभौ युगपदुपशमयति, ततः संज्वलनलोभमिति । स्थापना चेयम्—

---

१ सं. १-२ त० म० छा० ०णक्रोधौ तदु० ॥

संज्व० लोभ

अप्र० लोभ | प्र० लोभ

संज्व० माया

अप्र० माया | प्र० माया

संज्व० मान

अप्र० मान | प्र० मान

संज्व० क्रोध

अप्र० क्रोध | प्र० क्रोध

पुरुषवेद

हास्य | रति | अरति | शोक | भय | जुगुप्सा

स्त्रीवेद

नपुंसकवेद

मिथ्या. मोह | मिश्रमोह० | सम्य. मोह०

अनं० क्रोध | अनं० मान | अनं० माया | अनं० लोभ

ननु संज्वलनादीनां युक्त उपशमः, अनन्तानुबन्धिनां तु दर्शनप्राप्तावेवोपशमितत्वाद् न युज्यते, न, दर्शनप्रतिपत्तौ तेषां क्षयोपशमादिह चोपशमादित्यविरोध इति । आह—क्षयोपशम-उपशमयोः कः प्रतिविशेषः ? उच्यते—क्षयोपशमो ह्युदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य च विपाकानुभवापेक्षयोपशमः, प्रदेशानुभवनस्तु उदयोऽस्त्येव, उपशमे तु प्रदेशानुभवोऽपि नास्तीति । यदाह भाष्यपीयूषपाथोधिः—

[1]वेएइ संतकम्मं, खओवसमिएऽत्थ नाणुभावं सो ।
उवसंतकसाओ पुण, वेएइ न संतकम्मं पि ॥
(विशेषा० गा० १२९३)

अन्यत्राप्युक्तम्—

उवसंतं कम्मं जं, न तओ कड्ढेइ न देइ उदए वि ।
न य गमयइ परपगइं, न चेव उक्कड्डुए तं तु ॥

अस्या अक्षरगमनिका—सर्वोपशमेन यदुपशान्तं मोहनीयं कर्म, अन्यस्य सर्वोपशमायोगात्, "[2]सव्वोवसमो मोहस्स चेव[3]" इति वचनात्, 'न तदपकर्षति' न तदपवर्तनाकरणेन स्थिति-रसाभ्यां हीनं करोतीत्यर्थः । अपि-शब्दस्य भिन्नक्रमत्वाद् नाप्युदये तद् ददाति नापि तद् वेदयतीत्यर्थः, उपलक्षणात् तदविनाभाविन्यामुदीरणायामपि न ददातीत्यपि मन्तव्यम् । न च बध्यमानसजातीयरूपां परप्रकृतिं सङ्क्रमकरणेन 'गमयति' सङ्क्रमयति ।

---

१ वेदयति सत्कर्म क्षायोपशमिकोऽत्र नानुभावं सः । उपशान्तकषायः पुनर्वेदयति न सत्कर्मापि ॥
२ सर्वोपशमो मोहस्य चैव ॥ ३ एतद्वाक्यं कर्मप्रकृत्याः ३१५ तमगाथया संवादि ॥

न च तत् कर्म उपशान्तं सत् 'उत्कर्षगति' उद्वर्तनाकरणेन स्थिति-रसाभ्यां वृद्धिं नयति निधत्ति-निकाचनयोस्तु प्रागपूर्वकरणकाल एव निवृत्तत्वाद् नेहोपशान्तत्वेन तन्निषेधः क्रियत इति।

आह—संयतस्यानन्तानुबन्धिनामुदयो निषिद्धस्तत् कथमुपशमः ? इति उच्यते—न ह्यनुभागकर्माङ्गीकृत्य न तु प्रदेशकर्मेति। तथा चाभ्यधायि परमगुरुणा—

"[1]जीवे णं भंते ! सयंकडं कम्मं वेएइ ? गोयमा ! अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं न वेएइ। से केणट्ठे णं पुच्छा, गोयमा ! दुविहे कम्मे पन्नत्ते, तं जहा—पएसकम्मे य अणुभागकम्मे य। तत्थ णं जं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ, तत्थ णं जं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ" इत्यादि।

ततश्च प्रदेशकर्मानुभावोदयस्येहोपशमो द्रष्टव्यः। आह—यद्येवं संयतस्यानन्तानुबन्ध्युदयतः कथं दर्शनविघातो न भवति ? इत्युच्यते—प्रदेशकर्मणो मन्दानुभावत्वात्। तथा कस्यचिदनुभागकर्मानुभावोऽपि नात्यन्तमपकाराय भवन् उपलभ्यते, यथा सम्पूर्णमत्यादिचतुर्ज्ञानिनस्तदावरणोदय इति। ततः सूक्ष्मलोभचरमकिट्टयुपशमे संज्वलनलोभ उपशान्तो भवति, तस्य भयमेव च ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक-यशःकीर्ति-उच्चैर्गोत्राणां बन्धव्यवच्छेदः, ततोऽनन्तरसमयेऽसावुपशान्तकषायो भवति, स च जघन्येनैकं समयमात्रमुत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्, तत ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति। प्रतिपातश्च द्विधा—भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च। तत्र भव[3]क्षयो म्रियमाणस्य, अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायाम्। अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति, यत्र यत्र बन्ध-उदय-उदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र पतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत्। प्रतिपतंश्च तावत् प्रतिपतति यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थानकम्। कश्चित् पुनस्ततोऽप्यधस्तनं गुणस्थानकद्वयं याति, कोऽपि सास्वादनभावमपि। यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीति शेषः। उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते। यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभावः। यः पुनरेकं वारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपि। उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ—

"[4]जो दुवारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि। जो इक्कसि

---

१ सं०१-२त०म० छ०-०नाया० ॥ २ जीवो भदन्त ! स्वयंकृतं कर्म वेदयति ? गौतम ! अस्त्येककं वेदयति अस्त्येककं न वेदयति। अथ केनार्थेन ? पृच्छा, गौतम ! द्विविधं कर्म प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-प्रदेशकर्म चानुभागकर्म च। तत्र यत् प्रदेशकर्म तद् नियमाद् वेदयति, तत्र यदनुभागकर्म तदस्त्येककं वेदयति, अस्त्येककं न वेदयति ॥ ३ मुद्रि०-क्षयो भवक्षयेण म्रिय० ॥ ४ यो द्वौ वारौ उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिर्नास्ति। यः सकृदेवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिः भवेत् ॥

वसमसेढि पडिवज्जइ तस्स सव्वगतोदी कुज्जा इति ।

एष कार्मग्रन्थिकाभिप्रायः । सिद्धान्ताभिप्रायेण त्वेकस्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते । उक्तं च कल्पाध्ययने—

'एवं अप्परिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु ।
अन्नयरसेढिवज्जं, एगभवेणं च सव्वाइं ॥ (बृहत्कल्पभा० गा० १०७)

सर्वाणि सम्यक्त्व-देशविरत्यादीनि । अन्यत्राप्युक्तम्—

मोहोपशम एकस्मिन्, भवे द्विः स्यादसन्ततः ।
यस्मिन् भवे तूपशमः, क्षयो मोहस्य तत्र न ॥ इति ॥ ९८ ॥

तदेवमभिहिता सप्रपञ्चमुपशमश्रेणिः । सम्प्रति क्षपकश्रेणिमभिधित्सुराह—

अण मिच्छ मीस सम्मं, तिआउइगविगलथीणतिगुजोयं ।
तिरिनरयथावरदुगं, साहारायवअडनपुत्थी ॥ ९९ ॥

इह क्षपकश्रेणिप्रतिपत्ता मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानोऽविरतादीनामन्यतमोऽत्यन्तविशुद्धपरिणाम उत्तमसंहननः । तत्र पूर्वविदप्रमत्तः शुक्लध्यानोपगतोऽपि प्रतिपद्यते, अपरे तु धर्मध्यानोपगता एवेति । प्रतिपत्तिक्रमश्चायम्—अविरतो देशविरतः प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तसंयतो वा प्रथममन्तर्मुहूर्तेन "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः क्रोध-मान-माया-लोभान् युगपत् क्षपयति । तदनन्तमभागं तु मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य ततो मिथ्यात्वं सहैव तदंशेन युगपत् क्षपयति । यथा ह्यतिसम्भृतो दावानलः स्वल्पर्धदग्धेन्धन एवेन्धनान्तरमासाद्योभयमपि दहति, एवमसावपि क्षपकस्तीव्रशुभपरिणामत्वात् सावशेषमन्यत्र प्रक्षिप्य क्षपयतीति । एवं पुनः "मीस" त्ति सम्यग्मिथ्यात्वं क्षपयति, ततोऽनेनैव क्रमेण सम्यक्त्वं क्षपयति । सम्यक्त्वस्य च चरमस्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपकः कृतकरण इत्युच्यते । अस्यां च कृतकरणाद्धायां वर्तमानः कश्चित् कालमपि कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । लेश्यायामपि च पूर्वं शुक्ललेश्यायामासीत्, सम्प्रत्यन्यतमस्यां गच्छति । तदेवं प्रस्थापको मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु भवति ।

उक्तं च—

²पट्ठवगो उ मणुस्सो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु ॥

इह यदि बद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभतेऽनन्तानुबन्धिनां च क्षयादनन्तरं मरणसम्भवतो व्युपरमति, ततः कदाचिद् मिथ्यात्वोदयाद् भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्या-

---

१ एवमपरिपतिते सम्यक्त्वे देवमनुजजन्मनोः । अन्यतरश्रेणिवर्जमेकभवेन च सर्वाणि (प्रतिपद्यते) ।
२ प्रस्थापकस्तु मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥

त्वस्याविनाशात् । क्षीणमिथ्यादर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात् । क्षीणसप्तकस्तु [illegible]
परिणामोऽवश्यं त्रिदशेषूत्पद्यते । प्रतिपतितपरिणामस्तु नानापरिणामसम्भवाद् यथा[illegible]
न्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । उक्तं च–

> 'बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा ।
> तो मिच्छत्तोदयओ, चिणिज्ज भूओ न खीणम्मि ।। (विशेषा० गा० [illegible]
> तम्मि मओ जाइ दिवं, तप्परिणामो य सत्तए खीणे ।
> उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामइगईओ ।। (विशेषा० गा० [illegible]

बद्धायुष्कोऽपि यदि तदानीं कालं न करोति तथापि सप्तके क्षीणे नियमात् [illegible]
चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते । उक्तं च–

> 'बद्धाऊ पडिवन्नो, नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ । (विशेषा० गा० [illegible]

[illegible] –ननु मिथ्यादर्शनादिक्षये किमसाद्दर्शनो जायते ? उत न ? [illegible]
[illegible] । [illegible]–ननु सम्यग्दर्शनपरिक्षये कुतः सम्यग्दृष्टित्वम् ? [illegible]
[illegible] मिथ्यात्वपुद्गला [illegible] सम्यग्दर्शनं [illegible]
[illegible], [illegible] चक्षुर्दर्शन [illegible]

[illegible]–

यदि वा—

जह सुद्धजलाणुगयं, दुद्धं सुद्धं जलक्खए सुतरं ।
सम्मत्तसुद्धपुग्गलपरिक्खए दंसणं एवं ॥ (विशेषा० भा० गा० १३१८-२१
तम्मि य तइय चउत्थे, भवम्मि सिज्झंति खइयसम्मत्ते ।
सुरनरयजुगलिसु गई, इमं तु जिणकालियनराणं ॥

तदेवं सप्तकक्षयोऽविरतसम्यग्दृष्टौ देशविरते प्रमत्तसंयतेऽप्रमत्तसंयते वा प्राप्यते । यदि नरबद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते ततः सप्तके क्षीणे नियमादनुपरतपरिणाम एव चारित्रमोहनीय-क्षपणाय यत्नमारभते । उक्तं च भाष्यकृता—

[1]इयरो अणुवरओ चिय, सयलं सेढिं समाणेइ । (विशेषा० भा० गा० १३२५)

तत्र यः सकलश्रेणिं करोति तस्य क्षपकस्य निजनिजभवे सुर-नारक-तिर्यगायुस्त्रयं व्यव-च्छिन्नमेव । उक्तं च—

[2]सुरनरयतिरियआउं, निययभवे सव्वजीवाणं ॥ इति ।

एतदेवाह—"तिआउ" त्ति देवायुः-नारकायुः-तिर्यगायुर्लक्षणमायुस्त्रयम्, स च क्षपकः स्व-पसम्यग्दर्शनावशेष एव "अड" त्ति अष्टप्रकृतीः—अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणकषायरूपा गपत् क्षपयितुमारभते । एतासु चार्धक्षपितास्वेवान्तराले त्रयोदश नामप्रकृतीस्तिस्रो दर्शनावरण-कृतीरुभयोः षोडश प्रकृतीः क्षपयति । तथाहि—"इगविगल" इत्यादि । "इग" त्ति एके-न्द्रियजातिः, त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् विकलत्रिकम्—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजाति-क्षणं स्त्यानर्द्धित्रिकं—निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिरूपं "जोयं" त्ति उद्योतनाम, द्विक-ब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् तिर्यग्द्विकं--तिर्यग्गति--तिर्यगानुपूर्वीरूपं नरकद्विकं--नरकगति-नर-ानुपूर्वीरूपं स्थावरद्विकं--स्थावर-सूक्ष्माख्यं "साहार" त्ति साधारणनाम आतपनामेति । ततो ष्टानां कषायाणां यावदवशिष्टं तत् क्षपयति, सर्वमिदमन्तर्मुहूर्तमात्रेण क्षपयति, एष त्रादेशः । अन्ये पुनराहुः—षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ षायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणीति, ततो "नपु" त्ति नपुंसकवेदं क्षपयति, ततः त्रीवेदमिति ॥ ९९ ॥

छग पुं संजलणा दो, निद्दा विग्घवरणक्खए नाणी ।
देविंदसूरिलिहियं, सयगमिणं आयसरणट्ठा ॥१००॥

ततः 'षट्कं' हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सालक्षणम्, ततः पुंवेदं खण्डत्रयं करोति, त्र खण्डद्वयं युगपत् क्षपयति, तृतीयखण्डं तु संज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति, पुरुषे प्रतिपत्तर्ययं क्रमः ।

---

१ इतरोऽनुपरत एव सकलां श्रेणिं समापयति ॥ २ सुरनिरयतिर्यगायूंषि निजकभवे सर्वजीवानाम् ॥

अथ स्त्री प्रारम्भिका ततः प्रथमं नपुंसकवेदं क्षपयति, ततः पुरुषवेदम् , ततो हास्यादिषट्कम्, ततः स्त्रीवेदम् । अथ नपुंसकः प्रारम्भकः ततोऽसावनुदीर्णमपि प्रथमं स्त्रीवेदं क्षपयति, ततः पुरुषवेदम्, ततो हास्यादिषट्कम् , ततो नपुंसकवेदम् । ततः संज्वलनान् क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणान् प्रत्येक-मन्तमुहूर्तमात्रकालेनोक्तेनैव न्यायेन क्षपयति । श्रेणिपरिसमाप्तिकालोऽप्यन्तमुहूर्तमेव, अन्तमुहूर्तानामसङ्ख्येयभेदत्वात् । लोभचरमखण्डं तु सङ्ख्येयानि खण्डानि कृत्वा पृथक् पृथक् कालभेदेन क्षपयति । चरमखण्डं पुनरसङ्ख्येयानि खण्डानि करोति, तान्यपि समये समये एकैकं क्षपयति स्थापना चेयम्—

संज्वलनलोभ
संज्वलनमाया
संज्वलनमान
संज्वलनक्रोध

पुरुषवेद

हास्य	रति	अरति	भय	शोक	जुगुप्सा

स्त्रीवेद
नपुंसकवेद

एकेन्द्रियादिषोडशप्रकृति

अप्र.क्रोध	प्र० क्रोध	अप्र.मान	प्र० मान	अप्र.माया	प्र. माया	अप्र.लोभ	प्र.लोभ

देव-नारक-तिर्यगायूंषि ३

सम्यक्त्वमोह०
मिश्रमोह०
मिथ्यात्वमोह०

अनं० क्रोध	अनं० मान	अनं०माया	अनं० लोभ

इह च क्षीणदर्शनसप्तको निवृत्तिबादर उच्यते, ततः ऊर्ध्वमनिवृत्तिबादरो यावच्चरमलोभखण्डमिति, तत ऊर्ध्वमसङ्ख्येयखण्डानि क्षपयन् सूक्ष्मसम्परायो यावच्चरमलोभाणुक्षयः, तत ऊर्ध्वं यथाख्यातचारित्री, स च महासमुद्रतरणपरिश्रान्तवद् मोहसागरं तीर्त्वा विश्राम्यति । ततश्छद्मस्थवीतरागत्वाद्विचरमसमये "दो निद्द" त्ति 'द्वे निद्रे' निद्रा-प्रचलालक्षणे क्षपयति, ततश्चरमसमये

"विग्धवरणक्खए" त्ति विघ्नानि–दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायलक्षणानि "वरण" प्राकृतत्वादाकारलोपे आवरणानि–मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणा-ऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्यवज्ञानावरण-केवलज्ञानावरण-चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणलक्षणानि नव, ततो विघ्नानि चावरणानि च विघ्नावरणानि तेषां क्षये–निर्मूलोच्छेदे 'ज्ञानी' केवलज्ञानी भवति । यदाहुः श्रीमदाराध्यपादाः—

[1]चरमे नाणावरणं, पंचविहं दंसणं चउवियप्पं ।
पंचविहमंतरायं, खवइत्ता केवली होइ ॥ (आव० नि० गा० १२६)

इदमुक्तं भवति—अविरतादीनामन्यतरः प्रथमसंहननः सुविशुद्धपरिणामः क्षपकश्रेणिमारूढो गुणस्थानक्रमेणानन्तानुबन्ध्यादीनुक्तप्रकारेण क्षपयन् यावत् क्षीणमोहचरमसमये विघ्नपञ्चक-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्कं क्षपयित्वा सर्वसङ्ख्यया तु ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मोहनीयाष्टाविंशति-आयुस्त्रिक-नामप्रकृतित्रयोदशका-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणास्त्रिषष्टिप्रकृतीः क्षपयित्वा केवलज्ञानी भवति । स च भगवान् भवस्थकेवली लोकमलोकं सर्वं सर्वात्मनाऽविकलं विमलकेवलेन पश्यति, न हि तदस्ति भूतं भवद् भविष्यद्वा यद् भगवान्न पश्यति । यदाहुः श्रीमदाराध्यपादाः—

[2]संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं ।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥ (आव० नि० गा० १२[illegible]

इत्थंभूतश्च सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटीं विहृत्य अयोगिकेवलिगुणस्थानकमारुह्य तद्द्विचरमसमये द्वासप्ततिप्रकृतीः तच्चरमसमये त्रयोदशप्रकृतीश्च क्षपयित्वा शिवमचलमरुजमक्षयमव्याबाधममन्दानन्दरत्नसारमासादयतीति, उक्ता क्षपकश्रेणिः । तद्भणने च व्याख्याता "नमिय जिणं धुवबंधोदयसंता" इत्यादिद्वारगाथा । सम्प्रति शतगाथाप्रमाणत्वेन यथार्थनामकं शतकशास्त्रं समर्थयन्नाह—"देविंदसूरिलिहियं, सयगमिणं आयसरणट्ठा" त्ति देवेन्द्रसूरिणा—करालकलिकालपातालतलावमज्जद्विशुद्धधर्मधुरोद्धरणधुरीणश्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीककल्पेन लिखितम्—अक्षरविन्यासीकृतम्, कर्मप्रकृति-पञ्चसङ्ग्रह-वृहच्छतकादिशास्त्रेभ्य इति शेषः । किम् ? इत्याह—'शतकं' शतगाथाप्रमाणम् 'इदम्' अधुनैव व्याख्यातस्वरूपम् । किमर्थम् ? इत्याह—'आत्मस्मरणार्थम्' आत्मस्मृतिनिमित्तमिति ॥ १००

॥ इति श्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचिता स्वोपज्ञशतकटीका ॥

---

१ चरमे ज्ञानावरणं पञ्चविधं दर्शनं चतुर्विकल्पम् । पञ्चविधमन्तरायं क्षपयित्वा केवली भवति ॥
२ संपूर्णं पश्यन् लोकमलोकं च सर्वतः सर्वम् । तन्नास्ति यन्न पश्यति भूतं भवद्भविष्यद्वा ॥

॥ अथ प्रशस्तिः ॥

विष्णोरिव यस्य विभोः, पदत्रयी व्यानशे जगन्निखिलम् ।
शतमखशतकप्रणतः, स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥
कुन्दोज्ज्वलकीर्तिभरः, सुरभीकृतसकलविष्टपाभोगः ।
लब्धिशतसिन्धुजलधिः, श्रीगौतमगणधरः पातु ॥
तदनु सुधर्मस्वामी, जम्बू-प्रभवादयो मुनिवरिष्ठाः ।
श्रुतजलनिधिपारीणाः, भूयांसः श्रेयसे सन्तु ॥
क्रमात् प्राप्ततपाचार्येत्यभिख्या भिक्षुनायकाः ।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरयः ॥
जगज्जनितबोधानां, तेषां शुद्धचरित्रिणाम् ।
विनेयाः समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरयः ॥
स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा ।
स्वोपज्ञशतकटीका, सुबोधेयं विनिर्ममे ॥
विबुधवरधर्मकीर्ति-श्रीविद्यानन्दसूरिमुख्यबुधैः ।
स्वपरसमयैककुशलैस्तदैव संशोधिता चेयम् ॥
यद् गदितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञैः, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥
स्वोपज्ञशतकटीकां, कृत्वेमां यन्मयाऽर्जितं सुकृतम् ।
ध्रुवबन्धादिविमुक्तः, समस्तु सर्वोऽपि तेन जनः ॥

समाप्तोऽयं स्वोपज्ञटीकोपेतः शतकनामा पञ्चमः कर्मग्रन्थः ।

॥ अर्हम् ॥

नमः कर्मतरुभेदिभ्यः पूर्वसूरिभ्यः ।

महर्षिश्रीमच्चन्द्रर्षिमहत्तरविरचितं

सप्ततिकाप्रकरणम् ।

पूज्यश्रीमन्मलयगिरिमहर्षिविनिर्मितविवृतिसमलङ्कृतम् ।



ॐ सर्वविदे नमः ।

अशेषकर्मांशतमःसमूहक्षयाय भास्वानिव दीप्ततेजाः ।
प्रकाशिताशेषजगत्स्वरूपः, प्रभुः स जीयाज्जिनवर्धमानः ॥
जीयाज्जिनेशसिद्धान्तो, मुक्तिकामप्रदीपनः ।
कुश्रुत्यातपतप्तानां, सान्द्रो मलयमारुतः ॥
चूर्णयो नावगम्यन्ते, सप्ततेर्मन्दबुद्धिभिः ।
ततः स्पष्टावबोधार्थं, तस्याष्टीकां करोम्यहम् ॥
अहर्निशं चूर्णिविचारयोगात्, मन्दोऽपि शक्तो विवृतिं विधातुम् ।
निरन्तरं कुम्भनिघर्षयोगात्, ग्रावाऽपि कूपे समुपैति घर्षम् ॥

इह यत् शास्त्रं प्रकरणं वा सर्वविन्मूलं तत् प्रेक्षावतामुपादेयं भवति, नान्यत् । ततः सप्ततिकाख्यं प्रकरणमारभमाण आचार्यः प्रेक्षावतां प्रकरणविषये उपादेयबुद्धिपरिग्रहार्थं प्रकरणस्य सर्वविन्मूलताम्, तथा सर्वविन्मूलत्वेऽपि न प्रेक्षापूर्वकारिणोऽभिधेयादिपरिज्ञानमन्तरेण यथाकथञ्चित्[1] प्रवर्तन्ते प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसङ्गात्, ततस्तेषां प्रवृत्त्यर्थमभिधेयादिकं च प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

सिद्धपएहिं महत्थं, बंधोदयसंतपयडिठाणाणं ।
[2]वोच्छं सुण संखेवं, [3]नीसंदं दिट्ठिवायस्स ॥ १ ॥

सिद्धं—प्रतिष्ठितं चालयितुमशक्यमित्येकोऽर्थः । ततः सिद्धानि पदानि येषु ग्रन्थेषु ते सिद्धपदाः—कर्मप्रकृति-प्राभृतादयः, न हि तेषां पदानि केनचिदपि चालयितुं शक्यन्ते, तेषां सर्वज्ञोक्तार्थानुसारित्वात् तेभ्यो बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां संक्षेपं वक्ष्ये । अथवा स्वसमये

१ ०सं० १ त० ०त् तत्र प्रव० ॥ २ सं० १ त० म० छा० वुच्छं ॥ ३ सं० १ त० निस्संद ॥

सिद्धानि-प्रसिद्धानि यानि जीवस्थान-गुणस्थानरूपाणि पदानि तानि सिद्धपदानि, तेभ्यः तान्या-श्रित्य तेषु विषय इत्यर्थः । अत्र स्थाने "गम्ययपः कर्माधारे" (सिद्धहे० २-२-७४) इति सूत्रेण पञ्चमी, यथा प्रासादात् प्रेक्षते इत्यत्र । तत्र बन्धो नाम—कर्मपरमाणूनामात्मप्रदेशैः सह वह्न्ययःपिण्डवदन्योऽन्यानुगमः[1] १ । कर्मपरमाणूनामेव विपाकप्राप्तानामनुभवनमुदयः २ । तथा बन्धसमयात् सङ्क्रमेणात्मलाभसमयाद्वा आरभ्य यावत् ते कर्मपरमाणवो नान्यत्र सङ्क्रम्यन्ते यावद् वा न क्षयमुपगच्छन्ति तावत् तेषां[2] स्वस्वरूपेण यः सद्भावः सा सत्ता ३ । सदिति सूत्रे निर्देशो भावप्रधानः, तेन सदिति सत्ता व्याख्याता । प्रकृतीनां स्थानानि—समुदायाः प्रकृति-स्थानानि द्वित्र्यादिप्रकृतिसमुदाया इत्यर्थः, स्थानशब्दोऽत्र समुदायवाची । बन्ध-उदय-सत्तासु प्रकृतिस्थानानि बन्ध-उदय-सत्ताप्रकृतिस्थानानि तेषां संक्षेपं वक्ष्ये । तं च वक्ष्यमाणं शृणु । 'शृणु' इति क्रियापदं च श्रोतॄणां कथञ्चिदनाभोगवशतः प्रमादसम्भवेऽप्याचार्येण नोद्विजितव्यम्, किन्तु सुमधुरवचोभिः शिक्षानिबन्धनैः श्रोतॄणां मनांसि प्रह्लाद्य यथार्हमागमार्थो निवेदनीय इति ख्यापनार्थम् । तदुक्तम्—

> [3]अणुवत्तणाएँ सेहा, पायं पावेंति जोग्गयं परमं ।
> रयणं पि गुणुक्करिसं, उवेइ सोहम्मणगुणेणं ॥
> एत्थ य पमायखलिया, पुव्वब्भासेण कस्स व न होंति? ।
> जो तेऽवणेइ सम्मं, गुरुत्तणं तस्स सफलं ति ॥
> को नाम सारहीणं, स होज्ज जो भद्दवाइणो दमए ।
> दुट्ठे वि य जो आसे, दमेइ तं सारहिं बेंति ॥ (पञ्चव० गा० १७-१९)

संक्षेपस्यैव विशेषणार्थमाह—'महार्थं' महान्-प्रभूतोऽर्थः-अभिधेयं यस्य स महार्थः । ननु संक्षेपो विस्तरार्थसङ्ग्रहरूपः, ततः स महार्थ एव भवतीति किमर्थं महार्थमिति विशेषणम् ? तदयुक्तम्, संक्षेपस्यान्यथाऽपि सम्भवात् । तथाहि—आख्याना-ऽऽख्यापक-सङ्ग्रहण्यः संक्षेप-रूपा दृश्यन्ते न च महार्थाः, तत्तात्पर्यार्थस्याल्पीयस्त्वात्, ततस्तत्कल्पममुं संक्षेपं मा ज्ञासीद् विनेयजन इत्यमहार्थत्वाऽऽशङ्कापनोदार्थं महार्थमिति विशेषणम् ।

---

१ सं० १ त० ०मः १ । तथा कर्म० ॥ २ सं० १ सं० त० म० छा० ०षां स्वरूपेण ॥

३ अनुवर्तनया शैक्षाः प्रायः प्राप्नुवन्ति योग्यतां परमाम् । रत्नमपि गुणोत्कर्षमुपैति शोधकगुणेन ॥ अत्र च प्रमादस्खलितानि पूर्वाभ्यासेन कस्य वा न भवन्ति ? । यस्तानि अपनयति सम्यग् गुरुत्वं तस्य सफलमिति ॥ को नाम सारथीनां स भवेद् यो भद्रवाजिनो दमयेत् ? । दुष्टानपि च योऽश्वान् दमयति तं सारथिं ब्रुवते ॥

पुनरप्यमुं विशेषयति—'निस्यन्दं दृष्टिवादस्य' दृष्टिवादमहार्णवस्य बिन्दुभूतं–निस्यन्दकल्पम् । दृष्टिवादो हि परिकर्म १ सूत्र २ प्रथमानुयोग ३ पूर्वगत ४ चूलिका ५ रूपपञ्चप्रस्थानः । तत्र पूर्वेषु मध्ये द्वितीये अग्रायणीयाभिधाने चतुर्दशवस्तुसमन्विते पूर्वे यत् पञ्चमं वस्तु विंशतिप्राभृतपरिमाणं तस्य चतुर्थं यत् कर्मप्रकृतिनामकं चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारमयं प्राभृतं तस्यादिमे त्रयो बन्धादयः सूत्रकृता लेशतो वक्ष्यन्ते । ततोऽयं बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां संक्षेपो दृष्टिवादस्य निस्यन्दरूपः । अनेन च प्रकरणस्य सर्वविन्मूलता ख्यापिता द्रष्टव्या । दृष्टिवादो हि भगवता परमार्हन्त्यमहिम्ना विराजमानेन वीरवर्धमानस्वामिना साक्षादर्थतोऽभिहितः, सूत्रतस्तु सुधर्मस्वामिना, तन्निस्यन्दरूपं चेदं प्रकरणमतः सर्वविन्मूलमिति ॥ १ ॥

ननु बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां संक्षेपोऽभिधातव्यः किं प्रत्येकम् ? आहोस्वित् संवेधरूपः ? उच्यते–संवेधरूपः, तथा चामुमेव संवेधरूपं संक्षेपं विवक्षुः शिष्यान् प्रश्नं कारयति–

कइ बंधतो वेयइ, कइ कइ वा पयडिसंतठाणाणि ।
मूलुत्तरपगईसुं, भंगविगप्पा उ बोधव्वा ॥ २ ॥

कतिशब्दः परिमाणपृच्छायाम् । कति कर्मप्रकृतीर्बध्नन् कति कर्मप्रकृतीर्वेदयते ? कति वा तथातथाबध्नतो वेदयमानस्य च 'प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि' प्रकृतिसत्तास्थानानि ? । एवं शिष्यैः प्रश्ने कृते सति आचार्योऽस्मिन् विषये भङ्गजालमनेकप्रकारं वचोमात्रेण यथावत् प्रतिपादयितुमशक्यं जानानः सामान्येनैव प्रत्युत्तरमाह–"मूल" इत्यादि । मूलप्रकृतिषु–ज्ञानावरण-दर्शनावरणादिरूपासु उत्तरप्रकृतिषु च–मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणादिरूपासु, उभयीषु च वक्ष्यमाणस्वरूपासु प्रत्येकं बन्ध उदय-सत्ता-संवेधमधिकृत्य चिन्त्यमानासु बहवो भङ्गाः सम्भवन्ति, ते चास्मिन् प्रकरणे यथावद् वैविक्त्येन प्रतिपाद्यमानाः सम्यग् बोद्धव्याः । तत्र मूलप्रकृतयोऽष्टौ, तद्यथा—ज्ञानावरणं दर्शनावरणं वेदनीयं मोहनीयम् आयुः नाम गोत्रम् अन्तरायं च । तत्र ज्ञायते–परिच्छिद्यते वस्तु अनेनेति ज्ञानं–सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधः, आव्रियतेऽनेनेत्यावरणं–मिथ्यात्वादिसचिवजीवव्यापाराहृतकर्मवर्गणान्तःपाती विशिष्टपुद्गलसमूहः, ज्ञानस्यावरणं ज्ञानावरणम् १ । तथा दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं–सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणात्मको बोधः, तस्यावरणं दर्शनावरणम् २ । तथा वेद्यते–आह्लादादिरूपेणानुभूयते यत् तद् वेदनीयं, यद्यपि च सर्वं कर्म वेद्यते तथापि पङ्कजादिशब्दवद् वेदनीयशब्दस्य रूढिविषयत्वात् सातासातरूपमेव कर्म वेदनीयमित्युच्यते न शेषम् ३ । तथा मोहयति–सदसद्विवेकविकलं करोत्यात्मानमिति मोहनीयम् , कृत् "बहुलम्" (सिद्धहे० ५-१-२) इति वचनात् कर्तर्यनीयः ४ । तथा एति–गच्छत्यनेन गत्यन्तरमित्यायुः, यद्वा एति–आगच्छति प्रति-

बन्धकृतां स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिकुगतिनिर्गन्तुमनसो जन्तोर्गत्यायुः, उभयत्रापि औणादिक ऽयुस् प्रत्ययः ५ । तथा नामयति—गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम ६ । तथा गूयते—शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् तद् गोत्रम् ७ । तथा जीवं दानादि चान्तरा एति न जीवस्य दानादिकं कर्तुं[2] ददातीत्यन्तरायम् ८ । एता मूलप्रकृतयः ।

एतासु प्रथमतो बन्ध-उदय-सत्ता अधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते, प्रकृतिस्थानेषु हि प्रथमं प्ररूपितेषु सत्सु तदाश्रितः संवेधः प्ररूप्यमाणः सुखेनैवावगन्तुं शक्यते । तत्र मूलप्रकृतीनामुक्तस्वरूपाणां बन्धं प्रतीत्य [2]चत्वारि प्रकृतिस्थानानि । तद्यथा—अष्टौ सप्त षड् एका च । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, एतासां च [3]बन्धो जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, आयुषि हि बध्यमानेऽष्टानां प्रकृतीनां बन्धः प्राप्यते, आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहूर्तमेव कालं भवति न ततोऽप्यधिकम् । तथा ता एवाष्टावायुर्वर्जाः सप्त, एतासां च बन्धो जघन्येनान्तर्मुहूर्तं यावद्, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि षण्मासोनानि अन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि । तथा ता एवाष्टावायुः-मोहनीयवर्जाः षट्, एतासां च बन्धो जघन्येनैकं समयम्, तथाहि—एतासामु[4]क्तरूपाणां षण्णां प्रकृतीनां बन्धः सूक्ष्मसम्पराये, स च उपशमश्रेण्यां कश्चिदेकं समयं भूत्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिवं गतः सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्यं [5]सप्तप्रकृतीनां बन्ध इति षण्णां बन्धो जघन्येनैकं समयं यावत्, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तम्, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । तथा सप्तानां प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदे एकस्या वेदनीयरूपायाः प्रकृतेर्बन्धः, स च जघन्येनैकं समयम्, एकसमयता चोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहगुणस्थाने प्रागुक्तप्रकारेण भावनीया, उत्कर्षेण पुनर्देशोनां पूर्वकोटिं यावत् ।

स चोत्कर्षतः कस्य वेदितव्यः? इति चेद् उच्यते—यो गर्भवासे माससप्तकमुषित्वाऽनन्तरं शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमणजन्मना जातो वर्षाष्टकाच्चोपरि संयमं प्रतिपन्नः, प्रतिपत्त्यनन्तरं च क्षपकश्रेणिमारुह्योत्पादितकेवलज्ञानदर्शनः, तस्य सयोगिकेवलिनो वेदितव्यः ।

तदेवं बन्धमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा कृता । सम्प्रति कस्यां प्रकृतौ बध्यमानायां कति प्रकृतिस्थानानि बन्धमाश्रित्य प्राप्यन्ते? इति निरूप्यते—तत्रायुषि बध्यमानेऽष्टावपि प्रकृतयो नियमेन बध्यन्ते । मोहनीये तु बध्यमानेऽष्टौ सप्त वा । तत्राष्टौ सर्वाः प्रकृतयः, ता एवायुर्वर्जाः सप्त । ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायेषु बध्यमानेषु अष्टौ सप्त षड् वा । तत्राष्टौ सप्त च प्रागिव । मोहनीया-ऽऽयुर्वर्जाः षट्, ताश्च सूक्ष्मसम्पराये प्राप्यन्ते । वेदनीये तु बध्यमानेऽष्टौ

---

१ सं० गुसु प्र० ॥ २ स० १ त० °त्वारि बन्धस्था° ॥ ३ सं० मुद्रि० बन्धोऽजघ° ॥
४ मुद्रि० °क्तस्वरूपा° एवमग्रेऽपि ॥ ५ सं० १ त० सप्तानां प्रकृ° ॥ ६ सं०१त०म० °कस्योप° ॥

स षट् एका च । तत्राष्टौ सप्त षट् च प्रागिव । एका तु सैव वेदनीयरूपा प्रकृतिः, सा
उपशान्तमोहगुणस्थानकादौ प्राप्यते । उक्तं च—

'आउम्मि अट्ठ मोहेऽट्ठ सत्त एक्कं च छाइ वा तइए ।
वज्झंतयम्मि वज्झंति सेसएसु छ सत्तऽट्ठ ॥ (पञ्चसं० गा०८३८)

सम्प्रति उदयमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते—उदयं प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि, यथा—अष्टौ सप्त चतस्रः । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, तासां चोदयोऽभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसितः, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानः, उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतितानधिकृत्य तु सादिसपर्यवसानः, स च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, उपशमश्रेणीतः प्रतिपतितस्य पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेन कस्यापि उपशमश्रेणिप्रतिपत्तेः, उत्कर्षेण तु देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तः । तथा ता एवाष्टौ मोहनीयवर्जाः सप्त, तासामुदयो जघन्येनैकं समयम्, तथाहि—सप्तानामुक्तस्वरूपाणां प्रकृतीनामुदय उपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा प्राप्यते, तत्र कश्चिद् उपशान्तमोहगुणस्थानके एकं समयं स्थित्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिवं गच्छन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्यमष्टानां प्रकृतीनामुदयः, ततः सप्तानामुदयो जघन्येनैकं समयं यावत् प्राप्यते । उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम्, उपशान्तमोहगुणस्थानकस्य क्षीणमोहगुणस्थानकस्य वा सप्तोदयहेतोरान्तर्मौहूर्तिकत्वात् तथा घातिकर्मवर्जाश्चतस्रः प्रकृतयः, तासामुदयो जघन्येनान्तर्मौहूर्तिकः, उत्कर्षेण तु देशोनपूर्वकोटिप्रमाणः ।

तदेवं कृता उदयमधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा । सम्प्रति कस्याः प्रकृतेरुदये कति प्रकृतिस्थानान्युदयमाश्रित्य प्राप्यन्ते ? इति निरूप्यते-तत्र मोहनीयस्योदयेऽष्टानामभ्युदयः, मोहनीयवर्जानां त्रयाणां घातिकर्मणामुदये अष्टानां सप्तानां वा । तत्राष्टानां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावत्, सप्तानामुपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा, वेदनीया-ऽऽयुः-नाम-गोत्राणामुदयेऽष्टानां सप्तानां चतसृणां वा उदयः । तत्राष्टानां सूक्ष्मसम्परायं यावत्, सप्तानामुपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा, चतसृणामेतासामेव वेदनीयादीनां सयोगिकेवलिनि अयोगिकेवलिनि च ।

सम्प्रति सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते—सत्तां प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि । यथा—अष्टौ सप्त चतस्रः । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, एतासां चाष्टानां सत्ता अभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसाना, भव्यानधिकृत्य अनादिसपर्यवसाना । तथा मोहनीये क्षीणे सप्तानां सत्ता, सा च जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा, सा हि क्षीणमोहे, क्षीणमोहगुणस्थानकं चान्तर्मुहूर्त-

१ आयुषि अष्टौ मोहेऽष्टौ सप्तैकं च षडादयो वा तृतीये । बध्यमाने बध्यन्ते शेषेषु षट् सप्ताष्टौ ॥
० १ मुद्रि० सा चाज' ॥

प्रमाणमिति । घातिकर्मचतुष्टय[1]क्षये च चतसृणां सत्ता, सा च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणा, उत्कर्षतः पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना ।

कृता सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा । सम्प्रति कस्यां प्रकृतौ सत्यां कति प्रकृतिस्थानानि सत्तामधिकृत्य प्राप्यन्ते ? इति निरूप्यते—मोहनीये सत्यष्टानामपि सत्ता, ज्ञानावरणदर्शनावरणा-ऽन्तरायाणां सत्तायां अष्टानां सप्तानां वा सत्ता । तत्राष्टानामुपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्, मोहनीये क्षीणे सप्तानां, सा च क्षीणमोहगुणस्थानके । वेदनीया-ऽऽयुः-नाम-गोत्राणां सत्तायामष्टानां सप्तानां चतसृणां वा सत्ता । तत्राष्टानां सप्तानां च भावना प्रागिव, चतसृणां सत्ता वेदनीयादीनामेव, सा च सयोगिकेवलिगुणस्थानके अयोगिकेवलिगुणस्थानके च द्रष्टव्या ॥२॥

सम्प्रति बन्ध-उदय-सत्ताप्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेधप्ररूपणार्थमाह—

अट्ठविहसत्तछ्ब्बंधगेसु अट्ठेव उदयसंताइं[2] ।
एगविहे तिविगप्पो, एगविगप्पो अबंधम्मि ॥३॥

अष्टविधबन्धक-सप्तविधबन्धक-षड्विधबन्धकेषु प्रत्येकमुदये सत्तायां चाष्टौ कर्माणि प्राप्यन्ते । कथम् ? इति चेद् उच्यते--इहाष्टविधबन्धका अप्रमत्तान्ताः, सप्तविधबन्धका अनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यवसानाः, षड्विधबन्धकाश्च सूक्ष्मसम्परायाः, एते च सर्वेऽपि सरागाः । सरागत्वं च मोहनीयोदयाद् उपजायते, उदये च सत्यवश्यं सत्ता, ततो मोहनीयोदये सत्तासम्भवाद् अष्टविध-सप्तविध-षड्विधबन्धकेष्ववश्यमुदये सत्तायां चाष्टौ प्राप्यन्ते । एतेन च त्रयो भङ्गा दर्शिताः,. तद्यथा---अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता । एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एष च मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्रमत्तान्तानामवसेयो न शेषाणाम्, आयुर्बन्धासम्भवात् । तथा सप्तविधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धाभावे, एष च मिथ्यादृष्ट्यादीनामनिवृत्तिबादरसम्परायान्तानामवसेयः । तथा षड्विधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्पः सूक्ष्मसम्परायाणाम् । "एगविहे तिविगप्पो" त्ति 'एकविधे' एकप्रकारे बन्धे एकस्मिन् केवले वेदनीये बध्यमाने इत्यर्थः, 'त्रिविकल्पः' इति समाहारद्विगुत्वेऽप्यार्षत्वात् पुंस्त्वनिर्देशः, त्रयो विकल्पा भवन्तीत्यर्थः । तद्यथा—एकविधो बन्धः सप्तविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि मोहनीयस्योदयो न विद्यते, सत्ता पुनरस्ति । तथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता, एष विकल्पः क्षीणमोहगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि मोहनीयस्य निःशेषतोऽपगमात् । तथा एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयः

1 सं० छा० मुद्रि० 'क्षये च चत' ॥ 2 सं० त० 'दयसत्ता' ॥

र्विधा सत्ता, एष पुनर्विकल्पः सयोगिकेवलिगुणस्था[1]नके, तत्र घातिकर्मणाम[2]नयवशोऽपगमात् चतसृणां चाघातिप्रकृतीनामुदये सत्तायां च प्राप्यमाणत्वात् । "एगविगप्पो अबंधम्मि" त्ति 'अबन्धे' बन्धाभावे एक एव विकल्पः, तद्यथा—चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष चायोगिकेवलिगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि योगाभावाद् बन्धो न भवति, उदय-सत्त्वे चाघातिकर्मणां भवतः ॥३॥

तदेवं मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेधे सप्त विकल्पा उक्ताः । सम्प्रति एतानेव जीवस्थानेषु चिन्तयन्नाह—

सत्तट्ठबंधअट्ठुदयसंत तेरससु जीवठाणेसु ।
एगम्मि पंच भंगा, दो भंगा हुंति केवलिणो ॥ ४ ॥

इह जीवस्थानानि चतुर्दश, तद्यथा–अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियः १ पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियः २ अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियः ३ पर्याप्तबादरैकेन्द्रियः ४ अपर्याप्तद्वीन्द्रियः ५ पर्याप्तद्वीन्द्रियः ६ अपर्याप्तत्रीन्द्रियः ७ पर्याप्तत्रीन्द्रियः ८ अपर्याप्तचतुरिन्द्रियः ९ पर्याप्तचतुरिन्द्रियः १० अपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियः ११ पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियः १२ अपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियः १३ पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियः १४ इति । एतानि च सप्रपञ्चं षडशीतिकवृत्तौ व्याख्यातानीति नेह भूयो व्याख्यायन्ते ।

तत्र त्रयोदशसु आद्येषु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वौ द्वौ विकल्पौ भवतः, तद्यथा--सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकालं मुक्त्वा शेषकालं सर्वदैव लभ्यते; अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एष चान्तर्मौहूर्तिकः, आयुर्बन्धकालस्य जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । "एगम्मि पंच भंग" त्ति 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे पञ्च भङ्गा भवन्ति । तत्रादिमौ द्वौ भङ्गौ प्रागिव भावनीयौ, त्रयस्तु शेषा इमे--षड्विधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्पः सूक्ष्मसम्परायस्य उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा वर्तमानस्य वेदितव्यः, तथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते; तथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता, एष च क्षीणमोहगुणस्थानके । तथा द्वौ भङ्गौ भवतः केवलिनः, तद्यथा--एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्पः सयोगिकेवलिनः, बन्धाभावे चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिनः । इह केवलिग्रहणं संज्ञिव्यवच्छेदार्थम्, द्वौ भङ्गौ भवतः केवलिनो न तु संज्ञिन इत्यर्थः । अत एव च केवलिग्रहणादिदमवसीयते केवली मनोविज्ञानरहितत्वात् संज्ञी न भवतीति ॥४॥

---

१ सं० छा० °नके प्राप्यते तत्र ॥ २ सामस्त्येनेत्यर्थः ॥

सम्प्रति तानेव सप्त विकल्पान् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

अट्ठसु एगविगप्पो, छस्सु वि गुणसंनिएसु दुविगप्पो।
पत्तेयं पत्तेयं, बंधोदयसंतकम्माणं ॥५॥

इह गुणस्थानकानि चतुर्दश, तानि च षडशीतिकवृत्तौ सविस्तरमभिहितानीति नेह भूयोऽभिधीयन्ते। तत्राष्टसु गुणस्थानकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलि-अयोगिकेवलिलक्षणेषु प्रत्येकं बन्ध-उदय-सत्कर्मणामेको विकल्पो भवति, तद्यथा—सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरेषु सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता। अथैतेषु अष्टविधोऽपि बन्धः कस्माद् न भवति? उच्यते—स्वभावत एवैषामायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानशून्यत्वात्। सूक्ष्मसम्पराये षड्विधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, सूक्ष्मसम्परायो हि बादरकषायोदयाभावाद् आयुर्मोहनीयं च न बध्नाति, ततस्तस्य षड्विध एव बन्धो भवति। उपशान्तकषायस्य एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः अष्टविधा सत्ता, यत उपशान्तमोहः कषायोदयाभावाद् न ज्ञानावरणीयादि बध्नाति, किन्तु वेदनीयमेकं केवलम्, ततस्तत्रैकविध एव बन्धो भवति, मोहनीयस्य चोपशान्तत्वेनोदयाभावाद् उदयः सप्तविधः। क्षीणमोहस्य एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता, अत्र मोहनीयं क्षीणत्वाद् उदये सत्तायां च न प्राप्यते, ततः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता। सयोगिकेवलिनि एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, केवली हि चतसृणामपि घातिप्रकृतीनां क्षये भवति, ततस्तस्य चतुर्विध एवोदयश्चतुर्विधैव सत्ता। अयोगिकेवलिनो बन्धो न भवति योगाभावात्, चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता। तथा षट्सु गुणसंज्ञितेषु 'गुणस्थानकेषु' मिथ्यादृष्टि-सासादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तरूपेषु प्रत्येकं बन्ध-उदय-सत्कर्मणां द्वौ द्वौ विकल्पौ भवतः, तद्यथा—अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एतेषां आयुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानसम्भवाद् आयुर्बन्ध उपपद्यते। तथा सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकालं मुक्त्वा शेषकालं सर्वदा [illegible] ॥ ५ ॥

[illegible] मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेध उक्तः [illegible] उत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेधः प्रोच्यते

१ [illegible] ॥ २ [illegible] मुद्रित [illegible] सत्ता ॥ ३ [illegible]
[illegible] अट्ठाणां [illegible] तइय [illegible] । [illegible]
[illegible]
[illegible]

उत्तरप्रकृतयस्त्विमाः, तद्यथा–मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणम् अवधिज्ञानावरणं मनःपर्यवज्ञानावरणं केवलज्ञानावरणम्, एताश्च पञ्चापि ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतयः। "मन ज्ञाने" मननं मतिः, यद्वा मन्यते-इन्द्रिय-मनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः, योग्यदेशावस्थितवस्तुविषय इन्द्रिय-मनोनिमित्तोऽवगमविशेषः, मतिश्च सा ज्ञानं च मतिज्ञानं तस्यावरणं मतिज्ञानावरणम् १। श्रवणं श्रुतं अभिलापप्लावितार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषः, "एवमाकारं वस्तु घटशब्दाभिलाप्यं जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थम्' इत्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधारणसमानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रिय मनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः, श्रुतं च तद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानं तस्यावरणं श्रुतज्ञानावरणम् २। तथा अवशब्दोऽधःशब्दार्थः, अव–अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति अवधिः, यद्वा अवधिः-मर्यादा, रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा, तदुपलक्षितं ज्ञानमपि अवधिः, अवधिश्च तद् ज्ञानं च अवधिज्ञानं तस्यावरणं अवधिज्ञानावरणम् ३। तथा 'परि:-सर्वतोभावे, अवनं अवः, तुदादिभ्योऽनन्ताविल्यधिकारे अविनो वेत्यनेनौणादिकोऽकारप्रत्ययः, अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवः मनःपर्यवः सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, मनःपर्यव'श्च स ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानम्, इदं चार्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनमवसेयम्, मनःपर्यायज्ञानमित्येवमप्येतदुच्यते, तत्र मनसः पर्यायाः-बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा धर्मा मनःपर्यायाः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, तस्यावरणं मनःपर्यायज्ञानावरणं मनःपर्यवज्ञानावरणं वा ४। तथा केवलम्-एकं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात् "'नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" (आव० नि० गा० ५३९) इति वचनात्, शुद्धं वा केवलं तदावरणमलकलङ्कापगमात्, सकलं वा केवलं प्रथमत एवाशेषतदावरणविगमतः सम्पूर्णोत्पत्तेः, असाधारणं वा केवलं अनन्यसदृशत्वात्, अनन्तं वा केवलं ज्ञेयानन्तत्वात्, केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानम्, तस्यावरणं केवलज्ञानावरणम् ५॥

दर्शनावरणस्य नवोत्तरप्रकृतयः, तद्यथा—निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचलाप्रचला ४ स्त्यानर्द्धिः ५ चक्षुर्दर्शनावरणम् ६ अचक्षुर्दर्शनावरणम् ७ अवधिदर्शनावरणं ८ केवलदर्शनावरणं च ९। तत्र "द्रा कुत्सायां गतौ" नितरां द्राति–कुत्सितत्वम् अविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यं यस्यां सा निद्रा, भिदादित्वादङ्, यस्यां नखच्छोटिकामात्रेण स्वप्तुः प्रबोध

गीतर्षिमंलयगिरिभिरप्युत्तरप्रकृतीनां विवेचनं कृतमस्ति तद् यद्यपि उपर्युक्तगाथानुसारि दृश्यते तथापि तद्विहितान्यगाथाव्याख्यानशैल्या अस्याभदर्शनात् प्रसङ्गतः कृतमिति प्रतिभाति। अतः सम्भाव्यते केनापि विदुषा अष्टकर्मोत्तरप्रकृतिनिबद्धं गाथासूत्रं प्रक्षिप्तमिति॥ १ सं० १ त० म० °मशब्दा°॥ २ सं० १ त० म० °परि सर्व°॥ ३ त० छा० °वश्च तद् ज्ञा°॥ ४ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने॥

उपजायते सा स्वापावस्था निद्रा, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रा, कारणे कार्योपचारात् १। तथा निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा, मयूरव्यंसकादित्वाद् मध्यपदलोपी समासः, तस्यां हि चैतन्यस्यात्यन्तमस्फुटीभूतत्वाद् बहुभिर्घोलनाप्रकारैः प्रबोध उपजायते, अतः सुखप्रबोधहेतुनिद्रातोऽस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा २। तथा उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलति–विघूर्णते यस्यां स्वापावस्थायां सा प्रचला, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचला ३। तथा प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला, अत्रापि मध्यपदलोपी समासः, एषा हि चङ्क्रमणमपि कुर्वत उपतिष्ठते, ततः स्थानस्थितस्वप्तृभवप्रचलापेक्षया अस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला ४। तथा स्त्याना–पिण्डीभूता ऋद्धिः–आत्मशक्तिरूपा यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानर्द्धिः, तद्भावे हि उत्कर्षतः प्रथमसंहननस्य केशवार्धबलसदृशी शक्तिर्भवति, श्रूयते चैतत् कथानकमागमे–

क्वचित् प्रदेशे कोऽपि क्षुल्लको विपाकप्राप्तस्त्यानर्द्धिनिद्रासहितो द्विरदेन दिवा खलीकृतः, ततः स तस्मिन् बद्धाभिनिवेशो रजन्यां स्त्यानर्द्ध्युदये वर्तमानः समुत्थाय तदन्तयुगलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारि च प्रक्षिप्य पुनः सुप्तवान् इत्यादि।

तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धिः ५। तथा चक्षुषा दर्शनं चक्षुर्दर्शनम्, तस्यावरणं चक्षुर्दर्शनावरणम् ६। अचक्षुषा–चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रिय-मनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनम्, तस्यावरणमचक्षुर्दर्शनावरणम् ७। अवधिरेव दर्शनं--रूपिद्रव्यसामान्यग्रहणमवधिदर्शनम्, तस्यावरणमवधिदर्शनावरणम् ८। केवलमेव–सकलजगद्भाविवस्तुस्तोमसामान्यग्रहणरूपं दर्शनं केवलदर्शनम्, तस्यावरणं केवलदर्शनावरणम् ९। अत्र निद्रापञ्चकं प्राप्ताया दर्शनलब्धेरुपघातकृत्, चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्टयं तु मूलत एव दर्शनलब्धिमुपहन्ति। आह च गन्धहस्ती–

निद्रादयः समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते, दर्शनावरणचतुष्टयं तु उद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धिमिति॥

(तत्त्वा० अ० ८ सू० ८ भाष्यटी० भाग० २ पत्र १३५)॥

वेदनीयस्य द्वे उत्तरप्रकृती, तद्यथा—सातवेदनीयमसातवेदनीयं च। तत्र सातं--सुखं तद्रूपेण यद् वेद्यते तत् सातवेदनीयम् १। असातं--दुःखं तद्रूपेण यद् वेद्यते तद् असातवेदनीयम् २॥

मोहनीयस्योत्तरप्रकृतयोऽष्टाविंशतिः। मोहनीयं हि द्विधा, तद्यथा---दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं च। दर्शनमोहनीयमपि त्रिधा, तद्यथा----मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं च। तत्र

१ सं १ त० म० ०ष्टयं उद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं दर्श० ॥

यदुदयाद् जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धानं तद् मिथ्यात्वम् १। यदुदयात् पुनर्जिनप्रणीतं तत्त्वं न सम्यक् श्रद्धत्ते नापि निन्दति, मतिदौर्बल्यादिना सम्यगसम्यग् वा एकान्तेन निश्चयाकरणतः सम्यक्श्रद्धानैकान्तविप्रतिपत्त्ययोगात् तत् सम्यग्मिथ्यात्वम् २। उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ—

[1]जहा नालिकेरदीववासिस्स अइखुहाइयस्स वि पुरिसस्स एत्थं ओयणाइए अणेगविहे ढोइए तस्स आहारस्स उवरिं न रुई न य निंदा, जेण कारणेण सो ओयणाइओ आहारो न कयाइ दिट्ठो नावि सुओ, एवं सम्मामिच्छदिट्ठिस्स वि जीवादिपयत्थाणं उवरिं न रुई न य निंदा इत्यादि।

यदुदयात् पुनः सम्यग् जिनप्रणीतं तत्त्वं श्रद्धत्ते तत् सम्यक्त्वम् ३। चारित्रमोहनीयं पुनर्द्विधा, तद्यथा—कषाया नोकषायाश्च। तत्र कष्यन्ते-हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः-संसारः, तमयन्ते-गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः-क्रोध-मान-माया-लोभाः, ते च प्रत्येकमनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनभेदाच्चतुर्विधाः तत्रा[2]नन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः। [उक्तं च—

यस्मादनन्तं संसारमनुबध्नन्ति देहिनाम्। ततोऽनन्तानुबन्धीति, संज्ञाऽऽद्येषु निवेशिता॥]
तथा न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयात् तेऽप्रत्याख्यानाः। उक्तं च—

नाल्पमप्युत्सहेद् येषां, प्रत्याख्यानमिहोदयात्। अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो द्वितीयेषु निवेशिता॥
तथा प्रत्याख्यानं—सर्वविरतिरूपं आवृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः, कृत् "बहुलं" (सिद्धहे० ५-१-२) इति वचनात् कर्तर्यनट्, सर्वविरतिविघातिनो देशविरतिनिबन्धना इत्यर्थः। उक्तं च—

सर्वसावद्यविरतिः, प्रत्याख्यानमिहोच्यते। तदावरणसंज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता॥
तथा परीषहोपसर्गोपनिपाते सति चारित्रिणमपि सम्—ईषद् ज्वलयन्तीति संज्वलनाः। [उक्तं च—

परीषहोपसर्गोपनिपाते यतिमप्यमी। समीपज्ज्वलयन्त्येव, तेन संज्वलनाः स्मृताः॥]
चत्वारश्चतुर्गुणिताः षोडश भवन्तीति कृत्वा षोडश कषायाः।

तथा क[3]षायसहचारिणो नोकषायाः। नोशब्दोऽत्र सहचारवाची। कषायसहचारित्वं च कषायैः सह सदा वर्तनात् कषायोद्दीपनाद्वा। उक्तं च—

क[4]षायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि। हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता॥

---

१ यथा नालिकेरद्वीपवासिनोऽतिक्षुधार्दितस्यापि पुरुषस्य अत्र ओदनादिकेऽनेकविधे ढौकिते तस्याहारस्योपरि न रुचिर्न च निन्दा, येन कारणेन स ओदनादिक आहारो न कदाचिद् दृष्टो नापि श्रुतः, एवं सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि जीवादिपदार्थानामुपरि न रुचिर्न च निन्दा॥

२ सं० सं० १ त० ०नन्तसंसा० ॥ ३ सं० १ त० म० ०षायैः सह ॥ ४ मुद्रि० ०षायैः सह ॥

ते च नोकषाया नव, तद्यथा----वेदत्रिकं हास्यादिषट्कं च। तत्र वेदत्रिकं-स्त्रीवेदः पुरुषवेदो नपुंसकवेदश्च। तत्र यदुदयात् स्त्रियाः पुंस्यभिलाषः पित्तोदये मधुराभिलाषवत् स स्त्रीवेदः१। यदुदयाच्च पुंसः स्त्रियामभिलाषः श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत् स पुरुषवेदः २। यदुदयात् पुनः स्त्रीपुंसयोरुपर्यभिलाषः पित्तश्लेष्मोदये मज्जिकाभिलाषवत् स नपुंसकवेदः ३। हास्यादिषट्कं हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सारूपम्। तत्र यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तद् हास्यमोहनीयम् १। यदुदयाद् बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु प्रमोदमाधत्ते तद् रतिमोहनीयम् २। यदुदयात् पुनर्बाह्याभ्यन्तरेष्वेव वस्तुष्वप्रीतिरुपजायते तद् अरतिमोहनीयम् ३। तथा यदुदयवशात् प्रियविप्रयोगे सोरस्ताडमाक्रन्दति परिदेवते दीर्घं च निःश्वसिति भूपीठे च लुठति तद् शोकमोहनीयम्४। यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा तथारूपस्वसङ्कल्पतो बिभेति तद् भयमोहनीयम्५। यदुदयवशात् पुनर्जन्तोः शुभा-ऽशुभवस्तुविषयं व्यलीकमुपजायते तद् जुगुप्सामोहनीयम् ६॥

आयुषश्चतस्र उत्तरप्रकृतयः, तद्यथा–नरकायुस्तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुश्च॥

नाम्नो द्विचत्वारिंशदुत्तरप्रकृतयः, तद्यथा--गतिनाम जातिनाम शरीरनाम अङ्गोपाङ्गनाम बन्धननाम सङ्घातनाम संहनननाम संस्थाननाम वर्णनाम गन्धनाम रसनाम स्पर्शनाम आनुपूर्वीनाम विहायोगतिनाम त्रसनाम स्थावरनाम बादरनाम सूक्ष्मनाम पर्याप्तनाम अपर्याप्तनाम प्रत्येकनाम साधारणनाम स्थिरनाम अस्थिरनाम शुभनाम अशुभनाम सुस्वरनाम दुःस्वरनाम सुभगनाम दुर्भगनाम आदेयनाम अनादेयनाम यशःकीर्तिनाम अयशःकीर्तिनाम अगुरुलघुनाम उपघातनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम आतपनाम उद्योतनाम निर्माणनाम तीर्थकरनाम चेति।

तत्र गम्यते–तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यत इति गतिः–नारकत्वादिपर्यायपरिणतिः। सा चतुर्धा, तद्यथा–नरकगतिः तिर्यग्गतिः मनुष्यगतिः देवगतिश्च। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि गतिश्चतुर्धा।

तथा एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियत्वादिरूपसमानपरिणतिलक्षणमेकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेशभाग् यत् सामान्यं सा जातिः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि जातिः। इदमत्र तात्पर्यं–द्रव्यरूपमिन्द्रियमङ्गोपाङ्गेन्द्रियपर्याप्तिनामकर्मसामर्थ्यात् सिद्धम्, भावरूपं तु स्पर्शनादीन्द्रियावरणक्षयोपशमसामर्थ्यात् "क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि" इति वचनात्। यत् पुनरेकेन्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिबन्धनं तथारूपसमानपरिणतिलक्षणं सा[1]मान्यं तदव्यभिचारिसामान्यं जातिनामसाध्यम्। उक्तं च—

१ सं० सं० १ म० त० ०मान्यं तदनन्यसाध्य०॥

अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिः तन्निमित्तं जातिनाम। च पञ्चधा, तद्यथा—एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम।

तथा शीर्यत इति शरीरम्, तत् पञ्चधा—औदारिकं वैक्रियम् आहारकं तैजसं कार्मणं च। तत्र उदारं–प्रधानम्, प्राधान्यं चास्य तीर्थंकरगणधरशरीरापेक्षया, ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्यापि अनन्तगुणहीनत्वात्, यद्वा उदारं–सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात् शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणम्, बृहत्ता चास्य वैक्रियं प्रति भवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या, अन्यथा उत्तरवैक्रियं योजनलक्षमानमपि लभ्यते, उदारमेव औदारिकम्, विनयादिपाठादिकण्, तन्निबन्धनं नाम औदारिकनाम, यदुदयवशाद् औदारिकशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय औदारिकशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयति तद् औदारिकशरीरनामेत्यर्थः १। एवं शेषशरीरनामस्वपि भावना कार्या। तथा विविधा क्रिया विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियम्, तथाहि–तदेकं भूत्वाऽनेकं भवति अनेकं भूत्वा एकम्, अणु भूत्वा महद् भवति महच्च भूत्वाऽणु, तथा खचरं भूत्वा भूमिचरं भवति भूमिचरं भूत्वा खचरम्, तथा अदृश्यं भूत्वा दृश्यं भवति दृश्यं भूत्वाऽदृश्यमित्यादि। तच्च द्विधा–औपपातिकं लब्धिप्रत्ययं च। तत्रौपपातिकं उपपातजन्मनिमित्तम्, तच्च देव-नारकाणाम्। लब्धिप्रत्ययं तिर्यङ्मनुष्याणाम्। वैक्रियनिबन्धनं नाम वैक्रियनाम २। तथा चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थंकरस्फातिदर्शनादिकतथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशाद् आह्रियते–निर्वर्त्यते इत्याहारकम्, कृत् "बहुलम्" (सिद्धहे० ५-१-२) इति वचनात्, कर्मणि वुञ् यथा पादहारक इत्यादौ, तच्च वैक्रियापेक्षयाऽत्यन्तशुभं स्वच्छस्फटिकशिलेव शुभ्रपुद्गलसमूहघटनात्मकं वस्तुप्रतिबिम्बाधारभूतम्, तन्निबन्धनं नाम आहारकनाम ३ तथा तेजसा–तेजःपुद्गलैर्निर्वृत्तं तैजसम्, यद् भुक्ताहारपरिणमनहेतुः यद्वशाच्च विशिष्टतपोमाहात्म्यसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्याविनिर्गमः, तन्निबन्धनं नाम तैजसनाम ४। तथा कर्मणो विकारः कार्मणम्, कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशैः सह क्षीर-नीरवदन्योऽन्यानुगताः सन्तः कार्मणं शरीरम्। तदुक्तं–

कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं।

सव्वेसिं सरीराणं, कारणभूयं मुणेयव्वं॥ (अनुयो० हा० टी० पत्र ८७)

---

१ सं० सं १ त० ०त्मकं वत्रि०॥ २ कर्मविकारः कार्मणमष्टविधविचित्रकर्मनिष्पन्नम्। सर्वेषां शरीराणां कारणभूतं ज्ञातव्यम्॥

अत्र "सव्वेसिं" इति सर्वेषाम्—औदारिकादीनां शरीराणां 'कारणभूतं' बीजभूतं कार्मणश-
रम् । न खल्वामूलमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कार्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावसम्भवः

इदं च कार्मणशरीरं जन्तोर्गत्यन्तरसङ्क्रान्तौ साधकतमं करणम्, तथाहि-कार्मणे
वपुषा परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहाय उत्पत्तिदेशमभिसर्पति । ननु यदि कार्मणवपुःपरिकरि
गत्यन्तरं सङ्क्रामति तर्हि स गच्छन्नागच्छन् वा कस्माद् नोपलक्ष्यते ? उच्यते—कर्मपुद्गलाना
मतिसूक्ष्मतया चक्षुरादीन्द्रियागोचरत्वात् । आह च प्रज्ञाकरगुप्तोऽपि---

अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलक्ष्यते ।
निष्क्रामन् प्रविशन् वापि, नाभावोऽनीक्षणादपि ॥

तन्निबन्धनं नाम कार्मणनाम, यदुदयात् कर्मप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय कर्मरूपतया च परिणम
जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्ध[1]यति ५ ।

तथा अङ्गान्यष्टौ शिरःप्रभृतीनि, तदुक्तम्--

[2]सीसमुरोयर पिट्ठी, दो बाहू ऊरुया य अट्ठंगा । (बृहत्कर्म० वि० गा० ११)
अङ्गुल्यादीन्युपाङ्गानि, शेषाणि तु तत्प्रत्यवयवभूतानि अङ्गुलिपर्व-रेखादीनि अङ्गोपाङ्गानि ।
अङ्गानि च उपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि अङ्गोपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि,
"स्यादावसङ्ख्येयः" (सिद्धहे० ३-१-११९) इत्येकशेषः, तन्निबन्धनं नाम अङ्गोपाङ्गनाम । त
त्रिधा तद्यथा--- औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम आहारकाङ्गोपाङ्गनाम । तत्र यदुदया
औदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद् औदारिकाङ्गो-
पाङ्गनाम १, एवं वैक्रिया-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नी अपि २-३ भावनीये । तैजस-कार्मणयोस्
जीवप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वात् नाङ्गोपाङ्गसम्भव इति न तन्नि[3]बन्धनमङ्गोपाङ्गनाम ।

तथा बध्यतेऽनेनेति बन्धनम्, यदुदयाद् औदारिकादिपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां
च परस्परमन्यशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धः । तत् पञ्चधा, तद्यथा----औदारिकबन्धनं वैक्रिय-
बन्धनम् आहारकबन्धनं तैजसबन्धनं कार्मणबन्धनम् । तत्र यदुदयाद् औदारिकपुद्गलानां
पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं तैजसादिशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धः तद् औदारिकबन्ध-
नम् १ । एवं वैक्रियबन्धनम् २ आहारकबन्धनं ३ च भावनीयम् । यदुदयात् पुनस्तैजसपुद्ग-
लानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं कार्मणशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धस्तत् तैजसबन्धनं
४ । यदुदयात् कर्मपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं सम्बन्धस्तत् कार्मणबन्धनं

१ सं० १ त० म० ०यति तत् कार्मणशरीरनामेत्यर्थः ॥ २ शीर्षमुरः उदरं पृष्ठिः द्वौ बाहू ऊरू
अष्ट अङ्गानि ॥ ३ सं० छा० मु० ०न्धनं नाम ॥

। केचित् पुनर्बन्धनस्य पञ्चदश भेदानाचक्षते, ते च पञ्चसङ्ग्रहादिग्रन्थतो वेदितव्याः।

तथा सङ्घात्यन्ते- पिण्डीक्रियन्ते औदारिकादिपुद्गला येन तत् सङ्घातम्, तच्च तन्नाम च ङ्घातनाम, तच्च पञ्चधा, तद्यथा---औदारिकसङ्घातनाम वैक्रियसङ्घातनाम आहारकसङ्घातनाम ंजससङ्घातनाम कार्मणसङ्घातनाम। तत्र यदुदयाद् औदारिकपुद्गला ये यत्र योग्यास्तान् तत्र ङ्घातयति, यथा----शिरोयोग्यान् शिरसि, पादयोग्यान् पादयोः, शेषाङ्गयोग्यान् शेषाङ्गेषु तद् ौदारिकसङ्घातनाम। एवं वैक्रियसङ्घातनामादिष्वपि भावनीयम्।

तथा संहननं--अस्थिरचनाविशेषः, तच्चौदारिकशरीरे एव नान्येषु शरीरेषु, तेषां अस्थि-हितत्वात्। तच्च षोढा, तद्यथा---वज्रर्षभनाराचम् ऋषभनाराचं नाराचम् अर्धनाराचं कीलिका ार्तं च। तत्र वज्रं--कीलिका, ऋषभः- परिवेष्टनपट्टः, नाराचम्--उभयतो मर्कटबन्धः।

उक्तं च----

[1]रिसहो य होइ पट्टो, वज्जं पुण कीलिया मुणेयव्वा।
उभओ मक्कडबंधो, नारायं तं वियाणाहि॥ (बृहत्कर्म० वि० गा० १०९)

तत्र द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तद्-स्थित्रयभेदि कीलिकाख्यं--वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद् वज्रर्षभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम ज्रर्षभनाराचनाम १। यत् पुनः कीलिकारहितं संहननं तद् ऋषभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम ऋषभनाराचनाम २। यत्र पुनर्मर्कटबन्ध एव केवलो भवति न पुनः कीलिका ऋषभसंज्ञः पट्टश्च द् नाराचम्, तन्निबन्धनं नाम नाराचनाम ३। यत्र त्वेकपार्श्वेन मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वेन च ोलिका भवति तद् अर्धनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम अर्धनाराचनाम ४। यत्र त्वस्थीनि कीलिका-ा[2]त्रविद्धान्येव भवन्ति तत् कीलिकासंहननम्, तन्निबन्धनं नाम कीलिकानाम ५। यत्र तु पर-परं पर्यन्तसंस्पर्शलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति स्नेहाभ्यवहारतैलाभ्यङ्गविश्रामणादिरूपां परिशीलनां नि[3]त्यमपेक्षन्ते यत्र तत् सेवार्तम् तन्निबन्धनं नाम सेवार्तनाम ६।

तथा संस्थानम्--आकारविशेषः, तच्च षोढा, तद्यथा--समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमण्डलं सादि ामनं कुब्जं हुण्डं चेति। तत्र समाः--यथोक्तप्रमाणाश्चतस्रोऽस्रयः--चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः ारीरावयवा यस्य तत् समचतुरस्रम्, समासान्तोऽत्प्रत्ययः, समचतुरस्रसंस्थाननिबन्धनं नाम मचतुरस्रनाम १। तथा न्यग्रोधवत् परिमण्डलं यस्य तद् न्यग्रोधपरिमण्डलम्, यथा न्यग्रोध परि सम्पूर्णावयवोऽधस्तु हीनस्तथा यत् संस्थानं नाभेरुपरि सम्पूर्णप्रमाणम्, अधस्तु न तथा द् न्यग्रोधपरिमण्डलम्, तन्निबन्धनं नाम न्यग्रोधपरिमण्डलनाम २। तथा सह आदिना—

१ ऋषभश्च भवति पट्टो वज्रं पुनः कीलिका ज्ञातव्या। उभयतो मर्कटबन्धो नाराचं तद् विजा-हि॥ २ सं० छा० म० ०त्रबद्धा०॥३ छा० ०त्यमियर्ति येन त०॥

तथा यदुदयात् शिरः-अस्थि-दन्तादीनामवयवानां स्थिरता भवति तत् स्थिरनाम । यदु-यात् भ्रू-जिह्वादीनामवयवानामस्थिरता भवति तत् अस्थिरनाम ।

यदुदयवशात् नाभेरुपरितनाः शुभा भवन्ति तत् शुभनाम । यदुदयवशाद् नाभेरधः पादादयोऽवयवा अशुभा भवन्ति तद् अशुभनाम । शिरसा हि स्पृष्टस्तुष्यति, पादेन तु रुष्यति। कामिन्याः पादेनापि स्पृष्टस्तुष्यति ततो व्यभिचार इति चेत्, न, तत्तोषस्य मोहनीयनिबन्धनत्वात् , वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यते ततोऽदोषः ।

तथा यदुदयवशाद् जीवस्य स्वरः श्रोतॄणां प्रीतिहेतुर्जायते तद् सुस्वरनाम । यदुदयात् स्वरः कर्णकटुः प्रादुर्भवति तद् दुःस्वरनाम ।

यदुदयवशाद् अनुपकार्यपि सर्वस्य मनःप्रियो भवति तद् सुभगनाम । यदुदयवशाद् उपकारकृदपि जनस्य द्वेष्यो भवति तद् दुर्भगनाम. उक्तं च—

[2]अणुवकए वि बहूणं, होइ पिओ तस्स सुभगनामुदओ ।
उवगारकारगो वि हु, न रुच्चई दूभगस्सुदए ॥
सुभगुदए वि हु [3]कोई, कंची आसज्ज दुब्भगो जइ वि ।
जायइ तद्दोसाओ, जहा अभव्वाण तित्थयरो ॥

यदुदयवशाद् यत् किञ्चिदपि ब्रुवाणः सर्वस्योपादेयवचनो भवति दर्शनसमनन्तरमेव च लोकोऽभ्युत्थानादि समाचरति तद् आदेयनाम । यदुदयवशाद् उपपन्नमपि ब्रुवाणो नोपादेयवचनो भवति, न च लोकोऽभ्युत्थानादि तस्य करोति तद् अनादेयनाम ।

यदुदयवशाद् मध्यस्थजनप्रशस्यो भवति तद् यशःकीर्तिनाम । यदुदयवशाद् मध्यस्थजनस्यापि अप्रशस्यो भवति तद् अयशःकीर्तिनाम । यशः-कीर्त्योश्चायं विशेषः—

दानपुण्यकृता कीर्तिः, पराक्रमकृतं यशः ।

अथवा—

एकदिग्गामिनी कीर्तिः, सर्वदिग्गामुकं यशः ।

तथा यदुदयवशाद् जीवानां शरीराणि न गुरूणि नापि लघूनि नापि गुरुलघूनि किन्त्वगुरुलघुपरिणामपरिणतानि भवन्ति तद् अगुरुलघुनाम । यदुदयवशात् स्वशरीरान्तःप्रवर्धमानैः प्रतिजिह्वा-गलवृन्द-लम्बक-चोरदन्तादिभिर्जन्तुरुपहन्यते तद् उपघातनाम । यदुदयवशाद् ओजस्वी

१ सं० १ त० ०दयवशात ॥ २ अनुपकृतेऽपि बहूनां भवति प्रियस्तस्य सुभगनामोदयः। उपकारकारकोऽपि हि न रुच्यते दुर्भगस्योदये॥ सुभगोदयेऽपि हि कोऽपि कञ्चिद् आसाद्य दुर्भगो यद्यपि । जायते तद्दोषाद् यथाऽभव्यानां तीर्थंकरः ॥ ३ सं० १ त० म० जीवो, कं० ॥

दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा महानृपसभामपि गतः सभ्यानामपि क्षोभमापादयति प्रतिपक्षप्रतिभा-
प्रतिघातं च करोति तद् पराघातनाम। यदुदयवशाद् उच्छ्वास-निःश्वासलब्धिरुपजायते तद्
उच्छ्वासनाम। यदुदयवशाद् जन्तुशरीराणि भानुमण्डलगतपृथिवीकायिकरूपाणि स्वरूपेणाऽनुष्णा-
न्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातपं कुर्वन्ति तद् आतपनाम। आतपनामोदयश्च वह्निशरीरे न भवति,
तत्र प्रतिषेधात्; तत्रोष्णत्वमुष्णस्पर्शनामोदयात्, उत्कटलोहितवर्णनामोदयाच्च प्रकाशकत्वमिति।
तथा यदुदयवशाद् जन्तुशरीराणि अनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतमातन्वन्ति यथा यति देवोत्तरवैक्रिय-
चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-तारा-रत्न-औषधयः तद् उद्योतनाम। यदुदयवशाद् जन्तुशरीरेष्वङ्ग प्रत्यङ्गानां
प्रतिनियतस्थानवर्तिता भवति तद् निर्माणनाम। यदुदयवशाद् अष्टमहाप्रातिहार्यप्रमुखा-
श्चतुस्त्रिंशदतिशयाः प्रादुर्भवन्ति तत् तीर्थकरनाम। इह पिण्डप्रकृतीनामवान्तरभेदगणने पञ्च-
षष्टिर्भवति, शेषाश्च प्रकृतयोऽष्टाविंशतिः, ततः सर्वसङ्ख्यया नाम उत्तरभेदास्त्रिनवतिः ॥

गोत्रस्योत्तरप्रकृती द्वे, तद्यथा–उच्चैर्गोत्रं च नीचैर्गोत्रं च। तत्र यदुदयादुत्तमजातिकुलप्राप्तिः
सत्काराभ्युत्थानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपपूजा लाभसम्भवश्च तदुच्चैर्गोत्रम्, तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम् ॥

अन्तरायस्योत्तरप्रकृतयः पञ्च, तद्यथा–दानान्तरायं लाभान्तरायं भोगान्तरायम् उपभोगा-
न्तरायं वीर्यान्तरायं च। तत्र यदुदयवशात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्रे 'दत्तमस्मै
महाफलम्' इति जानन्नपि दातुं नोत्सहते तद् दानान्तरायम् १। यदुदयवशात् पुनः प्रसिद्धादपि
दातुर्गृहे विद्यमानमपि देयमर्थजातं याञ्चाकुशलो गुणवानपि याचको न लभते तद् लाभान्तरायम्
२। यदुदयात्तु सत्यपि विशिष्टाहारादौ असति च प्रत्याख्यानपरिणामे केवलकार्पण्याशक्त्यादि-
कारणवशाद् नोत्सहते विशिष्टाहारादि भोक्तुं तद् भोगान्तरायम् ३ एवमेवोपभोगान्तराय-
मपि। नवरं भोगोपभोगयोरयं विशेषः–सकृद् भुज्यत इति भोगः, पुनः पुनर्भुज्यत इत्युप-
भोगः ४। उक्तं च—

[1]सइ भुञ्जइ त्ति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाईओ।
उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ भवणविलयाई ॥ (बृहत्कर्म० वि० गा० १६६)

तथा यदुदयवशात् सत्यपि नीरुजि शरीरे यूनोऽप्यल्पप्राणता भवति तद् वीर्यान्तरायम् ५ ॥

इह बन्धे उदये च बन्धनानि सङ्घातनामानि च स्वशरीरनामग्रहणेनैव गृहीतानि विव-
क्ष्यन्ते, तद्यथा–औदारिकशरीरनामग्रहणेन औदारिकबन्धन-सङ्घातनाम्नी, वैक्रियशरीरनाम-
ग्रहणेन वैक्रियबन्धन-सङ्घातनाम्नी इत्यादि। वर्णादीनां चावान्तरभेदा न विवक्ष्यन्ते। तथा बन्धे

---

१ सं० १ त० म० ०लाभादिसं० ॥ २ सकृद् भुज्यत इति भोगः स पुनराहारपुष्पादिकः।
उपभोगस्तु पुनः पुनरुपभुज्यते भवनवनितादि ॥

[illegible] सम्यक्त्वगुणेन किञ्चि-
[illegible] केचित् पुनर्मिश्र-
[illegible] सम्यग्मिथ्या-
त्वव्यपदेशभाजः, शेषा मिथ्यात्वमिति । उक्तं च—

सम्यक्त्वगुणेन ततो विशोधयति कर्म तद् स मिथ्यात्वम् ।
यद्वत् शकृन्मूत्रैः शोध्यन्ते कोद्रवा मदनाः ॥
यत् सर्वथाऽपि तत्र विशुद्धं तद् भवति कर्म सम्यक्त्वम् ।
मिश्रं तु दरविशुद्धं भवत्यशुद्धं च मिथ्यात्वम् ॥

उदये पुनः सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे अपि भवतः । ततो बन्धे उत्तरप्रकृतीनां विंशं शतम्, उदये च द्वाविंशं शतम्, सत्तायां च बन्धनानि सङ्घातनामानि च पृथग् विवक्ष्यन्ते, वर्णादीनां चावान्तरभेदाः पृथग् गण्यन्ते, ततः सर्वसङ्ख्यया सत्तायामष्टचत्वारिंशं शतमुत्तरप्रकृतीनामिति॥

तदेवं कृता उत्तरप्रकृतीनां प्ररूपणा । सम्प्रति ज्ञानावरणीयस्य तत्तुल्यत्वादन्तरायस्य चोत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह—

बंधोदयसंतंसा, नाणावरणंतराइए पंच ।
बंधोवरमे वि तहा, उदसंता हुंति पंचेव ॥ ६ ॥

ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येकं बन्ध-उदय-सत्तारूपा अंशाः 'पञ्च' पञ्चप्रकृत्यात्मकाः। इदमुक्तं भवति—ज्ञानावरणे बन्धमुदयं सत्तां चाधिकृत्य सदैव पञ्च प्रकृतयो मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणा-ऽवधिज्ञानावरण-मनःपर्यवज्ञानावरण-केवलज्ञानावरणरूपाः प्राप्यन्ते, न त्वेकद्वित्र्यादिकाः, ध्रुवबन्धादित्वात् । अन्तरायेऽपि बन्धमुदयं सत्तां चाधिकृत्य प्रत्येकं सदैव दानान्तराय-लाभान्तराय-भोगान्तराय-उपभोगान्तराय-वीर्यान्तरायरूपाः पञ्च प्रकृतयः प्राप्यन्ते, न त्वेकद्वित्र्यादिकाः, ध्रुवबन्धादित्वादेव । तथा च सति ज्ञानावरणेऽन्तराये च बन्धादिषु प्रत्येकमेकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं प्रकृतिस्थानमिति ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—ज्ञानावरणस्य बन्धकाले पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता, एवमन्तरायस्यापि । एष च विकल्पो द्वयोरपि सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावदवगन्तव्यः । बन्धाभावे पुनर्ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येकं पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता । तथा चाह—"बंधोवरमे वि" इत्यादि । 'बन्धोपरमेऽपि बन्धाभावेऽपि ज्ञानावरणा-ऽन्तराययोः 'तथा'

---

१ सं० ०नामवसेयम् ।

समुच्चये उदय-सत्ते भवतः (ग्रन्थाग्रम्-५००) 'पञ्चैव' पञ्चप्रकृत्यात्मके एव, न त्वेकद्वित्र्या-
ध्रुवोदय-सत्ताकत्वात्। एष च विकल्पो द्वयोरप्युपशान्तमोहे क्षीणमोहे च प्राप्यते ॥६॥

सम्प्रति दर्शनावरणस्योत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह—

बंधस्स य संतस्स य, पगइट्ठाणाइं तिन्नि तुल्लाइं।
उदयट्ठाणाइं दुवे, चउ पणगं दंसणावरणे ॥ ७ ॥

दर्शनावरणाख्ये द्वितीये कर्मणि बन्धस्य सत्तायाश्च परस्परं 'तुल्यानि' तुल्यस्वरूपाणि
ा प्रकृतिस्थानानि भवन्ति। तद्यथा—नव षट् चतस्रः। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायो नव,
एव नव स्त्यानर्द्धित्रिकहीनाः षट्, एताश्च षड् निद्रा प्रचलाहीनाश्चतस्रः। तत्र नवप्रकृत्या-
बन्धस्थानं मिथ्यादृष्टौ सासादने वा। तच्चाभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसानम्, कदाचिदपि
च्छेदाभावात्; भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानम्, कालान्तरे व्यवच्छेदसम्भवात्, सम्य-
त् प्रतिपत्य मिथ्यात्वं गतानां सादिसपर्यवसानम्; तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्,
र्षतो देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तम्। षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान-
रभ्याऽपूर्वकरणस्य प्रथमं भागं यावत्। तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं कालम्, उत्कर्षतो द्वे षट्षष्टी
रोपमाणाम्, सम्यक्त्वस्यापान्तराले सम्यग्मिथ्यात्वान्तरितस्यैतावन्तं कालमवस्थानसम्भवात्;
ऊर्ध्वं तु कश्चित् क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते कश्चित् पुनर्मिथ्यात्वम्, मिथ्यात्वे च प्रतिपन्ने सति
यं नवविधो बन्धः। चतुष्प्रकृत्यात्मकं तु बन्धस्थानमपूर्वकरणद्वितीयभागादारभ्य सूक्ष्म-
रायं यावत्। तच्च जघन्येनैकं समयम्, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्तम्। एकं समयं यावत् कथं
ते ? इति चेद् उच्यते—उपशमश्रेण्यामपूर्वकरणस्य द्वितीयभागप्रथमसमये चतुर्विधबन्ध-
म्याऽनन्तरसमये कश्चित् कालं करोति, कालं च कृत्वा दिवं गतः सन् अविरतो भवति,
रतत्वे च षड्विधो बन्ध इत्येकसामयिकी चतुर्विधबन्धस्थानस्य स्थितिः।

तथा नवप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं दर्शनावरणस्य कालमधिकृत्य द्विधा—अनाद्यपर्यवसितं
ादिसपर्यवसितं च। तत्रानाद्यपर्यवसितमभव्यानाम्, कदाचिदप्यव्यवच्छेदात्। अनादिसपर्य-
नं भव्यानाम्, कालान्तरे व्यवच्छेदात्। सादिसपर्यवसानं तु न भवति, नवप्रकृत्यात्मकसत्ता-
नव्यवच्छेदो हि क्षपकश्रेण्यां भवति, न च क्षपकश्रेणीतः प्रतिपातो भवतीति कृत्वा।
व सत्तास्थानम् उपशमश्रेणिमधिकृत्य उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावदवाप्यते, क्षपकश्रेणिम-
कृत्य पुनरनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकस्य प्रथमभागम्। तथा षट्प्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं
न्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तप्रमाणम्, तच्चानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकस्य द्वितीयभागा-

---

१ सं० सं० १ त० छा० ०तीति । एत० ॥

निद्दा[1]दुगस्स उदओ खीणगखवगे परिच्चज्ज ॥

या चतुर्विधबन्धकेषु कियत्कालमपूर्वकरणेषु अनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्परायेषु चोपशमश्रेणिं श्रित्य चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता । क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरुदयश्चतुर्विध एव, कारणमत्र प्रागेवोक्तम् । केचित् पुनः क्षपकक्षीणमोहेष्वपि निद्रा-प्रचलयोरुदयमिच्छन्ति, तत् सत्कर्म-कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थैः सह विरुध्यते इत्युपेक्ष्यते । यावच्च क्षपकश्रेण्यामपि स्त्यानर्द्धित्रिकं न क्षीयते तावत् सत्ता नवविधैव, स्त्यानर्द्धित्रिके तु क्षीणे षड्विधा तथा चाह—"चउबंधुदए छलंसा य" त्ति इह अंश इति सत्कर्माभिधीयते । यदाह चूर्णिकृत्—

[2]अंस इति संतकम्मं भन्नइ ।

चतुर्विध बन्धे चतुर्विध उदये अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकाद्धायाः सङ्ख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतः स्त्यानर्द्धित्रिके क्षीणे षड्विधा सत्ता । एष च विकल्पस्तावत् प्राप्यते यावत् सूक्ष्मसम्प[3]रायाद्धायाश्चरमसमयः, परतस्तु न प्राप्यते, बन्धाभावात् । तदेवं चतुर्विधबन्धकस्य त्रयो विकल्पाः, तद्यथा—चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता, एष विकल्प उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा यावत् स्त्यानर्द्धित्रिकं न क्षीयते । चतुर्विधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता, एष उपशमश्रेण्याम्, क्षपकश्रेण्यां पञ्चविधोदयस्याभावात् तथा चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयः षड्विधा सत्ता, एष च विकल्पः क्षपकश्रेण्यां स्त्यानर्द्धित्रिकक्षयानन्तरमवसेयः ॥८॥

"उवरयबंधे" इत्यादि । 'उपरते' व्यवच्छिन्ने बन्धे चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता, एतौ च द्वौ विकल्पावुपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्येते । उपशमश्रेण्यां हि निद्रा-प्रचलयोरुदयः सम्भवति, स्त्यानर्द्धित्रिकं च न क्षयमुपगच्छति ततश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधा च सत्ता प्राप्यते । तथा चतुर्विध उदयः षड्विधा सत्ता, एष विकल्पः क्षीणकषायस्य द्विचरमसमयं यावत्प्राप्यते । तथा चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्पः क्षीणकषायस्य चरमसमये, निद्रा-प्रचलयोर्द्विचरमसमये एव क्षपितत्वात् । तदेवं दर्शनावरणे सर्वसङ्ख्यया एकादश विकल्पाः । यदि पुनः क्षपकक्षीणकषायेष्वपि निद्रा-प्रचलयोरुदय इष्यते तर्हि चतुर्विधो बन्धः पञ्चविध उदयः षड्विधा सत्ता, बन्धाभावे पञ्चविध उदयः षड्विधा सत्तेत्येतौ द्वौ विकल्पावधिकौ प्राप्येते इति त्रयोदश ज्ञातव्याः ॥

सम्प्रति वेदनीया-ऽऽयुः-गोत्रेषु संवेधविकल्पोपदर्शनार्थमाह—

वेयणियाउयगोए, विभज्ज

---

१ निद्राद्विकस्य उदयः क्षीणकक्षपकौ परित्यज्य ॥ २ अंश इति सत्कर्म भण्यते० ॥ ३ मुद्रि० रायगुणस्थानकाद्धा० ॥

कस्यापि सम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वे वा गमनसम्भवात्, अथवा नारकायुष उदयो मनुष्य-नारकायुषी सती। इह नारका देवायुः नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति, तत्रोत्पत्त्यभावात्।

तदुक्तम्—

[1]देवा नारगा वा देवेसु नारगेसु वि न उववज्जंति। इति।

ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायुः-नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसङ्ख्यया पञ्चैव विकल्पा भवन्ति।

एवं देवानामपि [2]पञ्च विकल्पा भावनीयाः। नवरं नारकायुःस्थाने देवायुरिति वक्तव्यम्, तद्यथा—देवायुष उदयो देवायुषः सत्ता इत्यादि।

तथा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यगायुषः सत्ता, एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु, शेषगुणस्थानकस्य तिर्यक्ष्वसम्भवात्, एष विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्। बन्धकाले तु नारकायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः, अन्यत्र नारकायुषो बन्धाभावात्; अथवा तिर्यगायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयः,[3] तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा; अथवा मनुष्यायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा नान्यस्य, तिरश्चोऽविरतसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य वा देवायुष एव बन्धसम्भवात्; अथवा देवायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य वा, न सम्यग्मिथ्यादृष्टेः, तस्यायुर्बन्धाभावात्। एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले। बन्धे तु व्यवच्छिन्ने तिर्यगायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु, नारकायुर्बन्धानन्तरं सम्यक्त्वादावपि गमनसम्भवात्, अथवा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती, एतेऽपि त्रयो विकल्पा आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु। सर्वसङ्ख्यया तिरश्चां नव विकल्पाः, चतसृष्वपि गतिषु तिरश्चामुत्पादसम्भवात्।

तथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिनं यावत्। तथा नारकायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो नारक मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्या[4]दृष्टेः। तथा तिर्यगायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा। मनु-

१ देवा नारका वा देवेषु नारकेष्वपि नोपपद्यन्ते ॥ २ सं० १ त० म० पञ्चैव वि० ॥ ३ सं० त० ०यः, तिर्यगा० ॥ ४ सं० त० म० ०वत्। बन्धकाले तु नार०। सं० ०वत्। नार० ॥ ५ सं० १ सं० त० म० ०दृष्टेः। तिर्यगा० ॥

ष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासा-
दनस्य वा । देवायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो देव-मनुष्यायुषी सती, एष [1]विकल्पोऽप्रमत्तगुण-
स्थानकं यावत् । एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले । बन्धे तु व्यवच्छिन्ने मनुष्यायुष
उदयो नारक-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत्, नारकायुर्बन्धानन्तरं
संयमप्रतिपत्तेरपि सम्भवात् । मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पोऽ-
प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् । मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, [2]एषोऽपि विकल्पः
प्राग्वत् । मनुष्यायुष उदयो देव-मनुष्यायुषी सती, [3]एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्,
देवायुषि बद्धेऽप्युपशमश्रेण्यारोहसम्भवात् । सर्वसङ्ख्यया मनुष्याणां नव भङ्गाः । तदेवमायुषि
सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिर्भङ्गाः ॥

तथा गोत्रे सामान्येनैकं बन्धस्थानम्, तद्यथा—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं वा, द्वयोः परस्परविरु-
द्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात् । उदयस्थानमप्येकम्, तदपि द्वयोरन्यतरत्, परस्परविरुद्धत्वेन युगप-
द्वयोरुदयाभावात् । द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्वे एकं च । तत्र उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रे समुदिते द्वे,
तेजस्कायिक-वायुकायिकावस्थायां उच्चैर्गोत्रे उद्वलिते [4]एकम्, अथवा नीचैर्गोत्रेऽयोगिकेवलिद्वि-
चरमसमये क्षीणे एकम् ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत्, एष विक-
ल्पस्तेजस्कायिक-वायुकायिकेषु लभ्यते । तद्भवाद् उद्वृत्तेषु चाशेषजीवेष्वेक-द्वि-त्रि-चतुः-तिर्य-
क्पञ्चेन्द्रियेषु कियत्कालं नीचैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, अथवा
नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च नीचैर्गोत्रे सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टि-
सासादनेषु वा, न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिषु, तेषां नीचैर्गोत्रबन्धाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो
नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरति-
गुणस्थानकं यावत् प्राप्यते न परतः, परतो नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध
उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेरारभ्य- सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं
यावद् न परतः, परतो बन्धाभावात् । बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च नीचैर्गोत्रे सती, एष
विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्य अयोगिकेवलिद्विचरमसमयं यावदवसेयः । उच्चैर्गोत्र-
स्योदय उच्चैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये । तदेवमेते गोत्रस्य सप्त [illegible]
[illegible] भङ्गाः ॥

१ [illegible] २ [illegible] ३ [illegible] एषोऽपि विकल्पः [illegible] ॥ ४ मुद्रि० अथवाऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत् ॥ ५ मुद्रि०
[illegible] ६ मुद्रि० एकम्, अथवा नीचैर्गोत्रे उद्वलिते एकम्, अथ० ॥

मोहं परं वोच्छं ॥ ९ ॥

अतः परं मोहं वक्ष्ये, मोहनीयस्य बन्धादिस्थानानि वक्ष्य इत्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थानान्यभिधित्सुराह—

[1]बावीस एक्कवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पंच ।
चउ तिग दुगं च एक्कं, बंधट्ठा[2]णाणि मोहस्स ॥ १० ॥

'मोहस्स' मोहनीयस्य बन्धस्थानानि, तद्यथा—द्वाविंशतिः एकविंशतिः सप्तदश त्रयोदश नव पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च । तत्र सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे बन्धं न भजतः, न च त्रयाणां वेदानां युगपद् बन्धः किन्त्वेकतरस्यैकस्य, हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगले अपि न युगपद् बन्धमायातः किन्त्वेकतरदेव युगलम्, ततो मोहनीयस्योत्कर्षतः प्रभूतप्रकृतिबन्धो द्वाविंशतिः, सा च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके प्राप्यते । ततः सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके मिथ्यात्वस्य बन्धाभावाद् एकविंशतिः, यद्यपि च नपुंसकवेदस्यापि बन्धो न भवति, तथापि तत्स्थाने स्त्रीवेदः पुरुषवेदो वा प्रक्षिप्यत इत्येकविंशतेः[3] बन्धः । ततो मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकयोरनन्तानुबन्धिनामपि बन्धाभावात् सप्तदश । ततोऽपि देशविरतिगुणस्थानकेऽप्रत्याख्यानावरणानां बन्धाभावात् त्रयोदश । ततोऽपि प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणेषु प्रत्याख्याना[4]वरणानां बन्धाभावाद् नव, यद्यपि अरति-शोकरूपं युगलं प्रमत्तगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नं, तथापि तत्स्थाने हास्य-रतियुगलं प्रक्षिप्यते इत्यप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणयोरपि नवकबन्धो न विरुध्यते । ततो हास्य-रति-भय-जुगुप्सा अपूर्वकरणचरमसमये बन्धमाश्रित्य व्यवच्छिद्यन्ते इति अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके प्रथमभागे पञ्चानां बन्धः । द्वितीयभागे पुरुषवेदस्य बन्धाभावात् चतसृणां बन्धः । तृतीयभागे संज्वलनक्रोधस्य बन्धाभावात् तिसृणां[5] बन्धः । चतुर्थभागे संज्वलनमानस्य बन्धाभावाद् [6]द्वयोर्बन्धः । पञ्चमभागे संज्वलनमायाया अपि बन्धाभावादेकस्याः संज्वलनलोभप्रकृतेर्बन्धः । ततः परं बादरसम्परायोदयाभावात् तस्या अपि न बन्धः ॥१०॥

तदेवमुक्तानि मोहनीयस्य बन्धस्थानानि । सम्प्रत्युदयस्थानान्यभिधित्सुराह—

[7]एक्कं व दो व चउरो, एत्तो एक्काहिया दसुक्कोसा ।
ओहेण मोहणिज्जे, [8]उदयट्ठाणा नव हवंति ॥ ११ ॥

---

१ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये एकोनविंशतितमी ॥ २ भाष्ये तु—०णाणि दस मोहे ॥ ३ सं० त० ०थ । ततो ॥ ४ सं० १ त० ०प्रत्याख्यानबन्धा० ॥ ५ मुद्रि० विना—०णाम्, चतु० ॥ ६ मुद्रि० विना—०योः, पञ्चा० ॥ ७ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये पञ्चविंशतितमी ॥ ८ प्र० उदये ठाणाणि नव हुंति । सं० १ त० ०यट्ठाणाणि नव हुंति ॥

'ओघेन' सामान्येन मोहनीये उदयस्थानानि नव भवन्ति, तद्यथा—एकं द्वे चतस्रः 'अतः' चतुष्कादूर्ध्वं त्वेकाधिका उदयविकल्पास्तावदवगन्तव्या यावदुत्कर्षतो 'दश' दशकमुदयस्थानं भवतीत्यर्थः १-२-४-५-६-७-८-९-१०। एतानि चानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकादारभ्य पश्चानुपूर्व्या किञ्चिद् भाव्यन्ते—तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्योदये एककमुदयस्थानम्, तदेव वेदत्रयान्यतमवेदोदयप्रक्षेपे द्विकम्, तत्रापि हास्य-रतिरूपयुगलप्रक्षेपे चतुष्कम्, तत्रैव भयप्रक्षेपात् पञ्चकम्, जुगुप्साप्रक्षेपात् षट्कम्, तत्रैव चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे सप्तकम्, तत्रैव चाप्रत्या[2]ख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपेऽष्टकम्, ततश्चतुर्णामनन्तानुबन्धिकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे नवकम्, तत्रैव मिथ्यात्वप्रक्षेपे दशकम्। एतच्च सामान्येनोक्तम् विशेषतस्त्वग्रे सूत्रकृदेव सप्रपञ्चं कथयिष्यतीति तत्रैव भावयिष्यते ॥११॥

तदेवमुक्तान्युदयस्थानानि। सम्प्रति सत्तास्थानानि प्रतिपिपादयिषुराह—

[3]अट्ठगसत्तगछच्चउतिगदुगएगाहिया भवे वीसा।
तेरस बारिक्कारस, इत्तो पंचाइ एक्कूणा ॥ १२ ॥
संतस्स पगइठाणाइँ ताणि मोहस्स हुंति पन्नरस।
बंधोदयसंते पुण, भंगवि[4]गप्पा बहू जाण ॥ १३ ॥

विंशतिः अष्टक-सप्तक षट्क-चतुः-त्रि-द्वि-एकाधिका, तथा त्रयोदश द्वादश एकादश, 'अतः' एकादशकात् सत्तास्थानाद् 'एकोनानि' एकैकोनानि पञ्चादीनि सत्तायाः प्रकृतिस्थानानि मोहनीयस्यावगन्तव्यानि, तानि च सर्वसङ्ख्यया पञ्चदश भवन्ति। इदमत्र तात्पर्यम्—मोहनीये पञ्चदश सत्ताप्रकृतिस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशतिः। [5]ततः सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः। ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलिते षड्विंशतिः, अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः। अष्टाविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयक्षये चतुर्विंशतिः। ततोऽपि मिथ्यात्वे क्षपिते त्रयोविंशतिः। ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः। ततः सम्यक्त्वे क्षपिते एकविंशतिः। ततोऽष्टस्वप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणसंज्ञेषु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदश। ततो नपुंसकवेदे क्षपिते द्वादश। ततोऽपि स्त्रीवेदे क्षपिते एकादश। ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च। ततोऽपि पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः। ततोऽपि संज्वलनक्रोधे क्षपिते तिस्रः। ततोऽपि संज्वलनमाने क्षपिते द्वे। ततोऽपि संज्वलन[illegible]

१ सं० १ त० [illegible]मोहनीयस्य ॥ २ सं० १ स० त० म० [illegible]ख्यानकषा० ॥ ३ [illegible] ४ सं० १ सं० त० [illegible] ॥ ५ सं० म० छा० तत्र सं० ॥

यां क्षपितायामेका प्रकृतिः 'सतीति। तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि एतेषु पुनर्बन्ध-उदय-स्थानेषु प्रत्येकं संवेधेन च बहवो भङ्गा भवन्ति, 'तांश्च भङ्गान् यथावत् प्रतिपाद्यमानान् ..्र जानीहि ॥१२॥ १३॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थानेषु भङ्गनिरूपणार्थमाह—

छब्बावीसे चउ इगवीसे सत्तरस तेरसे दो दो।
नवबंधगे वि दोन्नि उ, एक्केक्कमओ परं भंगा ॥१४॥

'द्वाविंशतौ' द्वाविंशतिबन्धे षड् विकल्पा भवन्ति। तत्र द्वाविंशतिरियम्—मिथ्यात्वं, षोडश ..याः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलयोरन्यतरद् युगलं, भयं ..गुप्सा च। अत्र भङ्गाः षट्, तथाहि—हास्य-रतियुगले अरति-शोकयुगले च प्रत्येकं द्वाविंशतिः ..ध्यते इति द्वौ भङ्गौ, तौ च द्वौ भङ्गौ त्रिष्वपि वेदेषु प्रत्येकं विकल्पेन प्राप्येते इति द्वौ ..भिगु णितौ जाताः षट्। सैव द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वेन विना एकविंशतिः, नवरमत्र द्वयोर्वेदयोरन्य-..वेद इति वक्तव्यम्, यत एकविंशतिबन्धकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः, ते च स्त्रीवेदं वा बध्नन्ति ..षवेदं वा, न नपुंसकवेदम्, नपुंसकवेदबन्धस्य मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात्, सासादनानां च ..थ्यात्वोदयाभावात्। अत्र च भङ्गाश्चत्वारः, तथा चाह—"चउ एगवीसे" त्ति 'एकविंशतौ' ..विंशतिबन्धे चत्वारो भङ्गाः। तत्र हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलाभ्यां प्रागिव द्वौ भङ्गौ, .. च प्रत्येकं स्त्रीवेदे पुरुषवेदे च प्राप्येते इति द्वौ द्वाभ्यां गुणितौ जाताश्चत्वारः। सैव ..कविंशतिरनन्तानुबन्धिचतुष्टयबन्धाभावे सप्तदश, नवरमत्र वेदेषु मध्ये पुरुषवेद एवैको ..तव्यः, न स्त्रीवेदोऽपि, यतः सप्तदशबन्धकाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयो वा, न चैते ..वेदं बध्नन्ति, तद्बन्धस्यानन्तानुबन्ध्युदयनिमित्तत्वात्, सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादीनां चानन्तानु-..बन्ध्युदयाभावात्। अत्र च हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलाभ्यां प्रागिव द्वौ भङ्गौ। ता एव ..दश प्रकृतयोऽप्रत्याख्यानकषायचतुष्टयरहितास्त्रयोदश, अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ, तथा ..ह—"सत्तरस तेरसे दो दो" सप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ। ता एव ..ोदश प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयरहिता नव, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ, यत आह—"नवबंधगे .. दोन्नि उ" नवबन्धके द्वौ भङ्गौ, तौ च प्रमत्ते द्वावपि द्रष्टव्यौ, अप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणयोस्त्वेक ..भङ्गः, तत्रारति-शोकरूपस्य युगलस्य बन्धासम्भवात्। तथा ता एव नव हास्य-रतियुगल-..-जुगुप्साबन्धव्यवच्छेदे पञ्च, अत्रैको भङ्गः। एवं चतुः-त्रि-द्वि-एकबन्धेष्वपि प्रत्येकमेकैक ..भङ्गो वाच्यः, तथा चाह—"एक्केक्कमओ परं भंगा" 'अतः' नवकबन्धात् परं पञ्चादिषु ..ङ्गाः प्रत्येकम् 'एकैकः' एकैकसङ्ख्या' वेदितव्याः। मकारस्त्वलाक्षणिकः।

१ सं० त० सती। त०॥ २ सं० १ त० ततश्च भङ्गान् प्रति०॥ ३ मुद्रि० एकैव संख्या॥

अमीषां च द्वाविंशत्यादिबन्धस्थानानां कालप्रमाणमिदम्--द्वाविंशतिबन्धस नधिकृत्य अनाद्यपर्यवसितः, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसितः. सम्यक्त्वपरिभ्रष्टा न्तमुहूर्तप्रमाणः, उत्कर्षतो देशोनोऽपार्धपुद्गलपरावर्तः। एकविंशतिबन्धस्य काले मात्रः, उत्कर्षतः षडावलिकाः। सप्तदशबन्धस्य कालो जघन्येनान्तमुहूर्तम्, उत्क धिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। तथाहि--त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अनुत्तरसु अनुत्तरसुरभवाच्च च्युत्वा यावदद्यापि देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते ता एवेति किञ्चित्समधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। त्रयोदशबन्धस्य नवबन प्रत्येकं जघन्येनान्तमुहूर्तम्, उत्कर्षतस्तु देशोना[1] पूर्वकोटी, यतस्त्रयोदशबन्धो देश बन्धस्तु सर्वविरतौ, देशविरतिः सर्वविरतिश्चोत्कर्षतोऽपि देशोनपूर्वकोटिप्रमाणा पुनर्बन्धस्थानेषु कालः प्रत्येकं जघन्येनैकं समयम्, उत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तम्, एकसम इति चेद् उच्यते—उपशमश्रेण्यां पञ्चविधं बन्धमारभ्य द्वितीये समये कश्चित् देवलोकं याति, देवलोके च गतः सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे च सप्तद बन्धकः। एवं चतुर्विधबन्धादिष्वपि भावनीयम् ॥ १४ ॥

[illegible] कृता कालनिरूपणा साम्प्रतमेतेषामेव बन्धस्थानानां मध्ये कस्मिन् [illegible] [illegible] ? इत्येतद् निरूप्यते----

द्, ते च प्रत्येकं क्रोधादिषु चतुर्षु प्राप्यन्ते इति षड् चतुर्भिर्गुणिता जाताश्चतुर्विं-शतिः । तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा अनन्तानुबन्धिनि वा प्रक्षिप्ते अष्टानामुदयः । अत्रापि प्रत्येकं एकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रः चतुर्विंशतयोऽत्र द्रष्टव्याः ।

ननु मिथ्यादृष्टेरवश्यमनन्तानुबन्धिनामुदयः सम्भवति ततः कथमिह मिथ्यादृष्टेः सप्तोदये अष्टोदये वा कस्मिंश्चिदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्रोक्तः ? उच्यते—इह सम्यग्दृष्टिना सता केन-चित्प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिताः, एतावतैव च स विश्रान्तो, न मिथ्यात्वादिक्षपणाय उद्युक्तवान् तथाविधसामग्र्यभावात् , ततः कालान्तरे मिथ्यात्वं गतः सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो-ऽनन्तानुबन्धिनो बध्नाति, ततो बन्धावलिका यावत् नाद्याप्यतिक्रामति तावत् तेषामुदयो नेति, बन्धावलिकायां त्वतिक्रान्तायां भवेदिति ।

ननु कथं बन्धावलिकातिक्रमेऽप्युदयः सम्भवति ? यतोऽबाधाकालक्षये सत्युदयः, अबा-धाकालश्चानन्तानुबन्धिनां जघन्येनान्तर्मुहूर्तम् , उत्कर्षेण तु चत्वारि वर्षसहस्राणीति, नैष दोषः, बन्धसमयादारभ्य तेषां तावत् सत्ता भवति, सत्तायां च सत्यां बन्धे प्रवर्तमाने पतद्ग्रहता, पतद्ग्रहतायां च शेषसमानजातीयप्रकृतिदलिकसंक्रमः, संक्रमाच्च दलिकं पतद्ग्रहप्रकृतिरूप-तया परिणमते, ततः संक्रमावलिकायामतीतायामुदयः, ततो बन्धावलिकायामतीतायामुदयो-ऽभिधीयमानो न विरुध्यते ।

तथा तस्मिन्नेव सप्तके भय-जुगुप्सयोः अथवा भया-ऽनन्तानुबन्धिनोः यद्वा जुगुप्सा-ऽनन्तानुबन्धिनोः प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः । अत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयो द्रष्टव्याः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भय-जुगुप्सा-ऽनन्तानुबन्धिषु प्रक्षिप्तेषु दशानामुदयः । अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्यया द्वाविंशति-र्थे अष्टौ चतुर्विंशतयः[3] ।

“नव एक्कारस” त्ति 'एकविंशतौ' एकविंशतिबन्धे सप्तादीनि नवपर्यन्तानि त्रीणि उदयस्था-नानि भवन्ति, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । तत्र सप्त अनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्याना-वरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधादिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युग-लयोरन्यतरद् युगलम् , एतासां सप्तप्रकृतीनामुदयः एकविंशतिबन्धे ध्रुवः । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्ग-कानां चतुर्विंशतिः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा क्षिप्तायामष्टानामुदयः । अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भय जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः । अत्र

---

१ सं० म० मुद्रि० "वलिकां यां" ॥ २ सं० १ त० म० ०मति ॥ ३ सं० १ सं० त० म० ०यः । एकविंशतिः ०५८० ॥

चैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्यया एकविंशतिबन्धे चतस्रश्चतुर्विंशतयः । अ
विंशतिबन्धः सासादने प्राप्यते । सासादनश्च द्विधा, श्रेणिगतोऽश्रेणिगतश्च । तत्रा
सासादनमाश्रित्यामूनि सप्तादीनि उदयस्थानान्यवगन्तव्यानि ।

यस्तु श्रेणिगतस्तत्रादेशद्वयम्–केचिदाहुः–
प्रतिपद्यते, तेषां मतेनानन्तानुबन्धिनामप्युपशमना भवति । एतच्च सूत्रेऽपि संवादि, तदुक्तं

अणदंसणपुंसित्थी, (आव० नि० गा० ११६) इत्यादि ।

श्रेणितश्च प्रतिपतन् कश्चित् सासादनभावमप्युपगच्छति, सास्वादनभावं चोपगते यथो
त्रीणि उदयस्थानानि भवन्ति ।

अपरे पुनराहुः–अनन्तानुबन्धिनः क्षपयित्वैवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते न तत्सत्कर्मा,
मतेन श्रेणितः प्रतिपतन् सासादनो न भवति, तस्यानन्तानुबन्ध्युदयासम्भवात्, अनन्ता
बन्ध्युदयसहितश्च सासादन इष्यते, "अणंताणुबंधुदयरहियस्स सासणभावो न संभवइ"
इति वचनात् ।

अथोच्यते–यदा मिथ्यात्वं प्रत्यभिमुखो न चाद्यापि मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तदानीमनन्ता
नुबन्ध्युदयरहितोऽपि सासादनस्तेषां मतेन भविष्यतीति किमत्रायुक्तम् ? तदयुक्तम्, एवं सति
तस्य षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवेयुः, न च भवन्ति, सूत्रे प्रतिषेधात्, तै
प्यनभ्युपगमाच्च, तस्मादनन्तानुबन्ध्युदयरहितः सासादनो न भवतीत्यवश्यं प्रत्येयम् ।

"छाई नव सत्तरसे" सप्तदशके बन्धस्थाने षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि
भवन्ति, तद्यथा–षट् सप्त अष्टौ नव । सप्तदशबन्धका हि द्वये सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरत
सम्यग्दृष्टयश्च । तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीणि उदयस्थानानि, तद्यथा–सप्त अष्ट नव । तत्रा
नन्तानुबन्धिवर्जाः त्रयोऽन्यतमे क्रोधादयः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्
युगलम्, सम्यग्मिथ्यात्वं चेति सप्तानां प्रकृतीनामुदयः सम्यग्मिथ्यादृष्टिषु ध्रुवः । अत्र प्राग्व
क्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । अस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टानामुदयः,
अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः, अत्रैका
चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां चतस्रचतुर्विंशतयः । अविरतसम्यग्
दृष्टीनां सप्तदशबन्धकानां चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा–षट् सप्त अष्टौ नव । तत्रौपशमिक
सम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां च अविरतसम्यग्दृष्टीनां अनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रो
दिकाः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति षण्णामुदयो ध्रुवः ।
अत्र प्रागिव भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः । अस्मिन्नेव षट्के भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्य

वा प्रक्षिप्ते सप्तानामुदयः । अत्र भयादिषु प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यत इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव षट्के भय-जुगुप्सयोर्भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोर्वा प्रक्षिप्तयोरष्टानामुदयः । अत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गकानां चतुर्विंशतिः प्राप्यत इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु च युगपत् प्रक्षिप्तेषु नवानामुदयः, अत्र चैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । अविरतसम्यग्दृष्टीनां सर्वाश्चतुर्विंशतयोऽष्टौ । सर्वसङ्ख्यया सप्त-दशके द्वादश चतुर्विंशतयः ।

"तेरे पंचाइ अट्ठ उ" त्रयोदशके बन्धस्थाने पञ्चादीन्यष्टपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—पञ्च षट् सप्त अष्टौ । तत्र प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतरौ द्वौ क्रोधादिकौ, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां पञ्चानां प्रकृती-नामुदयः त्रयोदशबन्धे ध्रुवः । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः । भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वानामन्यतमस्मिन् प्रक्षिप्ते षण्णामुदयः । अत्र भयादिभिस्त्रयो विकल्पाः, एकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गकानां चतुर्विंशतिरिति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भय-जुगुप्सयो-र्यद्वा भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्यद्वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोः प्रक्षिप्तयोः सप्तानामुदयः । अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु पुनर्युगपत् प्रक्षिप्तेष्वष्टानामुदयः, अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया त्रयोदशबन्धे अष्टौ चतुर्विंशतयः ॥१५॥

"चत्तारि" इत्यादि । नवबन्धकेषु प्रमत्तादिषु चतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि "उद-यंस" त्ति उदयरूपाणि स्थानानि, उदयस्थानानीत्यर्थः । तद्यथा—चत्वारः पञ्च षट् सप्त । तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिकः, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, द्वयोर्युगलयोरन्य-तरद् युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनामुदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु वा प्रमत्तादिषु ध्रुवः, अत्र चैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । अस्मिन्नेव चतुष्के भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदयः, अत्र भङ्गकानां तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भय-जुगुप्सयोर्यद्वा भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्यद्वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोः प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः, अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु तु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदयः, अत्र भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः । सर्वसङ्ख्यया नवबन्धके अष्टौ चतुर्विं-शतयः । "पंचविह" इत्यादि । पञ्चविधबन्धकेषु पुनरुदयो द्वयोः प्रकृत्योर्ज्ञातव्यः, प्रकृतिद्वया-त्मकमेकमुदयस्थानमिति भावः । तत्र चतुर्णां संज्वलनानामेकतमः क्रोधादिः, त्रयाणां वेदाना-मन्यतमो वेदः, अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भिश्च संज्वलनैर्द्वादश भङ्गाः ॥ १६ ॥

---

१ सं० १ त० 'पुगुप' ॥

इत्तो चउबंधाई, इक्केक्कुदया हवंति सव्वे वि।
बंधोवरमे वि तहा, उदयाभावे वि वा होज्जा ॥ १७॥

'इतः' पञ्चविधबन्धादनन्तरं चतुर्विधबन्धादयः सर्वेऽपि बन्धभेदाः 'एकैकोदयाः' एकैकप्रकृत्युदयाः 'भवन्ति' ज्ञातव्याः. तथाहि—चतुर्विधबन्धको भवति पुंवेदबन्धव्यवच्छेदे सति, पुंवेदस्य च युगपद् बन्ध-उदयौ व्यवच्छिद्येते ततश्चतुर्विधबन्धकाले एकोदय एव भवति, स च चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमः। अत्र चत्वारो भङ्गाः, यतः कोऽपि संज्वलनक्रोधेनोदयप्राप्तेन श्रेणिं प्रतिपद्यते, कोऽपि संज्वलनमानेन, कोऽपि संज्वलनमायया, कोऽपि संज्वलनलोभेनेति चत्वारो भङ्गाः। इह केचिच्चतुर्विधबन्धकस्य प्रथमकाले त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयमिच्छन्ति, ततस्तन्मतेन चतुर्विधबन्धकस्यापि प्रथमकाले द्वादश द्विकोदयभङ्गा लभ्यन्ते। तदुक्तं पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्—

चतुर्विधबन्धकस्याप्याद्यविभागे त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयं केचिदिच्छन्ति, अतश्चतुर्विधबन्धकस्यापि द्वादश द्विकोदयान् जानीहि। (पत्र २१६) इति।

तथा च सति तेषां मतेन सर्वसङ्ख्यया द्विकोदये चतुर्विंशतिर्भङ्गा अवसेयाः। संज्वलनक्रोधबन्धव्यवच्छेदे च सति त्रिविधो बन्धः, तत्राप्येक[1]विध एवोदयः। अत्र त्रयो भङ्गाः, नवरमत्र संज्वलनक्रोधवर्जानां त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यम्, यतः संज्वलनक्रोधोदये सत्यवश्यं संज्वलनक्रोधस्य बन्धेन भवितव्यम् "जे[4] वेयइ[5] ते बंधइ" इति वचनात्, तथा च सति चतुर्विध एव बन्धः प्रसक्तः। ततः संज्वलनक्रोधस्य बन्धे व्यवच्छिद्यमाने उदयोऽपि व्यवच्छिद्यत इति त्रिविधे[6] बन्धे एकविध उदयस्त्रयाणामन्यतम इति व[7]क्तव्यम्। संज्वलनमानबन्धव्यवच्छेदे द्विविधो बन्धः, तत्राप्येकविध एवोदयः, केवलं स माया-लोभयोरन्यतर इति वक्तव्यः, युक्तिः प्रागिवात्राप्यनुसरणीया, अत्र च द्वौ भङ्गौ। संज्वलनमायाबन्धव्यवच्छेदे एकस्य संज्वलनलोभस्य बन्धः तस्यैव चोदयः, अत्रैको भङ्गः। इह यद्यपि चतुरादिषु बन्धस्थानेषु संज्वलनानामुदयमधिकृत्य न कश्चिद् विशेषः, तथापि बन्धस्थानापेक्षया भेदोऽस्तीति भङ्गाः पृथगग्रे गणयिष्यन्ते। तथा 'बन्धोपरमेऽपि' बन्धाभावेऽपि मोहनीयस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके एकविध उदयो भवति, स च संज्वलनलोभस्यावसेयः, तद्गतसूक्ष्मकिट्टिवेदनात्। ततः परम् 'उदयाभावेऽपि' उदयेऽपगतेऽपि उपशान्तकषायमधिकृत्य मोहनीयं सद् भवति, एतच्च प्रसङ्गागतमिति कृत्वोक्तम्, अन्यथा बन्धस्थानोदयस्थानेषु परस्परं संवेधेन चिन्त्यमानेषु नेदं सत्कर्मताभिधानमुपयोगीति॥ १७॥

१ सं० छा० °तुर्विधो व° ॥ २ सं० छा० °सणका° ॥ ३ सं० त० ०क एकोद० । ४ यो वेदयति स बन्धयति ॥ ५ सं० सं० १ त० छा० ०इ से व० ॥ ६ सं० ०धबन्धे ॥ ७ सं० ०क्तव्यः ॥

सम्प्रति दशादिषु एकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु यावन्तो भङ्गाः सम्भवन्ति तावतो दिदिक्षुराह—

एक्कग छक्केक्कारस, दस सत्त चउक्क एक्कगा चेव।
एए चउवीसगया, चउवीस दुगेक्कमिक्कारा ॥ १८ ॥

इह दशादीन्युदयस्थानान्यधिकृत्य यथासङ्ख्यं सङ्ख्यापदयोजना कर्तव्या, सा चैवम्-दशोदये एका चतुर्विंशतिः नवोदये षट्, तद्यथा--द्वाविंशतिबन्धे तिस्रः, एकविंशतिबन्धे मिश्राविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे च प्रत्येकमेकैका। अष्टोदये एकादश—तत्र द्वाविंशतिबन्धे अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः, एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकं द्वे, त्रयोदशबन्धे चैका। तथा सप्तोदये दश—तत्र द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे प्रत्येकमेकैका, अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः, नवकबन्धे एका। तथा षडुदये सप्त—तत्राविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे एका, त्रयोदशबन्धे नवकबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः। तथा पञ्चकोदये चतस्रः—तत्र त्रयोदशबन्धे एका, नवबन्धे तिस्रः। चतुष्कोदये एका चतुर्विंशतिः। "एए चउवीसगय" त्ति 'एते' अनन्तरोक्ता एकादिकाः सङ्ख्याविशेषाः 'चतुर्विंशतिगताः' चतुर्विंशत्यभिधायका एता अनन्तरोक्ताश्चतुर्विंशतयो ज्ञातव्या इत्यर्थः। ताश्च सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशत्। तथा 'चउवीस दुगे" त्ति द्विकोदये चतुर्विंशतिरेका भङ्गकानाम्, एतच्च मतान्तरेणोक्तम्, अन्यथा स्वमते द्वादशैव भङ्गा वेदितव्याः। "इक्कमिक्कार" त्ति एकोदये एकादश भङ्गाः। ते चैवम्-चतुर्विधबन्धे चत्वारः, त्रिविधबन्धे त्रयः, द्विविधबन्धे द्वौ, एकविधबन्धे एकः, बन्धाभावे चैक इति ॥ १८ ॥

सम्प्रत्येतेषामेव भङ्गानां[1] विशिष्टतरसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

नवपंचाणउइसएहुदयविगप्पेहिँ मोहिया जीवा।

इह दशादिषु द्विकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु उदयस्थानभङ्गकानामेकचत्वारिंशत् चतुर्विंशतयो लब्धाः, तत एकचत्वारिंशत् चतुर्विंशत्या गुण्यते, गुणितायां च सत्यां जातानि नव शतानि चतुरशीत्यधिकानि ९८४। ततः तत्रैकोदयभङ्गा एकादश प्रक्षिप्यन्ते, तेषु च प्रक्षिप्तेषु नव शतानि पञ्चनवत्यधिकानि ९९५ भवन्ति। एतावद्भिरुदयस्थानविकल्पैर्यथायोगं सर्वे संसारिणो जीवाः 'मोहिताः' मोहमापादिता[2] विज्ञेयाः।

सम्प्रति पदसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

अउणत्तरिएगुत्तरिपयविंदसएहिँ विन्नेया ॥ १९ ॥

---

१ सं० भङ्गकाँ० ॥ २ सं १त० ०ता वेदितव्याः ॥

म्यग्दृष्टीनामेव । तथाहि—कश्चिद् मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानो वेदकसम्यग्दृष्टिः 'याम्युद्यतस्तस्यानन्तानुबन्धिषु मिथ्यात्वे च क्षपिते सति त्रयोविंशतिः, तस्यैव च सम्य- ात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः । स च द्वाविंशतिसत्कर्मा सम्यक्त्वं क्षपयन् तच्चरमग्रासे वर्त- कश्चित् पूर्वबद्धायुष्कः कालमपि करोति, कालं च कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां पद्यते । तदुक्तम्—

[2]पट्ठवगो उ मणूसो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु ।

ाविंशतिश्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते । एकविंशतिस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामेव, यतः ये क्षायिकसम्यग्दृष्टयः, सप्तके च क्षीणे सत्तायामेकविंशतिरिति । एवमष्टोदयेऽपि ष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां चोक्तरूपाण्यन्यू[3]नानतिरिक्तानि सत्तास्थानानि भावनीयानि । एवं येऽपि, नवरं नवोदयोऽविरतानां वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव सम्भवतीति कृत्वा तत्र चत्वारि यानानि वाच्यानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिश्च । च प्रागिवावगन्तव्यानि ।

"तेरनवबंधगेसु पंचेव [4]ठाणाइं" त्रयोदशबन्धकेषु नवबन्धकेषु च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्ता- ानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । तत्र शबन्धका देशविरताः, ते च द्विधा—तिर्यञ्चो मनुष्याश्च । तत्र ये तिर्यञ्चस्तेषां चतुर्ष्वप्यु- ानेषु द्वे एव सत्तास्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिरौपशमिक- दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले, तथा- दानीमन्तरकरणाद्धायां वर्तमान औपशमिकसम्यग्दृष्टिः कश्चिद् देशविरतिमपि प्रति- , कश्चिद् मनुष्यः पुनः सर्वविरतिमपि । तदुक्तं शतकबृहच्चूर्णौ—

[5]उवसमसम्मद्दिट्ठी अंतरकरणे ठिओ कोइ देसविरइं कोइ पमत्तापमत्तभावं पि गच्छइ, सासायणो पुण न किमवि लहइ । इति ।

वेदकसम्यग्दृष्टीनां त्वष्टाविंशतिः सुप्रतीता । चतुर्विंशतिः पुनरनन्तानुबन्धिषु विसंयोजितेषु सम्यग्दृष्टीनां वेदितव्या । शेषाणि तु सर्वाण्यपि त्रयोविंशत्यादीनि सत्तास्थानानि तिरश्चां म्भ[6]वन्ति, तानि हि क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयतः प्राप्यन्ते, न च तिर्यञ्चः क्षायिकसम्यक्त्व- दयन्ति, किन्तु मनुष्या एव ।

---

१ सं० त० ०याम्भ्यु० ॥ २ प्रस्थापकस्तुमनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥ ३ सं० छा० नातिरि० ॥ ४ सं० १ त० म० छा० ०णाणि" ॥ ५ उपशमसम्यग्दृष्टिरन्तरकरणे स्थितः कोऽपि रतिं कोऽपि प्रमत्ताप्रमत्तभावमपि गच्छति, सासादनः पुनर्न किमपि लभते ॥ ६ सं० १ त० १० ०वन्तीति ॥

च, ततो दर्शनत्रिकस्यापि सत्कर्मतया प्राप्यमाणत्वाद् एकविंशतिबन्धे त्रिष्वप्युदयस्थानेषु त्रिंशतिरेकं सत्तास्थानं भवति ।

"सत्तरसे छ च्चेव" सप्तदशबन्धे षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा--अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । सप्तदशबन्धो हि द्वयानां भवति, तद्यथा सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां च । तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा सप्त अष्टौ नव । अविरतसम्यग्दृष्टीनां चत्वारि, तद्यथा-षट् सप्त अष्टौ नव । तत्र षडुदये ऽविरतानामौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वा प्राप्यते । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टेः द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा-अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिः प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले उपश[1]मश्रेणिप्रतिपाते तु उपशान्तानन्तानुबन्धिनामष्टाविंशतिः, उद्वलितानन्तानुबन्धिनां तु चतुर्विंशतिः । क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां त्वेकविंशतिरेव, क्षायिकं हि सम्यक्त्वं सप्तकक्षये भवति, सप्तकक्षये च जन्तुरेकविंशतिसत्कर्मेति । सर्वसङ्ख्यया षडुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्चेति । सप्तोदये मिश्रदृष्टीनां त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिश्च । तत्र योऽष्टाविंशतिसत्कर्मा सन् सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्याष्टाविंशतिः । येन पुनर्मिथ्यादृष्टिना सता प्रथमं सम्यक्त्वमुद्वलितं सम्यग्मिथ्यात्वं न नाद्याप्युद्वलितुमारभ्यते अत्रान्तरे परिणामवशेन मिथ्यात्वाद् विनिवृत्य सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य सप्तविंशतिः । यः पुनः पूर्वं सम्यग्दृष्टिः सन् अनन्तानुबन्धिनो विसंयोज्य पश्चात् परिणामवशतः सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य चतुर्विंशतिः, सा च चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते, यतश्चतुर्गतिका अपि सम्यग्दृष्टयोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजयन्ति । तदुक्तं कर्मप्रकृत्यां—

[2]चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विजोयंति ।
करणेहिं तीहिं सहिया, णंतरकरणं उवसमो वा ॥ (गा० ३४३)

अत्र "तिन्नि वि" त्ति अविरता देशविरताः सर्वविरता वा यथायोगमिति ।

अनन्तानुबन्धिविसंयोजनानन्तरं च केचित् परिणामवशतः सम्यग्मिथ्यात्वमपि प्रतिपद्यन्ते, ततश्चतसृष्वपि गतिषु सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां चतुर्विंशतिः सम्भवति । अविरतसम्यग्दृष्टीनां सप्तोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा--अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा । चतुर्विंशतिरप्येषाम्, नवरमनन्तानुबन्धिविसंयोजनानन्तरं सा अवगन्तव्या । त्रयोविंशतिर्द्वाविंशति

१ स० १ तं० ०मश्रेण्यां नूप० ॥ २ चतुर्गतिकाः पर्याप्ताः त्रयोऽपि संयोजनान् वियोजयन्ति करणैस्त्रिभिः सहिता नान्तरकरणं उपशमो वा ॥

नपुंसकवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते, तदनन्तरं च
षट्के युगपत् क्षपयति; यदि पुनः स्त्रीवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते, ततः प्रथ-
दं क्षपयति, ततोऽन्तमुहूर्तेन स्त्रीवेदम्, स्त्रीवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्ध-
ततस्तदनन्तरं पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति, यावच्च न क्षीयते ताव-
तुर्विधबन्धे वेदोदयरहितस्य एकोदये वर्तमानस्य एकादशकं सत्तास्थानमवाप्यते ।
ादिषट्कयोस्तु युगपत् क्षीणयोश्चतस्रः प्रकृतयः सत्यः । एवं च स्त्रीवेदेन नपुं-
क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य पञ्चप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं नावाप्यते । यस्तु पुरुषवेदेन
तिपद्यते तस्य षण्नोकषायक्षयसमकालं पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदो भवति, तत-
धबन्धकाले एकादशरूपं सत्तास्थानं न प्राप्यते, किन्तु पञ्चप्रकृत्यात्मकम्, ताश्च
ोनावलिकाद्विकं यावत् सत्यो वेदितव्याः । ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः, ता अप्य-
लं यावत् सत्यः[1] प्रतिपत्तव्याः ।

सु जाण पंचेव पत्तेयं पत्तेयं" शेषेषु त्रिविधद्विविधैकविधेषु बन्धेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च
ने । तत्र त्रिविधबन्धे अमूनि—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः चतस्रः तिस्रः ।
त्रीणि उपशमश्रेणिमधिकृत्य वेदितव्यानि । शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्—
स्य प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्ध-उदय-उदीरणा युगपद् व्यवच्छेदमायान्ति,
ु च तासु बन्धस्त्रिविधो जातः, संज्वलनक्रोधस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमात्र-
मयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं मुक्त्वा अन्यत् सर्वं क्षीणम्, तदपि च सत्
वलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमुपयास्यति, यावच्च न याति तावच्चतस्रः प्रकृतयः
सत्यः, क्षीणे तु तस्मिंस्तिस्रः, ताश्चान्तमुहूर्तं कालं यावदवगन्तव्याः । द्विविधबन्धे
ञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः तिस्रः द्वे च ।
ीणि [2]प्रागिव । शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्—संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितौ
त्रशेषायां संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणा युगपद् व्यवच्छिद्यन्ते, तासु च
सु बन्धो द्विविधो भवति, संज्वलनमानस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं
वलिकाद्विकबद्धं च दलि[3]कं सत्, अन्यत् सर्वं क्षीणम्, तदपि च सत् समय-
काद्विकमात्रेण कालेन क्षयमापत्स्यते, यावच्च [4]नापद्यते तावत् तिस्रः सत्यः, क्षीणे तु

छा० "०त्योऽवगन्तव्याः । "से० । सं० १ त० त्यः । "से० ॥
म० प्रागिवोपशमश्रेण्याम् । शे० ॥ ३ सं० १ त० म० ०कं मुक्त्वा अ० ॥ ४ छा०
ते ता० ॥

अथ मनुष्याः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य यदा तिर्यक्षूत्पद्यन्ते तदा तिरश्चोऽप्येकविंशतिः प्राप्यत एव, तत् कथमुच्यते शेषाणि त्रयोविंशत्यादीनि सर्वाण्यपि न सम्भवन्ति ? इति तद् अयुक्तम्, यतः क्षायिकसम्यग्दृष्टिस्तिर्यक्षु न सङ्ख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पद्यते, किन्त्वसङ्ख्येयवर्षायुष्केषु, न च तत्र देशविरतिः, तदभावाच्च न त्रयोदशबन्धकत्वम्। [1]अत्र त्रयोदशबन्धे सत्तास्थानानि चिन्त्यमानानि वर्तन्ते तत एकविंशतिरपि त्रयोदशबन्धे तिर्यक्षु न प्राप्यते। तदुक्तं चूर्णौ—

[2]एगवीसा तिरिक्खेसु संजयाऽसंजएसु न संभवइ। कहं ? भण्णइ-संखेज्जवासाउएसु तिरिक्खेसु खाइगसम्मद्दिट्ठी न उववज्जइ, असंखेज्जवासाउएसु उववज्जेज्जा, तस्स देसविरई नत्थि। इति।

ये च मनुष्या देशविरतास्तेषां पञ्चकोदये त्रीणि सत्तास्थानानि। तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च। षट्कोदये सप्तोदये च प्रत्येकं पञ्चापि सत्तास्थानानि। अष्टकोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि। तानि चाविरतसम्यग्दृष्ट्युक्तभावनानुसारेण भावनीयानि। एवं नवबन्धकानामपि प्रमत्ता-ऽप्रमत्तानां प्रत्येकं चतुष्कोदये त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च। पञ्चकोदये षट्कोदये च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि। सप्तोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि सत्तास्थानानि वाच्यानि ॥२१॥

"पंचविहचउविहेसुं छ छक्क" त्ति पञ्चविधे चतुर्विधे च बन्धे प्रत्येकं षट् षट् सत्तास्थानानि। तत्र पञ्चविधे बन्धे अमूनि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश च। तत्राष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्याम्। एकविंशतिरुपशमश्रेण्यां क्षायिकसम्यग्दृष्टेः। क्षपकश्रेण्यां पुनरष्टौ कषाया यावद् न क्षीयन्ते तावदेकविंशतिः। अष्टसु कषायेषु क्षीणेषु पुनस्त्रयोदश। ततो नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश। ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश। पञ्चादीनि तु सत्तास्थानानि पञ्चविधबन्धे न प्राप्यन्ते, यतः पञ्चविधबन्धः पुरुषवेदे बध्यमाने भवति, यावच्च पुरुषवेदस्य बन्धस्तावत् षड् नोकषायाः सन्त एवेति। चतुर्विधबन्धे पुनरमूनि षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशति एकविंशतिः एकादश पञ्च चतस्रः। तत्राष्टाविंशति-चतुर्विंशति-एकविंशतय उपशमश्रेण्याम्। एकादश पुनरेवं प्राप्यन्ते—इह कश्चिद् नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नः, स च स्त्रीवेद-नपुंसकवेदौ युगपत्

१ सं० मुद्रि० अथ च ॥ २ एकविंशतिः तिर्यक्षु संयतासंयतेषु न सम्भवति। कथम्? भण्यते— संख्येयवर्षायुष्केषु तिर्यक्षु क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्न उपपद्यते, असंख्येयवर्षायुष्केषु उपपद्येत, तस्य देशविरतिर्नास्ति ॥

र्शौ अगुरुलघु उपघातनाम स्थावरनाम सूक्ष्म-बादरयोरेकतरम् अपर्याप्तकनाम प्रत्येक-साधा-
रणयोरेकतरम् अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अयशःकीर्तिनाम निर्माणनाम।
एतासां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्, एतच्चापर्याप्तकप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृ-
ष्टेरवसेयम्। अत्र भङ्गाश्चत्वारः, तथाहि–बादरनाम्नि बध्यमाने एका त्रयोविंशतिः प्रत्येकनाम्ना
सह प्राप्यते, द्वितीया साधारणनाम्ना, एवं सूक्ष्मनाम्न्यपि बध्यमाने द्वे त्रयोविंशती, सर्वसङ्ख्यया
चत्वारः। एषैव त्रयोविंशतिः पराघात-उच्छ्वाससहिता पञ्चविंशतिः। नवरमेवमभिलपनीया––
तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्ट-
यम् अगुरुलघु उपघातनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम स्थावरनाम बादर-सूक्ष्मयोरेकतरं पर्याप्तकं
प्रत्येक-साधारणयोरेकतरं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभाऽऽशुभयोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्यो-
रेकतरं दुर्भगम् अनादेयं निर्माणमिति। एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्
तच्च पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम्। अत्र भङ्गा विंशतिः–तत्र बादर-
पर्याप्त-प्रत्येकेषु बध्यमानेषु स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा--ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः,
तथाहि—बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभेषु बध्यमानेषु यशःकीर्त्या सह एकः, द्वितीयोऽयशः-
कीर्त्या, एतौ च द्वौ भङ्गौ शुभपदेन लब्धौ, एवमशुभपदेनापि द्वौ भङ्गौ लभ्येते ततो जाताश्च-
त्वारः, एते चत्वारः स्थिरपदेन लब्धाः, एवमस्थिरपदेनापि चत्वारो लभ्यन्ते ततो जाता अष्टौ।
एवं पर्याप्त-बादर-साधारणेषु बध्यमानेषु स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः,
यतः साधारणेन सह यशःकीर्तिबन्धो न भवति "[2]नो सुहुमतिगेण जसं" इति वचनात्,
ततस्तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। सूक्ष्म-पर्याप्तनाम्नोर्बध्यमानयोः प्रत्येक-साधारण-
स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-शुभा-ऽयशःकीर्तिपदैरष्टौ, सूक्ष्मेणापि सह यशःकीर्तेर्बन्धाभावादत्रापि तदा-
श्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। तदेवं सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिबन्धे विंशतिर्भङ्गाः। एषैव पञ्च-
विंशतिरातप-उद्योतान्यतरसहिता षड्विंशतिः, नवरमेवमभिलपनीया–तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी
एकेन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम्
उपघातम् उच्छ्वासनाम स्थावरनाम आतप-उद्योतयोरेकतरं बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम
स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं
निर्माणमिति। एतासां च षड्विंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्। एतच्च पर्याप्तकै-
केन्द्रियप्रायोग्यमातप-उद्यो[3]तान्यतरसहितं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम्। अत्र भङ्गाः षोडश, ते

---

१ केषुचिदादर्शेषु ०कतरा केषुचिद् ०कतरं एवमग्रेऽपि॥ २ नो सूक्ष्मत्रिकेण यशः॥
३ सं० १ त० ०ताभ्यां स०॥

तस्मिन् क्षीणे अन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् सत्ता। एकोनविंशतौ पुनः पञ्च सत्तास्थानान्यमूनि,
तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः द्वे एका च। सत्तास्थानानि त्रीणि प्राग्विनोपशम-
श्रेण्याम्। शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्—संज्वलनमायायाः प्रथमस्थितावावलिकाशे-
बन्ध-उदय-उदीरणा युगपद् व्यवच्छेदमुपयान्ति, व्यवच्छिन्नासु च तासु बन्ध एकवि-
भवति, संज्वलनमायायाश्च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयन्यूनावलिकाद्विकब-
सदस्ति, अन्यत् समस्तं क्षीणम्, तदपि च सत् समयन्यूनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन
मुपगमिष्यति, यावच्च न क्षयमुपयाति तावद् द्वे सती, क्षीणे तु तस्मिन्नेका प्रकृतिः संज्व-
लोभरूपा, सती।

"चत्तारि य बंधवोच्छेए" बन्धव्यवच्छेदे' इति बन्धाभावे सूक्ष्मसम्परायगुण-
चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एका च। तत्रा-
त्रीणि प्राग्विनोपशमश्रेण्याम्। एका तु संज्वलनलोभरूपा प्रकृतिः क्षपकश्रेण्याम्॥ २२॥

तदेवं कृता संवेधचिन्ता। सम्प्रत्युपसंहारमाह—

दसनवपन्नरसाइं, बंधोदयसन्तपयडिठाणाइं।
भणियाइँ मोहणिज्जे, इत्तो नामं परं वोच्छं॥ २३॥

बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानि यथासङ्ख्यं दश-नव-पञ्चदश-सङ्ख्यानि प्रत्येकं संवेधद्वा-
च मोहनीयकर्मणि भणितानि। 'इतः परं' अत ऊर्ध्वं 'नाम वक्ष्ये' नाम्नो बन्धादिस्था-
वक्ष्ये॥ २३॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थाननिरूपणार्थमाह—

[3]तेवीस पण्णवीसा, छव्वीसा अट्ठवीस[4] गुणतीसा।
तीसेगतीसमेक्कं, बंधट्ठाणाणि नामस्स॥ २४॥

नाम्नोऽष्टौ बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः
नत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एका च। अमूनि च तिर्यग्मनुष्यादिगतिप्रायोग्यतया अनेक-
राणि ततस्तथैवोपदर्श्यन्ते। तत्र तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बध्नतः सामान्येन पञ्च बन्धस्थानानि, तद्य-
त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्राप्येकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्न-
स्त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः। तत्र त्रयोविंशतिरि-
तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्ण-रस-ग-

---

१ सं० त० म० सत्यौ,॥ २ ० म० ०णा मोहनीयकर्मणि सर्वसंख्यया म०॥ ३ गाथेयं सप्तति-भा-
अष्टपञ्चाशत्तमी॥ ४ सं० १ छा० ०स उगुनी०॥

चातप-उद्योत[illegible], आतप-उद्योतक-
च सह सूक्ष्म-साधारणापर्याप्त[illegible] न [illegible] न प्राप्यन्ते । एकेन्द्रिय-
सर्वसङ्ख्या भङ्गाश्चत्वारिंशत् । तदुक्तम्—

[1]चत्तारि वीस सोलस, भंगा एगिंदियाण चत्ताला ।

द्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो बन्धस्थानानि त्रीणि, तद्यथा—पञ्चविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्, तत्र तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिः औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातनाम त्रसनाम बादरनाम अपर्याप्तनाम प्रत्येकनाम अस्थिरम् अशुभं दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्तिः निर्माणमिति । एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्, तच्चापर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम्। अपर्याप्तकेन च सह परावर्तमानप्रकृतयोऽशुभा एव बन्धमायान्तीति[2] कृत्वा अत्रैक एव भङ्गः । एषैव पञ्चविंशतिः पराघात-उच्छ्वास-ऽप्रशस्तविहायोगति-पर्याप्तक-दुःस्वरसहिता अपर्याप्तकरहिता एकोनत्रिंशद् भवति, नवरमेवमेषा वक्तव्या—तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिः औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातम् उच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं दुःस्वरं दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम्, तच्च पर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेः प्रत्येतव्यम् । अत्र स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः । सैव एकोनत्रिंशद् उद्योतसहिता त्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया सप्तदश । एवं त्रीन्द्रियप्रायोग्यं चतुरिन्द्रियप्रायोग्यं च बध्नतो मिथ्यादृष्टेस्त्रीणि त्रीणि बन्धस्थानानि वाच्यानि, नवरं त्रीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियजातिरभिलपनीया चतुरिन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियजातिः, भङ्गाश्च प्रत्येकं सप्तदश सप्तदश, सर्वसङ्ख्यया एकपञ्चाशत् । उक्तं च—

[3]एगऽट्ठ अट्ठ विगलिंदियाण इगवण्ण तिण्हं पि ।

तिर्यग्गतिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्त्रीणि बन्धस्थानानि । तद्यथा—पञ्चविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र पञ्चविंशतिः द्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नत[4] इव वेदितव्या, नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने पञ्चेन्द्रियजातिर्वक्तव्या, तत्र चैको भङ्गः । एकोनत्रिंशत् पुनरियम्—तिर्यग्गति-तिर्यगानु-

---

१ चत्वारि विंशतिः षोडश भङ्गा एकेन्द्रियाणां चत्वारिंशत् ॥

२ सं सं० १ त० ०न्तीति, अत्रै० ॥ ३ एकोऽष्टौ अष्टौ विकलेन्द्रियाणां एकपञ्चाशत् त्रयाणामपि ॥ ४ मुद्रि० ०त एव वे० ॥

विहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभ-
रेकतरं सुभगं सुस्वरम् आदेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । अस्यां च
त्रिंशति त्रिप्रकारायामपि सामान्येन षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः प्रशस्ता-ऽप्रशस्तवि-
योगतिभ्यां स्थिराऽस्थिराभ्यां शुभा-ऽशुभाभ्यां सुभग-दुर्भगाभ्यां सुस्वर-दुःस्वराभ्यां आदे-
ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यामष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्याः ४६०८ भङ्गा व-
तव्याः । यैव तृतीया एकोनत्रिंशदुक्ता सैव तीर्थकरसहिता त्रिंशत् । अत्र च स्थिरा-ऽस्थि-
शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः । सर्वसङ्ख्यया मनुष्यगतिप्रायोग्यबन्धस्थाने
भङ्गाः षट्चत्वारिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि ४६१७ । उक्तं च—

> पणुवीसयम्मि एक्को, छायालसया अडुत्तर गुतीसे ।
>
> मणुतीसेऽट्ठ उ सव्वे, छायालसया उ सत्तरसा ॥

तथा देवगतिप्रायोग्यं बध्नतश्चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिं-
त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्राष्टाविंशतिरियम्—देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियं वैक्रि-
याङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम् उपघात-
उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिराऽस्थि-
योरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभगं सुस्वरम् आदेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्मा-
णमिति । एतासां समुदाय एकं बन्धस्थानम् । एतच्च मिथ्यादृष्टि-सासादन-मिश्रा-ऽविरतसम्य-
ग्दृष्टि-देशविरत-सर्वविरतानां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामवसेयम् । अत्र स्थिराऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-
यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः । एषैवाष्टाविंशतिस्तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशद् भवति,
अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः । नवरमेनां देवगतिप्रायोग्यां बध्नन्तोऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो वेदितव्याः ।
त्रिंशत् पुनरियम्—देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारक-
आहारकाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातं परा-
घातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम शुभनाम
स्थिरनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्तिनाम निर्माणनामेति । एतासां त्रिंश-
त्प्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् । एतच्च देवगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्यापूर्वकरणस्य
वा वेदितव्यम् । अत्र सर्वाण्यपि शुभान्येव कर्माणि बन्धमायान्तीति कृत्वा एक एव भङ्गः ।
एषैव त्रिंशत् तीर्थकरसहिता एकत्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया देवगति-

---

[1] [illegible] षट्चत्वारिंशच्छतानि अष्टोत्तराणि एकोनत्रिंशति । मनुष्यत्रिंशति [illegible] [illegible] षट्चत्वारिंशच्छतानि तु सप्तदश ॥ [2] मुद्रि० छा० एतानां सर्वविरतानां । [3] [illegible] [illegible] [4] सं० सं० १ त० [illegible] ५६ प० ।

थानेषु भङ्गा अष्टादश। तदुक्तम्—

[1]अट्ठऽट्ठ एक्क एक्कग, भंगा अट्ठार देव[2]जोगेसु।

तथा नरकगतिप्रायोग्यं बध्नत एकं बन्धस्थानं अष्टाविंशतिः, सा चेयम्-नरकगतिः नरकानु-पूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं तैजस-कार्मणे हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयम् अगुरु-लघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम अस्थिरम् अशुभं दुर्भगं दुःस्वरम् अनादेयम् अयशःकीर्तिः निर्माणमिति। एतासा-मष्टाविंशतिप्रकृतीनामेकं बन्धस्थानम् एतच्च मिथ्यादृष्टेरवसेयम्। अत्र सर्वाण्यप्यशुभान्येव कर्माणीत्येक एव भङ्गः। एकं तु बन्धस्थानं यशःकीर्तिलक्षणम्, तच्च देवगतिप्रायोग्यबन्धे व्यवच्छिन्ने अपूर्वकरणादीनां त्रयाणामवगन्तव्यम्॥ २४॥

सम्प्रति कस्मिन् बन्धस्थाने कति भङ्गाः सर्वसङ्ख्यया प्राप्यन्ते? इति चिन्तायां तन्नि-रूपणार्थमाह—

[3]चउ पणवीसा सोलस, नव बाण[4]उईसया य अडयाला।
एयालुत्तर छायालसया एक्केक्क बंधविही॥ २५॥

त्रयोविंशत्यादिषु बन्धस्थानेषु यथासङ्ख्यं 'चतुरादिसङ्ख्या बन्धविधयः' बन्धप्रकाराः-बन्ध-भङ्गा वेदितव्याः। तत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थाने भङ्गाश्चत्वारः, ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽव-सेयाः, अन्यत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात्। पञ्चविंशतिबन्धस्थाने पञ्चविंशतिर्भङ्गाः, तत्रैकेन्द्रियप्रायोग्यां पञ्चविंशतिं ब[5]ध्नतो विंशतिः, अपर्याप्तकद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यां च बध्नतामेकैक इति सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिः। षड्विंशतिबन्धस्थाने भङ्गाः षोडश, ते चैकेन्द्रियप्रायो[6]ग्यमेव बध्नतोऽवसेयाः, अन्यत्र षड्विंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात्। अष्टाविंशतिबन्धस्थाने भङ्गा नव-तत्र देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतोऽष्टौ, नरकगतिप्रा-योग्यां तु बध्नत ए[7]क इति। एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने भङ्गा अष्टचत्वारिंशदधिकानि द्विनवति-शतानि ९२४८-तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छ-तानि ४६०८, मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियप्रायोग्यां देवगतिप्रायोग्यां च तीर्थकरसहितां बध्नतां प्रत्येकमष्टावष्टाविति।

---

१ अष्टावष्टावेक एकको भङ्गा अष्टादश देवयोग्येषु॥ २ सं० १ त० ०वजुग्गे०। सं० म० छा० ०वजोग्गे०॥ ३ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये अशीतितमी॥ ४ सं० सं० १ छा० ०उइयस०॥ ५ मुद्रि० ०ध्नतो-मिथ्यादृष्टेर्विंश०॥ ६ छा० मुद्रि० ०ग्यामेव॥ ७ मुद्रि० ०क एवेति॥

त्रिंशति बन्धस्थाने भङ्गा एकचत्वारिंशदधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६४१-तत्र। चपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, द्वि-त्रि-चतुरि यप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां च बध्नतां प्रत्येकमष्टावष्टौ, देवगतिप्रायोग्यामाहारकसहितां त्रिं बध्नन एक इति। तथा एकत्रिंशति बन्धस्थाने एकः। एकविधे चैकः। सर्वसङ्ख्यया सर्वेषु स्थानेषु भङ्गास्त्रयोदश सहस्राणि नव शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि १३९४५ इति॥ ते

तदेवमुक्तानि सप्रभेदं बन्धस्थानानि। सम्प्रत्युदयस्थानप्रतिपादनार्थमाह-

[1]वीसिगवीसा चउवीसगाइ[2] एगाहिया उ इगतीसा।
उदयट्ठाणाणि भवे, नव अट्ठ य हुंति नामस्स ॥ २६॥

'नाम्नः' नामकर्मण उदयस्थानानि द्वादश। तद्यथा--विंशतिः एकविंशतिः चतुर्विंशत्या दयः 'एकाधिकाः' एकैकाधिकास्तावद् वक्तव्या यावदेकत्रिंशत्, तद्यथा-चतुर्विंशतिः पञ्च विंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्, तथा नव अष्ट च। एतानि चैकेन्द्रियाद्यपेक्षया नानाप्रकाराणीति तानाश्रित्य सप्रपञ्चमुपदर्श्यन्ते-

तत्रैकेन्द्रियाणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा---एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विं शतिः सप्तविंशतिश्च। तत्र तैजस-कार्मणे अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शा निर्माणमित्येता द्वादश प्रकृतय उदयमाश्रित्य ध्रुवाः। एताः तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी स्थावरनाम एकेन्द्रियजातिः बादर-सूक्ष्मयोरेकतरं पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति अयशःकीर्त्योरेकतरा इत्येतन्नवप्रकृतिसहिता एकविंशतिः। अत्र भङ्गाः पञ्च-बादर-सूक्ष्मयोः प्रत्येकं पर्याप्ता-ऽपर्याप्ताभ्यामयशःकीर्त्या सह चत्वारः, बादर-पर्याप्त-यशःकीर्तिभिः सह एक इति। सूक्ष्मा-ऽपर्याप्ताभ्यां सह यशःकीर्तेरुदयो न भ[3]वतीति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। एषा चैकविंशतिरेकेन्द्रियस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्या। ततः शरीरस्थस्यौदारिकशरीरं हुण्ड संस्थानम् उपघातं प्रत्येक-साधारणयोरेकतरमिति चतस्रः प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति। अत्र च भङ्गा दश, तद्यथा-बादरपर्याप्तस्य प्रत्येक-साधारण यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः, अपर्याप्तबादरस्य प्रत्येक-साधारणाभ्यामयशःकीर्त्या सह द्वौ, सूक्ष्मस्य पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-प्रत्येक-साधारणैरयशःकीर्त्या सह चत्वार इति दश। बादरवायुकायि कस्य वैक्रियं कुर्वत औदारिकस्थाने वैक्रियं वक्तव्यम्, ततश्च तस्यापि चतुर्विंशतिरुदये प्राप्यते, केवलमिह बादर-पर्याप्त-प्रत्येका-ऽयशःकीर्तिपदैरेक एव भङ्गः। तेजस्कायिक-वायुकायिकयोः

१ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये अष्टाशीतितमी॥ २ सप्ततिकाभाष्ये तु-०इ इगतीसगंत एगहिया॥
३ सं० सं० १ त० ०वतीति तदा०॥

...ारण-यशःकीर्त्युदयो न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतौ ...ादश भङ्गाः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिः । अत्र भङ्गाः षट्, ...था—बादरस्य प्रत्येक-साधारण-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः, सूक्ष्मस्य प्रत्येक-साधा...भ्यामयशःकीर्त्या सह द्वौ । तथा बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतः शरीरपर्याप्त्या पर्या...य (ग्रन्थाग्रम् १२३८) पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिर्भवति, अत्र च प्राग्वदेक एव भङ्गः । ...सङ्ख्यया पञ्चविंशतौ सप्त भङ्गाः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे [1]प्रक्षिप्ते षड्वि...तेः, अत्रापि भङ्गाः प्रागिव षट् । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते आतप-...ोतयोरन्यतरस्मिन्नुदिते षड्विंशतिर्भवति । अत्रापि भङ्गाः षट्, तद्यथा—बादरस्योद्योतेन सहि-...य प्रत्येक-साधारण-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः; आतपसहितस्य च प्रत्येक-यशःकीर्ति-...यशःकीर्तिपदैर्द्वौ । बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे ...क्षिप्ते प्रागुक्ता पञ्चविंशतिः षड्विंशतिर्भवति, तत्र च प्राग्वदेक एव भङ्गः । तेजस्कायिक-वायुका-...कयोरातप-उद्योत-यशःकीर्तीनामुदयाभावात् तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । सर्वसङ्ख्यया ...ड्विंशतौ त्रयोदश भङ्गाः । तथा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां षड्विंशतौ आतप-...ोतयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते सति सप्तविंशतिर्भवति, अत्र भङ्गाः षड्, ये प्रागातप-उद्योतान्य-...रसहितायां षड्विंशतौ प्रतिपादिताः । सर्वसङ्ख्यया चैकेन्द्रियाणां भङ्गाः द्विचत्वारिंशत् ४२ ।

उक्तं च—

> [3]एगिंदियउदयएसु, पंच य एक्कार सत्त तेरस या ।
> छक्कं कमसो भंगा, बायाला हुंति सव्वे वि ॥

द्वीन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट्, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोन-...त्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम ...र्याप्ता-ऽपर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगम् अनादेयं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इत्येता नव प्रकृतयो ...ादशसङ्ख्याभिध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः । एषा चापान्तरालगतौ वर्तमानस्य द्वीन्द्रियस्याघा-...यते । अत्र भङ्गास्त्रयः, तद्यथा—अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य अयशःकीर्त्या सह एकः, ...र्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां द्वाविति । तस्यैव च शरीरस्थस्य औदा-...रिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् उपघातं प्रत्येकमिति षट् प्रकृतयः प्रक्षि-

१ सं १ त० ०शतिः, अत्र ॥ २ सं स १ त० म० छा० ०से क्षिप्ते । एवमग्रेऽपि 'प्रक्षिप्ते' इत्येतत्स्थाने ...प्ते, 'क्षिप्ते' इत्येतत्स्थाने 'प्रक्षिप्ते' इति पाठान्तराणि सन्ति ॥ ३ एकेन्द्रियोदयेषु पञ्च चैकादश सप्त ...योदश च । षट् क्रमशो भङ्गा द्विचत्वारिंशद् भवन्ति सर्वेऽपि ॥

र्यन्त तिर्यगानुपूर्वी ...

ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य अप्रशस्तविहायोगति-पराघातयोः प्रक्षिप्तयोरष्टाविंशतिः, अत्र य

कीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ, अपर्याप्तक-प्रशस्तविहायोगत्योरुदयाभावात्। ततः प्राण

पानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ। अथवा प्राण

पर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि[2] प्रागिव

भङ्गौ। सर्वेऽप्येकोनत्रिंशति चत्वारो भङ्गाः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां

कोनत्रिंशति सुस्वर-दुःस्वरयोरेकतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र सुस्वर-दुःस्वर-यशःकीर्ति

अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः। अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य[3] स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि

तूदिते त्रिंशद् भवति, अत्र यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिविकल्पाभ्यां द्वौ भङ्गौ, सर्वे त्रिंशति षट्

भङ्गाः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्त[4]स्य स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद् भवति

अत्र सुस्वर-दुःस्वर यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः। सर्वसङ्ख्यया द्वीन्द्रियाणां द्वाविं

शतिर्भङ्गाः। एवं त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च प्रत्येकं षट् षड् उदयस्थानानि भावनीयानि,

नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने त्रीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियजातिः, चतुरिन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियजातिरभिधा

तव्या, प्रत्येकं च भङ्गा द्वाविंशतिर्द्वाविंशतिरिति। सर्वसङ्ख्यया विकलेन्द्रियाणां भङ्गाः षट्

षष्टिः ६६। तदुक्तम्—

[5]तिग तिग दुग चउ छ चउ, विगलाण छसट्ठि होइ तिण्हं पि।

प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट्, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टावि

शतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम

बादरनाम पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोरेकतरं सुभग-दुर्भगयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकी

र्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इत्येता नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः,

एषा चापान्तरालगतौ वर्तमानस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वेदितव्या। अत्र भङ्गा नव—तत्र पर्याप्तक

नामोदये वर्तमानस्य सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां चाष्टौ

भङ्गाः, अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य तु दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिभिरेकः।

अपरे पुनराहुः—सुभगा-ऽऽदेये युगपदुदयमायातः दुर्भगा-ऽनादेये च, ततः पर्याप्तकस्य

सुभगा-ऽऽदेययुगलदुर्भगा-ऽनादेययुगलाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां च चत्वारो भङ्गाः,

---

१ सं० १ म० ०शद् भवति, अत्रा० ॥ २ सं० १ ०पि तावेव ॥ ३ त० ०स्य दुःस्व० ॥ ४ त०

०स्य सुस्वर० ॥ ५ त्रिकः त्रिको द्विकश्चत्वारः षट् चत्वारो विकलानां षट्षष्टिर्भवति त्रयाणामपि ॥

र्याप्तकस्य त्वेक इति, सर्वसङ्ख्यया पञ्च । एवमुत्तरत्रापि मतान्तरेण भङ्गवैषम्यं स्वधिया भावनीयम् ।

ततः शरीरस्थस्य आनुपूर्वीमपनीय औदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं षण्णां संस्थानानामेकतमत् स्थानं षण्णां संहनननानामेकतमत् संहननम् उपघातं प्रत्येकमिति षट्कं प्रक्षिप्यते, ततो जाता ड्विंशतिः । अत्र भङ्गानां द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९—तत्र पर्याप्तस्य षड्भिः संस्थानैः ड्भिः संहननैः सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-ऽनादेयाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां च द्वे शते ङ्गानामष्टाशीत्यधिके २८८, अपर्याप्तकस्य हुण्डसंस्थान-सेवार्तसंहनन-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशः-ोर्तिपदैरेक इति । तस्यामेव षड्विंशतौ शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहा-ोगत्योरन्यतरविहायोगतौ च प्र क्षिप्तायामष्टाविंशतिः, तत्र ये प्राक् पर्याप्तानां द्वे शते भङ्गाना-ष्टाशीत्यधिके २८८ उक्ते ते अत्र विहायोगतिद्विकेन गुणिते अवगन्तव्ये, तथा च सत्यत्र भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ भवन्ति । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि भङ्गाः प्रागिव पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि भङ्गाः पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ । सर्वसङ्ख्यया भङ्गानामेकोनत्रिंशति द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि ११५२ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वर-दुःस्वरयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र ये प्रागुच्छ्वासेन पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ उक्तानि तान्येव स्वरद्विकेन गुण्यन्ते ततो जातानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२ । अथवा प्राणा-पानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद् भवति, अत्रापि भङ्गानां प्रागिव पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ । सर्वसङ्ख्यया त्रिंशति भङ्गानां सप्तदश शतानि अष्टा-विंशत्यधिकानि १७२८ । ततः स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद् भवति । अत्र ये प्राक् स्वरसहितायां त्रिंशति भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकैकादशशतसङ्ख्याः ११५२ उक्तास्त एवात्रापि द्रष्टव्याः । सर्वसङ्ख्यया प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां उ[2]दयभङ्गा एकोनपञ्चाशच्छतानि षडधिकानि ४९०६ ।

[3]तथा इदानीं तेषामेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां वैक्रियं कुर्वतामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रम् उपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयः प्रागुक्तायां तिर्यक्पञ्चेन्द्रिययोग्यायामेकविंशतौ

---

१ सं० सं० २ छा० मुद्रि० ०प्तकहुण्ड० ॥ २ सं० १ त० म० ०दये भ० ॥ ३ सं० १ सं० त० ०था तेषामे० ॥

[illegible]

[illegible] पर्याप्तस्य [illegible]

प्रशस्तविहायोगतौ च [illegible] अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । ततः प्राणा-

पानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे [illegible] अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा

अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि [illegible] त्रिंशद्भवति, अ-

ष्टौ भङ्गाः । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टाविंशतौ भङ्गाः षोडश । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वास-

सहितानामष्टाविंशतौ सुस्वरे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत् , अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । अथवा प्राणा-

पानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत् , अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः

सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति षोडश । ततः सुस्वरसहितानामेकोनत्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते त्रिंशत्,

अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । सर्वसङ्ख्यया वैक्रियं कुर्वतां षट्पञ्चाशद् भङ्गाः ५६ । सर्वेषां तिर्यक्-

पञ्चेन्द्रियाणां सर्वसङ्ख्यया एकोनपञ्चाशच्छतानि द्विषष्ट्यधिकानि ४९६२ भङ्गानामवसेयानि।

सामान्यमनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि सर्वाण्यपि यथा प्राक् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुक्तानि तथैवात्रापि वक्तव्यानि, नवरं तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीस्थाने मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ वेदितव्ये । एकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च उद्योतरहिता वक्तव्या, वैक्रिया-ऽऽहारकसंयतान् मुक्त्वा शेषमनुष्याणामुद्योतोदयाभावात् । तत एकोनत्रिंशति भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, त्रिंशत्येकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ अवगन्तव्यानि । सर्वसङ्ख्यया प्राकृतमनुष्याणां षड्विंशतिः शतानि द्विकाधिकानि २६०२ भङ्गानां भवन्ति ।

वैक्रियमनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रम् उपघातं त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम सुभग-दुर्भगयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकीर्त्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इति त्रयोदश प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह पञ्चविंशतिः २५ । अत्र सुभग-दुर्भगा-ऽऽदेया-ऽनादेय-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः । देशविरतानां संयतानां च वैक्रियं कुर्वतां सर्वप्रशस्त एव भङ्गो वेदितव्यः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्ता[1]यां सप्तविंशतिः, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्तेऽष्टाविंशतिः, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । अथवा संयतानामुत्तरवैक्रियं कुर्वतां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामुच्छ्वासेऽनुदिते उद्योत-

१ सं० १ त० म० ०यां सत्यां सप्त० ॥

...सि तूदिते ऽष्टाविंशतिः, अत्रैक एव भङ्गः, संयतानां दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्त्युदयाभावात् । ...सङ्ख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गा नव । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामष्टा...शतौ सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । अथवा संयतानां स्वरे... नुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि प्रागिवैक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया ...कोनत्रिंशति भङ्गा नव । सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति संयतानामुद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते त्रिंशद् ...वति, अत्रापि प्रागिवैक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया वैक्रियमनुष्याणां भङ्गाः पञ्चत्रिंशत् ३५ ।

आहारकसंयतानामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः ...कोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्राहारकम् आहारकाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उपघातं प्रत्येकमिति ...ञ्च प्रकृतयः प्रागुक्तायां मनुष्यगतिप्रायोग्यायामेकविंशतौ प्रक्षिप्यन्ते मनुष्यानुपूर्वी चापनीयते ...तो जाता पञ्चविंशतिः, केवलमिह पदानि सर्वाण्यपि प्रशस्तान्येव भवन्ति, आहारकसंयतानां ...र्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्त्युदयाभावात्, अत एक एवात्र भङ्गः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य ...राघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः, अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः प्राणापान...र्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्तेऽष्टाविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । अथवा शरीर...र्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते अष्टाविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव ...ङ्गः । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतौ द्वौ भङ्गौ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहिताया...ष्टाविंशतौ सुस्वरे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या ...र्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया ...कोनत्रिंशति द्वौ भङ्गौ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य[1] स्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते ...क्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया आहारकशरीरिणां सप्त भङ्गाः ।

केवलिनामुदयस्थानानि दश, तद्यथा—विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशति सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । तत्र मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः ...सनाम बादरनाम पर्याप्तकं सुभगम् आदेयं यशःकीर्तिरित्येता अष्टौ ध्रुवोदयाभिर्द्वादशसङ्ख्याभिः ...ह विंशतिः, अत्रैको भङ्गः । एषा चातीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणकाययोगे ...र्तमानस्य वेदितव्या । सैव विंशतिस्तीर्थकरनामसहिता एकविंशतिः अत्राप्येको भङ्गः ...षा च तीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणकाययोगे वर्तमानस्य वेदितव्या । तथा ...स्यामेव विंशतावौदारिकशरीरं षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं वज्र...र्षभनाराचसंहननम् उपघातं प्रत्येकमिति षट् प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते ततः षड्विंशतिर्भवति, एषा

१ सं० सं० १ त० म० छा० °स्य सुस्व° ॥

चातीर्थकरकेवलिन औदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानस्य वेदितव्या, अत्र षड्भिः संस्थानैः षड् भङ्गा भवन्ति परं ते सामान्यमनुष्योदयस्थानेष्वपि सम्भवन्तीति न पृथग् गण्यन्ते। एषैव षड्विंशतिः तीर्थकरसहिता सप्तविंशतिर्भवति, एषा तीर्थकरकेवलिन औदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानस्यावसेया, अत्र संस्थानं समचतुरस्रमेव वक्तव्यम्, तत एक एवात्र भङ्गः। सैव षड्विंशतिः पराघात-उच्छ्वास-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्यन्यतरविहायोगति-सुस्वर-दुःस्वरान्यतरसहिता त्रिंशद् भवति, एषा चातीर्थकरस्य सयोगिकेवलिन औदारिककाययोगे वर्तमानस्यावगन्तव्या, अत्र संस्थानषट्क-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगति-सुस्वर-दुःस्वरैश्चतुर्विंशतिर्भङ्गाः, ते च सामान्यमनुष्योदयस्थाने[1]ष्वपि प्राप्यन्ते इति न पृथग् गण्यन्ते। एषैव त्रिंशत् तीर्थकरनामसहिता एकत्रिंशद् भवति, सा च सयोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्यौदारिककाययोगे वर्तमानस्यावसेया। एषैव एकत्रिंशद् वाग्योगे निरुद्धे त्रिंशद् भवति, उच्छ्वासेऽपि च निरुद्धे एकोनत्रिंशत्[2]। अतीर्थकरकेवलिनः प्रागुक्ता त्रिंशद् वाग्योगे निरुद्धे सत्येकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि षड्भिः संस्था[3]नैः विहायोगतिद्विकेन[4] च द्वादश भङ्गाः प्राप्यन्ते, ते च प्रागिव न पृथग् गण्यन्ते। तत उच्छ्वासे निरुद्धेऽष्टाविंशतिः, अत्रापि संस्था[5]नादिगताः द्वादश भङ्गा न पृथग् गणयितव्याः, सामान्यमनुष्योदयस्थानग्रहणेन गृहीतत्वात्। तथा मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगम् आदेयं यशःकीर्तिः तीर्थकरमिति नवोदयः, एष च तीर्थकृतोऽयोगिकेवलिनश्चरमसमये वर्तमानस्य प्राप्यते। स एवातीर्थकरस्य तीर्थकरनामरहितोऽष्टोदयः। इह केवल्युदयस्थानमध्ये विंशति-एकविंशति-सप्तविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्-नवा-ऽष्टरूपेष्वष्टसूदयस्थानेषु प्रत्येकमेकैको विशेषभङ्गः प्राप्यते इत्यष्टौ भङ्गाः। तत्र विंशत्यष्टकयोर्भङ्गावतीर्थकृतः, शेषेषु षट्सु उदयस्थानेषु तीर्थकृतः षड् भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया मनुष्याणामुदयस्थानेषु षड्विंशतिशतानि द्विपञ्चाशदधिकानि २६५२।

देवानामुदयस्थानानि षट्, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र देवगतिः देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभग-दुर्भगयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरा इति नव प्रकृतयो[6] द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः, अत्र सुभग-दुर्भगा-ऽऽदेया-ऽनादेय-यशःकीर्त्ति-अयशःकीर्तिपदैरष्टौ भङ्गाः। दुर्भगाऽनादेया-ऽयशःकीर्त्तीनामुदयः पिशाचादीनामवगन्तव्यः। ततः शरीरस्थस्य वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् उपघातं प्रत्येकं समचतुरस्रसंस्थानमिति

1 सं० १ त० ०ष्वपि इ० ॥ 2 सं० १त० शद् भवति। अ० ॥ 3 छा० म० मुद्रि० संस्थानैः द्वादश भङ्गाः प्राप्यन्ते वि० ॥ 4 छा० म० न च द्वादश। ते च प्रागि० ॥ 5 छा० म० मुद्रि० स्थानगताः ॥ 6 सं० १ त० म० ०यो ध्रुवोदयाभिर्द्वादशसंख्याभिः ॥

 प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते देवानुपूर्वी चापनीयते ततो जाता पञ्चविंशतिः, अत्रापि त एवाष्टौ ङ्गाः। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः, त्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः देवानामप्रशस्तविहायोगतेरुदयाभावात् तदाश्रिता विकल्पा न न्ति। ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्तेऽष्टाविंशतिः, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः, थवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदितेऽष्टाविंशतिः, अत्रापि एवाष्टौ भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गाः षोडश। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः, दुःस्वरोदयो देवानां न भवतीति कृत्वा श्रिता विकल्पा न भवन्ति, अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि दिते एकोनत्रिंशद् भवति, उत्तरवैक्रियं हि कुर्वतो देवस्योद्योतोदयो लभ्यते, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः। सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति षोडश भङ्गाः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वर-सहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते क्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः, सर्वसङ्ख्यया नां चतुःषष्टिर्भङ्गाः ६४।

नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत्। तत्र नरकगतिः नरकानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगनाम अनादेयम् अयशःकीर्तिरित्येता नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सहैकविंशतिः, अत्र सर्वाण्यपि पदानि अप्रशस्तान्येवेति[1] एक एव भङ्गः। ततः शरीरस्थस्य[2] वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानम् उपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते, नरकानुपूर्वी चापनीयते, ततः पञ्चविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाता-ऽप्रशस्तविहायोगत्योः प्रक्षिप्तयोः सप्तविंशतिः, अत्राप्येक एव भङ्गः। ततः प्राणापान-पर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्तेऽष्टाविंशतिः, अत्राप्येक एव भङ्गः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य दुःस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्राप्येक एव भङ्गः। सर्वसङ्ख्यया नैरयिकाणां पञ्च भङ्गाः। सकलोदयस्थानभङ्गाः पुनः सप्तसप्ततिशतानि एकनवत्यधिकानि ७७९१॥ २६॥

सम्प्रति कस्मिन्नुदयस्थाने कति भङ्गाः प्राप्यन्ते? इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह—

[3]एग बियालेक्कारस, तेत्तीसा छस्सयाणि तेत्तीसा।
बारससत्तरससयाणहिगाणि बिपंचसीईहिं॥ २७॥
अउणत्तीसेक्कारससयाहिगा सतरसपंचसट्ठीहिं।
इक्केक्कगं च वीसादट्ठुदयंतेसु उदयविही॥ २८॥

---

१ छा० मुद्रि० °न्येवेति कृत्वा एक ए°॥ २ सं० मुद्रि० °रपर्याप्त्या पर्याप्तस्य वैक्रि°॥ ३ गाथेमे सप्ततिकाभाष्ये द्वाविंशति-त्रयोविंशत्यधिकशततम्यौ॥

विंशत्यादिष्वष्टपर्यन्तेषु द्वादशसूदयस्थानेषु यथासङ्ख्यमेकादिसङ्ख्याः 'उदयविधयः' अ प्रकारा उदयभङ्गा इत्यर्थः। तत्र विंशतावेको भङ्गः, स चातीर्थकरकेवलिनोऽवसेयः। विंशतौ द्विचत्वारिंशत्—तत्रैकेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च, विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य नव, मनुष्यानप्यधिकृत्य नव, तीर्थंकरमधिकृत्यैकः, सुरानधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति द्विचत्वारिंशत् ४२। चतुर्विंशतावेकादश, ते चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य प्राप्यन्ते अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात्। पञ्चविंशतौ त्रयस्त्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियानधिकृत्य सप्त, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, वैक्रियमनुष्यानप्यधिकृत्याष्टौ, आहारकसंयतानाश्रित्यैकः, देवानप्यधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत् ३३। षड्विंशतौ षट् शतानि ६००—तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य त्रयोदश, विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव, प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९, प्राकृतमनुष्यानप्यधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९ इति षट् शतानि ६००। सप्तविंशतौ त्रयस्त्रिंशद्—तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य षट्, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्याष्टौ, आहारकसंयतानधिकृत्यैकः, केवलिनमधिकृत्यैकः, देवानधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत् ३३। अष्टाविंशतौ द्व्यधिकानि द्वादश शतानि १२०२—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य षट्, प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश, मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ, देवानधिकृत्य षोडश, नारकानधिकृत्यैक इति। एकोनत्रिंशति पञ्चाशीत्यधिकानि सप्तदश शतानि १७८५—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश, मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ, तीर्थकरमधिकृत्यैकः, देवानधिकृत्य षोडश, नारकानधिकृत्यैक इति। त्रिंशति एकोनत्रिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि २९१७—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्याष्टादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि १७२८, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, मनुष्यानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्यैकः, आहारकसंयतानधिकृत्यैकः, केवलिनमधिकृत्यैकः, देवानधिकृत्याष्टौ। एकत्रिंशत्येकादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ११६५—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, तीर्थकरमधिकृत्यैकः। एको नवोदये। एकोऽष्टोदये। सर्वोदयस्थानेषु सर्वसङ्ख्यया भङ्गाः सप्तसप्ततिशतान्येकनवत्यधिकानि ७७९१ इति ॥२७-२८॥

१ त० म० °करान° ॥

तदेवमुक्तानि सप्रभेदान्युदयस्थानानि । सम्प्रति सत्तास्थानप्ररूपणार्थमाह–

तिदुनउई उगुनउई, अडछलसी असीइ उगुसीई ।
अडयछप्पणत्तरि, नव अड य नामसंताणि ॥ २९ ॥

नाम्नः–नामकर्मणो द्वादश सत्तास्थानानि, तद्यथा–त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः ष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः अष्टसप्ततिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टाविति । त्र सर्वप्रकृतिसमुदायस्त्रिनवतिः । सैव तीर्थकररहिता द्विनवतिः । त्रिनवतिरेवाहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-ऽऽहारकसङ्घात-ऽऽहारकबन्धनरूपचतुष्टयेन रहिता एकोननवतिः । सैव तीर्थ-ररहिता अष्टाशीतिः । ततो नरकगति-नरकानुपूर्व्योरथवा देवगति देवानुपूर्व्योरुद्वलितयोः षड-ीतिः; अथवा अशीतिसत्कर्मणो नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-क्रियाङ्गोपाङ्ग-वैक्रियसङ्घात-वैक्रियबन्धनबन्धे षडशीतिः; अथवाऽशीतिसत्कर्मणो देवगतिप्रायोग्यं ध्नतो देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयबन्धे षडशीतिः । ततो नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रिय-तुष्टयोद्वलने अथवा देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयोद्वलने कृते अशीतिः । ततो मनुजगति-मनुजानुपूर्व्योरुद्वलितयोरष्टसप्ततिः । एतान्यक्षपकाणां सत्तास्थानानि । क्षपकाणां पुनरमूनि–त्रिनवतेः नरकगति-नरकानुपूर्वी-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी--एकेन्द्रियजाति--द्वीन्द्रियजाति-त्रीन्द्रिय-जाति-चतुरिन्द्रियजाति स्थावरा-ऽऽतप-उद्योत-सूक्ष्म-साधारणरूपे त्रयोदशके क्षीणे अशीतिर्भवति, द्विनवतेः क्षीणे एकोनाशीतिः, एकोननवतेः क्षीणे षट्सप्ततिः, अष्टाशीतेः क्षीणे पञ्चसप्ततिः । मनुष्यगति–पञ्चेन्द्रियजाति–त्रस[1]-बादर-पर्याप्त–सुभगा-ऽऽदेय-यशःकीर्ति-तीर्थकराणीति नवकं सत्तास्थानम्, तच्चायोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये वर्तमानस्य प्राप्यते । तदेवातीर्थकर-केवलिनश्चरमसमये तीर्थकरनामरहितमष्टकमिति ॥२९॥

तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि सम्प्रति संवेधप्रतिपाद[2]नार्थमुपक्रमते–

अड य बारस बारस, बंधोदयसंतपयडिठाणाणि ।
ओहेणादेसेण य, जत्थ जहासंभवं वि[3]भजे ॥३०॥

नाम्नो बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानि यथाक्रममष्ट-द्वादश-द्वादशसङ्ख्यानि । तानि 'ओघेन' सामान्येन 'आदेशेन च' विशेषेण च 'यथासम्भवं' यानि यत्र यथा सम्भवन्ति तानि तत्र तथा 'विभजेत्' विकल्पयेद् उत्तरग्रन्थानुसारेण । तत्रामुकं बन्धस्थानं बध्नत एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानीति सामान्यम् । मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानेषु गत्यादिषु च मार्गणास्था-

---

१ छा० मुद्रि० ०सनाम बाद० ॥ २ सं० १ त० म० ०नार्थमाह ॥ ३ छा० मुद्रि० ०भए ॥

नेषु प्रत्येकमेतावन्ति बन्धस्थानानि एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानि एवं च तेषां परस्परं संवेध इत्यादेशः ॥३०॥

तत्र प्रथमतः सामान्येन संवेधचिन्तां कुर्वन्नाह—

नव पंचोदय संता, तेवीसे पण्णवीस छव्वीसे ।
अट्ठ चउरट्ठवीसे, नव [1]सत्तुगतीस तीसम्मि ॥३१॥
एगेगमेगतीसे, एगे एगुदय अट्ठ संतम्मि ।
उवरयबंधे दस दस, वेयगसंतम्मि ठाणाणि ॥३२॥

त्रयोविंशतिबन्धे पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येकं नव नव उदयस्थानानि पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । तत्र त्रयोविंशतिबन्धोऽपर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्य एव, तद्बन्धकाश्च एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च। एतेषां च त्रयोविंशतिबन्धकानां यथायोगं सामान्येन नवोदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् । तत्र त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदयोऽपान्तरालगतौ वर्तमानानामेकेन्द्रिय-द्वीन्दिय-त्रीन्द्रिय--चतुरिन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणामवसेयः, तेषामपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसम्भवाद् । चतुर्विंशत्युदयोऽपर्याप्त-पर्याप्तैकेन्द्रियाणाम् , अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याप्राप्यमाणत्वात् । पञ्चविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च मिथ्या[2]दृष्ट्यादीनाम्। षड्विंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चे[3]न्द्रिय-मनुष्याणां च मिथ्या[4]दृष्टीनाम्। सप्तविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां च मिथ्यादृष्टीनाम् । अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्- त्रिंशदुदयाः पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनाम् । एकत्रिंशदुदयो विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मिथ्यादृष्टीनाम्। उक्तशेषास्त्रयोविंशतिबन्धका न भवन्ति । तेषां च त्रयोविंशतिबन्धकानां सामान्येन पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । तत्रैकविंशत्युदये वर्तमानानां सर्वेषामपि पञ्चापि सत्तास्थानानि, केवलं मनुष्याणामष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि वक्तव्यानि, यतोऽष्टसप्ततिर्मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्योरुद्वलितयोः प्राप्यते, न च मनुष्याणां तदुद्वलनसम्भवः । चतुर्विंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि, केवलं वायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतश्चतुर्विंशत्युदये वर्तमानस्याशीति-अष्टसप्ततिवर्जानि त्रीणि सत्तास्थानानि यतस्तस्य वैक्रियषट्कं मनुष्यद्विकं च

---

१ छा त० सत्तिगु० ॥ २ सं० मुद्रि० °दृष्टीनाम् ॥ ३ मुद्रि० त० म० °न्द्रियाणां मनु० ॥ ४ त० म० °दृष्ट्यादीनाम् ॥

नियमा`दस्ति, यतो वैक्रियं हि साक्षादनुभवन् वर्तते इति न तदुद्वलयति, तदभावाच्च न देवद्विक-नरकद्विके अपि, समकालं वैक्रियषट्कस्योद्वलनसम्भवात् तथास्वाभाव्यात्, वैक्रियषट्के चोद्वलिते सति पश्चाद् मनुष्यद्विकमुद्वलयति न पूर्वम् , तथा चोक्तं चूर्णौ—

[2]वेउव्वियछक्कं उव्वलेउं पच्छा मणुयदुगं उव्वलेइ ।

इत्यशीत्यष्टसप्ततिसत्तास्थानासम्भवः । पञ्चविंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि । तत्राष्टसप्ततिरवैक्रियवायुकायिक-तैजस्कायिकान् अधिकृत्य प्राप्यते नान्यान् , यतस्तेजस्कायिकवायुकायिकवर्जोऽन्यः सर्वोऽपि पर्याप्तको नियमाद् मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ बध्नाति, तथा चाह चूर्णिकृत्-

[3]तेऊवाऊवज्जो पज्जत्तगो मणुयगईं नियमा बंधेइ, इति ।

ततोऽन्यत्राष्टसप्ततिर्न प्राप्यते । षड्विंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि । नवरमष्टसप्ततिरवैक्रियवायुकायिक-तैजस्कायिकानां द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चेन्द्रियाणां वा तेजो-वायुभवादनन्तरागतानां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तानाम् ते हि यावद् मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ न बध्नन्ति तावत् तेषामष्टसप्ततिः प्राप्यते नान्येषाम् । सप्तविंशत्युदये अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि, सप्तविंशत्युदयो हि तेजो-वायुवर्जपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणाम् , तेषां चावश्यं मनुष्यद्विकसम्भवादष्टस[4]प्ततिर्न प्राप्यते ॥

अथ कथं तेजो-वायूनां सप्तविंशत्युदयो न भवति, येन तद्वर्जनं क्रियते ? उच्यते—सप्तविंशत्युदय एकेन्द्रियाणामातप-उद्योतान्यतरप्रक्षेपे सति प्राप्यते, न च तेजो-वायुष्वातप-उद्योतोदयः सम्भवति, ततस्तद्वर्जनम् ।

अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशत् एकत्रिंशदुदयेषु नियमादष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । अष्टाविंशत्याद्युदया हि पर्याप्तविकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणाम्, एकत्रिंशदुदयश्च पर्याप्तविकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियतिरश्चाम् , ते चावश्यं मनुजगति-मनुजानुपूर्वीसत्कर्माण इति । तदेवं त्रयोविंशतिबन्धकानां यथायोगं नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशत्सङ्ख्यानि सत्तास्थानानि भवन्ति । पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानामप्येवमेव, केवलं पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानां देवानाम् एकविं[5]शति-पञ्चविंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्रूपेषु षट्सूदयस्थानेषु द्विनवतिरष्टाशीतिश्चेति द्वे द्वे सत्तास्थाने वक्तव्ये । अपर्याप्तविकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यां तु पञ्चविंशतिं देवा न बध्नन्ति, अपर्याप्तेषु विकले-

---

१ सं० सं० १ त० म० ०दस्ति, वै० ॥ २ वैक्रियषट्कं उद्वलय्य पश्चाद् मनुजद्विकं उद्वलयति ॥ ३ तेजो-वायुवर्जः पर्याप्तको मनुजगतिं नियमाद् बध्नाति ॥ ४ सं० १ त० म० ०प्ततिर्नावाप्य० ॥ ५ सं० छा० ०शति-पञ्चविंशति-सप्त० ॥

न्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु च मध्ये देवानामुत्पादाभावात् । सामान्येन पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येकं नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशच्चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि।

"अट्ठ चउरऽट्ठवीस" त्ति अष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा-एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । इह द्विधा अष्टाविंशतिः–देवगतिप्रतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च । तत्र देवगतिप्रायोग्याया बन्धेऽष्टाप्युदयस्थानानि नानाजीवापेक्षया प्राप्यन्ते, नरकगतिप्रायोग्यायास्तु बन्धे द्वे, तद्यथा–त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणामपान्तरालगतौ वर्तमानानामवसेयः । पञ्चविंशत्युदय आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । षड्विंशत्युदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां शरीरस्थानाम् । सप्तविंशत्युदय आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां तु [1]सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशदुदयावपि यथाक्रमं शरीरपर्या[2]प्त्या प्राणापानपर्याप्त्या च पर्याप्तानां तिर्यङ्-मनुष्याणां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा, तथा आहारकसंय[3]तानां वैक्रियसंयतानां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वाऽवसेयौ । त्रिंशदुदयस्तिर्यङ्-मनुष्याणां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां वा, तथा आहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां वा । एकत्रिंशदुदयः पञ्चेन्द्रियतिरश्चां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । नरकगतिप्रायोग्यां त्वष्टाविंशतिं बध्नतां त्रिंशदुदयः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनाम् । एकत्रिंशदुदयः पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मिथ्यादृशाम् । अष्टाविंशतिबन्धकानां सामान्येन चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । तत्रैकविंशत्युदये वर्तमानानां देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानां द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । पञ्चविंशत्युदयेऽप्यष्टाविंशतिबन्धकानामाहारकसंयत-वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां सामान्येन ते एव द्वे सत्तास्थाने । तत्राहारकसंयतो नियमादाहारकसत्कर्मा ततस्तस्य द्विनवतिः सत्तास्थानाम् , शेषाश्च तिर्यञ्चो मनु[4]ष्या वा आहारकसत्कर्माणः तद्रहिताश्च भवन्ति ततस्तेषां द्वे अपि सत्तास्थाने । षड्विंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने सामान्येन वेदितव्ये । त्रिंशदुदये देवगति-नरकगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानां सामान्येन चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा–द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । तत्र द्विनवतिरष्टाशीतिश्च प्रागिव भावनीया ।

१ सं० १ त० म० च ॥ २ मुद्रि० छा० ०प्त्या पर्याप्तानां प्राणा० ॥ ३ सं० म० मुद्रि० ०तानां वैक्रियतिर्यग् म० ॥ ४ सं० १ त० म० ०ष्याश्च आ० ॥

एकोननवतिः पुनरेवम्—कश्चिद् मनुष्यस्तीर्थकरनामसत्कर्मा वेदकसम्यग्दृष्टिः पूर्वबद्धनरकायुष्को नरकाभिमुखः सम्यक्त्वात् प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतः, तस्य तदा तीर्थकरनामबन्धाभावाद् नरकगति-प्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतः एकोननवतिः सत्तायां प्राप्यते। षडशीतिस्त्वेवम्—इह तीर्थकरा-ऽऽहारकचतुष्क-देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयरहिता त्रिनवतिरशीति-र्भवति, ततस्तत्सत्कर्मा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् मनुष्यो वा जातः सन् सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो यदि विशुद्धः ततो देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तद्बन्धे च देवद्विकं वैक्रियचतुष्टयं च सत्तायां प्राप्यते इति तस्य षडशीतिः। अथ सर्वसंक्लिष्टस्ततो नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति, तद्बन्धे च नरकद्विकं वैक्रियचतुष्टयं चावश्यं बध्यमानत्वात् सत्तायां प्राप्यते इत्येवमपि तस्य षडशीतिः। एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च। एकोननवतिरिह न प्राप्यते, एकत्रिंशदुदयो हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु प्राप्यते, न च तिर्यक्षु तीर्थ-करनाम सद् भवति, तीर्थकरनामसत्कर्मणः तिर्यक्षूत्पादाभावात्। षडशीतिसत्तास्थानभावना च प्रागिव वेदितव्या। तदेवमष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावप्युदयस्थानान्यधिकृत्यैकोनविंशतिसङ्ख्यानि सत्तास्थानानि भवन्ति।

"नव सत्तुगतीस तीसम्मि" एकोनत्रिंशति त्रिंशति च बध्यमानायां प्रत्येकं नव नवोदय-स्थानानि, सप्त सप्त सत्तास्थानानि। तत्रोदयस्थानान्यमूनि, तद्यथा एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्रैकविंश-त्युदयस्तिर्यङ्-मनुष्यप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यङ्-मनुष्याणां देव नैरयिकाणां च[1]। चतुर्विंशत्युदयः पर्याप्ता ऽपर्याप्तैकेन्द्रियाणाम्। पञ्चविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां देव नैरयिकाणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च मिथ्यादृष्टीनाम् षड्विंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तविकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां। सप्तविंशत्युदयः पर्या-प्तैकेन्द्रियाणां देव-नैरयिकाणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च मिथ्यादृष्टीनाम्। अष्टाविंशत्युदय एकोनत्रिंशदुदयश्च विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्य-देव-नैरयिकाणां च। त्रिंशदुदयो विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां देवानां च उद्योतवेदकानाम्। एकत्रिं-शदुदयः पर्याप्तविकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां उद्योतवेदकानाम्। तथा देवगतिप्रायोग्यामेको-नत्रिंशतं बध्नतो मनुष्यस्याविरतसम्यग्दृष्टेरुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। आहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां च इमानि पञ्च उदय-

१ सं० सं० १ त० म० ०षु भवति। न॥ २ सं० १ म० न्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तविक०। सं० विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्य०॥ ३ सं० १ म० चावसेयः। च०॥ ४ त० म० ०ष्याणां दे०॥

विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च। तत्र विंशती-एकविंशति-यथासङ्ख्यम- तीर्थकर-तीर्थकरयोः सयोगिकेवलिनोः कार्मणकाययोगे वर्तमानयोः, षड्विंशति-सप्तविंशती तयो- रेवौदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानयोः। अतीर्थकरस्य स्वभावस्थस्य त्रिंशत्, तस्यैव स्वरे निरुद्धे एकोनत्रिंशत्, उच्छ्वासेऽपि निरुद्धेऽष्टाविंशतिः, तीर्थकरस्य स्वभावस्थस्य एकत्रिंशत्, तस्यैव स्वरे निरुद्धे त्रिंशत्, उच्छ्वासेऽपि निरुद्धे एकोनत्रिंशत्; एवं च द्विधा त्रिंशद्-एकोन- त्रिंशतौ प्राप्येते। अयोगिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये वर्तमानस्य नवोदयः, अतीर्थकरस्यायो- गिनोऽष्टोदयः। दश सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टौ च। तत्र विंशत्युदये द्वे सत्ता- स्थाने—एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च। एवं षड्विंशत्युदयेऽष्टाविंशत्युदयेऽपि द्रष्टव्यम्। एकविं- शत्युदये इमे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिश्च। एवं सप्तविंशत्युदयेऽपि। एकोन- त्रिंशति चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च। यत एकोनत्रिंशत् तीर्थकरस्यातीर्थकरस्य च भवति, तत्राद्ये द्वे तीर्थकरमधिकृत्य वेदितव्ये, अन्तिमे द्वे अतीर्थकरमधिकृत्य। त्रिंशदुदयेऽष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च। तत्राद्यानि चत्वार्यु- पशान्तकषायस्य[2]। अशीतिः क्षीणकषायस्य सयोगिकेवलिनो वा आहारकसत्कर्मणः तीर्थकरस्य। तस्यैवातीर्थकरस्यैकोनाशीतिः। आहारकचतुष्टयरहितस्य तीर्थकरस्य क्षीणकषायस्य सयोगिके- वलिनो वा षट्सप्ततिः। तस्यैवातीर्थकरस्य पञ्चसप्ततिः। एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा- अशीतिः षट्सप्ततिश्च। एते च तीर्थकरकेवलिनो वेदितव्ये, अतीर्थकरकेवलिन एकत्रिंशदुद- यस्यैवाभावात्। नवोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः नव च। तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयः तावदयोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्य वेदितव्ये, चरमसमये तु नव। अष्टो- दये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिः अष्टौ च। तत्राद्ये द्वे अयोगि- केवलिनोऽतीर्थकरस्य द्विचरमसमयं यावद् वेदितव्ये, चरमसमये त्वष्टाविति। एवमसत्यकत्य दशाप्युदयस्थानानि अधिकृत्य त्रिंशत् सत्तास्थानानि भवन्ति॥ ३२॥

तदेवमुक्ता[1] नामप्रकृतीनां बन्धोदयसत्तास्थानभेदाः संवेधश्च। सम्प्रत्युक्तक्रमेणैतेषां जीव- स्थानानि गुणस्थानानि चाधिकृत्य स्वामी [3]निदर्श्यते—

---

१ सं० छा० मुद्रि० [illegible], तस्यैवोच्छ्वा० ॥ २ त० म० मुद्रि० [illegible]। अशीतिः [illegible] [illegible] न दृश्यते। [illegible] चत्वारि क्षीणकषायोपशान्तकस्य मयो० ॥ ३ सं० स० १ सं० [illegible] [illegible] मुद्रि० छा० [illegible] ॥ ४ सं १ त० म० [illegible]मी निर्दिश्यते ॥

तिविगप्पपगइठाणेहिं जीवगुणसन्निएसु ठाणेसु ।
भंगा पउंजियव्वा, जत्थ जहा संभवो भवइ ॥ ३३ ॥

त्रयो विकल्पाः—बन्ध-उदय-सत्तारूपास्तेषां सम्बन्धीनि प्रकृतिस्थानानि त्रिविकल्पप्रकृतिस्थानानि तैः जीवसंज्ञितेषु गुणसंज्ञितेषु च स्थानेषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु चेत्यर्थः, भङ्गाः पूर्वोक्तानुसारेण वक्ष्यमाणानुसारेण च प्रयोक्तव्याः । कथम् ? इत्याह—"जत्थ जहा संभवो हवइ" यत्र येषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु च 'यथा सम्भवो भवति' यथा घटना भवति तत्र तथा प्रयोक्तव्याः, यो यत्र यथा भङ्गो घटते स तत्र तथा वक्तव्य इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

तत्र प्रथमतो जीवस्थानान्यधिकृत्य प्रतिपादयति—

तेरससु जीवसंखेवएसु नाणंतराय तिविगप्पो ।
एक्कम्मि तिदुविगप्पो, करणं पइ एत्थ अविगप्पो ॥ ३४ ॥

सङ्क्षिप्यन्ते-सङ्गृह्यन्ते जीवा एभिरिति सङ्क्षेपाः-अपर्याप्तैकेन्द्रियत्वादयोऽवान्तरजातिभेदाः, जीवानां सङ्क्षेपा जीवसङ्क्षेपा जीवस्थानानीत्यर्थः । पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु ज्ञानावरणा-ऽन्तराययोर्बन्ध-उदय-सत्तारूपास्त्रयो विकल्पाः प्राप्यन्ते, तद्यथा—पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता, ज्ञानावरणा-ऽन्तराययोर्ध्रुवबन्धोदयसत्ताकत्वात् । सूत्रे "तिविगप्पो" इति द्विगुसमाहारत्वेऽप्यार्षत्वात् पुंस्त्वनिर्देशः । "एक्कम्मि तिदुविगप्पो" 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे जीवस्थाने त्रयो वा विकल्पा भवन्ति, द्वौ वा विकल्पौ । तत्र त्रयो विकल्पा इमे—पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता । एते च सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावत् प्राप्यन्ते । ततः परं बन्धव्यवच्छेदे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च द्वौ विकल्पौ, तद्यथा—पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता । अत्रान्यो भङ्गो न सम्भवति, उदय-सत्तयोर्युगपद् व्यवच्छेदात् "करणं पइ एत्थ अविगप्पो" त्ति इह केवलिनो मनोविज्ञानमधिकृत्य संज्ञिनो न भवन्ति, द्रव्यमनःसम्बन्धात् पुनस्तेऽपि संज्ञिनो व्यवह्रियन्ते । उक्तं च चूर्णौ—

[1]मणकरणं केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो वुच्चंति ।
मणोविण्णाणं पडुच्च ते सन्निणो न हवंति ॥ इति ।

ततः करणं—द्रव्यमनोरूपं प्रतीत्य यः संज्ञी सयोगिकेवली अयोगिकेवली वा भवस्थस्तस्मिन् 'अत्र' ज्ञानावरणेऽन्तराये च 'अविकल्पः' त्रयाणामपि बन्धादिरूपाणां विकल्पानामभावः, आमूलं तदुच्छेदे सति केवलित्वभावात् ॥ ३४ ॥

---

१ छा० ०था कर्तव्य० ॥ २ मनःकरणं केवलिनोऽपि अस्ति तेन संज्ञिन उच्यन्ते । मनोविज्ञानं प्रतीत्य ते संज्ञिनो न भवन्ति ॥

सम्प्रति दर्शनावरणं जीवस्थानेषु चिन्तयति—

तेरे नव चउ पणगं, नव संतेगम्मि भंगमेक्कारा ।

पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु नवविधो बन्धः चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता इत्येतौ द्वौ विकल्पौ । "एगम्मि भंगमेक्कार" त्ति 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपे एकादश भङ्गाः, ते च यथा प्राक् सामान्येन संवेधचिन्तायामुक्तास्तथैवात्राप्यन्यूनातिरिक्ता वक्तव्याः ॥

वेयणियाउयगोए, विभज्ज

वेदनीये आयुषि गोत्रे च यानि बन्धादिप्रकृतिस्थानानि तानि यथागमं जीवस्थानेषु 'विभजेत्' विकल्पयेत् । तत्रेयं वेदनीय-गोत्रयोर्विकल्पनिरूपणार्थमन्तर्भाष्यगाथा–

पज्जत्तगसन्निियरे, अट्ठ चउक्कं च वेयणियभंगा ।
सत्तग तिगं च गोए[1], पत्तेयं जीवठाणेसु ॥ १ ॥

पर्याप्ते संज्ञिनि वेदनीयस्याष्टौ भङ्गाः, तद्यथा–असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थान[2]काद् आरभ्य प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते न परतः, परतोऽसातस्य बन्धाभावात् । तथा सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा सातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ च द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते । ततः परतो बन्धाभावे असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते । चरमसमये तु, 'असातस्योदयः असातस्य सत्ता' यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणं, यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्य सातस्योदयः सातस्य सत्तेति सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ भङ्गाः । इह सयोगिकेवली अयोगिकेवली च द्रव्यमनोऽभिसम्बन्धात् संज्ञी व्यवह्रियते, ततः संज्ञिनि पर्याप्ते वेदनीयस्याष्टौ भङ्गा उच्यमाना न विरुध्यन्ते । 'इतरेषु' पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्र[3]त्येकं प्रत्येकं चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तद्यथा–असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती[4], अथवा सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती,[5] अथवा सातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती ।

---

१ सं० १ सं० २ मुद्रि० ०ए वत्तव्वा जीवठाणेसु ॥ २ मुद्रि० ०कात् प्रभृति प्र० ॥ ३ सं० सं० २ प्रत्येकं चत्वा० ॥ ४-५ सं० १ त० म० ०ती, तथा सा० ॥

"सत्तग तिगं च गोए" इति 'गोत्रे' गोत्रस्य संज्ञिनि पर्याप्ते सप्त भङ्गाः, तद्यथा–नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पस्तेजः-वायुभवाद् उद्धृत्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंज्ञित्वेनोत्पन्ने कियत्कालं प्राप्यते। नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च नीचैर्गोत्रे सती, अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एतौ च विकल्पौ पर्याप्ते संज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ सासादने वा प्राप्येते, न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादौ, तस्य नीचैर्गोत्रबन्धाभावात्[२]। तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरतिगुणस्थानकं यावत् प्राप्यते न परतः, परतो नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात्। तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावदवसेयः। परतो बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्य अयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावदवाप्यते। उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये। 'इतरेषु पुनः' पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गाः, तद्यथा–नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत्, अयं विकल्पस्तेजः-वायुषु उच्चैर्गोत्रोद्वलनानन्तरं सर्वकालं तेजः-वायुभवाद् उद्धृत्य समुत्पन्नेषु वा पृथिव्यादि-द्वीन्द्रियादिषु कियत्कालं प्राप्यते, नान्येषु[४]। नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती। शेषा विकल्पा न सम्भवन्ति, तिर्यक्षूच्चैर्गोत्रस्योदयाभावात्॥

सम्प्रत्यायुषो भङ्गा निरूप्यन्ते, तन्निरूपणार्थं चेयमन्तर्भाष्यगाथा—

पज्जत्तापज्जत्तग, समणे पज्जत्त अमण सेसेसु।
अट्ठावीसं दसगं, नवगं पणगं च आउस्स ॥ २ ॥

समनाः–संज्ञी, तत्र पर्याप्ते संज्ञिनि आयुषो भङ्गा अष्टाविंशतिः, अपर्याप्ते संज्ञिनि भङ्गानां दशकम्, पर्याप्ते 'अमनसि' असंज्ञिनि पञ्चेन्द्रिये भङ्गानां नवकम्, 'शेषेषु' एकादशसु जीवस्थानेषु पुनर्भङ्गानां प्रत्येकं पञ्चकमिति। तत्र संज्ञिनि पर्याप्ते इमे अष्टाविंशतिर्भङ्गाः— नैरयिकस्य नरकायुष उदयो नरकायुः सत्, अयं परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्, परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धः नरकायुष उदयः नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः नरकायुष उदयः नरक-मनुष्यायुषी सती। परभवायुर्बन्धोत्तरकाले नरकायुष उदयः नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा नरकायुष उदयः मनुष्य[५]-नारकायुषी सती। इह नारका देवायु-

१ सं० १ त० म० ०त्पन्नेषु कि०॥ २ सं० १ त० म० ०त्। उच्चै०॥ ३ सं० २ मुद्रि० ०वलिद्वि०॥ ४ छा० मुद्रि० ०षु। तथा नीचै०॥ ५ छा० मुद्रि० ०ष्य-ना०॥

साम्प्रति दर्शनावरणं जीवस्थानेषु चिन्तयति—

तेरे नव चउ पणगं, नव संतेगम्मि भंगमेक्कारा ।

पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु नवानां बन्धः चतुर्विधः पञ्च-विधो वा उदयः नवविधा सत्ता इत्येतौ द्वौ विकल्पौ । "एगम्मि भंगमेक्कार" त्ति 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपे एकादश भङ्गाः, ते च यथा प्राक् सामान्येन संवेधचिन्तायामुक्तास्त-थैवात्राप्यन्यूनातिरिक्ता वक्तव्याः ॥

वेयणियाउयगोए, विभज्ज

वेदनीये आयुषि गोत्रे च यानि बन्धादिप्रकृतिस्थानानि तानि यथायथं जीवस्थानेषु 'विभ-जेत्' विकल्पयेत् । तत्रेयं वेदनीय-गोत्रयोर्विकल्पनिरूपणार्थमन्तर्भाष्यगाथा—

पज्जत्तगसन्नियरे, अट्ठ चउक्कं च वेयणियभंगा ।
सत्तग तिगं च गोए[1], पत्तेयं जीवठाणेसु ॥ १ ॥

पर्याप्ते संज्ञिनि वेदनीयस्याष्टौ भङ्गाः, तद्यथा—असातस्य बन्धः असातस्योदयः साता-साते सती, अथवा असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्या-दृष्टिगुणस्थान[2]काद् आरभ्य प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते न परतः, परतोऽसातस्य बन्धा-भावात् । तथा सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा सातस्य बन्धः सातस्यो-दयः सातासाते सती, एतौ च द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुण-स्थानकं यावत् प्राप्येते । ततः परतो बन्धाभावे असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते । चरमसमये तु, 'असातस्योदयः असातस्य सत्ता' यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणं, यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्य सातस्योदयः सातस्य सत्तेति सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ भङ्गाः । इह सयोगि-केवली अयोगिकेवली च द्रव्यमनोऽभिसम्बन्धात् संज्ञी व्यवह्रियते, ततः संज्ञिनि पर्याप्ते वेद-नीयस्याष्टौ भङ्गा उच्यमाना न विरुध्यन्ते । 'इतरेषु' पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीव-स्थानेषु प्र[3]त्येकं प्रत्येकं चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तद्यथा—असातस्य बन्धः असातस्योदयः साता-साते सती, अथवा असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती[4], अथवा सातस्य बन्धः असा-तस्योदयः सातासाते सती,[5] अथवा सातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती ।

१ सं० १ सं० २ मुद्रि० ०ए वत्तव्वा जीवठाणेसु ॥ २ मुद्रि० ०कात् प्रभृति प्र० ॥ ३ सं० सं० २ ०त्येकं चत्वा० ॥ ४-५ सं० १ त० म० ०ती, तथा सा० ॥

अष्टसु पञ्चसु एकस्मिंश्च यथाक्रमं एकं द्वे दश च मोहनीयप्रकृतिबन्धगतानि स्थानानि भवन्ति। तत्र 'अष्टसु' पर्याप्ता-ऽपर्याप्तसूक्ष्मा-ऽपर्याप्तबादर-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञि-संज्ञिरूपेषु एकं बन्धस्थानं द्वाविंशतिरूपम् । द्वाविंशतिश्चेयम्—मिथ्यात्वं षोडश कषायाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्य-रतियुगला-ऽरति-शोकयुगलयोरन्यतरद् युगलं भयं जुगुप्सा चेति। अत्र त्रिभिर्वेदैर्द्वाभ्यां युगलाभ्यां षड् भङ्गा भवन्ति। पर्याप्तबादर-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु इमे द्वे द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । तत्र द्वाविंशतिः प्रागिव [1]सभेदा वक्तव्या। सैव च द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वहीना एकविंशतिः। सा च केषाञ्चित् करणापर्याप्तावस्थायां सासादनभावे सति लभ्यते न सर्वेषाम्, शेषकाले वा। अत्र चत्वारो भङ्गाः, यत इह नपुंसकवेदो न बन्धमायाति, मिथ्यात्वोदयाभावात्, नपुंसकवेद-बन्धस्य च मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात् । ततो द्वाभ्यां वेदाभ्यां द्वाभ्यां च युगलाभ्यां चत्वार एव भङ्गाः। एकस्मिंस्तु पर्याप्तसंज्ञिरूपे जीवस्थाने द्वाविंशत्यादीनि दश बन्धस्थानानि, तानि च प्राग्वद् [2]सभेदानि वक्तव्यानि।

"तिग चउ नव उदयगए" इति, यथोक्तरूपेषु अष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं [4]त्रीणि त्रीण्यु-दयस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ नव दश च । यत्तु सप्तकमुदयस्थानमनन्तानुबन्ध्युदयरहितं तन्न प्राप्यते, तेषामवश्यमनन्तानुबन्ध्युदयसहितत्वात् । वेदश्च तेषामुदयप्राप्तो नपुंसकवेद एव, न स्त्रीवेद-पुरुषवेदौ। ततः 'अष्टोदये' मिथ्यात्वं क्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधादिका नपुंसक-वेदोऽन्यतरद् युगलमित्येवंरूपे चतुर्भिः क्रोधादिभिर्द्वाभ्यां च युगलाभ्यां भङ्गा अष्टौ। अष्टोदये एव भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायां नवोदयः, अत्रैकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गा अष्टौ अष्टौ प्राप्यन्ते इति सर्वसङ्ख्यया नवोदये भङ्गाः षोडश। भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्दशोदयः, अत्र भङ्गा अष्टौ। सर्वसङ्ख्यया अष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशद् भङ्गाः। तथा उक्तरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि उदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश। तत्र सासादनभावकाले एकविंशतिबन्धे सप्ता-ऽष्ट-नवरूपाणि त्रीण्युदयस्थानानि, वेदश्च तेषामुदयप्राप्तो नपुंसकवेदः, ततोऽन्यतमे चत्वारः क्रोधादिका नपुंसकवेदोऽन्यतरद् युगलमिति सप्तोदय एकविंशतिबन्धे ध्रुवः, अत्र प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्ता-यामष्टोदयः, अत्र प्रत्येकं भये जुगुप्सायां चाष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इत्यष्टोदये सर्वसङ्ख्यया भङ्गाः षोडश। ततो भय-जुगुप्सयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवोदयः, अत्राष्टावेव भङ्गाः। सर्वसङ्ख्यया सासादन-

---

१ सं० १ त० म० °दरपर्याप्तद्वि° ॥ २-३ मुद्रि० छा० सप्रभे° ॥ ४ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु केषुचिदादर्शेषु "त्रीणि त्रीणि" इति वाग्द्वयं लिखितं नोपलभ्यते केषुचित् पुनर्लभ्यते । एवमग्रेऽपि "त्रीणि त्रीणि, चत्वारि चत्वारि, द्वादश द्वादश, द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशद्" इत्यादिष्वपि ज्ञेयम् ॥

नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति, तत्रोत्पत्त्यभावात्, ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायुर्नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसङ्ख्यया पञ्च विकल्पाः। एवं देवानामपि पञ्च विकल्पा भावनीयाः, नवरं नारकायुःस्थाने देवायुरिति वक्तव्यम्, तद्यथा—देवायुष उदयः देवायुषः सत्ता इत्यादि। तथा तिर्यगायुष उदयः तिर्यगायुषः सत्ता, अयं विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्। परभवायुर्बन्धकाले तु नरकायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः नारक-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, अथवा देवायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः देव-तिर्यगायुषी सती। परभवायुर्बन्धोत्तरकालं तिर्यगायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती। सर्वसङ्ख्यया संज्ञिपर्याप्ततिरश्चां नव विकल्पाः। एवं मनुष्याणामपि नव भङ्गा भावनीयाः, केवलं तिर्यगायुःस्थाने मनुष्यायुरित्यभिधातव्यम्, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्तेत्यादि। तदेवं सर्वसङ्ख्यया संज्ञिनि पर्याप्तेऽष्टाविंशतिर्भङ्गाः। अपर्याप्ते संज्ञिनि आयुषो दश भङ्गा इमे—तिर्यगायुषः उदयः तिर्यगायुषः सत्ता, अयं विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्। परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषोः सत्ता, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती। परभवायुर्बन्धोत्तरकालं तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती। एवं तिरश्चोऽपर्याप्तसंज्ञिनः पञ्च भङ्गाः। एवं मनुष्यस्यापि पञ्च वक्तव्याः। सर्वसङ्ख्यया दश। शेषा न सम्भवन्ति, अपर्याप्तो हि संज्ञी तिर्यङ् मनुष्यो वा, न देव-नारकौ, न चापि स देवायुर्नारकायुषी बध्नाति, ततो दशैव यथोक्ता भङ्गाः। तथा ये प्राक् संज्ञितिरश्चां नव भङ्गा उक्तास्त एवासंज्ञिपर्याप्तेऽपि नव भङ्गा वक्तव्याः, यतोऽसंज्ञी पर्याप्तस्तिर्यगेव भवति न मनुष्यादिः, ततोऽन्यविकल्पा भङ्गा न प्राप्यन्ते। तथा येऽपर्याप्तसंज्ञितिरश्चः पञ्च भङ्गाः प्रागुक्तास्त एव पञ्च भङ्गाः [illegible] एकेन्द्रियादिषु [illegible] वक्तव्याः, सर्वेषामपि तिर्यक्त्वाद् देवादिषूत्पादाभावात्।

मोहं परं वोच्छं ॥ ३५ ॥

सम्भवति। सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिबन्धे सप्त सत्तास्थानानि। देवगतिप्रायोग्यवर्जां शेषामेकोनत्रिंशतं विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां च बध्नतो मिथ्यादृष्टेः सामान्येन नवापि प्रागुक्तानि उदयस्थानानि षट् च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिः। तत्रैकविंशत्युदये सर्वाण्यपीमानि प्राप्यन्ते; तत्राप्येकोननवतिर्बद्धतीर्थकरनामानं मिथ्यात्वं गतं नैरयिकमधिकृत्यावसेया, द्विनवतिरष्टाशीतिश्च देव-नैरयिक-मनुज-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-एकेन्द्रियानधिकृत्य, षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुज-एकेन्द्रियानधिकृत्य[1], अष्टसप्ततिरेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य। चतुर्विंशत्युदये एकोननवतिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि, तानि चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य वेदितव्यानि, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात्। पञ्चविंशत्युदये षडपि सत्तास्थानानि, तानि यथैकविंशत्युदये भावितानि तथैव भावनीयानि। षड्विंशत्युदये एकोननवतिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि, तानि प्रागिव भावनीयानि; एकोननवतिस्तु न लभ्यते, यतो मिथ्यादृष्टेः सत एकोननवतिर्नरकप्रत्यभिमुखस्य नैरयिकस्य प्राप्यते न शेषस्य, न च नैरयिकस्य षड्विंशत्युदयः सम्भवति। सप्तविंशत्युदयेऽष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि-तत्रैकोननवतिः प्रागुक्तस्वरूपं नैरयिकमधिकृत्य, द्विनवतिरष्टाशीतिश्च देव-नैरयिक-मनुज-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-एकेन्द्रियानधिकृत्य, षडशीतिरशीतिश्च एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य। अष्टसप्ततिस्तु न सम्भवति, यतः सप्तविंशत्युदयस्तेजो-वायुवर्जानामेकेन्द्रियाणामातप-उद्योतान्यतरसहितानां भवति, नारकादीनां वा, न च तेषामष्टसप्ततिः, तेषामवश्यं मनुष्यद्विकबन्धसम्भवात्। एतान्येव पञ्च सत्तास्थानान्यष्टाविंशत्युदयेऽपि—तत्रैकोननवतिर्द्विनवतिरष्टाशीतिश्च प्रागिव भावनीया, षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय[2]-मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्या। एवमेकोनत्रिंशदुदयेऽप्येतान्येव पञ्च सत्तास्थानानि भावनीयानि। त्रिंशदुदये चत्वारि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः। एतानि विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि। एकोननवतिस्तु न प्राप्यते, यतः सा[3] वेदकसम्यग्दृष्टेः सतो बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नैरयिकस्य प्राप्यते, न च नैरयिकस्य त्रिंशदुदयोऽस्ति। एकत्रिंशदुदयेऽप्येतान्येव चत्वारि, तानि च विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्रष्टव्यानि। सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टेरेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि। या तु देवगतिप्रायोग्या एकोनत्रिंशत् सा मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति, कारणं प्रागेवोक्तम्। मनुष्य-देवगतिप्रायोग्यवर्जां शेषां त्रिंशतं विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां बध्नतः

---

१ छा० मुद्रि० ०त्य वेदितव्या, भष्ट० ॥ २ इत ऊर्ध्वम्-छा० म० ग्रन्थाग्रम् २६२० ॥ ३ सं० सं० १ सं० २ त० म० छा० सा मिथ्यादृष्टेः स० ॥

तदेवमुक्तो मिथ्यादृष्टेर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानसंवेधः । सम्प्रति सासादनस्य बन्ध-उदय-सत्ता-स्थानान्युच्यन्ते—"तिग सत्त दुगं" ति त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्राष्टाविंशतिर्द्विधा—देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च । तत्र नरकगति-प्रायोग्या सासादनस्य न बन्धमायाति, देवगतिप्रायोग्यां पुनर्बध्नन्ति तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च । तस्यां चाष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टौ भङ्गाः । तथा सासादना एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियास्ति-र्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या देवा नैरयिकाश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां वा एकोन-त्रिंशतं बध्नन्ति न शेषाम् । अत्र च भङ्गाश्चतुःषष्टिशतानि ६४००, तथाहि—सासादना यदि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्याम् अथवा मनुष्यगतिप्रायोग्याम् एकोनत्रिंशतं बध्नन्ति तथापि न ते हुण्ड-संस्थानं सेवार्तं च संहननं बध्नन्ति,[1] मिथ्यात्वोदयाभावात् ; ततश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेको-नत्रिंशतं बध्नतः पञ्चभिः संस्थानैः पञ्चभिः संहननैः प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरा-ऽस्थिराभ्यां शुभा-ऽशुभाभ्यां सुभग-दुर्भगाभ्यां सुस्वर-दुःस्वराभ्याम् आदेया-ऽनादेयाभ्यां यशः-कीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां च भङ्गा द्वात्रिंशच्छतानि ३२००, एवं मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतो द्वात्रिंशच्छतानि ३२००, ततः सर्वसङ्ख्यया चतुःषष्टिशतानि ६४०० भवन्ति । तथा सासा-दना एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या देवा नैरयिका वा यदि त्रिंशतं बध्नन्ति तर्हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेवोद्योतसहितां न शेषाम् । तां च बध्नतां प्रागिव भङ्गकानां द्वात्रिं-शच्छतानि ३२०० । सर्वबन्धस्थानभङ्गसङ्ख्या अष्टाधिकानि षण्णवतिशतानि ९६०८ ।

उक्तरूपभङ्गसङ्ख्यानिरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

---

१ म० छा० मुद्रि० ०षाणि प्रत्येकं चत्वा० ॥२ सं १ सं० २ त० म० ०कद्विकनामस० ॥ ३ मुद्रि० ०याति ? इति ॥ ४ मुद्रि० ०न्ति, तथास्वाभाव्यात् ; त० ॥

त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्रैकोनत्रिंशति देवानधिकृत्याष्टौ भङ्गाः, नैरयिकानधिकृत्यैकः, सर्वसङ्ख्यया नव। त्रिंशति तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य[1] सर्वपर्याप्तिपर्याप्तयोग्यानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, मनुष्यानधिकृत्य[2] एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, सर्वसङ्ख्यया त्रयोविंशतिशतानि चतुरधिकानि २३०४। एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य, तत्र भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२। सर्वोदयस्थानभङ्गसङ्ख्या चतुस्त्रिंशच्छतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ३४६५।

द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च।

साम्प्रतं संज्ञेश उच्यते—सम्यग्मिथ्यादृष्टेरष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—त्रिंशद् एकत्रिंशत्। एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानम्—एकोनत्रिंशत्। अत्रापि ते एव द्वे सत्तास्थाने। तदेवमेकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने इति सर्वसङ्ख्यया षट्।

सम्प्रत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—"तिगऽट्ठ चउ" त्ति त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र तिर्यङ्-मनुष्याणामविरतसम्यग्दृष्टीनां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामष्टाविंशतिः, अत्राष्टौ भङ्गाः। अविरतसम्यग्दृष्टयो हि तिर्यङ्-मनुष्या न शेषगतिप्रायोग्यं बध्नन्ति, तेन नरकगतिप्रायोग्या अष्टाविंशतिर्न लभ्यते। मनुष्याणां देवगतिप्रायोग्यं तीर्थकरसहितं बध्नतामेकोनत्रिंशत्, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः। देव-नैरयिकाणां मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतामेकोनत्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः। तेषामेव मनुष्यगतिप्रायोग्यं तीर्थकरसहितं बध्नतां त्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः।

अष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्रैकविंशत्युदयो नैरयिक-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देवानधिकृत्य वेदितव्यः क्षायिकसम्यग्दृष्टेः, पूर्वबद्धायुष्कस्य एतेषु सर्वेष्वपि तस्य सम्भवात्। अविरतसम्यग्दृष्टिश्चापर्याप्तकेषु मध्ये नोत्पद्यते, ततोऽपर्याप्तकोदयवर्जाः शेषभङ्गाः सर्वेऽपि वेदितव्याः। ते च पञ्चविंशतिः—तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, मनुष्यानधिकृत्याष्टौ, देवान-

---

१ सं० १ त० ०त्य भङ्गा द्विपञ्चा०। म० मुद्रि० ०त्य अष्टाविंशत्यधिकानि सप्तदश शतानि १७२८, मनुष्यानधिकृत्य एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिशतानि अशीत्यधिकानि २८८०। एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य, तत्र भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२। सर्वोदयस्थानभङ्गसंख्या चत्वारिंशच्छतानि एकचत्वारिंशदधिकानि ४०४१। द्वे सत्तास्थाने॥
२ सं० १ त० ०त्य भङ्गा एका०॥ ३ म० छा० ०पा भ०॥

सङ्ख्यया त्रयोविंशतिशतानि द्वादशाधिकानि २३१२ । एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानाम् । अत्र भङ्गा एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ ।

उक्तरूपाया एव भङ्गसङ्ख्याया निरूपणार्थमियमन्तरभाष्यगाथा—

बत्तीस दोन्नि अट्ठ य, बासीयसया य पंच नव उदया ।
बारहिगा तेवीसा, बावन्नेक्कारस सया य ॥ १० ॥

सुगमा ॥

सर्वभङ्गसङ्ख्या सप्तनवत्यधिकानि चत्वारिंशच्छतानि ४०९७ ।

सासादनस्य द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । तत्र द्विनवतिर्य आहारकचतुष्टयं बद्ध्वा उपशमश्रेणीतः प्रतिपतन् सासादनभावमुपगच्छति तस्य लभ्यते, न शेषस्य । अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामपि सासादनानाम् ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्राष्टाविंशतिं बध्नतः सासादनस्य द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—त्रिंशद् एकत्रिंशत् । अष्टाविंशतिर्हि सासादनस्य बन्धयोग्या भवति देवगतिविषया, न च करणापर्याप्तः सासादनो देवगतिप्रायोग्यं बध्नाति, ततः शेषा उदया न सम्भवन्ति । [3]तत्र मनुष्यमधिकृत्य त्रिंशदुदये द्वे अपि सत्तास्थाने । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसासादनानधिकृत्याष्टाशीतिरेव, यतो द्विनवतिरुपशमश्रेणीतः प्रतिपततो लभ्यते, न च तिरश्चामुपशमश्रेणिसम्भवः । एकत्रिंशदुदयेऽप्यष्टाशीतिरेव, यत एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम् । न च तिरश्चां द्विनवतिः सम्भवति, प्रागुक्तयुक्तेः । एकोनत्रिंशतं तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यां बध्नतः सासादनस्य सप्ताप्युदयस्थानानि । तत्र एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देव-नैरयिकाणां सासादनानां स्वीयस्वीयोदयस्थानेषु वर्तमानानामेकमेव सत्तास्थानम्—अष्टाशीतिः । नवरं मनुष्यस्य त्रिंशदुदये वर्तमानस्योपशमश्रेणीतः प्रतिपततः सासादनस्य द्विनवतिः । एवं त्रिंशद्बन्धकस्यापि वक्तव्यम् । सर्वाण्यप्युदयस्थानान्यधिकृत्य सामान्येन सर्वसङ्ख्यया सासादनस्याष्टौ सत्तास्थानानि ।

सम्प्रति सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—"दुग तिग दुगं"ति द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्-मनुष्याणां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां देवप्रायोग्यमेव बन्धमायाति, ततस्तेषामष्टाविंशतिः, तत्र भङ्गा अष्टौ । एकोनत्रिंशद् मनुष्यप्रायोग्यां बध्नतां देव-नैरयिकाणाम्, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः । ते चोभयत्रापि स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरवसेयाः । शेषास्तु परावर्तमानप्रकृतयः शुभा एव सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां बन्धमायान्ति, ततः शेषभङ्गा न प्राप्यन्ते ।

[illegible] आ० मुद्रि०

[illegible]

[illegible] अनुष्यानधिकृत्य [illegible] ... [illegible]

सम्प्रति संवेध उच्यते—[illegible] तानि तिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्य । तत्रापि पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ [illegible] एकैकस्मिन्नुदयस्थाने, द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । [illegible], द्विधा—देवगतिप्रायोग्या मनुष्यगतिप्रायोग्या च । तत्र देवगतिप्रायोग्या [illegible], तां च मनुष्या एव बध्नन्ति । तेषां चोदयस्थानानि सप्त, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । मनुष्याणामेकत्रिंशत [illegible] । एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिः एकोननवतिश्च । मनुष्यगतिप्रायोग्यां चैकोनत्रिंशतं बध्नन्ति देव-नैरयिकाः । तत्र नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् । देवानां पञ्च तावदेतान्येव,

१ पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ देवनैरयिकान् वैक्रियतिर्यङ्मनुष्यांश्च प्रतीत्य नैरयिकः क्षायिक-वेदकसम्यग्दृष्टिः, देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि ॥ २ म० मुद्रि० ०त्वमनुग० ॥

द्वे उदयस्थाने, तद्यथा–एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशद् यो नाम पूर्वं प्रमत्तसंयतः सन् आहारकं वैक्रियं वा निर्वर्त्य पश्चादप्रमत्तभावं गच्छति तस्य प्राप्यते, अत्र द्वौ भङ्गौ––एको वैक्रियस्य, अपर आहारकस्य । एवं त्रिंशदुदयेऽपि द्वौ भङ्गौ । स्वभावस्थस्याप्यप्रमत्त-संयतस्य त्रिंशदुदयो भवति, तत्र भङ्गाश्चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४ । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टचत्वारिंशं शतम् १४८ ।

सत्तास्थानानि चत्वारि, तद्यथा––त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते–अष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्–अष्टाशीतिः । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्–एकोननवतिः । त्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्–द्विनवतिः । एकत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्–त्रिनवतिः । यस्य हि तीर्थकरमाहारकं वा सत् स नियमात् तद् बध्नाति, तेनैकैकस्मिन् बन्धे एकैकमेव सत्तास्थानम् । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ ।

सम्प्रत्यपूर्वकरणस्य बन्धादीन्युच्यन्ते–'पणगेग चउ'' त्ति अपूर्वकरणस्य पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका च । तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तसंयतस्येव द्रष्टव्यानि । एका तु यशःकीर्तिः, सा च देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सति वेदितव्या ।

एकमुदयस्थानम्–त्रिंशत् । अत्र वज्रर्षभनाराचसंहनन-षट्संस्थान-सुस्वर-दुःस्वर-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभिर्भङ्गाश्चतुर्विंशतिः २४ ।

अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते–आद्यसंहननत्रयान्यतमसंहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणीं प्रतिपद्यन्ते तन्मतेन भङ्गा द्विसप्ततिः । एवमनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहेष्वपि द्रष्टव्यम् ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा–त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते–अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धकानां त्रिंशदुदये सत्तास्थानानि यथाक्रममष्टाशीतिः एकोननवतिः द्विनवतिः त्रिनवतिश्च । एकविधबन्धकस्य त्रिंशदुदये चत्वार्यपि सत्तास्थानानि, कथम् ? इति चेद् उच्यते–इहाष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धकाः प्रत्येकं देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सत्येकविधबन्धका भवन्ति, अष्टाविंशत्यादिबन्धकानां च यथाक्रममष्टाशीत्यादीनि सत्तास्थानानि, तत एकविधबन्धे चत्वार्यपि[2] प्राप्यन्ते ॥४९॥

१ सं० १ त० म० ०तरसं० ॥ २ सं० छा० ०पि सत्तास्थानानि प्राप्य० ॥

द्वे उदयस्थाने, तद्यथा-एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशद् यो नाम पूर्वं प्रमत्तसंयतः सन् आहारकं वैक्रियं वा निर्वर्त्य पश्चादप्रमत्तभावं गच्छति तस्य प्राप्यते, अत्र द्वौ भङ्गौ—एको वैक्रियस्य, अपर आहारकस्य । एवं त्रिंशदुदयेऽपि द्वौ भङ्गौ । स्वभावस्थस्याप्यप्रमत्त-संयतस्य त्रिंशदुदयो भवति, तत्र भङ्गाश्चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४ । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टचत्वारिंशं शतम् १४८ ।

सत्तास्थानानि चत्वारि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते-अष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्-अष्टाशीतिः । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्—एकोननवतिः । त्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्—द्विनवतिः । एकत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्—त्रिनवतिः । यस्य हि तीर्थकरमाहारकं वा सत् स नियमात् तद् बध्नाति, तेनैकैकस्मिन् बन्धे एकैकमेव सत्तास्थानम् । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ ।

सम्प्रत्यपूर्वकरणस्य बन्धादीन्युच्यन्ते-'पणगेग चउ'' त्ति अपूर्वकरणस्य पञ्च बन्ध-स्थानानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका च । तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तसंयतस्येव द्रष्टव्यानि । एका तु यशःकीर्तिः, सा च देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सति वेदितव्या ।

एकमुदयस्थानम्-त्रिंशत् । अत्र वज्रर्षभनाराचसंहनन-षट्संस्थान-सुस्वर-दुःस्वर-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभिर्भङ्गाश्चतुर्विंशतिः २४ ।

अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते-आद्यसंहननत्रयान्यतमसंहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणीं प्रतिपद्यन्ते तन्मतेन भङ्गा द्विसप्ततिः । एवमनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहेष्वपि द्रष्टव्यम् ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा-त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धकानां त्रिंशदुदये सत्तास्थानानि यथाक्रममष्टाशीतिः एकोननवतिः द्विनवतिः त्रिनवतिश्च । एकविधबन्धकस्य त्रिंश-दुदये चत्वार्यपि सत्तास्थानानि, कथम् ? इति चेद् उच्यते-इहाष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धकाः प्रत्येकं देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सत्येकविधबन्धका भवन्ति, अष्टा-विंशत्यादिबन्धकानां च यथाक्रममष्टाशीत्यादीनि सत्तास्थानानि, तत एकविधबन्धे चत्वार्यपि[2] प्राप्यन्ते ॥४९॥

१ सं० १ त० म० ०तरसं० ॥ २ सं० छा० ०पि सत्तास्थानानि प्राप्य० ॥

द्वे उदयस्थाने, तद्यथा–एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्रैकोनत्रिंशद् यो नाम पूर्वं प्रमत्तसंयतः सन् आहारकं वैक्रियं वा निर्वर्त्य पश्चादप्रमत्तभावं गच्छति तस्य प्राप्यते, अत्र द्वौ भङ्गौ––एको वैक्रियस्य, अपर आहारकस्य। एवं त्रिंशदुदयेऽपि द्वौ भङ्गौ। स्वभावस्थस्याप्यप्रमत्तसंयतस्य त्रिंशदुदयो भवति, तत्र भङ्गाश्चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४। सर्वसङ्ख्ययाऽष्टचत्वारिंशं शतम् १४८।

सत्तास्थानानि चत्वारि, तद्यथा––त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च।

सम्प्रति संवेध उच्यते–अष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्–अष्टाशीतिः। एकोनत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्–एकोननवतिः। त्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्–द्विनवतिः। एकत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्–त्रिनवतिः। यस्य हि तीर्थकरमाहारकं वा सत् स नियमात् तद् बध्नाति, तेनैकैकस्मिन् बन्धे एकैकमेव सत्तास्थानम्। सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ।

सम्प्रत्यपूर्वकरणस्य बन्धादीन्युच्यन्ते–'पणगेग चउ'' त्ति अपूर्वकरणस्य पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा–अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका च। तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तसंयतस्येव द्रष्टव्यानि। एका तु यशःकीर्तिः, सा च देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सति वेदितव्या।

एकमुदयस्थानम्–त्रिंशत्। अत्र वज्रर्षभनाराचसंहनन-षट्संस्थान-सुस्वर-दुःस्वर-प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगतिभिर्भङ्गाश्चतुर्विंशतिः २४।

अपरे त्वाचार्या ब्रुवते–आद्यसंहननत्रयान्यतमसंहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणीं प्रतिपद्यन्ते तन्मतेन भङ्गा द्विसप्ततिः। एवमनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहेष्वपि द्रष्टव्यम्।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा–त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च।

सम्प्रति संवेध उच्यते–अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धकानां त्रिंशदुदये सत्तास्थानानि यथाक्रममष्टाशीतिः एकोननवतिः द्विनवतिः त्रिनवतिश्च। एकविधबन्धकस्य त्रिंशदुदये चत्वार्यपि सत्तास्थानानि, कथम्? इति चेद् उच्यते–इहाष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धकाः प्रत्येकं देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सत्येकविधबन्धका भवन्ति, अष्टाविंशत्यादिबन्धकानां च यथाक्रममष्टाशीत्यादीनि सत्तास्थानानि, तत एकविधबन्धे चत्वार्यपि[2] प्राप्यन्ते ॥४९॥

---

१ स० १ त० म० ०तरसं० ॥ २ स० छा० ०पि सत्तास्थानानि प्राप्य० ॥

द्वे उदयस्थाने, तद्यथा-एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशद् यो नाम पूर्वं प्रमत्तसंयतः सन् आहारकं वैक्रियं वा निर्वर्त्य पश्चादप्रमत्तभावं गच्छति तस्य प्राप्यते, अत्र द्वौ भङ्गौ--एको वैक्रियस्य, अपर आहारकस्य । एवं त्रिंशदुदयेऽपि द्वौ भङ्गौ । स्वभावस्थस्याप्यप्रमत्तसंयतस्य त्रिंशदुदयो भवति, तत्र भङ्गाश्चतुश्चत्वारिंशं शतम् १४४ । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टचत्वारिंशं शतम् १४८ ।

सत्तास्थानानि चत्वारि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते-अष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्-अष्टाशीतिः । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्—एकोननवतिः । त्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्-द्विनवतिः । एकत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम्-त्रिनवतिः । यस्य हि तीर्थकरमाहारकं वा सत् स नियमात् तद् बध्नाति, तेनैकैकस्मिन् बन्धे एकैकमेव सत्तास्थानम् । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ ।

सम्प्रत्यपूर्वकरणस्य बन्धादीन्युच्यन्ते-'पणगेग चउ" त्ति अपूर्वकरणस्य पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा-अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका च । तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तसंयतस्येव द्रष्टव्यानि । एका तु यशःकीर्तिः, सा च देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सति वेदितव्या ।

एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अत्र वज्रर्षभनाराचसंहनन-षट्संस्थान-सुस्वर-दुःस्वर-प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगतिभिर्भङ्गाश्चतुर्विंशतिः २४ ।

अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते-आद्यसंहननत्रयान्यतमसंहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणीं प्रतिपद्यन्ते तन्मतेन भङ्गा द्विसप्ततिः । एवमनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहेष्वपि द्रष्टव्यम् ।[1]

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धकानां त्रिंशदुदये सत्तास्थानानि यथाक्रममष्टाशीतिः एकोननवतिः द्विनवतिः त्रिनवतिश्च । एकविधबन्धकस्य त्रिंशदुदये चत्वार्यपि सत्तास्थानानि, कथम् ? इति चेद् उच्यते-इहाष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धकाः प्रत्येकं देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सत्येकविधबन्धका भवन्ति, अष्टाविंशत्यादिबन्धकानां च यथाक्रममष्टाशीत्यादीनि सत्तास्थानानि, तत एकविधबन्धे चत्वार्यपि[2] प्राप्यन्ते ॥४९॥

१ सं० १ त० म० ०तरसं० ॥ २ स छा० ०पि सत्तास्थानानि प्राप्य० ॥

सम्प्रत्यनिवृत्तिबादरस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते—"एगेगमट्ठ" ति अनिवृत्तिबादरस्यैकं बन्ध-स्थानम्—यशःकीर्तिः । एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा यावन्न नामत्रयोदशकं न क्षीयते । त्रयोदशसु च नामसु यथाक्रमं त्रिनवत्यादेः क्षीणेषूपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति । बन्ध-उदय-स्थानभेदा-भावादत्र संवेधो न सम्भवतीति नाभिधीयते ।

सूक्ष्मसम्परायस्य बन्धादीन्युच्यन्ते—"एगेगमट्ठ" त्ति सूक्ष्मसम्परायस्यैकं बन्धस्थानम्—यशःकीर्तिः । एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अष्टौ सत्तास्थानानि, तानि चानिवृत्तिबादरस्येव वेदितव्यानि । तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यामेव, उपरितनानि तु क्षपकश्रेण्याम् ।

"छउमत्थकेवलिजिणाणं" इत्यादि । छद्मस्थजिनाः---उपशान्तमोहाः क्षीणमोहाश्च, केवलि-जिनाः---सयोगिकेवलिनोऽयोगिकेवलिनश्च, तेषां यथाक्रममुदय-सत्तास्थानानि—"एग चऊ" इत्यादीनि । तत्रोपशान्तमोहस्यैकमुदयस्थानम्---त्रिंशत् ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा---त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च ।

क्षीणकषायस्यैकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अत्र भङ्गाश्चतुर्विंशतिरेव, वज्रर्षभनाराचसंहनन-युक्तस्यैव क्षपकश्रेण्यारम्भसम्भवात् । तत्रापि तीर्थकरसत्कर्मणः क्षीणमोहस्य सर्वं संस्थानादि प्रशस्तमित्येक एव भङ्गः ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा---अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । एकोनाशीति-पञ्चसप्तती अतीर्थकरसत्कर्मणो वेदितव्ये । अशीति-षट्सप्तती तु तीर्थकरसत्कर्मणः ।

सयोगिकेवलिनोऽष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा--विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः, अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एतानि सामान्यतो नाम्न उदयस्थानचिन्तायां सप्रपञ्चं विवृतानीति न भूयो विव्रियन्ते ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा--अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः ।

सम्प्रति संवेध उच्यते---स च जीवस्थानेषु पर्याप्तसंज्ञिद्वारे यथा कृतस्तथाऽत्रापि भावयितव्यः ।

अयोगिकेवलिनो द्वे उदयस्थाने, तद्यथा–नव अष्टौ च । तत्राष्टोदयोऽतीर्थकरायोगिकेव-लिनः, नवोदयस्तीर्थकरायोगिकेवलिनः ।

षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा–अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टौ च ।

१ सं १ त० म० ०ने वेदितव्ये, तद्य० ॥ २ सं०सं ३ २ मुद्रि० च । तत्राष्टो०॥

सम्प्रति सत्त्वं उच्यते—तत्राष्टोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिः अष्टौ च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयस्तावत् प्राप्येते, चरमसमयेऽष्टौ । नवोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः नव च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयः, चरमसमये नव ॥ ५० ॥

तदेवं गुणस्थानकेषु बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युक्तानि । साम्प्रतं गत्यादिषु मार्गणास्थानेषु तानि चिचिन्तयिषुः प्रथमतो गतिषु तावत् चिन्तयन्नाह—

दो छक्कऽट्ठ चउक्कं, पण नव एक्कार छक्कगं उदया ।
नेरइआइसु संता, ति पंच एक्कारस चउक्कं ॥ ५१ ॥

नैरयिक तिर्यग्-मनुष्य-देवानां यथाक्रमं द्वे षड् अष्टौ चत्वारि बन्धस्थानानि । तत्र नैरयिकाणामिमे द्वे, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशद् मनुष्यगतिप्रायोग्या तिर्यग्गतिप्रायोग्या च वेदितव्या । त्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता, मनुष्यगतिप्रायोग्या तु तीर्थकरसहिता । भङ्गाश्च[2] प्रागुक्ताः सर्वेऽपि द्रष्टव्याः ।

तिरश्चां षड् बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि, केवलमेकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च या तीर्थकरा-ऽऽहारकसहिता सा न वक्तव्या, तिरश्चां तीर्थकरा-ऽऽहारकबन्धासम्भवात् ।

मनुष्याणामष्टौ बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका च । एतान्यपि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि, मनुष्याणां चतुर्गतिकप्रायोग्यबन्धसम्भवात् ।

देवस्य चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । अत्र पञ्चविंशतिः षड्विं[3]शतिश्च पर्याप्त-बादर-प्रत्येकसहितमेकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो वेदितव्या । अत्र स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः । षड्विंशतिः आतप-उद्योतान्यतरसहिता भवति, ततोऽत्र भङ्गाः षोडश । एकोनत्रिंशद् मनुष्यगतिप्रायोग्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या च सप्रभेदाऽवसेया । त्रिंशत् पुनस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्यभेदोपेता ४६०८ प्रागिव [4]वक्तव्या । या तु मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता तत्र स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः ।

---

१ सं० सं० १ सं० २ त० छा० ०आई संता, ॥ २ छा० मुद्रि० ०श्च सर्वत्रापि प्रागु० ॥ ३ सं० १ म० ०शतिः पर्या० ॥ ४ मुद्रि० ०व्व सप्रभेदा वक्त० ॥

सम्प्रत्युदयस्थानान्यभिधीयन्ते--"पण नव एक्कार छक्कं उदया" । नैरयिकाणां पञ्च[1] 'उदयाः' उदयस्थानानि, तद्यथा-एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् । एतानि सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि ।

तिरश्चां नव उदयस्थानानि, तद्यथा--एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एतानि एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-सवैक्रिया-ऽवैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि ।

मनुष्याणामेकादशोदयस्थानानि, तद्यथा-विंशतिः एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्ट च । एतानि च स्वभावस्थमनुष्य-वैक्रियमनुष्या-ऽऽहारकसंयत-तीर्थ[2]करा-ऽतीर्थकरसयोगि-अयोगिकेवलिनोऽधिकृत्य प्राग्वद् भावनीयानि ।

देवानां षड् उदयस्थानानि, तद्यथा-एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशद् त्रिंशत् । एतान्यपि प्रागेव सप्रपञ्चमुक्तानि, न भूय उच्यन्ते ।

सम्प्रति सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते--"तिंना ति पंच एक्कारस चउक्कं" । नैरयिकाणां सत्तास्थानानि त्रीणि, तद्यथा--द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च । एकोननवतिर्बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नरकेषूत्पद्यमानस्यावसेया । त्रिनवतिस्तु न सम्भवति, तीर्थकरा-ऽऽहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात् ।

तिरश्चां पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा--द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । तीर्थकरसम्बन्धीनि क्षपकसम्बन्धीनि च सत्तास्थानानि न सम्भवन्ति, तीर्थकरनाम्नः क्षपकश्रेण्याश्च तिर्यक्ष्वभावात् ।

मनुष्याणामेकादश सत्तास्थानानि, तद्यथा- त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टौ च । अष्टसप्ततिस्तु न सम्भवति, मनुष्याणामवश्यं मनुष्यद्विकसम्भवात् ।

देवानां चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा- त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः । शेषाणि तु न सम्भवन्ति, शेषाणि हि कानिचिद् एकेन्द्रियसम्बन्धीनि कानिचित् क्षपकसम्बन्धीनि, ततः कथं तानि देवानां भवितुमर्हन्ति ? ।

सम्प्रति संवेध उच्यते--नैरयिकस्य तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्च उदयस्थानानि, तानि चानन्तरमेवोक्तानि । तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा--द्विनवतिः अष्टा-

---

१ सं० १ त० म० ०ञ्च उदयस्थाना० ॥ २ सं० १ त० म० ०करसयो० ॥

शीतिः । तीर्थकरसत्कर्मणस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धासम्भवाद् एकोननवतिर्न लभ्यते । मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्वेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा-द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च । तीर्थकरसत्कर्मा हि नरकेषूत्पन्नो यावद् मिथ्यादृष्टिस्तावद् एकोनत्रिंशतं बध्नाति, सम्यक्त्वं तु प्रतिपन्नस्त्रिंशतम् , तीर्थकरनामकर्मणोऽपि बन्धात् । तिर्यग्गतिप्रायोग्यामुद्योतसहितां त्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा--द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एकोननवत्यभावभावना प्रागिव भावनीया । मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानम्--एकोननवतिः । सर्वबन्धस्थान-उदयस्थानापेक्षया सत्तास्था[1]नानि चत्वारिंशत् ।

सम्प्रति तिरश्चां संवेध उच्यते—त्रयोविंशतिबन्धकस्य तिरश्च एकविंशत्यादीनि नव उदयस्थानानि, तानि चानन्तरमेवोक्तानि । तत्राद्येषु चतुर्षु एकविंशति-चतुर्विंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशतिरूपेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिः । इहाष्टसप्ततिस्तेजो-वायून् तद्भवादुद्वृत्तान् वाऽधिकृत्य वेदितव्या । शेषेषु तु सप्तविंशत्यादिषु पञ्चसूदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । सप्तविंशत्याद्युदयेषु हि नियम[2]तो मनुष्यगतिद्विकसम्भवादष्टसप्ततिर्न लभ्यते । एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम् । नवरमेकोनत्रिंशतं मनुष्यगतिप्रायोग्यां ब[3]ध्नतः सर्वेष्वप्युदयस्थानेष्वष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । अष्टाविंशतिबन्धकस्य अष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशति-षड्विंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्रूपाः पञ्च उदयाः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा द्वाविंशतिसत्कर्मणां पूर्वबद्धायुषामवगन्तव्याः । एकैकस्मिंश्च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च । पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ वैक्रियतिरश्चां वेदितव्यौ, तत्रापि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने । त्रिंशद्-एकत्रिंशदुदयौ सर्वपर्याप्तिपर्याप्तानां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वाऽवसेयौ । एकैकस्मिंश्च त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । षडशीतिर्मिथ्यादृष्टीनामवगन्तव्या । सम्यग्दृष्टीनां तु न सम्भवति, तेषामवश्यं देवद्विकादिबन्धसम्भवात् । तदेवं सर्वबन्धस्थान-सर्वोदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानां द्वे शते अष्टादशाधिके २१८, तथाहि—त्रयोविंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकेषु प्रत्येकं चत्वारिंशत् चत्वारिंशत् , अष्टाविंशतिबन्धे चाष्टादश ।

---

१ सं० २ छा० मुद्रि० °नानि त्रिंशत् ॥ २ इत ऊर्ध्वम्-छा० ग्रन्थाग्रम्-२६३० ॥ ३ सं० १ त० म० °ध्नतां° ॥

सम्प्रति मनुष्याणां संवेध उच्यते—तत्र मनुष्यस्य त्रयोविंशतिबन्धकस्योदयाः सप्त, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्, शेषाः केवल्युदया इति न सम्भवन्ति । पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ च वैक्रियकारिणो वेदितव्यौ । एकैकस्मिंश्चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिश्च । नवरं पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च; शेषाणि तु सत्तास्थानानि तीर्थकर-क्षपकश्रेणि-केवलि शेषगतिप्रायोग्याणीति न सम्भवन्ति; सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतिः । एवं पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानामपि वक्तव्यम् । मनुजगतिप्रायोग्यां तिर्यग्गतिप्रायोग्यां चैकोनत्रिंशतं त्रिंशतं च बध्नतामप्येवमेव । अष्टाविंशतिबन्धकानां सप्त उदयाः, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकविंशति-षड्विंशत्युदयौ अविरतसम्यग्दृष्टेः करणपर्याप्तस्य । पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ वैक्रियस्याहारकसंयतस्य वा । अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशतौ अविरतसम्यग्दृष्टीनां वैक्रियकारिणामाहारकसंयतानां च । त्रिंशत् सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । एकैकस्मिन् द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च । आहारकसंयतस्य द्विनवतिरेव । त्रिंशदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । तत्रैकोननवतिर्नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेया । सर्वसङ्ख्यया ऽष्टाविंशतिबन्धे षोडश सत्तास्थानानि । देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं तीर्थकरसहितां बध्नतः सप्त उदयस्थानानि, तानि चाष्टाविंशतिबन्धकानामिव द्रष्टव्यानि । नवरं त्रिंशदुदयः सम्यग्दृष्टीनामेव वक्तव्यः, यत एकोनत्रिंशद्बन्धस्तीर्थकरनामसहितः, तीर्थकरनाम च बन्धमायाति सम्यग्दृष्टीनामिति । सर्वेष्वपि चोदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिः एकोननवतिश्च । आहारकसंयतस्य त्रिनवतिरेव । सर्वसङ्ख्यया चतुर्दश । आहारकसहितां त्रिंशतं बध्नतो द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र यो नामाऽऽहारकसंयतोऽन्तिमकालेऽप्रमत्तत्वं प्रति एकोनत्रिंशद् वेदितव्या, अन्यत्रैकोनत्रिंशति आहारकबन्धहेतोर्विशिष्टसंयमस्यासम्भवात् । द्वयोरप्युदयस्थानयोः प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानम्—द्विनवतिः । एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत्; एकं सत्तास्थानम्—त्रिनवतिः । एकविधबन्धकस्यैकमुदयस्थानम्—त्रिंशत्; अष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः

१ मुद्रि० °षाः संयतादृ° ॥ २ सं० छा० मुद्रि० °न्ति । त्रयोविंशतिबन्धकस्य पञ्च° ॥ ३ छा० मुद्रि० °वलिसम्बन्धीनि शेष [illegible] न ॥ ४ छा० मुद्रि० °दृष्टिवैक्रियाहारकसंयता नाम । त्रि० ॥ ५ छा० मुद्रि० °वरमिह त्रि० ॥ ६ आहारकमोक्षकाले इत्यर्थः ॥ ७ छा० सं० मुद्रि० प्रतीत्यैको° ॥ ८ अप्रमत्तं विहायेत्यर्थः ॥ ९ सं० १ त० म० छा० °स्याभावा° ॥

त्रसेयानि, अन्यत्र पञ्चेन्द्रियस्य सत एकत्रिंशदुदयाभावात् । षडशीतिश्च मिथ्यादृष्टीनां तिर्य-
नपञ्चेन्द्रियाणामत्रसेया, न सम्यग्दृष्टीनाम्, सम्यग्दृष्टीनामवश्यं देवद्विकबन्धसम्भवेनाष्टाशीति-
सम्भवात् । अत्र सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानान्येकोनविंशतिः १९ । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य तान्येवा-
ष्टावुदयस्थानानि । तत्रैकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च सप्त सप्त सत्तास्थानानि । तद्यथा—
द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिः त्रिनवतिः एकोननवतिः । तत्र तिर्यग्ग-
तिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नत आद्यानि पञ्च, मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नत आद्यानि चत्वारि,
देवगतिप्रायोग्यां बध्नतोऽन्तिमे द्वे अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदये[1]षु एतान्येवाष्टसप्तति-
वर्जानि षट् षट् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशदुदये आद्यानि चत्वारि । पञ्चविंशति-सप्तविंशत्यु-
दययोः पुनरिमानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः त्रिनवतिः
एकोननवतिश्च । सर्वाङ्कस्थापना—२१/७ २५/४ २६/७ २७/४ २८/६ २९/६ ३०/६ ३१/४, सर्वसङ्ख्ययैकोनत्रिंश-
द्बन्धे चतुश्चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । त्रिंशद्बन्धकस्यापि तान्येवाष्टावुदयस्थानानि, तान्येव
च प्रत्येकं सत्तास्थानानि । केवलमिहैकविंशत्युदये आद्यानि द्विनवति--अष्टाशीति--षडशीति--
अशीति अष्टसप्ततिरूपाणि पञ्च सत्तास्थानानि तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेव त्रिंशतं बध्नतो वेदित-
व्यानि, न मनुष्यगतिप्रायोग्याम् , तस्यास्तीर्थकरनामसहितत्वात् । देवगतिप्रायोग्या तु त्रिंशदा-
हारकद्विकसहिता सा एकविंशत्युदये न सम्भवति । त्रिनवति-एकोननवती मनुष्यगतिप्रा-
योग्यां त्रिंशतं बध्नतो देवस्य वेदितव्ये । षड्विंशत्युदये च तान्येव पञ्च सत्तास्थानानि, न त्रिन-
वति-एकोननवती । षड्विंशत्युदयो हि तिरश्चां मनुष्याणां वाऽपर्याप्तावस्थायाम् ; न च तदानीं
देवगतिप्रायोग्याया मनुष्यगतिप्रायोग्याया[2] वा त्रिंशतो बन्धोऽस्तीति त्रिनवति-एकोननवती न
प्राप्येते, शेषं तथैव । सर्वाङ्कस्थापना—२१/७ २४/४ २५/५ २६/६ २८/६ २९/६ ३०/४ ३१/४, सर्वसङ्ख्यया त्रिं-
शद्बन्धे द्विचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकविधबन्धकस्य चोदयसत्तास्थान-
संवेधो यथा प्राग् मनुष्यस्योक्तस्तथैव वक्तव्यः[3] । तदेवमिन्द्रियाण्यधिकृत्य संवेध उक्तः ॥५२॥

इय कम्मपगइठाणाइँ सुट्ठु बंधुदयसंतकम्माणं ।
गइआइएहिँ अट्ठसु, चउप्पगारेण नेयाणि ॥५३॥

'इति' उक्तेन प्रकारेण 'बन्ध-उदय-सत्कर्मणां' बन्ध-उदय-सत्तानां सम्बन्धीनि कर्मप्रकृति-
स्थानानि 'सुष्ठु' अत्यन्तमुपयोगं कृत्वा 'गत्यादिभिः,

---

[1] मुद्रि० ०षु तान्ये० ॥ [2] सं० सं० २ मुद्रि० ०याऽत्रिश० ॥ [3] सं० १ त० म० ०व्यः । सर्वे-
न त्रिंशे द्वे शते २३० । तदे० ॥

सम्प्रति सत्तास्थानान्युच्यन्ते—"पण पण बारस य संताणि" त्ति एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रि
न्द्रियाणां यथाक्रमं पञ्च पञ्च द्वादश सत्तास्थानानि। तत्रैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियाणां पञ्च इमानि
द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च। पञ्चेन्द्रियाणां सर्वाण्यपि सत्तास्था

तदेवं सामान्यतो बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युक्तानि। सम्प्रति संवेध उच्यते—एकेन्द्रि
त्रयोविंशतिबन्धकानामाद्येषु चतुर्षूदयस्थानेषु पूर्वोक्तानि पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, सप्तविंश
न्यष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि; एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धक
पि वक्तव्यम्; सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि विंशं शतम् १२०। विकलेन्द्रियाणां त्रयोवि
बन्धकानामेकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, शेषेषु तु चतुर्षूदयस्थ
अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि; एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एको
त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम्; सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि त्रिंशं शतम् १३०। पञ्चे
[illegible] त्रयोविंशतिबन्धकानां षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्ट
[illegible] त्रिंशत् एकत्रिंशत्। एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनुष्यांश्चाधिकृत्य भा
[illegible] एकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्च अनन्तरोक्तानि सत्तास्थानानि, शे
[illegible] शेषाणि चत्वारि चत्वारि [illegible]

वसेयानि, अन्यत्र पञ्चेन्द्रियस्य सत एकत्रिंशदुदयाभावात् । षडशीतिश्च मिथ्यादृष्टीनां तिर्य-
क्पञ्चेन्द्रियाणामवसेया, न सम्यग्दृष्टीनाम्, सम्यग्दृष्टीनामवश्यं देवद्विकबन्धसम्भवेनाष्टाशीति-
सम्भवात् । अत्र सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानान्येकोनविंशतिः १९ । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य तान्येवा-
ष्टावुदयस्थानानि । तत्रैकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च सप्त सप्त सत्तास्थानानि । तद्यथा—
द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिः त्रिनवतिः एकोननवतिः । तत्र तिर्यग्ग-
तिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नत आद्यानि पञ्च, मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नत आद्यानि चत्वारि,
देवगतिप्रायोग्यां बध्नतोऽन्तिमे द्वे अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदये[1]षु एतान्येवाष्टसप्तति-
वर्जानि षट् षट् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशदुदये आद्यानि चत्वारि । पञ्चविंशति-सप्तविंशत्यु-
दययोः पुनरिमानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः त्रिनवतिः
एकोननवतिश्च । सर्वाङ्कस्थापना—२१/५ २४/४ २६/७ २७/४ २८/६ २९/६ ३०/६ ३१/४, सर्वसङ्ख्ययैकोनत्रिंश-
द्बन्धे चतुश्चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । त्रिंशद्बन्धकस्यापि तान्येवाष्टावुदयस्थानानि, तान्येव
च प्रत्येकं सत्तास्थानानि । केवलमिहैकविंशत्युदये आद्यानि द्विनवति--अष्टाशीति--षडशीति--
अशीति अष्टसप्ततिरूपाणि पञ्च सत्तास्थानानि तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेव त्रिंशतं बध्नतो वेदित-
व्यानि, न मनुष्यगतिप्रायोग्याम् , तस्यास्तीर्थकरनामसहितत्वात् । देवगतिप्रायोग्या तु त्रिंशदा-
हारकद्विकसहिता सा एकविंशत्युदये न सम्भवति । त्रिनवति-एकोननवती मनुष्यगतिप्रा-
योग्यां त्रिंशतं बध्नतो देवस्य वेदितव्ये । षड्विंशत्युदये च तान्येव पञ्च सत्तास्थानानि, न त्रिन-
वति-एकोननवती । षड्विंशत्युदयो हि तिरश्चां मनुष्याणां वाऽपर्याप्तावस्थायाम् ; न च तदानीं
देवगतिप्रायोग्याया मनुष्यगतिप्रायोग्याया[2] वा त्रिंशतो बन्धोऽस्तीति त्रिनवति-एकोननवती न
प्राप्येते, शेषं तथैव । सर्वाङ्कस्थापना—२१/५ २४/४ २५/५ २७/४ २८/६ २९/६ ३०/६ ३१/४, सर्वसङ्ख्यया त्रिं-
शद्बन्धे द्विचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकविधबन्धकस्य चोदयसत्तास्थान-
संवेधो यथा प्राग् मनुष्यस्योक्तस्तथैव वक्तव्यः[3] । तदेवमिन्द्रियाण्यधिकृत्य संवेध उक्तः ॥५२॥

इय कम्मपगइठाणाइँ सुट्ठु बंधुदयसंतकम्माणं ।

गइआइएहिं अट्ठसु, चउप्पगारेण नेयाणि ॥५३॥

'इति' उक्तेन प्रकारेण 'बन्ध-उदय-सत्कर्मणां' बन्ध-उदय-सत्तानां सम्बन्धीनि कर्मप्रकृति-
स्थानानि 'सुष्ठु' अत्यन्तमुपयोगं कृत्वा 'गत्यादिभिः,

---

१ ०षु तान्ये० ॥ २ सं० सं० २ मुद्रि० ०याञ्त्रिंश० ॥ ३ सं० १ त० म० ०व्यः । सर्व-
न त्रिंशे द्वे शते २३० । तदे० ॥

[1]गइ इंदिए य काए, जोए वेए कसाय नाणे य ।
संजम दंसण लेसा, भव सम्मे सन्नि आहारे ॥
(पञ्चसं० गा० २१ जीवसमा० गा० १६)

इत्येवंरूपैश्चतुर्दशभिर्मार्गणास्थानैः 'अष्टसु' अनुयोगद्वारेषु

[2]संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य ।
कालो य अंतरं भाग भाव अप्पाबहुं चेव ॥ (आव० नि० गा० १३)

इत्येवंरूपेषु ज्ञातव्यानि । तत्र सत्पदप्ररूपणया संवेधो गुणस्थानकेषु सामान्येनोक्तः, विशेषतस्तु गतिरिन्द्रियाणि चाश्रित्य, एतदनुसारेण काय-योगादिष्वपि मार्गणास्थानेषु वक्तव्यः ।

शेषाणि तु द्रव्यप्रमाणादीनि सप्तानुयोगद्वाराणि कर्मप्रकृतिप्राभृतादीन् ग्रन्थान् सम्यक् परिभाव्य वक्तव्यानि, ते च कर्मप्रकृतिप्राभृतादयो ग्रन्था न सम्प्रति वर्तन्ते इति लेशतोऽपि दर्शयितुं न शक्यन्ते । यस्त्वैदंयुगीनेऽपि श्रुते सम्यगत्यन्तमभियोगमास्थाय पूर्वापरौ परिभाव्य दर्शयितुं शक्नोति तेनावश्यं दर्शयितव्यानि, प्रज्ञोन्मेषो हि सतामद्यापि तीव्र-तीव्रतरक्षयोपशमभावेनासीमो विजयमानो लक्ष्यते । अपि चान्यदपि यत् किञ्चिदिह क्षूणमापतितं तत् तेनापनीय तस्मिन् स्थानेऽन्यत् समीचीनमुपदेष्टव्यम् । सन्तो हि परोपकारकरणैकरसिका भवन्तीति ।

कथं पुनरष्टस्वप्यनुयोगद्वारेषु बन्ध-उदय-सत्तास्थानानि ज्ञातव्यानि ? इत्यत आह—'चतुःप्रकारेण' प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशरूपेण । तत्र प्रकृतिगतानि बन्ध-उदय-सत्तास्थानानि प्राय उक्तानि, एतदनुसारेण स्थिति-अनुभाग-प्रदेशगतान्यपि भावनीयानि । इह बन्ध-उदय-सत्तास्थानसंवेधे चिन्त्यमाने उदयग्रहणेनोदीरणाऽपि गृहीता द्रष्टव्या, उदये सत्यवश्यं उदीरणाया अपि भावात् ॥५३॥

तथा चाह—

उदयस्सुदीरणाए, सामित्ताओ न विज्जइ विसेसो ।
[4]मोत्तूण य[5] इगुयालं, सेसाणं सव्व[6]पगईणं ॥ ५४ ॥

इह कालप्राप्तानां कर्मपरमाणूनामनुभवनमुदयः, अकालप्राप्तानामुदयावलिकाबहिःस्थितानां कषायसहितेनासहितेन वा योगसंज्ञकेन वीर्यविशेषेण समाकृष्योदयप्राप्तैः कर्मपरमाणुभिः सहा-

---

१ गतौ इन्द्रिये च काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने च । संयमे दर्शने लेश्यायां भवे सम्यक्त्वे संज्ञि आहारे ॥
२ सत्पदप्ररूपणता द्रव्यप्रमाणं च क्षेत्रस्पर्शना च । कालश्च अन्तरं भागः भावः अल्पबहुत्वं चैव ॥
३ छा० मुद्रि० ०वयते ॥ ४ सं० १ त० म० छा० मुत्तूण ॥ ५ सं० सं० १ सं० २ य ई४१० ॥ ६ सं० १ त० म० छा० ०पयडीणं ॥

मुक्त्वानमुदीरणा, अनयोरुदय-उदीरणयोः 'स्वामित्वात्' स्वामित्वमधिकृत्य विशेषो न विद्यते । एतदुक्तं भवति—य एव ज्ञानावरणादीनां कर्मणामुदयस्वामी स एव तेषां कर्मणामुदीरणाया अपि स्वामी, "[1]जत्थ उदओ तत्थ उदीरणा, जत्थ उदीरणा तत्थ उदओ ।" इतिवचनप्रामाण्यात् ।

तत्रातिप्रसक्तं लक्षणमिन्दपवादमाह—"[2]मोत्तूण य" इत्यादि । 'मुक्त्वा एकचत्वारिंशतं' एकचत्वारिंशत्प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषाणां सर्वासां प्रकृतीनामुदय-उदीरणयोः स्वामित्वं प्रति न विशेषः ॥ ५४ ॥

एकचत्वारिंशत्प्रकृतीर्निर्दिशति—

नाणंतरायदसगं, दंसणनव वेयणिज्ज मिच्छत्तं ।
सम्मत्त लोभ वेयाऽऽउ॰ गाणि नवनाम उच्चं च ॥ ५५ ॥

एतासामेकचत्वारिंशत्प्रकृतीनामुदीरणामन्तरेणाप्युदयो भवति । तथाहि--पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां ५ पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां १० चतसृणां च चक्षुः-अचक्षुः-अवधि-केवलदर्शनावरणरूपाणां दर्शनावरणप्रकृतीनामुदय उदीरणा च सर्वजीवानां युगपत् तावत् प्रवर्तते यावत् क्षीणमोहगुणस्थानकाद्धाया आवलिकाशेषा न भवति १४, आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदय एव नोदीरणा, आवलिकागतस्योदीरणानर्हत्वात् । निद्रापञ्चकस्य शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां शरीरपर्याप्तिसमाप्त्यनन्तरसमयाद् आरभ्य यावद् इन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तिर्नोपजायते तावद् उदय एव नोदीरणा, शेषकाले तूदय-उदीरणे युगपत् प्रवर्तेते युगपच्च निवर्तेते १९ । द्वयोर्वेदनीययोः पुनः प्रमत्तगुणस्थानकं यावद् उदय उदीरणा च युगपत् प्रवर्तते, परतस्तूदय एव नोदीरणा २१ । तथा प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतोऽन्तरकरणे कृते सति प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां मिथ्यात्वस्योदय एव नोदीरणा २२ । तथा वेदकसम्यग्दृष्टिना क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयता मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोः क्षपितयोः सम्यक्त्वं सर्वापवर्तनयाऽपवर्त्य अन्तर्मुहूर्तस्थितिकं कृतम्, तत उदय-उदीरणाभ्यामनुभूयमानमनुभूयमानमावलिकाशेषं यदा भवति तदा सम्यक्त्वस्योदय एव नोदीरणा, अथवा उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमानस्य अन्तरकरणे कृते सति प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां सम्यक्त्वस्योदय एव नोदीरणा २३ । संज्वलनलोभस्य उदय उदीरणा च युगपत् तावत् प्रवर्तते यावत् सूक्ष्मसम्परायाद्धाया आवलिका[6] शेषा, तत आवलिकामात्रं कालमुदय एव नोदीरणा २४ । तथा त्रयाणां वेदानामन्यतमेन तेन तेन वेदेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्यान्तरकरणे कृते तस्य तस्य वेदस्य प्रथमस्थितावावलिकाशेषायामुदय एव नोदीरणा २७ । चतुर्णामप्या-

---

१ यत्र उदयस्तत्र उदीरणा, यत्र उदीरणा तत्र उदयः ॥ २ सं० १ त० म० छा० मुत्तूण० ॥ ३ स १ त० म० ०उया॥ण ॥ ४ सं० सं २ ०रणप्रकृती० ॥ ५ स० सं० १ म० ०नमावलि० ॥ ६ सं १ स २ त० म० ०काशेषः ॥

अन्तर्मुहूर्तेन कालेन करोति। अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति। प्रथमस्थितौ च वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितिगतं दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणा। यत् पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशाद् उदीरणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा आगाल इति। उदीरणाया एव विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इति द्वितीयं नाम पूर्वसूरिभिरावेदितम्। उदय-उदीरणाभ्यां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद् गतो यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति। तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते। तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते। साऽपि तावद् यावदावलिकाशेषो न भवति। आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते। ततः केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति। आवलिकामात्रचरमसमये च द्वितीयस्थितिगतं दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति। तद्यथा—सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं चेति। उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

[3]चरमसमयमिच्छद्दिट्ठी सेकाले उवसमसम्मद्दिट्ठी होहिइ ताहे बिईयठिइं तिहाणुभागं करेइ, तं जहा--सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं मिच्छत्तं च। इति।

ततोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वदलिकस्योदयाभावाद् औपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्नोति। उक्तं च—

[4]मिच्छत्तुदए खीणे, लहए सम्मत्तमोवसमियं सो।
लंभेण जस्स[5] लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्वं जं॥ (कर्मप्र० गा० ३३०)

एष च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनाद् भवति। उक्तं च—

[6]सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमा (कर्मप्र० गाथा० ३३५) इति।

सम्यक्त्वं चेदं प्रतिपद्यमानः कश्चिद् देशविरतिसहितं प्रतिपद्यते, कश्चित् सर्वविरतिसहितम्। उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहे--

[7]सम्मत्तेणं समगं, सव्वं देसं च कोइ पडिवज्जे। (गा० ७६०)

ततो देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतैर्वापि मिथ्यात्वमुपशान्तं लभ्यते।

सम्प्रति वेदकसम्यग्दृष्टेस्त्रयाणामपि दर्शनमोहनीयानामुपशमनाविधिरुच्यते—इह वेदक-

---

१ स [illegible] सा आगाल इति। उदीरणैव पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते। उदय० । [illegible] मुद्रि० [illegible] सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते। उदय० ॥ २ सं० १ त० छा० [illegible] काशेषो न ॥ ३ चरमसमयमिथ्यादृष्टिः एष्यत्काले उपशमसम्यग्दृष्टिर्भविष्यति तदा द्वितीयस्थितिं त्रिधानुभागां करोति, तद्यथा—सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं मिथ्यात्वं च ॥ ४ मिथ्यात्वोदये क्षीणे [illegible] सम्यक्त्वमौपशमिकं सः। लाभेन यस्य लभते आत्महितमलब्धपूर्वं यत् ॥ ५ हे० १ त० म० मुद्रि० [illegible] ॥ ६ सम्यक्त्वप्रथमलाभः सर्वोपशमात् ॥ ७ सम्यक्त्वेन समकं सर्वं देशं च कोऽपि प्रति- पद्येत [illegible]

[illegible] अन्तर्मुहूर्तमात्रेण कालेन दर्शनत्रिकमुपशमयति, उपशमयतश्च [illegible] अनिवृत्तिकरणाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु अन्तरकरणं करोति, अन्तरकरणे च कृते सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा स्थाप[illegible] आवलिकामात्रम् । [illegible] त्रयाणामपि सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितौ [illegible], मिथ्यात्वमिश्रयोः प्रथमस्थितिदलिकं सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितिदलिकमध्ये स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति, सम्यक्त्वस्य पुनः प्रथमस्थितिं विपाकानुभवतः क्रमेण क्षीणायां [illegible] । [illegible] त्रयाणामपि मिथ्यात्वादीना[illegible] । एवमुपशान्तदर्शनमोहनीयत्रिकश्चारित्रमोहनीयमुपशमयितुं पुनरपि यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति, करणानां च स्वरूपं प्राग्वदवगन्तव्यम् । केवलमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके । अत्र चापूर्वकरणे स्थितिघातादयः पूर्ववदेव वर्तन्ते, नवरमिह सर्वासामप्यशुभप्रकृतीनामबध्यमानानां गुणसंक्रमः प्रवर्तते इति वक्तव्यम् । अपूर्वकरणाद्धायाश्च संख्येयतमे भागे गते सति निद्रा-प्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदः । ततः प्रभूतेषु स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेषु सत्सु अपूर्वकरणाद्धायाः संख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते । अत्रान्तरे देवगति-देवानुपूर्वी-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मण-समचतुरस्र-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-वर्णादिचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-प्रशस्तविहायोगति-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-निर्माण-तीर्थकरसंज्ञितानां त्रिंशतः प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदः । ततः स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति अपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमये हास्य-रति-भय-जुगुप्सानां बन्धव्यवच्छेदः हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सानामुदयव्यवच्छेदः, सर्वकर्मणां च देशोपशमना-निधत्ति-निकाचनाकरणानि व्यवच्छिद्यन्ते । ततोऽनन्तरसमयेऽनिवृत्तिकरणं प्रविशति । अत्रापि स्थितिघातादीनि पूर्ववत् करोति । ततोऽनिवृत्तिकरणाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु दर्शनसप्तकशेषाणामेकविंशतिमोहनीयप्रकृतीनामन्तरकरणं करोति । [illegible] चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य संज्वलनस्य त्रयाणां च वेदानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य वेदस्य प्रथमा स्थितिः स्वोदयकालप्रमाणा । अन्येषां चैकादशकषायाणामष्टानां च कषायाणां प्रथमा स्थितिरावलिकामात्रा । स्वोदयकालप्रमाणं च चतुर्णां संज्वलनानां

---

१ सं० १ त० म० ०पाद्वितयत्रि० ॥२ सं० म० ०मात्रं उत्की० । सं० १ ०मात्रां उदीरणां उत्की० ॥३ सं० १ त० म० ०स्थितिसहस्रे० ॥४ छा० ०रणं ०निवृत्तिबादरगुण० ॥५ सं १ त० म० संख्येयतमा भा० ॥ ६ छा० मुद्रि० ०शतिमोह० ॥७ सं १ त० छा० म० ०थमस्थि० ॥

त्रयाणां च वेदानामिदम्—स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोरुदयकालः सर्वस्तोकः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः, ततः पुरुषवेदस्य सङ्ख्येयगुणः, ततोऽपि संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकः, ततोऽपि संज्वलनमानस्य विशेषाधिकः, ततोऽपि संज्वलनमायाया विशेषाधिकः, ततोऽपि संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकः।

उक्तं च—

[1]थीअपुमोदयकाला, संखेज्जगुणो उ पुरिसवेयस्स ।
[2]तत्तो वि विसेसअहिओ, कोहे तत्तो वि जहकमसो ॥ (पञ्चसं० ७८३)

तत्र संज्वलनक्रोधेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणक्रोधोपशमो न भवति तावत् संज्वलनक्रोधस्योदयः। संज्वलनमानेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमानोपशमो न भवति तावत् संज्वलनमानस्योदयः। संज्वलनमायया चोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमायोपशमो न भवति तावत् संज्वलनमायाया उदयः। संज्वलनलोभेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणलोभोपशमो न भवति तावत् संज्वलनलोभस्योदयः। तदेवमन्तरकरणमुपरितनभागापेक्षया सममधोभागापेक्षया चोक्तनीत्या विषममिति यावता च कालेन स्थितिखण्डं घातयति यद्वाऽन्यं स्थितिबन्धं करोति ता[3]वता कालेन अन्तरकरणमपि करोति। त्रीण्यपि युगपदारभते युगपदेव च निष्ठां नयति। तच्चान्तरं प्रथमस्थितेः सङ्ख्येयगुणम्। अन्तकरणसत्कदलिकप्रक्षेपविधिश्चायम्—येषां कर्मणां तदानीं बन्ध उदयश्च विद्यते तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति, यथा पुरुषवेदोदयारूढः पुरुषवेदस्य। येषां तु कर्मणामुदय एव केवलो न बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथमस्थितावेव प्रक्षिपति न द्वितीयस्थितौ, यथा स्त्रीवेदोदयारूढः स्त्रीवेदस्य। येषां पुनरुदयो न विद्यते किन्तु केवलो बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं [4]द्वितीयस्थितावेव क्षिपति न प्रथमस्थितौ, यथा संज्वलनक्रोधोदयारूढः शेषसंज्वलनानाम्। येषां पुनर्न बन्धो नाप्युदयस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं परप्रकृतिषु प्रक्षिपति यथा द्वितीयतृतीयकषायाणाम्। इहानिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्यं तत् ग्रन्थगौरवभयाद् नोच्यते, केवलं विशेषार्थिना कर्मप्र[5]कृतिटीका निरीक्षितव्या। अन्तरकरणं च कृत्वा ततो नपुंसकवेदमुपशमयति। तं चैवम्—

---

१ स्त्रीनपुंसकवेदकालान् संख्येयगुणस्तु पुरुषवेदस्य। तस्मादपि विशेषाधिकः क्रोधस्तस्मादपि यथाक्रमशः ॥ २ सं० स० २ छा० मुद्रि० तम्स वि विसे० ॥ ३ सं० १ त० म० ०वत्कालं० ॥ ४ त० ०कं परप्रकृतिषु ॥ ५ छा० मुद्रि० ०कृतिसंग्रहणीटी० ॥

प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणं तावद् उपशमयति यावत् चरमसमयः; परप्रकृतिषु[1] प्रतिसमयमुपशमि-तदलिकापेक्षया तावद् असङ्ख्येयगुणं प्रक्षिपति यावद् द्विचरमसमयः, चरमसमये पुनरुपशम्य-मानं दलिकं परप्रकृतिषु सङ्क्रम्यमाणदलिकापेक्षयाऽसङ्ख्येयगुणं द्रष्टव्यम् । तदेवं नपुंसकवेद उपशमितः, तस्मिंश्चोपशान्तेऽष्टौ कर्माण्युपशान्तानि जातानि । तत उक्तप्रकारेणान्तर्मुहूर्तेन कालेन स्त्रीवेदमुपशमयति, तस्मिंश्चोपशान्ते नव । ततोऽन्तर्मुहूर्तेन कालेन हास्यादिषट्कमुप-शमयति, तस्मिंश्चोपशान्ते पञ्चदश कर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । तस्मिन्नेव[2] च समये पुरुष-वेदस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः प्रथमस्थितिव्यवच्छेदश्च । प्रथमस्थितौ च द्व्यावलिका-शेषायां प्रागुक्तस्वरूप आगालो न भवति । तस्मादेव[3] च समयादारभ्य षण्णां नोकषायाणां सत्कं दलिकं न पुरुषवेदे प्रक्षिपति किन्तु संज्वलनक्रोधादिषु, "[4]दुसु आवलियासु पढमठिईए सेसासु वि य वेओ" ॥ (कर्मप्र० गा० १०७) इति वचनात् । हास्यादिषट्कोपशमनानन्तरं च समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन पुरुषवेदं सकलमप्युपशमयति । तं चैवम्—प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् वाच्यं यावत् समयद्वयोनावलिकाद्विकचरमसमयः; परप्रकृतिषु च प्रतिसमयं समयद्वयोनावलिकाद्विक-कालं यावद् यथाप्रवृत्तसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति, परं प्रथमसमये प्रभूतम्, द्वितीयसमये विशेष-हीनम्, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषहीनम्, एवं तावद् वक्तव्यं यावत् चरमसमयः । पुरु-षवेदे चोपशान्ते षोडश कर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । ततो यस्मिन् समये हास्यादिषट्कमुप-शान्तम् पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितिः क्षीणा ततः समयादनन्तरमप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधान् युगपदुपशमयितुमारभते । संज्वलनक्रोधस्य च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिक-शेषायामप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणक्रोधदलिकं न संज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति किन्तु संज्वलनमा-नादौ, "[5]तिसु आवलियासु समऊणियासु अपडिग्गहा उ संजलणा ।" (कर्मप्र० गा० १०७) इति वचनात् । द्व्यावलिकाशेषायां त्वागालो न भवति, किन्तूदीरणैव केवला । साऽपि तावत् प्रवर्तते यावदावलिकाशेषो भवति । आवलिकायां च शेषीभूतायां संज्वलनक्रोधस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणौ च क्रोधावुपशान्तौ, तयोश्चोपशान्तयोर्-द्वादश कर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । तदानीं च संज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां समयोनावलिकाद्विकबद्धं चोपरितनस्थितिगतं दलिकं मुक्त्वा शेषमन्यत् सर्वमुपशान्तम्, ततस्तां

१ छा० मुद्रि० ० पु च प्रति० ॥ २ सं० २ छा० ०व चरमस० ॥ ३ सं० १ त० छा० म० ०व चरम-समया० ॥ ४ द्वयोरावलिकयोः प्रथमस्थितौ शेषयोरपि च वेदः ॥ ५ तिसृष्वावलिकासु समयोनासु अपतद्-ग्रहास्तु संज्वलनाः

प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां संज्वलनमाने स्तिबुकसङ्क्रमेण प्रक्षिपति, समयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं पुरुषवेदोक्तप्रकारेणोपशमयति सङ्क्रमयति च[1]। ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनक्रोध उपशमितः, तस्मिंश्चोपशान्ते एकोनविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। यदा च संज्वलनक्रोधस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदस्ततोऽनन्तरसमयादारभ्य संज्वलनमानस्य द्वितीयस्थितेः सकाशाद् दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च[2]। तत्र प्रथमसमये स्तोकं प्रक्षिपति, द्वितीयस्थितौ असङ्ख्येयगुणम्, [3]ततोऽपि तृतीयस्थितावसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् वाच्यं यावत् प्रथमस्थितेश्चरमसमयः। प्रथमस्थितिकरणप्रथमसमयादेव चारभ्य त्रीनप्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनरूपान् मानान् युगपद् उपशमयितुमारभते। संज्वलनमानस्य च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायामप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमानदलिकं न संज्वलनमाने प्रक्षिपति किन्तु संज्वलनमायादौ। आवलिकाद्विकशेषायां त्वागालो व्यवच्छिद्यते, तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते। साऽपि तावद् यावदावलिका[5] शेषा भवति। आवलिकायां तु शेषीभूतायां संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणौ च मानावुपशान्तौ, तयोश्चोपशान्तयोरेकविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। तस्मिंश्च समये संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां समयोनावलिकाद्विकबद्धं चोपरितनस्थितिगतं दलिकं मुक्त्वा शेषमन्यत् सर्वमुपशान्तम्, ततस्तां[4] प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां स्तिबुकसङ्क्रमेण संज्वलनमायायां प्रक्षिपति, समयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं पुरुषवेदोक्तप्रकारेणोपशमयति सङ्क्रमयति च। ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमान उपशमितः, तस्मिंश्चोपशान्ते द्वाविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। यदा च संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदस्ततोऽनन्तरसमयादारभ्य संज्वलनमायाया द्वितीयस्थितेः सकाशाद् दलिकमाकृष्य पूर्वोक्तप्रकारेण प्रथमां स्थितिं करोति वेदयते च, तत्समयादेव चारभ्य तिस्रोऽपि माया युगपद् उपशमयितुमारभते। संज्वलनमायायाश्च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायामप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमायादलिकं न संज्वलनमायायां प्रक्षिपति, किन्तु संज्वलनलोभे। आवलिकाद्विकशेषायां त्वागालो न भवति, किन्तूदीरणैव केवला। साऽपि तावत् प्रवर्तते यावदावलि[6]काशेषो भवति। आवलिकायां च शेषीभूतायां संज्वलनमायाया बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणे च माये उपशान्ते, तयोश्चोपशान्तयोश्चतुर्विंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। तस्मिंश्च समये संज्वलनमायायाः प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां समयोनावलिकाद्विकबद्धं चोपरितनस्थितिगतं दलिकं

---

१ सं० सं० १ सं० २ त० छा० म० ०न क्रो० ॥ २ सं० छा० मुद्रि० ०यति ॥ ३ सं० १ च। प्रथमस्थितिकरण० ॥ ४ त० म० ततस्तृ० ॥ ५ सं० २ त० म० ०काशेषो भव०। ०सं० १ ०काशेषो न भव० ॥ ६ छा० मुद्रि० ०काशेषा न भव० ॥

मुक्त्वा शेषमन्यत् सर्वमुपशान्तम्, ततस्तां प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां स्तिबुकसङ्क्रमेण संज्व-
लनलोभे सङ्क्रमयति, समयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं पुरुषवेदोक्तप्रकारेणोपशमयति सङ्क्र-
मयति च। ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमाया उपशान्ता, तस्यां चोपशान्तायां
पञ्चविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। यदा च संज्वलनमाया बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेद-
स्ततोऽनन्तरसमयादारभ्य संज्वलनलोभस्य द्वितीयस्थितेः सकाशाद् दलिकमाकृष्य लोभवेदका-
द्धात्रिभागद्वयप्रमाणां प्रथमस्थितिं पूर्वोक्तप्रकारेण करोति वेदयते च। प्रथमश्च[1] त्रिभागोऽश्व-
कर्णकरणाद्धासंज्ञः, द्वितीयः किट्टिकरणाद्धासंज्ञः। प्रथमे चाश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञे त्रिभागे वर्त-
मानः पूर्वस्पर्धकेभ्यो दलिकमादायापूर्वस्पर्धकानि करोति।

अथ किमिदं स्पर्धकम्? इति उच्यते--इह तावदनन्तानन्तैः परमाणुभिर्निष्पन्नान्
स्कन्धान् जीवः कर्मतया गृह्णाति। तत्र चैकैकस्मिन् स्कन्धे यः सर्वजघन्यरसः परमाणुस्तस्यापि
रसः केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसाविभागान् प्रयच्छति, अपरस्तु
तान्[2] एवैकाधि[3]कान्, अन्यस्तु द्व्यधिकान्, एवमेकोत्तरया वृद्ध्या तावद् नेयं यावदन्यः परमाणुः
सिद्धानन्तभागाधिकान् रसाविभागान् प्रयच्छति। तत्र जघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषां
समुदायः समानजातीयत्वादेका वर्गणेत्युच्यते। अन्येषां त्वेकाधिकरसाविभागयुक्तानां समुदायो
द्वितीया वर्गणा, अपरेषां तु द्व्यधिकरसाविभागयुक्तानां समुदायस्तृतीया वर्गणा, एवमनया
दिशा एकैकरसाविभागवृद्धानामणूनां समुदायरूपा वर्गणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा अभव्ये-
भ्योऽनन्तगुणा वाच्याः। एतासां च समुदायः स्पर्धकमित्युच्यते, स्पर्धन्त इवोत्तरो[4]त्तरवृद्ध्या
परमाणुवर्गणा अत्रेति कृत्वा।

इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया निरन्तरवृद्ध्या प्रवर्द्धमानो रसो न लभ्यते किन्तु सर्वजीवानन्त-
गुणैरेव रसाविभागैः, ततस्तेनैव क्रमेण ततः प्रभृति द्वितीयं स्पर्धकमभिधानीयम्, एवमेव च
तृतीयम्, एवं तावद् वाच्यं यावदनन्तानि स्पर्धकानि भवन्ति। एतानि च पूर्वं कृतत्वात् पूर्व-
स्पर्धकान्यभिधीयन्ते। तत एतेभ्य इदानीं प्रतिसमयं दलिकं गृहीत्वा तस्य चात्यन्तहीनरसता-
मापाद्य अपूर्वाणि स्पर्धकानि करोति। आसंसारं हि परिभ्रमता न कदाचनापि बन्धमाश्रित्येदृशानि
स्पर्धकानि कृतानि, किन्तु सम्प्रत्येव विशुद्धिप्रकर्षवशात् करोति, ततोऽपूर्वाणीत्युच्यन्ते।

अश्वकर्णकरणाद्धायां च गतायां किट्टिकरणाद्धायां प्रविशति। तत्र च पूर्वस्पर्धकेभ्योऽ-
पूर्वस्पर्धकेभ्यश्च दलिकं गृहीत्वा प्रतिसमयमनन्ताः किट्टीः करोति। किट्टयो नाम पूर्वस्पर्धकाऽ-
पूर्वस्पर्धकेभ्यो वर्गणा गृहीत्वा तासामनन्तगुणहीनरसतामापाद्य बृहदन्तरालतया यद् व्यव-

१ सं० १ त० म० ०श्च विभा०॥ २ छा० ०न्येकादिभागाधिकान्। एवमे०॥ ३ सं० १ सं० २ ०ान् एवमे०॥ ४ सं० १ त० म० ०त्तररसवृ०॥

[illegible]पनम् । यथा— [1]यासामनन्तानन्तानामप्यसत्कल्पनयाऽनुभागभागानां शतमेकोत्तरं द्व्युत्तरं [illegible] १०१-१०२ तासामेवानुभागभागानां पञ्चकं पञ्चदशकं पञ्चविंशतिरिति । [illegible]नाद्वा[illegible] युगपद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणलोभावुपशान्तौ भवतः । तत्सम[illegible] [illegible]दो बादरसंज्वलनलोभोदय-उदीरणाव्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादर[illegible] [illegible]च्छेदश्च । तदेवमनिवृत्तिबादरे सप्तभ्य आरभ्य पञ्चविंशतिं यावद् उप[illegible] [illegible] चाह—

[illegible]सत्तट्ठ नव य पनरस, सोलस अट्ठारसेव इगुवीसा ।
[illegible] [illegible] पणवीसा बायरे जाण ॥ सुगमा[4] ॥

[illegible]णलोभोपशान्तौ न सप्तविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति ।
[illegible] । [illegible] न—

[illegible] सोलसगडीओ ।
[illegible] नायव्वा ॥

सोऽप्यनन्तरं गुणस्थानकद्विकं याति, कोऽपि सासादनभावमपि । यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीत्येष विशेषः ।

उत्कर्षत एकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते । यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रति-पद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभावः । यः पुनरेकं वारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपक-श्रेणिर्भवेदपि । उक्तं च चूर्णौ—

[1]जो दुवे वारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि,
जो एक्कसि उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी होज्ज वा । इति ।

आगमाभिप्रायेण त्वेकस्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते । तदुक्तम्—

मोहोपशम एकस्मिन्, भवे द्विः स्यादसन्ततः ।
यस्मिन् भवे तूपशमः, क्षयो मोहस्य तत्र न ॥ इति ॥६२॥

तदेवमुक्ता सप्रपञ्चमुपशमश्रेणिः । सम्प्रति[2] क्षपकश्रेणिमभिधातुकाम आह—

पढमकसायचउक्कं, [3]एत्तो मिच्छत्तमीससम्मत्तं ।
अविरय देसे विरए, पम[4]त्ति अपमत्ति खीयंति ॥६३॥

इह यः क्षपकश्रेणिमारभते सोऽवश्यं मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानः । स च प्रथमतः 'प्रथमकषायचतुष्कम्' अनन्तानुबन्धिसंज्ञं विसंयोजयति । तद्विसंयोजना च प्रागेवोक्ता । ततः इतः प्रथमकषायचतुष्कक्षयादनन्तरं मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्वानि क्षपयति । सूत्रे चैकवचनं समाहारविवक्षणात्, समाहारविवक्षा चामीषां त्रयाणामपि युगपत् क्षपणाय यतते इति ज्ञाप-[5]नार्था । मिथ्यात्वादीनि च क्षपयन् यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणान्यारभते । करणानि च प्रागिव वक्तव्यानि । नवरमपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनुदितयोर्मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिकं गुणसङ्क्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति । उद्वलनासङ्क्रममपि तयोरेवमारभते, तद्यथा-प्र[6]थमस्थितिखण्डं बृहत्तरमुद्वलयति, ततो द्वितीयं विशेषहीनम्, ततोऽपि तृतीयं विशेषहीनम्, एवं तावद् वाच्यं यावदपूर्वकरणचरमसमयः । अपूर्वकरणप्रथमसमये च यत् स्थि[7]तिसत्कर्म आसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम् । ततोऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति, तत्रापि स्थितिघाता[8]दीन् सर्वानपि तथैव करोति । अनिवृत्तिकरणप्रथमसमये च दर्शनत्रिकस्यापि देशोपशमना-निधत्ति-

1 यो द्वौ वारौ उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिर्नास्ति, य एकवारं उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेद् वा ॥ 2 सं० छा० मुद्रि० ०ति श्रेणिप्रस्तावात् क्षप० ॥ 3 सं० १ त० म० इत्तो ॥ 4 सं० सं० २ छा० ०मत्ते अपमत्ते खी० । सं० १ त० म० ०मत्त अपमत्त खी० ॥ 5 सं० १ त० म० छा० ०नार्थम्० ॥ 6 त० मं० ०थम स्थि० ॥ 7 सं० १ त० छा० म० ०तिकर्म ॥ 8 सं० दीनि स० ॥

निकाचना व्यवच्छिद्यन्ते । दर्शनमोहनीयत्रिकस्य च स्थितिसत्कर्म अनिवृत्तिकरणप्रथमसमयादारभ्य स्थितिघातादिभिर्घात्यमानं घात्यमानं स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेष्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानं भवति, ततः स्थितिखण्डसहस्रपृथक्त्वे गते सति चतुरिन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु त्रीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु द्वीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेष्वेकेन्द्रियसत्कर्मस्थितिसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु पल्यो[1]पमासङ्ख्येयभागप्रमाणं भवति । ततस्त्रयाणामपि प्रत्येकमेकैकं सङ्ख्येयभागं मुक्त्वा शेषं सर्वमपि घातयति । ततस्तस्यापि प्राग्मुक्तस्य सङ्ख्येयभागस्यैकं सङ्ख्येयतमं भागं मुक्त्वा शेषं सर्वं विनाशयति । एवं स्थितिघाताः सहस्रशो व्रजन्ति । तदनन्तरं च मिथ्यात्वस्यासङ्ख्येयान् भागान् खण्डयति, सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु सङ्ख्येयान् । तत एवं स्थितिखण्डेषु प्रभूतेषु गतेषु सत्सु मिथ्यात्वस्य दलिकमावलिकामात्रं जातम्, सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रम् । अमूनि च स्थितिखण्डानि खण्ड्यमानानि मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोः प्रक्षिपति, सम्यग्मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्वे, सम्यक्त्वसत्कानि त्वधस्तात् स्वस्थाने इति । तदपि च मिथ्यात्वदलिकमावलिकामात्रं स्तिबुकसङ्क्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति । तदनन्तरं सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोरसङ्ख्येयान् भागान् खण्डयति, एकोऽवशिष्यते; ततस्तस्याप्यसङ्ख्येयान् भागान् खण्डयति, एकं मुञ्चति; एवं कतिपयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सम्यग्मिथ्यात्वमप्यावलिकामात्रं जातम् । तदानीं सम्य[2]क्त्वस्य स्थितिसत्कर्म वर्षाष्टकप्रमाणं भवति । तस्मिन्नेव च काले सकलप्रत्यूहापगमतो निश्चयमतेन दर्शनमोहनीयक्षपक उच्यते । तत ऊर्ध्वं सम्यक्त्वस्य स्थितिखण्डं अन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुत्किरति, तद्दलिकं तूदयसमयादारभ्य प्रक्षिपति । केवलमुदयसमये सर्वस्तोकम्, ततो द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् वक्तव्यं यावद् गुणश्रेणीशिरः । तत ऊर्ध्वं तु विशेषहीनं विशेषहीनम् यावच्चरमा स्थितिः । एवमा[3]न्तर्मुहूर्तिकान्यनेकानि खण्डान्युत्किरति निक्षिपति च । तानि च तावद् यावद् द्विचरमं[4] स्थितिखण्डम् । द्विचरमात्तु स्थितिखण्डाद् चरमखण्डं सङ्ख्येयगुणम् । चरमे च स्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपकः कृतकरण इत्युच्यते । अस्यां च कृतकरणाद्धायां वर्तमानः कश्चित् कालमपि कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । लेश्यायामपि च पूर्वं शुक्ललेश्यायामासीत्, सम्प्रति त्वन्यतमस्यां गच्छति । तदेवं प्रस्था[5]पको मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु भवति ।

---

१ सं० सं० २ छा० ०पमसंख्येय० ॥ २ सं० १ त० म० ०क्त्वस्थिति० ॥ ३ सं० १ त० म० ०न्तर्मौहूर्तिका० ॥ ४ सं० १ त० म० ०रमस्थिति० ॥ ५ सं० १ त० म० ०पको भूत्वा म० ॥

रुक्तं च—

[1]पट्ठवगो उ मणूसो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु ॥

इह यदि बद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते अनन्तानुबन्धिनां च क्षयादनन्तरं मरणसम्भवतो

व्युपरमते, ततः कदाचिद् मिथ्यात्वोदयाद् भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य

मिथ्यात्वस्याविनाशात् । क्षीणमिथ्यादर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात् । क्षीणसप्तकस्त्वप्रति-

पतितपरिणामोऽवश्यं त्रिदशेषूत्पद्यते । प्रतिपतितपरिणामस्तु नानापरिणामसम्भवाद् यथापरि-

णाममन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । उक्तं च—

[2]बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा ।

तो मिच्छत्तोदयओ, चिणिज्ज भूयो न खीणम्मि ॥

तम्मि मओ जाइ दिवं, तप्परिणामो य सत्तए खीणे ।

उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणा[3] मइगईओ ॥ (विशेषा० गा० १३१६-१७)

बद्धायुष्कोऽपि यदि तदानीं कालं न करोति तथापि सप्तके क्षीणे नियमादवतिष्ठते, न तु

चारित्रमोहक्षपणाय यत्नमारभते, यत आह—

[4] बद्धाऊ पडिवन्नो, नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ । (विशेषा० गा० १३२५)

[5]अथोच्येत—क्षीणसप्तको गत्यन्तरं सङ्क्रामन् कतितमे भवे मोक्षमुपयाति ? उच्यते—

तृतीये चतुर्थे वा भवे । तथाहि-यदि देवगतिं नरकगतिं वा सङ्क्रामति ततो देवभवान्तरितो

नरकभवान्तरितो वा तृतीयभवे मोक्षमुपयाति । अथ तिर्यक्षु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पद्यते

तर्हि सोऽवश्यमसङ्ख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये गच्छति न सङ्ख्येयवर्षायुष्केषु, ततस्तद्भवानन्तरं

देवभवे, तस्माच्च देवभवात् च्युत्वा मनुष्यभवे, ततो मोक्षं यातीति चतुर्थभवे मोक्षगमनम् ।

उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहे—

तइय चउत्थे तम्मि व, भवम्मि सिज्झंति दंसणे खीणे ।

जं देवनिरयऽसंखाउचरिमदेहेसु ते होंति ॥ (गा० ७७६)

एतानि च सप्त कर्माणि क्षपयति अविरतसम्यग्दृष्टिः देशविरतः प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा, तत

एतेषु चतुर्ष्वपि सप्तकक्षयः प्राप्यते । तथा चाह सूत्रकृत्—"अविरय" इत्यादि । अविरते

---

१ प्रस्थापकस्तु मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥ २ बद्धायुः प्रतिपन्नः प्रथमकषायक्षये यदि

म्रियेत । ततो मिथ्यात्वोदयतः चिनुयाद् भूयो न क्षीणे ॥ तस्मिन् मृतो याति दिवं तत्परिणामश्च

सप्तके क्षीणे । उपरतपरिणामः पुनः पश्चाद् नानामतिगतिकः ॥ ॥ ३ सं० १ त० म० ०णागइमईओ ॥

४ बद्धायुः प्रतिपन्नो नियमात् क्षीणे सप्तके तिष्ठति ॥ ५ छा० मुद्रि० ०थोच्यते-क्षी० ॥ ६ तृतीये चतुर्थे

तस्मिन् वा भवे सिध्यन्ति दर्शने क्षीणे । यद् देव-निरयासङ्ख्यायुःचरमदेहेषु ते भवन्ति ॥ ७ छा० मुद्रि०

०त अ० ॥ ८ सं० सं० १ सं० २ त० म० ०रइ" इ० ॥

'देशे' देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रथमकषायचतुष्कादीनि सप्त कर्माणि 'क्षीयन्ते' क्षयमुपयान्ति।

यदि पुनरबद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते ततः सप्तके क्षीणे नियमादनुपरतपरिणाम एव चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते। यत आह भाष्यकृत्—

[1]इयरो अणुवरओ च्चिय, सयलं सेढिं समाणेई ॥ (विशेषा० गा० १३२५)

चारित्रमोहनीयं च क्षपयितुं यतमानो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति, तद्यथा—यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं च। एषां च स्वरूपं पूर्ववदेवावगन्तव्यम्। नवरमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके। तत्रापूर्वकरणे स्थितिघातादिभिरप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं तथा क्षपयति स्म यथा अनिवृत्तिकरणा[2]द्धायाः प्रथमसमये तत् पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रस्थितिकं जातम्। अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु स्त्यानर्द्धित्रिक-नरकगति-तिर्यग्गति-नरकानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी-एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियजाति-स्थावरा-ऽऽतप-उद्योत-सूक्ष्म-साधारणरूपाणां षोडशप्रकृतीनामुद्वलनासङ्क्रमेणोद्वल्यमानानां पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रा स्थितिर्जाता। ततो बध्यमानासु प्रकृतिषु तानि षोडश कर्माणि गुणसङ्क्रमेण प्रतिसमयं प्रक्षिप्यमाणानि प्रक्षिप्यमाणानि निःशेषतः क्षीणानि भवन्ति। इहाप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं पूर्वमेव क्षपयितुमारब्धं परं तद् नाद्यापि क्षीणम्, केवलमपान्तराल एव पूर्वोक्तप्रकृतिषोडशकं क्षपितम् ततः पश्चात् तदपि कषायाष्टकमन्तर्मुहूर्तमात्रेण क्षपयति। तथा चाह—

अनियट्टिबायरे थीणगिद्धितिगनिरयतिरियनामाओ।
संखेज्जइमे सेसे, तप्पाओगाओ खीयंति ॥
एत्तो हणइ कसायट्ठगं पि

अनिवृत्तिबादरे गुणस्थानके सङ्ख्येयतमे भागे शेषे स्त्यानर्द्धित्रिकं 'नरय-तिर्यङ्नामनी' निरयगति-तिर्यग्गतिनाम्नी 'तत्प्रायोग्याश्च' निरयगति-तिर्यग्गतिप्रायोग्याश्च एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजाति-निरयानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी स्थावरा-ऽऽतप-उद्योत-सूक्ष्म--साधारणरूपाः सर्वसङ्ख्यया षोडश प्रकृतयः क्षीयन्ते। ततः 'इतः' प्रकृतिषो[3]डशकक्षयादनन्तरं निःशेषतः कषायाष्टकं हन्ति ॥

अन्ये पुनराहुः—षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश-कर्माणीति। ततोऽन्तर्मुहूर्[4]तमात्रेण नवानां नोकषायाणां चतुर्णां

---

१ इतरोऽनुपरत एव सकलां श्रेणिं समापयति ॥ २ सं० सं० २ ०द्धायाः प्र० ॥ ३ सं० १ म० ०ड्शकक्षया० ॥ ४ छा० ०र्तप्रमाणेन नवा० ॥

संज्वलनानामन्तरकरणं करोति । तच्च कृत्वा नपुंसकवेददलिकमुपरितनस्थितिगतमुद्वलनविधिना क्षपयितुमारभते तच्चान्तर्मुहूर्तमात्रेण पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रं जातम् । ततः प्रभृति बध्यमानासु प्रकृतिषु गुणसङ्क्रमेण दलिकं प्रक्षिपति । तच्चैवं प्रक्षिप्यमाणमन्तर्मुहूर्तमात्रेण निःशेषं क्षीणम् । अधस्तनदलिकं च यदि नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिमारूढस्ततोऽनुभवतः क्षपयति, अन्यथा तावलिकामात्रं तद् भवति, तच्च वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति । तदेवं क्षपितो नपुंसकवेदः । ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण स्त्रीवेदोऽप्यनेनैव क्रमेण क्षप्यते । ततः षड् नोकषायान् युगपत् क्षपयितुमारभते । ततः प्रभृति च तेषामुपरितनस्थितिगतं दलिकं न पुरुषवेदे सङ्क्रमयति, किन्तु संज्वलनक्रोधे, तथा चाह सूत्रकृत्—

पच्छा नपुंसगं इत्थी ।

तो नोकसायछक्कं, छुभइ संजलणकोहम्मि ॥

कषायाष्टकक्षयानन्तरं पश्चात्, 'नपुंसकं' नपुंसकवेदं क्षपयति, ततः "इत्थि" त्ति स्त्रीवेदम्, ततः षड् नोकषायान् क्षपयन् तेषामुपरितनस्थितिगतं दलिकं संज्वलनक्रोधे "छुभइ" त्ति क्षिपति, न पुरुषवेदे । एतेऽपि च षड्नोकषायाः संज्वलनक्रोधे पूर्वोक्तविधिना क्षिप्यमाणाः क्षिप्यमाणा अन्तर्मुहूर्तमात्रेण निःशेषाः क्षीणाः । तत्समयमेव च पुरुषवेदस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वा शेषदलिकस्य क्षयश्च, ततोऽसाविदानीमवेदको जातः । एवं पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तदा प्रथमतः स्त्रीवेद-नपुंसकवेदौ युगपत् क्षपयति । स्त्रीवेद-नपुंसकवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते । तदनन्तरं चावेदकः सन् पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति । यदा तु स्त्रीवेदेन प्रतिपद्यते क्षपकश्रेणिं, तदा प्रथमतो नपुंसकवेदम्, ततः स्त्रीवेदम्, स्त्रीवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदः । ततोऽवेदकः पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति ॥

सम्प्रति पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नमधिकृत्य प्रस्तुतमभिधीयते—क्रोधं वेदयमानस्य सतः तस्याः क्रोधाद्धायास्त्रयो विभागा भवन्ति, तद्यथा—अश्वकर्णकरणाद्धा किट्टिकरणाद्धा किट्टिवेदनाद्धा च । तत्राश्वकर्णकरणाद्धायां वर्तमानः प्रतिसमयमनन्तानि अपूर्वस्पर्धकानि चतुर्णामपि संज्वलनानामन्तरकरणाद् उपरितनस्थितौ करोति । अस्यां चाश्वकर्णकरणाद्धायां वर्तमानः पुरुषवेदमपि समयोनावलिकाद्विकेन कालेन क्रोधे गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् चरमसमये सर्वसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति । तदेवं क्षीणः पुरुषवेदः । अश्वकर्णकरणाद्धायां च समाप्तायां किट्टिकरणाद्धायां प्रविशति । तत्र च प्रविष्टः सन् चतुर्णामपि संज्वलनानामुपरितनस्थितिगतस्य दलिकस्य किट्टीः

१ स० हूर्तेन पल्यो० । छा० ०हूर्त्तप्रमाणेन पल्यो० ॥ २ स० सं० १ ०माणं प्रक्षिप्यमाणमन्त० ॥

करोति। ताश्च किट्टयः परमार्थतोऽनन्ता अपि स्थूल[illegible] द्वादश कल्प्यन्ते, एकैकस्य च कषायस्य तिस्रस्तिस्रः, तद्यथा—प्रथमा द्वितीया तृतीया च। एतत् क्रोधेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम्। यदा तु मानेन प्रतिपद्यते, तदा उद्वलनविधिना क्रोधं क्षपयित्वा शेषत्रयस्य पूर्वक्रमेण नव किट्टीः करोति। मायया चेत् प्रतिपद्यते तदा क्रोधमानयोरुद्वलनविधिना क्षपितयोः शेषद्विकस्य पूर्वक्रमेण षट् किट्टीः करोति। यदि पुनर्लोभेन प्रतिपद्यते तत उद्वलनविधिना क्रोधादित्रिके क्षपिते सति लोभस्य किट्टित्रिकं करोति। एष किट्टीकरणाविधिः। किट्टीकरणाद्धायां निष्ठितायां क्रोधेन प्रतिपन्नः सन् क्रोधस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथम[1]स्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततोऽनन्तरसमये द्वितीयकिट्टीदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथम[2]स्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथम[3]स्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। तिसृष्वपि चासु किट्टिवेदनाद्धासूपरितनस्थितिगतं दलिकं गुणसङ्क्रमेणापि प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणवृद्धिलक्षणेन संज्वलनमाने प्रक्षिपति। तृतीयकिट्टिवेदनाद्धायाश्च चरमसमये संज्वलनक्रोधस्य बन्ध-उदय-उदीरणानां युगपद् व्यवच्छेदः, सत्कर्माऽपि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वा अन्यद् नास्ति, सर्वस्य माने प्रक्षिप्तत्वात्। ततोऽनन्तरसमये मानस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथम[5] स्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तर्मुहूर्तम्। क्रोध[6]स्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य सम्बन्धि दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् चरमसमये सर्व-सङ्क्रमेण सङ्क्रमयति। मानस्यापि च प्रथमकिट्टिदलिकं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं वेद्यमानं समयाधिकावलिकाशेषं जातम्। ततोऽनन्तरसमये मानस्य द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थिति-गतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततो-ऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। तस्मिन्ने[7]व च समये मानस्य बन्ध-उदय-उदीरणानां युग-पद् व्यवच्छेदः, सत्कर्माऽपि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धमेव, शेषस्य, मायायां प्रक्षिप्त-त्वात्। ततो मायायाः प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तर्मुहूर्तम्। मानस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य सम्बन्धि दलिकं समयो-नावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसङ्क्रमेण मायायां प्रक्षिपति। मायाया अपि च प्रथमकिट्टि-

---

१ सं १ त० म० स्थूलजा० ॥ २ त० छा० म० ०स्थितिगतं क० ॥ ३-४-५ त० म० स्थितिगतं क० ॥ [illegible] सं० त० १ म० ०धस्य च ॥ ७ सं १ त० म० ०व चरमस० ।

अमुमेवार्थं सङ्कलय्य सूत्रकृत् प्रतिपादयति—

पुरिसं कोहे कोहं, माणे माणं च छुहइ मायाए ।

मायं च छुहइ लोहे, लोहं सुहुमं पि तो हणइ ॥ ६४ ॥

व्याख्या—'पुरुषं' पुरुषवेदं बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति गुणसङ्क्रमेण 'क्रोधे' संज्वलनक्रोधे "[1]छुहइ" त्ति सङ्क्रमयति। क्रोधस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं क्रोधं 'माने' संज्वलनमाने सङ्क्रमयति। संज्वलनमानस्यापि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं संज्वलनमानं गुणसङ्क्रमेण 'मायायां' संज्वलनमायायां प्रक्षिपति। संज्वलनमायाया अपि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तां संज्वलनमायां 'लोभे' संज्वलनलोभे गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति। संज्वलनलोभस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं संज्वलनलोभं सूक्ष्ममपि, अपिशब्दात् शेषमपि 'हन्ति' स्थितिघातादिभिर्विनाशयति। लोभे च साकल्येन विनाशिते सति अनन्तरसमये क्षीणकषायो जायते। तस्य च क्षीणकषायस्य मोहनीयवर्जानां शेषकर्मणां स्थितिघातादयः पूर्ववत् प्रवर्तन्ते तावद् यावत् क्षीणकषायाद्धायाः [2]सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकः [3]सङ्ख्येयो भागोऽवतिष्ठते। तस्मिंश्च ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टयाऽन्तरायपञ्चक-निद्राद्विकरूपाणां षोडशकर्मणां स्थितिसत्कर्म सर्वापवर्तनया अपवर्त्य क्षीणकषायाद्धासमं करोति, केवलं निद्राद्विकस्य स्वरूपापेक्षया समयन्यूनम्, कर्मत्वमात्रापेक्षया तु तुल्यम्। सा च क्षीणकषायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, ततः प्रभृति च तेषां स्थितिघातादयः स्थिताः, शेषाणां तु भवन्त्येव। तानि च षोडश कर्माणि निद्राद्विकहीनानि उदय-उदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद् गतो यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। ततोऽनन्तरसमये उदीरणा निवृत्ता। तत आवलिकामात्रं कालं यावद् उदयेनैव केवलेन वेदयते यावत् क्षीणकषायाद्धाया द्विचरमसमयः। तस्मिंश्च द्विचरमसमये निद्राद्विकं स्वरूपसत्तापेक्षया क्षीणम्, चतुर्दशानां च शेषप्रकृतीनां चरमसमये क्षयः। तथा चाह सूत्रकृत्—

खीणकसायदुचरिमे, निद्दा पयला य हणइ छउमत्थो ।

आवरणमंत[4]राए, छउमत्थो चरिमसमयम्मि ॥ व्याख्यातार्था ॥

ततोऽनन्तरसमये सयोगिकेवली भवति। स च लोकमलोकं च सर्वं सर्वात्मना परिपूर्णं पश्यति। न हि तदस्ति भूतं भवद् भविष्यद्वा यद् भगवान् न पश्यति। उक्तं च—

[5]संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं ।

तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥ (आव० नि० गा० १२७)

---

१ सं० १ सं० २ म० त० छुभइ ॥ २ तं १ सं० २ त० म० संख्येयभा० ॥ ३ सं० १ त० म० संख्येयभा० ॥ ४ सं० सं० १ ०राये छ० ॥ ५ संभिन्नं पश्यन् लोकमलोकं च सर्वतः सर्वम्। तद् नास्ति यद् न पश्यति भूतं भव्यं भविष्यच्च ॥

णाऽव्यवच्छेदः । ततोऽनन्तरसमयेऽयोगिकेवली भवति । अयोगिकेवली च भगवाञ्जघ-न्योत्कर्षमन्तर्मुहूर्तं कालं भवति । स च तस्यामवस्थायां वर्तमानो भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय व्युपर-तक्रियमप्रतिपाति ध्यानमारोहति । एवमयोगिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्युदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्षयेणानुभवन् क्षपयति, यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न सन्ति तानि वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया च वेदयमानस्तावद् याति यावदयोग्यवस्थाद्विचरमसमयः' ॥ ६४ ॥

देवगइसहगयाओ, [2]दुचरमसमयभवियम्मि खीयंति ।
सविवागेयरनामा, नीयागोयं पि तत्थेव ॥ ६५ ॥

देवगत्या सह गताः-स्थिताः देवगतिसहगताः, देवगत्या सह एकान्तेन बन्धो यासां ता देवगतिसहगता इत्यर्थः । कास्ताः ? इति चेद् उच्यते—वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरे वैक्रिया-ऽऽहार-कबन्धने वैक्रिया ऽऽहारकसङ्घाते वैक्रिया-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गे देवानुपूर्वी च । एता देवगतिसहगताः 'द्विचरमसमयभवसिद्धिके' इति द्वौ चरमौ समयौ यस्य भवसिद्धिकस्य स द्विचरमसमयः, स चासौ भवसिद्धिकश्च तस्मिन् द्विचरमसमयभवसिद्धिके 'क्षीयन्ते' क्षयमुपगच्छन्ति । तथा 'तत्रैव' द्विचरमसमयभवसिद्धिके 'सविपाकेतरनामानि' विपाकः-उदयः, सह विपाकेन यानि वर्तन्ते तानि सविपाकानि, तेषामितराणि-प्रतिपक्षभूतानि यानि नामानि तानि सविपाकेतरनामानि, अनुदयवत्यो नामप्रकृतय इत्यर्थः । ताश्चेमाः—औदारिक-तैजस-कार्मणशरीराणि औदारिक-तैजस-कार्मणबन्धन-सङ्घातानि संस्थानषट्कं संहननषट्कमौदारिकाङ्गोपाङ्गं वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शा मनुजानुपूर्वी पराघातमुपघातमगुरुलघु प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगती प्रत्येकमपर्याप्तकमुच्छ्वा-सनाम स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे सुस्वर-दुःस्वरे दुर्भगमनादेयम् यशःकीर्तिर्निर्माणमिति । तथा नीचैर्गोत्रम् , अपिशब्दादन्यतरदनुदितं वेदनीयम् । सर्वसङ्ख्यया सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतयः क्षयमुपयान्ति ॥ ६५ ॥

अन्नयरवे[3]यणीयं, मणुया[4]उय उच्चगोय नव नामे ।
वेएइ अजोगिजिणो, उक्कोस ज[5]हन्न एक्कारं ॥ ६६ ॥

'अन्यतरद् वेदनीयं' सातमसातं वा द्विचरमसमयक्षीणाद् इतरद् मनुष्यायुरुच्चैर्गोत्रं 'नव नामानि' नव नामप्रकृतीः, सर्वसङ्ख्यया द्वादश प्रकृतीर्वेदयते 'अयोगिजिनः' अयोगिकेवली । जघन्येनैकादश, ताश्च ता एव द्वादश तीर्थकरवर्जा द्रष्टव्याः ॥ ६६ ॥

---

१ सं० १ त० म० ०यः ॥ ६४॥ तस्मिंश्च एताः प्रकृतयः क्षीयन्ते, तदाह—"॥

२ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु समग्रादर्शेषु तु–"दुचरमसमयभवियम्मि" इति मूल आद्दत एव पाठः समस्ति, परं विवृतिकृद्भिः श्रीमद्भिर्मलयगिरिभिः "दुचरमसमयभवसिद्धियम्मि" इत्येतत्पदानुसारेण व्याख्यातमस्ति ॥

३ म० ०यणिज्जं ॥ ४ सं० १ त० ०याऊ उ० ॥ ५ म० ०हन्नमिक्कारे ॥

'नव 'नाम' इत्युक्तं ततस्ता एव नव नामप्रकृतीर्दर्शयति—

मणुयगइ जाइ तस बायरं च पज्जत्तसुभग[1]माइज्जं[2] ।
जसकित्ती तित्थयरं, नामस्स हवंति नव एया ॥ ६७ ॥

गतार्था ॥ ६७ ॥ अत्रैव मतान्तरं दर्शयति—

तच्चाणुपुव्विसहिया, तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि ।
संतंसगमुक्कोसं, जहन्नयं बारस हवंति ॥ ६८ ॥

तृतीयानुपूर्वी-मनुष्यानुपूर्वी तया सहितास्ता एव द्वादश प्रकृतयस्त्रयोदश सत्यः 'भवसिद्धिकस्य' तद्भवमोक्षगामिनः "संतं सग" त्ति सत्कर्म उत्कृष्टं भवति । जघन्यं पुनर्द्वादश प्रकृतयो भवन्ति । ताश्च द्वादश प्रकृतयस्ता एव त्रयोदश तीर्थकरनामरहिता वेदितव्याः ॥६८॥

अथ कस्मात्ते एवमिच्छन्ति ? इत्यत आह—

मणुयगइसहगयाओ, भवखित्तविवा[3]गजीववाग त्ति ।
वेयणियन्नयरुच्चं, च चरिम भवियस्स खीयंति ॥ ६९ ॥

मनुजगत्या सह गताः–स्थिता मनुजगतिसहगताः, मनुष्यगत्या सह यासामुदयस्ता मनुजगतिसहगता इत्यर्थः । किंविशिष्टास्ताः ? इत्याह–"भवखित्तविवागजीववाग" त्ति भवविपाकाः क्षेत्रविपाका, जीवविपाकाश्च । तत्र भवविपाका मनुष्यायुः, क्षेत्रविपाका मनुष्यानुपूर्वी, शेषा नव जीवविपाकाः, तथाऽन्यतरद् वेदनीयम् उच्चैर्गोत्रं च, सर्वसङ्ख्यया त्रयोदश प्रकृतयः "भविकस्य" भवसिद्धिकस्य चरमे समये क्षीयन्ते, न द्विचरमसमये । [4]ततश्चरमसमये भवसिद्धिकस्योत्कृष्टं सत्कर्म त्रयोदश प्रकृतयो जघन्यतो द्वादश भवन्तीति । अन्ये पुनराहुः–मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमय एव व्यवच्छेदः, उदयाभावात् । उदयवतीनां हि स्तिबुकसङ्क्रमाभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं[5] दृश्यत एवेति युक्तस्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः । आनुपूर्वीनाम्नां[6] तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकितया भवापान्तरालगतावेवोदयः, तेन न भवस्थस्य तदुदयसम्भवः तदसम्भवाच्चायोग्यवस्थाद्विचरमसमय एव मनुष्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति । एतदेव मतमधिकृत्य प्राग् द्विचरमसमये सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदो दर्शितः । चरमसमये तू[7]त्कर्षतो द्वादशानां जघन्यत एकादशानामिति । ततोऽनन्तरसमये कोशबन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषाद् एरण्डफलमिव भगवानपि कर्मसम्बन्धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभाव-

१ सं० १ त० म० नामा 'इ' ॥ २ सं० सं० २ छा० ०माएज्जं ॥
३ म० ०गजियविवागाओ ॥ ४ सं० १ स० २ त० म० ०मभवसि० ॥ ५ सं० १ ०कं गृह्यत एवे० सं०१ त० म० ०म्नां चतु० ॥ ७ सं० १ त० म० तूत्कृष्टतो ॥

[पंचम व षष्ठ कर्मग्रन्थः]

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१	२१	सम्बन्ध	सम्बन्धो
१	२५	सर्वातिन्यत्रचे०	सर्वघातिन्य श्चे ०
२	२३	घातत्वं	घातित्वं
७	२९	यादव०	यावद०
८	९	सुःस्वरा०	दुःस्वरा०
१२	१०	नोमयसंत	नोमयसंते
१६	२९	विपयो	विपयो घातित्वे
१७	२	देवगति०-	देवानुपूर्वी-
१७	२०	नाराच०	नाराचा०
२०	७	जान०	ज़िन०
२०	१३	०श्वतस्त्रः	०श्वतस्त्रः
२०	२५	०दिनि	०दीनि०
२२	१८	गोत्र-	गोत्रा-
२४	२७	द्वावक्त०	द्वाववक्त०
३८	७	०क्रमाणां'	०क्रमाणां 'सत्या'
४३	२४	अवहा	अवाइ
४५	१०	अंशाः	१७ अंशाः
४६	४	०प्वविरत०	०प्वविरत०
५०	२६	बध्नति	बध्नन्ति
५४	२	धन्यते	गम्यते
५३	३	०नादिनाम०	०नादीनाम०
५८	१९	०वृद्धनि	०वृद्धानि
५९	३	तत्रैतनत्	तत्रैतत्
६१	२४	परिस्मन्द०	परिस्पन्द०
६७	३०	०भावा०	०मवा०
८७	२८	०घयणा०	संघयणा०
९८	१४	असावगाहः	असाववगाहः
१०६	६	सेमपि	सर्वमपि
११०	२	प्रवतरं	प्रभूततरं

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१३६	१७	यर्यैतानि	यथैतानि
१४४	२२	०धर्मं	०धर्मं
१४६	२४	०मुत्कष्टं	०मुत्कृष्टं
१५०	२२	मिथ्यातव०	मिथ्यात्व०
१६३	१२	बधतो	बंधंतो
१९२	१२	०रहियस्य	०रहियस्स
२१३	४	त्रिशद्रे	त्रिशद्
२२३	१२	षड्विंशत्दये	षड्विंशत्युदये
२२७	१४	०र्गोत्रं	०र्गोत्रं
२३२	४	शुभाऽभे	शुभा-ऽशुभे
२३३	१६	शेपास्त्वेक-विंशति-सङ्ख्याश्चतुः-सत्तास्थानकाः	वैक्रियवायुकायान त्रयो भङ्गास्ते त्रिस स्थानकाः, शेपास्त्व दशभङ्गाश्चतुःसत्ता स्थानकाः,
२३५	२३	०बन्धनामे०	०बन्धकानामे०
२३७	२०	तात्ति	तानि
२३७	२७	०सप्तप्तिश्च	सप्ततिश्च
२४२	१६	पर	परं
२५५	८	तद्यथा-	तद्यथा-पञ्च
२६५	१८	कीर्त्ति०	कीर्त्ती०
२७६	१४	प्रज्ञान्मे०	प्रज्ञोन्मे०
२७८	१४	शेपा	शेपा
२८१	१५	उवसता	उवसंता
२८४	२०	पद्य०	वेद्य०
२९०	२१	ग्रोति	करोति
२९७	२१	०मेलव	०लमेव
३०२	२०	यशः०	अयशः०



'नव 'नाम' इत्युक्तं ततस्ता एव नव नामप्रकृतीर्दर्शयति—

मणुयगइ जाइ तस बायरं च पज्जत्तसुभग[1]माइज्जं ।
जसकित्ती तित्थयरं, नामस्स हवंति नव एया ॥ ६७ ॥

गतार्था ॥ ६७ ॥ अत्रैव मतान्तरं दर्शयति—

तच्चाणुपुव्विसहिया, तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि ।
संतंसगमुक्कोसं, जहन्नयं बारस हवंति ॥ ६८ ॥

तृतीयानुपूर्वी-मनुष्यानुपूर्वी तया सहितास्ता एव द्वादश प्रकृतयस्त्रयोदश सत्यः 'भव-
सिद्धिकस्य' तद्भवमोक्षगामिनः "संतं सग" त्ति सत्कर्म उत्कृष्टं भवति । जघन्यं पुनर्द्वादश
प्रकृतयो भवन्ति । ताश्च द्वादश प्रकृतयस्ता एव त्रयोदश तीर्थकरनामरहिता वेदितव्याः ॥६८॥

अथ कस्मात्ते एवमिच्छन्ति ? इत्यत आह—

मणुयगइसहगयाओ, [2]भवखित्तविवा[3]गजीववाग त्ति ।
वेयणियन्नयरुच्चं, च चरिम भवियस्स खीयंति ॥ ६९ ॥

मनुजगत्या सह गताः-स्थिता मनुजगतिसहगताः, मनुष्यगत्या सह यासामुदयस्ता मनु-
जगतिसहगता इत्यर्थः । किंविशिष्टास्ताः ? इत्याह-"भवखित्तविवागजीववाग" त्ति भवविपाकाः
क्षेत्रविपाका, जीवविपाकाश्च । तत्र भवविपाका मनुष्यायुः, क्षेत्रविपाका मनुष्यानुपूर्वी, शेषा
नव जीवविपाकाः, तथाऽन्यतरद् वेदनीयम् उच्चैर्गोत्रं च, सर्वसङ्ख्यया त्रयोदश प्रकृतयः "भविकस्य"
भवसिद्धिकस्य चरमे समये क्षीयन्ते, न द्विचरमसमये । [4]ततश्चरमसमये भवसिद्धिकस्योत्कृष्टं
सत्कर्म त्रयोदश प्रकृतयो जघन्यतो द्वादश भवन्तीति । अन्ये पुनराहुः-मनुष्यानुपूर्व्या
द्विचरमसमय एव व्यवच्छेदः, उदयाभावात् । उदयवतीनां हि स्तिबुकसङ्क्रमाभावात् स्वस्व-
रूपेण चरमसमये दलिकं[5]दृश्यत एवेति युक्तस्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः । आनुपूर्वीनाम्नां[6]
तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकितया भवापान्तरालगतावेवोदयः, तेन न भवस्थस्य तदुदयसम्भवः
तदसम्भवाच्चायोग्यवस्थाद्विचरमसमय एव मनुष्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति । एतदेव मतम-
धिकृत्य प्राग् द्विचरमसमये सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदो दर्शितः । चरमसमये तू[7]त्क-
र्षतो द्वादशानां जघन्यत एकादशानामिति । ततोऽनन्तरसमये कोशबन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमु-
त्थस्वभावविशेषाद् एरण्डफलमिव भगवानपि कर्मसम्बन्धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभाव-

१ त० म० नामा 'इ' ॥ २ स० सं० २ छा० ०माएज्जं ॥
३ ० ०गजियविवागाओ ॥ ४ सं० १ स० २ त० म० ०समभवसि० ॥ ५ सं० १ ०कं गृह्यत एवे०
६ ० स० ०म्नां चतु० ॥ ७ सं० १ त० म० तूत्कृष्टतो ॥

अमुमेवार्थं सङ्कलय्य सूत्रकृत् प्रतिपादयति—

पुरिसं कोहे कोहं, माणे माणं च छुहइ मायाए ।
मायं च छुहइ लोहे, लोहं सुहुमं पि तो हणइ ॥ ६४ ॥

व्याख्या—'पुरुषं' पुरुषवेदं बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति गुणसङ्क्रमेण 'क्रोधे' संज्वलनक्रोधे "[1]छुहइ" त्ति सङ्क्रमयति। क्रोधस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं क्रोधं 'माने' संज्वलनमाने सङ्क्रमयति। संज्वलनमानस्यापि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं संज्वलनमानं गुणसङ्क्रमेण 'मायायां' संज्वलनमायायां प्रक्षिपति। संज्वलनमायाया अपि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तां संज्वलनमायां 'लोभे' संज्वलनलोभे गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति। संज्वलनलोभस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं संज्वलनलोभं सूक्ष्ममपि, अपिशब्दात् शेपमपि 'हन्ति' स्थितिघातादिभिर्विनाशयति। लोभे च साकल्येन विनाशिते सति अनन्तरसमये क्षीणकपायो जायते। तस्य च क्षीणकपायस्य मोहनीयवर्जानां शेपकर्मणां स्थितिघातादयः पूर्ववत् प्रवर्तन्ते तावद् यावत् क्षीणकपायाद्धायाः [2]सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकः [3]सङ्ख्येयो भागोऽवतिष्ठते। तस्मिंश्च ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टया-ऽन्तरायपञ्चक-निद्राद्विकरूपाणां पोडशकर्मणां स्थितिसत्कर्म सर्वापवर्तनया अपवर्त्य क्षीणकपायाद्धासमं करोति, केवलं निद्राद्विकस्य स्वरूपापेक्षया समयन्यूनम्, कर्मत्वमात्रापेक्षया तु तुल्यम्। सा च क्षीणकपायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, ततः प्रभृति च तेषां स्थितिघातादयः स्थिताः, शेपाणां तु भवन्त्येव। तानि च पोडश कर्माणि निद्राद्विकहीनानि उदय-उदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद् गतो यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेपः। ततोऽनन्तरसमये उदीरणा निवृत्ता। तत आवलिकामात्रं कालं यावद् उदयेनैव केवलेन वेदयते यावत् क्षीणकपायाद्धाया द्विचरमसमयः। तस्मिंश्च द्विचरमसमये निद्राद्विकं स्वरूपसत्तापेक्षया क्षीणम्, चतुर्दशानां च शेपप्रकृतीनां चरमसमये क्षयः। तथा चाह सूत्रकृत्—

खीणकसायदुचरिमे, निद्दा पयला य हणइ छउमत्थो ।
आवरणमंत[4]राए, छउमत्थो चरिमसमयम्मि ॥ व्याख्यातार्था ॥

ततोऽनन्तरसमये सयोगिकेवली भवति। स च लोकमलोकं च सर्वं सर्वात्मना परिपूर्णं पश्यति। न हि तदस्ति भूतं भवद् भविष्यद्वा यद् भगवान् न पश्यति। उक्तं च—

'[5]संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं ।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥ (आव० नि० गा० १२७)

१ सं० १ सं० २ म० त० छुभइ ॥ २ सं० १ सं० २ त० म० संख्येयभा० ॥ ३ सं० १ त० म० संख्येयभा० ॥ ४ मं० सं० १ आव० छ० ॥ ५ संभिन्नं पश्यन् लोकमलोकं च सर्वतः सर्वम्। तद् नास्ति यद् न पश्यति भूतं भव्यं भविष्यच्च ॥

इत्थम्भूतश्च सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटीं विहृत्य कश्चित् कर्मणां समीकरणार्थं समुद्घातं करोति, यस्य वेदनीयादिकमायुषः सकाशादधिकतरं भवति अन्यस्तु न करोत्येव । तथा चोक्तं **प्रज्ञापनायाम्**—

'सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छंति ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

णाव्यवच्छेदः । ततोऽनन्तरसमयेऽयोगिकेवली भवति । अयोगिकेवली च भवस्थोऽजघन्योत्कर्षमन्तर्मुहूर्तं कालं भवति । स च तस्यामवस्थायां वर्तमानो भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमप्रतिपाति ध्यानमारोहति । एवमसावयोगिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्युदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्षयेणानुभवन् क्षपयति, यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न सन्ति तानि वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिवुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया च वेदयमानस्तावद् याति यावदयोग्यवस्थाद्विचरमसमयः[1] ॥ ६४ ॥

देवगइसहगयाओ, [2]दुचरमसमयभवियम्मि खीयंति ।
सविवागेयरनामा, नीयागोयं पि तत्थेव ॥ ६५ ॥

देवगत्या सह गताः-स्थिताः देवगतिसहगताः, देवगत्या सह एकान्तेन बन्धो यासां ता देवगतिसहगता इत्यर्थः । कास्ताः ? इति चेद् उच्यते—वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरे वैक्रिया-ऽऽहारकबन्धने वैक्रिया ऽऽहारकसङ्घाते वैक्रिया-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गे देवानुपूर्वी च । एता देवगतिसहगताः 'द्विचरमसमयभवसिद्धिके' इति द्वौ चरमौ समयौ यस्य भवसिद्धिकस्य स द्विचरमसमयः, स चासौ भवसिद्धिकश्च तस्मिन् द्विचरमसमयभवसिद्धिके 'क्षीयन्ते' क्षयमुपगच्छन्ति । तथा 'तत्रैव' द्विचरमसमयभवसिद्धिके 'सविपाकेतरनामानि' विपाकः-उदयः, सह विपाकेन यानि वर्तन्ते तानि सविपाकानि, तेषामितराणि-प्रतिपक्षभूतानि यानि नामानि तानि सविपाकेतरनामानि, अनुदयवत्यो नामप्रकृतय इत्यर्थः । ताश्चेमाः—औदारिक-तैजस-कार्मणशरीराणि औदारिक-तैजस-कार्मणबन्धन-सङ्घातानि संस्थानषट्कं संहननषट्कमौदारिकाङ्गोपाङ्गं वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शा मनुजानुपूर्वी पराघातमुपघातमगुरुलघु प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगती प्रत्येकमपर्याप्तकमुच्छ्वासनाम स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे सुस्वर-दुःस्वरे दुर्भगमनादेयम् यशःकीर्तिर्निर्माणमिति । तथा नीचैर्गोत्रम् , अपिशब्दादन्यतरदनुदितं वेदनीयम् । सर्वसङ्ख्यया सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतयः क्षयमुपयान्ति ॥ ६५ ॥

अन्नयरवे[3]यणीयं, मणुया[4]उय उच्चगोय नव नामे ।
वेएइ अजोगिजिणो, उक्कोस जह[5]न्न एक्कारं ॥ ६६ ॥

'अन्यतरद् वेदनीयं' सातमसातं वा द्विचरमसमयक्षीणाद् इतरद् मनुष्यायुरुच्चैर्गोत्रं 'नव नामानि' नव नामप्रकृतीः, सर्वसङ्ख्यया द्वादश प्रकृतीर्वेदयते 'अयोगिजिनः' अयोगिकेवली । जघन्येनैकादश, ताश्च ता एव द्वादश तीर्थकरवर्जा द्रष्टव्याः ॥ ६६ ॥

---

१ सं० १ त० म० ०यः ॥ ६४॥ तस्मिंश्च एताः प्रकृतयः क्षीयन्ते, तदाह—" ॥

२ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु समग्रादर्शेषु तु-"दुचरमसमयभवियम्मि" इति मूल आदृत एव पाठः समस्ति, परं विवृतिकृद्भिः श्रीमद्भिर्मलयगिरिभिः "दुचरमसमयभवसिद्धियम्मि" इत्येतत्पदानुसारेण व्याख्यातमस्ति ॥

३ म० ०यणिज्जं ॥ ४ सं० १ त० ०याऊ उ० ॥ ५ म० ०हन्नमिक्कारे ॥

'नव 'नाम' इत्युक्तं ततस्ता एव नव नामप्रकृतीर्दर्शयति—

मणुयगइ जाइ तस बायरं च पज्जत्तसुभग[१]माइज्जं ।
जसकित्ती तित्थयरं, नामस्स हवंति नव एया ॥ ६७ ॥

गतार्था ॥ ६७ ॥ अत्रैव मतान्तरं दर्शयति—

तच्चाणुपुव्विसहिया, तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि ।
संतंसगमुक्कोसं, जहन्नयं बारस हवंति ॥ ६८ ॥

तृतीयानुपूर्वी-मनुष्यानुपूर्वी तया सहितास्ता एव द्वादश प्रकृतयस्त्रयोदश सत्यः 'भव-सिद्धिकस्य' तद्भवमोक्षगामिनः "संतं सग" त्ति सत्कर्म उत्कृष्टं भवति । जघन्यं पुनर्द्वादश प्रकृतयो भवन्ति । ताश्च द्वादश प्रकृतयस्ता एव त्रयोदश तीर्थङ्करनामरहिता वेदितव्याः ॥६८॥

अथ कस्मात्ते एवमिच्छन्ति ? इत्यत आह—

मणुयगइसहगयाओ, भवखित्तविवा[२]गजीववाग त्ति ।
वेयणियन्नयरुच्चं, च चरिम भवियस्स खीयंति ॥ ६९ ॥

मनुजगत्या सह गताः-स्थिता मनुजगतिसहगताः, मनुष्यगत्या सह यासामुदयस्ता मनुजगतिसहगता इत्यर्थः । किंविशिष्टास्ताः ? इत्याह—"भवखित्तविवागजीववाग" त्ति भवविपाकाः क्षेत्रविपाका, जीवविपाकाश्च । तत्र भवविपाका मनुष्यायुः, क्षेत्रविपाका मनुष्यानुपूर्वी, शेषा नव जीवविपाकाः, तथाऽन्यतरद् वेदनीयम् उच्चैर्गोत्रं च, सर्वसङ्ख्यया त्रयोदश प्रकृतयः "भविकस्य" भवसिद्धिकस्य चरमे समये क्षीयन्ते, न द्विचरमसमये । [४]ततश्चरमसमये भवसिद्धिकस्योत्कृष्टं सत्कर्म त्रयोदश प्रकृतयो जघन्यतो द्वादश भवन्तीति । अन्ये पुनराहुः—मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमय एव व्यवच्छेदः, उदयाभावात् । उदयवतीनां हि स्तिबुकसङ्क्रमाभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं[५] दृश्यत एवेति युक्तस्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः । आनुपूर्वीनाम्नां[६] तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकितया भवापान्तरालगतावेवोदयः, तेन न भवस्थस्य तदुदयसम्भवः तदसम्भवाच्चायोग्यवस्थाद्विचरमसमय एव मनुष्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति । एतदेव मतमधिकृत्य प्राग् द्विचरमसमये सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदो दर्शितः । चरमसमये तू[७]त्कर्षतो द्वादशानां जघन्यत एकादशानामिति । ततोऽनन्तरसमये कोशबन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषाद् एरण्डफलमिव भगवानपि कर्मसम्बन्धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभाव-

---

१ सं० १ त० म० नामा 'इ' ॥ २ सं० सं० २ छा० ०माएज्जं ॥
३ म० ०गजियविवागाओ ॥ ४ सं० १ सं० २ त० म० ०समतसि० ॥ ५ सं० १ ०कं गृह्यत एवे० ॥ ६ सं० १ त० म० ०म्नां चतु० ॥ ७ सं० १ त० म० तूत्कृष्टतो ॥

शेपाद् ऊर्ध्वं लोकान्ते गच्छति । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढ-
तावतः प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्चान्यत् समयान्तरमस्पृशन् गच्छति ।

उक्तं चावश्यकचूर्णौ—

[1]जत्तिए जीवोऽवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढं उज्जुगं गच्छइ,
न वंकं, बीयं च समयं न फुसइ ॥ (प्रथ० भा० पत्र ५८३) इति ॥

इत्थं चानेके भगवन्तः कर्मक्षयं कृत्वा तत्र गताः सन्तः सिद्धिसुखं शाश्वतं कालमनु-
भवन्तोऽवतिष्ठन्ते ॥ ६९ ॥

तथा चाह—

अह सुइयसयलजगसिहरमरुयनिरुवमसहावसिद्धिसुहं ।
अनिहणमव्वाबाहं, तिरयणसारं अणुहवंति ॥ ७० ॥

'अथ' इत्यानन्तर्ये, कर्मक्षयादनन्तरं 'शुचिकं' एकान्तशुद्धम् , न रागादिदोषव्यामिश्रम् ,
तथा 'सकलं' संपूर्णम् , तथा 'जगच्छिखरं' सकलसांसारिकलोकसम्भविसुखनिकुरम्बशेखर-
भूतम् , कथम् ? इति चेद् अत आह—'अरुजं' लेशतोऽपि तत्र व्याधेरभावात् , उपलक्षण-
मेतत्, तत आधेरप्यभावस्तत्र द्रष्टव्यः, सांसारिकं च सुखमाधि-व्याधिसङ्कुलम् । तथा 'निरु-
पमं' उपमातीतम्, नहि तत्सदृशं किञ्चिदपीह संसारेऽस्ति सुखं येन तदुपमीयते तस्माद्
निरुपमम् । तथा "सहाव" त्ति स्वभावभूतम्, न संसारसुखमिव कृत्रिमम् , अतस्तत् सकल-
देवा-ऽसुर-मनुजसम्भविसुखसमूहशेखरकल्पम् । इत्थम्भूतं 'सिद्धिसुखं' मोक्षसुखं 'अनिधनम्'
अपर्यवसानम्, कथमपर्यवसानता ? इति चेद् अत आह—'अव्याबाधं' व्याबाधारहितम्
बाधयितुमशक्यमिति भावः । तथाहि—रागादयस्तत् सुखं बाधयितुमीशाः, ते च सर्वात्मना
क्षीणाः; न च क्षीणा अपि पुनः प्रादुर्भावमश्नुवते, तत्कारणकर्मपुद्गलानामभावात् ; न च
तेऽपि पुद्गला भूयोऽपि बध्यन्ते, संक्लेशमन्तरेण तद्बन्धाभावात् , न च सर्वात्मना रागादिक्ले-
शविप्रमुक्तस्य भूयः संक्लेशोत्थानम्, तत्कारणकर्मपुद्गलाभावात् ; अतो रागादिसंक्लेशोत्थाना-
भावात् सिद्धिसुखमव्याबाधम् । पुनः तत् कथम्भूतम् ? इत्याह—'त्रिरत्नसारं' त्रीणि रत्नानि-
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रलक्षणानि तेषां सारं—फलम् । तथाहि—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्येव
कर्मक्षयकारणम् , कर्मक्षयाच्च सिद्धिसुखसम्प्राप्तिः, अतः सिद्धिसुखं त्रिरत्नसारम् । एतेन

[1] यावति जीवोऽवगाढः तावत्या अवगाहनया ऊर्ध्वं ऋजुकं गच्छति न वक्रम्, द्वितीयं च समयं न स्पृशति ॥ २ त० १ त० म० व्यादिति सि० ॥

किमुक्तं भवति ?—इत्थम्भूतं सिद्धिसुखमभिलषताऽवश्यं रत्नत्रये प्रेक्षावता यत्न आस्थेयः,
उपायमन्तरेणोपेयसिद्ध्यसंभवात्। उपायभूतं च सिद्धिसुखस्य रत्नत्रयम्, कर्मक्षयकारणत्वात्।
तथाहि—अज्ञानादिनिमित्तं कर्म, अज्ञानादिप्रतिपन्थि च ज्ञानादि, ततोऽवश्यं ज्ञानाद्यासेवायां
कर्मक्षय इति। इत्थम्भूतं सिद्धिसुखं तत्र गताः सन्तः 'अनुभवन्ति' वेदयन्ते ॥ ७० ॥

इह बन्धोदयसत्कर्मणां संवेधश्चिन्तितः। सोऽपि सामान्येन, ततो बन्धोदयसत्कर्मसु विशेष-
जिज्ञासायामतिदेशमाह—

दुरहिगम-निउण परमत्थ-रुइर बहुभंगदिट्ठिवायाओ।
अत्था अणुसरियव्वा, बंधोदयसंतकम्माणं ॥ ७१ ॥

दुःखेन—महता कष्टेन प्रमाण-नय निक्षेपादिभिरधिगम्यत इति दुरधिगमः, निपुणः-सूक्ष्म-
बुद्धिगम्यः, परमार्थः-यथावस्थितार्थः, रुचिरः[1] सूक्ष्मसूक्ष्मतरार्थभेत्तृपटुप्रज्ञानां मनःप्रह्लादकरः,
बहुभङ्गः-बहुवि[2]कल्पो यो दृष्टिवादस्तस्माद् बन्धोदयसत्कर्मणां विषये 'अर्थाः' विशेषरूपाः 'अनु-
सर्तव्याः' ज्ञातव्याः। इह तु संक्षिप्तरुचिसत्त्वानुग्रहप्रवृत्ततया ग्रन्थगौरवभयाद् नोच्यन्ते ॥७१॥

सम्प्रत्याचार्योऽनुद्धतत्वेनात्मनोऽल्पागमत्वं ख्यापयन् शेषबहुश्रुतानां च बहुमानं प्रकटयन्
प्रकरणपरिपूर्णताविधिविषये तेषां प्रार्थनां विदधान आह—

जो जत्थ अपडिपुन्नो, अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति।
तं खमिऊण बहुसुया, पूरेऊणं परिकहंतु ॥ ७२ ॥

अत्र सप्ततिकाख्ये प्रकरणे 'यत्र' बन्धे उदये सत्तायां वा योऽर्थः 'अपरिपूर्णः' खण्डः
'अल्पागमेन' अल्पश्रुतेन मया 'बद्धः' निबद्धः, इतिशब्दः समाप्तिवचनः, स च गाथापर्यन्ते
वेदितव्यः। 'तम्' अपरिपूर्णमर्थं तत्र[3]बन्धादौ ममाऽपरिपूर्णार्थाभिधानलक्षणमपराधं [4]क्षमित्वा
'बहुश्रुताः' दृष्टिवादज्ञाः 'पूरयित्वा' तत्तदर्थप्रतिपादिकां गाथां प्रक्षिप्य शिष्यजनेभ्यः 'परिक-
थयन्तु' सामस्त्येन प्रतिपादयन्तु। बहुश्रुता हि परिपूर्णज्ञा[5]नसम्भारसम्पत्समन्विततया परोपकार-
करणैकरसि[6]कमानसा भवन्ति, ततो मम शिष्याणां च परमुपकारमाधित्सवस्तेऽवश्यं ममास्फुटा-
परिपूर्णार्थाभिधानलक्षणमपराधं विषह्य परिपूर्णमर्थं पूरयित्वा शिष्येभ्यः कथयन्तु ॥ ७२ ॥

---

१ सं० १ त० छा० ०रः-सूक्ष्मतरा० ॥ २ सं० छा० ०रार्थः तत्र पटु० । त० म० रार्थभेदपटु० ॥ ३ सं० सं० २ छा० ०कल्पो दृ० ॥ ४ सं० सं० २ छा० ०त्र तत्र बन्धा० ॥ ४ छा० क्षमयित्वा ॥ ६ सं० १ त० [illegible]रसं० ॥ ७ सं० १ त० म० ०कमनसो म० ॥

निरुपममनन्तमनघं, शिवपदमधिरूढमपगतकलङ्कम् ।
दर्शितशिवपुरमार्गं, वीरजिनं नमत परमशिवम् ॥
यस्योपान्तेऽपि सम्प्राप्ते, प्राप्यन्ते सम्पदोऽनघाः ।
नमस्तस्मै जिनेशश्रीवीरसिद्धान्तसिन्धवे ॥
यैरेषा विषमार्था, सप्ततिका सुस्फुटीकृता सम्यक् ।
अनुपकृतपरोपकृतश्चूर्णिकृतस्तान् नमस्कुर्वे ॥
प्रकरणमेतद् विषमं, सप्ततिकाख्यं विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥
अर्हन्तो मङ्गलं सिद्धान् मङ्गलं संयतानहम् ।
अशिश्रियं जिनाख्यातं धर्मं परममङ्गलम् ॥

ग्रन्थाग्रम्[1]–३८८०



१ सं० २ सम्:३

❀ शुद्धिपत्रकम् ❀

(प्रथम कर्मग्रन्थः)

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२	१६	पओस उवघाय	उवघायपओस
७	२६	०भिनिवध्यते	०भिनिवुध्यते
१५	२८	०त्रिशत०	०स्त्रिंशत०
२१	८	अनुग०	अनुयोग०
२७	६	सर्वेसङ्ख्या०	सर्वेसङ्ख्येया०
३१	१५	तहि	तह
३३	८	स्त्यापा०	यस्यां स्त्यापा०
३३	११	स्त्यानर्युद्धयुदये	स्त्यानर्द्ध्युदये
३३	१२	रजन्य मु०	रजन्यामु०
३३	१५	०त्त्यान्नशा०	०स्त्यान्निशा०
४९	६	अयमत्राशय;	अयमत्राशयः
५६	२०	०मुरालगे	मुरालंगे
५७	२५	०पाङ्गवयवः	०पाङ्गावयवः
६२	२७	यतिदेमूल	यतिदेवैर्मूल०
७०	४	सायमसाय	सायमसायं
७०	१२	०गुरु०	०गुरू०
७३	१०	असुह	असुहं
७४	८	कीर्त्य०	कीर्त्त्यं०

(द्वितीय कर्मग्रन्थः)

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
७७	१४	वचनाद	वचनाद्
७७	१५	वीरणि०	वीर०
८१	१५		[अत्र मध्यरेखाद्वयान्तरवर्त्ति-अन्तरसूचका बिन्दवो ज्ञातव्याः, उपर्यधश्च द्वितीय-प्रथम-स्थितिसंज्ञका बिन्दवः।]
९३	२५	०वधि	०र्वधि
९५	७	गुणमट्ठि	गुणसट्ठि।
१०५	२८	प्रसाद०	प्रमाद०।

(तृतीयः कर्मग्रन्थः)

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१२५	३	अहखा चरमचऊइ	अहखाइ चरमचउ
	२७	कम्ममगो	कम्मणभंगो

(चतुर्थः कर्मग्रन्थः)

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१४१	६	चा	च।
१४२	१०	सन्निज्जत्ते	सन्निपज्जत्ते
१४३	१५	असन्निमु	असन्निसु
१४३	१५	चपखु	चक्खु
१५०	५	०मरणा०	मरणा०
१५३	५	०व्वारोपणं	व्वारोपणं
१५३	१४	मज्झो	मज्झो
१५३	१६	मज्झिमभो	मज्झिमओ
१६३	२४		[अत्र द्वितीयपंक्तौ सप्त बिन्दवः अन्तरस्थान-सूचकतया ज्ञेयाः, अधस्तन प्रथमपंक्तिगतनव बिन्दवः प्रथमस्थितिरूपाः, तृतीयादिपंक्तिगताः षडादिबिन्दवः द्वितीयस्थितिरूपा ज्ञेयाः]
१६५	२८	अतिक्षधित०	अतिक्षुधित०
१७८	१०	ऽऽह्रियन्ते	ऽऽह्रियन्ते
१८०	७	सव्वेसि	सव्वेसिं
१८२	२०	उपशम०	उपशम०
१८७	४	सद	सह
१८६	२६	परम्	परमम्
१९०	११	माष्यकाराऽ	भाष्यकारोऽ
१९५	४	गुणस्थानक०	गुणस्थानक०
२०६	४	असख०	असंख०
२१२	२७	कस्याचित्	कस्यचित्
२२०	२६	चतस्त्रो०	चतस्रो०
२२९	३	पद्माङ्ग	पद्माङ्गं
२३०	७	शर्पि०	शीर्ष०
२३२	२	रन्तराय० कर्म०	रन्तराय[ादि]कर्म०
२३६	१०	परूपणा०	प्ररूपणा०

[पंचम व षष्ठ कर्मग्रन्थः]

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१	२१	सम्बन्ध	सम्बन्धो
१	२५	सर्वातिन्यश्चे०	सर्वघातिन्य श्चे०
२	२३	घातत्वं	घातित्वं
७	२६	यादव०	यावद०
८	६	सुःस्वरा०	दुःस्वरा०
१२	१०	नांभयसंत	नोभयसंते
१६	२६	विपयो	विपयो घातित्वे
१७	२	देवगति०-	देवानुपूर्वी-
१७	२०	नाराच०	नाराचा०
२०	७	जांन०	जिन०
२०	१३	०श्चतस्रः	०श्चतस्रः
२०	२५	०दिनि	०दीनि०
२२	१८	गोत्र-	गोत्रा-
२४	२७	द्वावक्त०	द्वाववक्त०
३८	७	०क्रमाणां'	०क्रमाणां 'सत्या'
४३	२४	अवह्रा	अवाइ
४५	१०	अंशाः	१७ अंशाः
४६	४	०त्त्वविरत०	०त्ववविरत०
५०	२६	बध्नति	बध्नन्ति
५४	२	धम्यते	गम्यते
५४	३	०नादिनाम०	०नादीनाम०
५८	१६	०वृद्धनि	०वृद्धानि
५६	३	तत्रैततत्	तत्रैतत्
६१	२४	परिस्मन्द०	परिस्पन्द०
६७	३०	०भावा०	०भवा०
८७	२८	०घवणा०	संघयणा०
६८	१४	असावगाहः	असाववगाहः
१०६	६	संमपि	सर्वमपि
११०	२	प्रततरं	प्रभूततरं
१३६	१७	गर्भेतानि	गर्भेतानि
१४५	२२	०भमं	०भमं
१४६	२४	०मुत्कष्टं	०मुत्कृष्टं
१५०	२२	मिथ्यातत्र०	मिथ्यात्व०
१६३	१२	बधतो	बंधंतो
१९२	१२	०रद्दियस्य	०रद्दियस्स
२१३	४	त्रिंशद्रे	त्रिंशद्
२२३	१२	षड्विंशतद्वये	षड्विंशत्युद्वये
२२७	१४	०त्रोत्रं	०गोत्रं
२३२	४	शुभाऽभे	शुभा-ऽशुभे
२३३	१६	शेपास्त्वेक-विंशति-सङ्ख्याश्चतुः-सत्तास्था-नकाः	वैक्रियवायुकायानां ये त्रयो भङ्गास्ते त्रिसत्ता-स्थानकाः, शेपास्त्वष्टा-दशभङ्गाश्चतुःसत्ता-स्थानकाः,
२३५	२३	०बन्धनामे०	०बन्धकानामे०
२३७	२०	ताति	तानि
२३७	२७	०सप्तप्रिश्च	सप्ततिश्च
२४२	१६	पर	परं
२५५	८	तद्यथा-	तद्यथा-पञ्च
२६५	१८	कीर्त्ति०	कीर्त्ती०
२७६	१४	प्रज्ञान्मे०	प्रज्ञोन्मे०
२७८	१४	शेपा	शेपा
२८१	१५	उवसता	उवसंता
२८४	२०	पद्य०	वेद्य०
२९०	२१	ग्रोति	करोति
२६७	२१	०मेलव	०तमेव
३०२	२०	यशः०	अयशः०